प्रवचन -क्रम

61...शुष्कपर्णवत जीयो 2
62...घन बरसे 20
63...महाशय को कैसा मोक्ष ! 39
64..एकाकी रमता जोगी 59
65..जानो और जागो ! 79
66..अपनी बानी प्रेम की बानी 99
67...दृश्य से द्रष्टा में छलांग 118
68..मन तो मौसम -सा चंचल 137
69...स्वातंत्र्यात् परमं पदम् 159
70..दिल का देवालय साफ करो 181
71...निराकार , निरामय साक्षित्व 200
72...सदगुरुओं के अनूठे ढंग 221
73...मूढ़ कौन , अमूढ़ कौन ! 242
74...अवनी पर आकाश गा रहा 262
75..मन का निस्तरण 282

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
इकसठवां प्रवचन

शुष्कपर्णवत जीयो

अष्टावक्र उवाच

निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो मुक्तबंधनः।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्।। १९७।।
असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।। १९८।।
कुत्रापि न जिहासाऽस्ति नाशो वापि न कुत्रचित्।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः।। १९९।।
प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता।। २००।।
कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।
इति चिंतानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न।। २०१।।
अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते।। २०२।।
नानाविचारसुश्रांतो धीरो विश्रांतिमागतः।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति।। २०३।।

नर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो मुक्तबंधनः।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्।।

इन छोटी-सी दो पंक्तियों में ज्ञान की परम व्याख्या समाहित है। इन दो पंक्तियों को भी कोई जान ले और जी ले तो सब हो गया। शेष करने को कुछ बचता नहीं।
अष्टावक्र के सूत्र ऐसे नहीं हैं कि पूरा शास्त्र समझें तो काम के होंगे। एक सूत्र भी पकड़ लिया तो पर्याप्त है। एक-एक सूत्र अपने में पूरा शास्त्र है। इस छोटे-से लेकिन अपूर्व सूत्र को समझने की कोशिश करें। "वासनामुक्त, स्वतंत्र, स्वच्छंदचारी और बंधनरहित पुरुष प्रारब्धरूपी हवा से प्रेरित होकर शुष्क पत्ते की भांति व्यवहार करता है।"
लाओत्सु के जीवन में उल्लेख है: कि वर्षों तक खोज में लगा रहकर भी सत्य की कोई झलक न पा सका। सब चेष्टाएं कीं, सब प्रयास, सब उपाय, सब निष्फल गये। थककर हारा-पराजित एक दिन बैठा है--पतझड़ के दिन हैं--वृक्ष के नीचे। अब न कहीं जाना है, न कुछ पाना है। हार पूरी हो गई। आशा भी नहीं बची है। आशा का कोई तंतुजाल नहीं है जिसके सहारे भविष्य को फैलाया जा सके। अतीत व्यर्थ हुआ, भविष्य भी व्यर्थ हो गया है, यही क्षण बस काफी है। इसके पार वासना के कोई पंख नहीं कि उड़े। संसार तो व्यर्थ हुआ ही, मोक्ष, सत्य, परमात्मा भी व्यर्थ हो गये हैं।
ऐसा बैठा है चुपचाप। कुछ करने को नहीं है। कुछ करने जैसा नहीं है। और तभी एक पत्ता सूखा वृक्ष से गिरा। देखता रहा गिरते पत्ते को--धीरे-धीरे, हवा पर डोलता वृक्ष का पत्ता नीचे गिर गया। हवा का आया अंधड़, फिर उठ गया पत्ता ऊपर, फिर गिरा। पूरब गई हवा तो पूरब गया, पश्चिम गई तो पश्चिम गया। और कहते हैं, वहीं उस सूखे पत्ते को देखकर लाओत्सु समाधि को उपलब्ध हुआ। सूखे पत्ते के व्यवहार में ज्ञान की किरण मिल गई। लाओत्सु ने कहा, बस ऐसा ही मैं भी हो रहूं। जहां ले जायें हवाएं, चला जाऊं। जो करवाये प्रकृति, कर लूं। अपनी मर्जी न रखूं। अपनी आकांक्षा न थोपूं। मेरी निजी कोई आकांक्षा ही न हो। यह जो विराट का खेल चलता, इस विराट के खेल में मैं एक तरंग मात्र की भांति सम्मिलित हो जाऊं। विराट की योजना ही मेरी योजना हो और विराट का संकल्प ही मेरा संकल्प। और जहां जाता हो यह अनंत, वहीं मैं भी

चल पडूं; उससे अन्यथा मेरी कोई मंजिल नहीं। डुबाये तो डूबूं, उबारे तो उबरूं। डुबाये तो डूबना ही मंजिल; और जहां डुबा दे वहीं किनारा।
और कहते हैं, लाओत्सु उसी क्षण परम ज्ञान को उपलब्ध हो गया।
यह सूत्र, पहला सूत्र अष्टावक्र का--निर्वासनो। हिंदी में अनुवाद किया गया: वासनामुक्त। उतना ठीक नहीं। निर्वासना का अर्थ होता है, वासनाशून्य; वासनामुक्त नहीं। क्योंकि मुक्त में तो फिर भाव आ गया कि जैसे कुछ चेष्टा हुई है। मुक्त में तो भाव आ गया, जैसे कुछ संयम साधा है। मुक्त में तो भाव आ गया अनुशासन का, योग का, विधि-विधान का। मुक्त का तो अर्थ हुआ, जैसे कि बंधन थे और उनको तोड़ा है। जैसे कि कारागृह वास्तविक था और हम बाहर निकले हैं।
नहीं, वासनाशून्य--निर्वासनो। वासना-रहित; मुक्त नहीं, वासनाशून्य।
जिसने वासना को गौर से देखा और पाया कि वासना है ही नहीं। ऐसे वासना के अभाव को जिसने अनुभव कर लिया है। फर्क को समझ लेना। फर्क बारीक है।
यहीं योग और सांख्य का भेद है। यहीं साधक और सिद्ध का भेद है। साधक कहता है, साधूंगा, चेष्टा करूंगा; बंधन है, गिराऊंगा, काटूंगा, लडूंगा। उपाय से होगा। विधि-विधान, यम-नियम, ध्यान-धारणा--विस्तार है प्रक्रिया का; उससे तोड़ दूंगा बंधन को।
सिद्ध की घोषणा है कि बंधन है नहीं। उपाय की जरूरत नहीं है। आंख खोलकर देखना भर पर्याप्त है। जो नहीं है उसे काटोगे कैसे?
तो दुनिया में दो तरह के लोग हैं: एक, संसार में बंधन है ऐसा मानकर तड़फ रहे हैं। एक, संसार का बंधन तोड़ना है ऐसा मानकर लड़ रहे हैं। और बंधन नहीं है। ऐसा समझो कि रात के अंधेरे में राह पर पड़ी रस्सी को सांप समझ लिया है। एक है, जो भाग रहा है; पसीना-पसीना है। छाती धड़क रही है, घबड़ा रहा है कि सांप है। भागो! बचो! और दूसरा कहता है, घबड़ाओ मत। लकड़ियां लाओ, मारो। एक भाग रहा है, एक सांप को मार रहा है। दोनों ही भ्रांति में हैं। क्योंकि सांप है नहीं; सिर्फ दीया जलाने की बात है। न भागना है, न मारना है। रोशनी में दिख जाये कि रस्सी पड़ी है तो तुम हंसोगे।
अष्टावक्र की सारी चेष्टा तीसरी है: रोशनी। आंख खोलकर देख लो। थोड़े शांत बैठकर देख लो। थोड़े निश्चल-मन होकर देख लो। कहीं कुछ बंधन नहीं है। वासना है नहीं, प्रतीत होती है। फिर प्रतीति को अगर सच मान लिया तो दो उपाय हैं: संसारी हो जाओ या योगी हो जाओ; भोगी हो जाओ या योगी हो जाओ। भोगी हो गये तो भागो सांप को मानकर; तड़फो। योगी हो गये तो लड़ो।
अष्टावक्र कहते हैं, इन दोनों के बीच में एक तीसरा ही मार्ग है, एक अनूठा ही मार्ग है--न भोग का, न त्याग का; देखने का, द्रष्टा का, साक्षी का। जागो!
इसलिए मैं निर्वासना का अनुवाद वासनामुक्त न करूंगा। निर्वासना में
जो व्यक्ति है वह वासनामुक्त है यह सच है, लेकिन अनुवाद "वासनामुक्त" करना ठीक नहीं। क्योंकि वह भाषा योगी की है--वासनामुक्त। वासनाशून्य, वासनारिक्त, निर्वासना--जिसने जान लिया कि वासना नहीं है। जागकर देखा और पाया कि कारागृह नहीं है; नहीं था, नहीं हो सकता है। जैसे रात सपना देखा था--पड़े थे कारागृह में, हथकड़ियां पड़ी थीं, और सुबह आंख खुली। जाना कि झूठ था सब। जाना कि सपना था। अपना ही माना था। अपना ही निर्मित किया था। लेकिन लोग सपनों में खो जाते हैं। अपने सपनों की तो छोड़ो, दूसरों के सपनों में खो जाते हैं। अपना पागलपन प्रभावित करता है यह तो ठीक ही है, दूसरा भी पागल हो रहा हो तो तुम आवेष्टित हो जाते हो।
मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन अपने एक मित्र के साथ, कड़ी धूप है
और वृक्ष की छाया में बैठा है। झटके से उठकर बैठ गया और कहने लगा कि प्रभु करे कभी वे दिन भी आयें। आयेंगे जरूर। देर है, अंधेर तो नहीं है। जब अपना भी महल होगा, सुंदर झील होगी, घने वृक्षों की छाया होगी। विश्राम करेंगे वृक्षों की छाया में। झील पर तैरेंगे। और ढेर की ढेर आइसक्रीम!
मित्र भी उठकर बैठ गया। उसने कहा, एक बात बड़े मियां, अगर मैं आऊं तो आइसक्रीम में मुझे भी भागीदार बनाओगे या नहीं? मुल्ला ने कहा, इतना ही कह सकते हैं कि अभी कुछ न कह सकेंगे। अभी कुछ नहीं कह सकते। अभी तुम बात मत

उठाओ। उस आदमी ने कहा, चलो छोड़ो आइसक्रीम। वृक्ष की छाया में तो विश्राम करने दोगे, झील पर तो तैरने दोगे। मुल्ला सोच में पड़ गया। उसने कहा कि नहीं, अभी तो इतना ही कह सकते हैं कि अभी हम कुछ नहीं कह सकते।
वह आदमी बोला, अरे हद हो गई! वृक्षों की छाया में विश्राम भी न करने दोगे? नसरुद्दीन ने कहा, आदमी कैसे हो? आलस्य की भी सीमा होती है। अरे, अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाओ, मेरे घोड़ों पर क्यों सवार होते हो? न कोई महल है, न कोई झील है, अपने घोड़े भी नहीं दौड़ा सकते? इसमें भी उधारी? इसमें भी तुम मेरे घोड़ों पर सवार हो रहे हो?
आदमी पर खुद की कल्पना तो चढ़ ही जाती है, दूसरों की भी चढ़ जाती है। आदमी इतना बेहोश है। तुम पर अपनी महत्वाकांक्षा तो चढ़ ही जाती है, दूसरे की महत्वाकांक्षा भी चढ़ जाती है। महत्वाकांक्षी के पास बैठो, कि तुम्हारे भीतर भी महत्वाकांक्षा सरसरी लेने लगेगी। संक्रामक है। हम बेहोश हैं। निर्वासना का अर्थ होता है: अब कल्पना के रंग चढ़ते नहीं। अब आकांक्षायें प्रभावित नहीं करतीं। अब महत्वाकांक्षाओं के झूठे सतरंगे महल प्रभाव नहीं लाते। टूट गये वे इंद्रधनुष। कितने ही रंगीन हों, जान लिये गये, पहचान लिये गये। झूठे थे। अपनी ही आंखों का फैलाव थे। अपनी ही वासना की तरंगें थे। कहीं थे नहीं; और हम नाहक ही उनके कारण सुखी और दुखी होते थे।
निर्वासना का अर्थ है: वासना नग्न देख ली गई और पाई नहीं गई। शून्य हो गया चित्त।
निर्वासनो निरालंबः।
निरालंब के लिए हिंदी में अनुवाद किया जाता है: स्वतंत्र; वह भी ठीक नहीं है। निरालंब का अर्थ होता है निराधार। स्वतंत्र में थोड़ी भनक है लेकिन सच नहीं है, पूरी-पूरी नहीं। स्वतंत्र का अर्थ होता है: अपने ही आधार पर, अपने ही तंत्र पर। निरालंब का अर्थ होता है: जिसका कोई आधार नहीं--न अपना, न पराया। आधार ही नहीं; जो निराधार हुआ।
अष्टावक्र कहते हैं कि जब तक कुछ भी आधार है तब तक डगमगाओगे। बुनियाद
है तो भवन गिरेगा। देर से गिरे, मजबूत होगी बुनियाद तो; कमजोर होगी तो जल्दी गिरे, लेकिन आधार है तो गिरेगा। सिर्फ निराधार का भवन नहीं गिरता। कैसे गिरेगा, आधार ही नहीं! आधार है तो आज नहीं कल पछताओगे, साथ-संग छूटेगा। सिर्फ निराधार नहीं पछताता। है ही नहीं, जिससे साथ छूट जाये, संग छूट जाये। कोई हाथ में ही हाथ नहीं।
परमात्मा तक का आधार मत लेना; ऐसी अष्टावक्र की देशना है। क्योंकि परमात्मा के आधार भी तुम्हारी कल्पना के ही खेल हैं। कैसा परमात्मा? किसने देखा? कब जाना? तुम्हीं फैला लोगे। पहले संसार का जाल बुनते रहे, निष्णात हो बड़ी कल्पना में; फिर तुम परमात्मा की प्रतिमा खड़ी कर लेते हो। पहले संसार में खोजते रहे, संसार से चूक गये, नहीं मिला। नहीं मिला क्योंकि वह भी कल्पना का जाल था, मिलता कैसे? अब परमात्मा का कल्पना-जाल फैलाते हो। अब तुम कृष्ण को सजाकर खड़े हो। अब उनके मुंह पर बांसुरी रख दी है। गीत तुम्हारा है। ये कृष्ण भी तुम्हारे हैं, यह बांसुरी भी तुम्हारी, यह गुनगुनाहट भी तुम्हारी। ये मूर्ति तुम्हारी है और फिर इसी के सामने घुटने टेक कर झुके हो। ये शास्त्र तुमने रच लिये हैं और फिर इन शास्त्रों को छाती से लगाये बैठे हो। ये स्वर्ग और नर्क, और यह मोक्ष और ये इतने दूर-दूर के जो तुमने बड़े वितान ताने हैं, ये तुम्हारी ही आकांक्षाओं के खेल हैं।
संसार से थक गये लेकिन वस्तुतः वासना से नहीं थके हो। यहां से तंबू उखाड़ दिया तो मोक्ष में लगा दिया है। स्त्री के सौंदर्य से ऊब गये, पुरुष के सौंदर्य से ऊब गये तो अप्सराओं के सौंदर्य को देख रहे हो। या राम की, कृष्ण की मूर्ति को सजाकर शृंगार कर रहे हो। मगर खेल जारी है। खिलौने बदल गये, खेल जारी है। खिलौने बदलने से कुछ भी नहीं होता। खेल बंद होना चाहिए। अष्टावक्र कहते हैं, "निर्वासनो, निरालंबः।"

जिसकी वासना गिर गई उसका आश्रय भी गिर गया। अब आश्रय कहां खोजना है?
वह खड़े होने को जगह भी नहीं मांगता। वह इस अतल अस्तित्व में शून्यवत हो जाता है। वह कहता है मुझे कोई आधार नहीं चाहिए।
आधार का अर्थ ही है कि मैं बचना चाहता हूं, मुझे सहारा चाहिए। ज्ञानी
ने तो जान लिया कि मैं हूं कहां? जो है, है ही। उसके लिए कोई सहारे की जरूरत नहीं है। यह जो मेरा मैं है इसको सहारे की जरूरत है क्योंकि यह है नहीं। बिना सहारे के न टिकेगा। यह लंगड़ा-लूला है; इसे बैसाखी चाहिए।
निरालंब का अर्थ होता है: अब मुझे कोई बैसाखी नहीं चाहिए। अब कहीं जाना ही नहीं है, कोई मंजिल न रही तो बैसाखी की जरूरत क्या? पैर भी नहीं चाहिए। अब कोई यान नहीं चाहिए। अब तो डूबने की भी मेरी तैयारी है उतनी ही, जितनी उबरने की। अब तो जो करवा दे अस्तित्व, वही करने को तैयार हूं। तो अब नाव भी नहीं चाहिए। अब डूबते वक्त ऐसा थोड़े ही, कि मैं चिल्लाऊंगा कि बचाओ।
ज्ञानी तो डूबेगा तो समग्रमना डूब जायेगा। डूबते क्षण में एक क्षण को
भी ऐसा भाव न उठेगा कि यह क्या हो रहा है? ऐसा नहीं होना चाहिए। जो हो रहा है, वही हो रहा है। उससे अन्यथा न हो सकता है, न होने की कोई आकांक्षा है। फिर आश्रय कैसा?
तुम परमात्मा का आश्रय किसलिए खोजते हो, कभी तुमने खयाल किया? कभी विश्लेषण किया? परमात्मा का भी आसरा तुम किन्हीं वासनाओं के लिए खोजते हो। कुछ अधूरे रह गये हैं स्वप्न; तुमसे तो किये पूरे नहीं होते, शायद परमात्मा के सहारे पूरे हो जायें। तुम तो हार गये; तो अब परमात्मा के कंधे पर बंदूक रखकर चलाने की योजना बनाते हो। तुम तो थक गये और गिरने लगे; अब तुम कहते हो, प्रभु अब तू सम्हाल। असहाय का सहारा है तू। दीन का दयाल है तू। पतित-पावन है तू। हम तो गिरे। अब तू सम्हाल।
लेकिन अभी सम्हलने की आकांक्षा बनी है। इसे अगर गौर से देखोगे तो इसका अर्थ हुआ, तुम परमात्मा की भी सेवा लेने के लिए तत्पर हो अब। यह कोई प्रार्थना न हुई। यह परमात्मा के शोषण का नया आयोजन हुआ। वासना तुम्हारी है, वासना की तृप्ति की आकांक्षा तुम्हारी है। अब तुम परमात्मा का भी सेवक की तरह उपयोग कर लेना चाहते हो। अब तुम चाहते हो, तू भी जुट जा मेरे इस रथ में। मेरे खिंचे नहीं खिंचता, अब तू भी जुट जा। अब तू भी जुते तो ही खिंचेगा। हालांकि तुम कहते बड़े अच्छे शब्दों में हो। लफ्फाजी सुंदर है। तुम्हारी प्रार्थनायें, तुम्हारी स्तुतियां अगर गौर से खोजी जायें
तो तुम्हारी वासनाओं के नये-नये आडंबर हैं। मगर तुम मौजूद हो। तुम्हारी स्तुति में तुम मौजूद हो। और तुम्हारी स्तुति परमात्मा की स्तुति नहीं, परमात्मा की खुशामद है, ताकि किसी वासना में तुम उसे संलग्न कर लो; ताकि उसके सहारे कुछ पूरा हो जाये जो अकेले-अकेले नहीं हो सका।
मेरे पास लोग आ जाते हैं, वे कहते हैं कि संन्यास दे दें। मैं पूछता हूं किसलिए? वे कहते हैं, अपने से तो कुछ नहीं पा सके; अब आपके सहारे...मगर पाकर रहेंगे। जीवन को ऐसे ही थोड़े चले जाने देंगे।
पाने की दौड़ कायम है। नहीं पा सके तो साधन बदल लेंगे, सिद्धांत बदल लेंगे, शास्त्र बदल लेंगे, लेकिन पाकर रहेंगे। हिंदू मुसलमान हो जाते हैं, मुसलमान ईसाई हो जाते हैं, ईसाई बौद्ध हो जाते हैं--पाकर रहेंगे। शास्त्र बदल लेंगे, साधन बदल लेंगे, लेकिन पाकर रहेंगे।
ज्ञानी वही है, जिसने जागकर देखा कि पाने को यहां कुछ नहीं है। जिसे
हम पाने चले हैं वह पाया हुआ है। फिर आश्रय की भी क्या खोज! फिर आदमी निराश्रय, निरालंब होने को तत्पर हो जाता है। उस निरालंब दशा का नाम ही संन्यास है।
निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो...।
और जो स्वयं के छंद को उपलब्ध हो गया है।
इस शब्द को खूब-खूब समझ लेना; क्योंकि इस शब्द के साथ बड़ा अनाचार हुआ है। शब्द भी हैं संसार में जिनके साथ बड़ा अनाचार हो जाता है। स्वच्छंद उन शब्दों में से एक है, जिसके साथ लोगों ने बड़ा दर्ुव्यवहार किया है।

स्वच्छंद का लोग अर्थ ही करते हैं, स्वेच्छाचारी। स्वच्छंद का लोग अर्थ ही करते हैं, उच्छृंखल। ऐसा भाषाकोशों में देखोगे तो मिल जायेगा। स्वच्छंद बड़ा प्यारा शब्द है। इसका अर्थ उच्छृंखल नहीं होता। इसका अर्थ इतना ही होता है: जिसने अपने भीतर के छंद को पा लिया, गीत को पा लिया। जो स्वयं के छंद को उपलब्ध हो गया। जो अब किसी और का गीत गाने में उत्सुक नहीं। जो शरीर का गीत भी गाने में उत्सुक नहीं, मन का गीत भी गाने में उत्सुक नहीं; जिसने स्वयं के गीत को पा लिया। जिसने अपने अंतरतम के गीत को पा लिया। जिसे अंतरतम की लय उपलब्ध हो गई। जो अब उस लय के साथ नाच रहा है। हममें से कुछ शरीर का गीत गा रहे हैं। दुखी हम होंगे ही। क्योंकि वह हमारा गीत नहीं। हममें से कुछ शरीर की ही वासनाओं को पूरा करने में लगे हैं। वे कभी पूरी नहीं होतीं। वे कभी पूरी हो नहीं सकतीं। क्योंकि शरीर का स्वभाव क्षणभंगुर है। आज भूख लगती है, भर दो पेट, कल फिर भूख लगेगी। कोई एक दफा पेट भर देने से भूख थोड़े ही मिट जायेगी! भूख तो फिर-फिर लगेगी। आज प्यास है, पानी पी लो, फिर घड़ी भर बाद प्यास लगेगी। आज कामवासना जगी है, कामवासना में डूब लो, फिर घड़ी भर बाद कामवासना जगेगी।
शरीर का स्वभाव क्षणभंगुर है। वहां तृप्ति कभी स्थिर हो नहीं सकती। अतृप्ति वहां बनी ही रहेगी। लाख तुम करो उपाय, तुम्हारे उपाय से कुछ न होगा। शरीर का स्वभाव नहीं है।
यह तो ऐसे ही है जैसे कोई आदमी आग को ठंडा करने में लगा हो; कि रेत से तेल निचोड़ने में लगा हो। तुम कहोगे पागल है। आग कहीं ठंडी हुई? आग का स्वभाव गर्म होना है। कि रेत से कहीं तेल निचुड़ा? रेत में तेल है ही नहीं। पागल मत बनो।
शरीर से जो तृप्ति की आकांक्षा कर रहा है वह नासमझ है। उसने शरीर के स्वभाव में झांककर नहीं देखा। शरीर क्षणभंगुर है। बना ही क्षणभंगुर से है। भंगुरता शरीर का स्वभाव है। जिन-जिन चीजों से मिला है वे सभी चीजें बिखरने को तत्पर हैं; बिखरेंगी। शाश्वत जब तक न हो तब तक तृप्ति कहां? सनातन न मिले तब तक सुख कहां?
नहीं, शरीर के छंद को जिसने अपना छंद मान लिया, जिसने ऐसा गलत तादात्म्य किया वह भटकेगा, वह रोयेगा, वह तड़फेगा। और शरीर के छंद को अपना छंद मान लिया तो अपना छंद जो भीतर गूंज रहा है अहर्निश, सुनाई ही न पड़ेगा। शरीर के नगाड़ों में, बैंडबाजों में, क्षणभंगुर की चीख-पुकार में, शोरगुल में, बाजार में, वह जो भीतर अहर्निश बज रही वीणा स्वयं की, वह सुनाई ही न पड़ेगी।
वह सुर बड़ा धीमा है। वह सुर शोरगुलवाला नहीं है। उसे सुनने के लिए शांति चाहिए; निश्चल चित्त चाहिए; मौन अवधारणा चाहिए; निगूढ़ वासनाशून्यता चाहिए। आना-जाना न हो, आपाधापी न हो, भागदौड़ न हो; बैठ गये हो, कुछ करने को न हो, ऐसी निष्क्रिय दशा में, ऐसे शांत प्रवाह में उसका आविर्भाव होता है। फूटती है भीतर की किरण। आती है सुगंध। जब आती है तो खूब आती है। एक बार द्वार-दरवाजा खुल जाये तो रग-रग रोआं-रोआं आनंदित हो उठता है।
उस भीतर के गीत के फूटने का नाम है स्वच्छंद। स्वच्छंद का अर्थ है: जो अपने गीत से जीता। न तो समाज के गीत से जीता, न राष्ट्र के गीत से जीता।
राष्ट्रगीत उसका गीत नहीं। समाज का गीत उसका गीत नहीं। संप्रदाय, मंदिर, मस्जिद, पंडित-पुरोहित उसका गीत नहीं।
ये तो दूर की बातें हैं, अपने शरीर की भी लय में लय नहीं बांधता। शरीर
को कहता है, तू ठीक, तेरा काम ठीक। भूख लगे, रोटी ले। प्यास लगे, पानी ले। लेकिन इतना मैंने जान लिया कि तेरे साथ शाश्वत का कोई संबंध नहीं है। शरीर की भी छोड़ें, मन का गीत भी नहीं गुनगुनाता। क्योंकि देख लिया कि
मन भी क्षण-क्षण बदल रहा है। एक क्षण ठहरता नहीं। जो ठहरता ही नहीं वह सुख को कैसे उपलब्ध होगा? बिना ठहराव के सुख कैसे संभव है? जो रुकता ही नहीं, जो भागा ही चला जाता है, वह कैसे विश्रांति पायेगा? भागना जिसका गुणधर्म है। मन का गुणधर्म भागना है। मन ठहरा कि मरा। जब तक भागता है तभी तक जीता है। मन तो साइकिल जैसा है--बाइसिकल। पैडल मारते रहे, चलती रहती है। पैडल

रुके, कि गिरे। मन दौड़ता रहे तो चलता रहता है। रुके कि गिरा। जो रुकने से मिट जाता है वहां विश्राम कैसे होगा? वहां विराम कैसे होगा?
स्वच्छंद का अर्थ है: अब मन का छंद भी अपना छंद नहीं। अब तो हम उस छंद
को गाते, जो हमारे आत्यंतिक स्वभाव से उठ रहा है। वही है अनाहत नाद, ओंकार।
नाम उसे कुछ भी दो। बुद्ध उसे निर्वाण कहते हैं, महावीर उसे कैवल्यदशा कहते हैं। अष्टावक्र का शब्द है, स्वच्छंदता। और बड़ा प्यारा शब्द है।
निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो...।
स्वच्छंद को जो उपलब्ध हो गया।
...मुक्तबंधनः।
वही, केवल वही बंधन से मुक्त है।
इस बात को भी खयाल में लेना। बंधनमुक्ति कोई नकारात्मक बात नहीं है, विधायक बात है। स्वयं के छंद को जो उपलब्ध हो गया वही बंधनमुक्त है। बंधनमुक्ति जंजीरों का टूटना नहीं है मात्र। क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि तुम किसी व्यक्ति को कारागृह से खींचकर बाहर ले आओ; जबर्दस्ती खींचकर बाहर ले आओ; वह आना भी न चाहे और खींचकर बाहर ले आओ; उसकी जंजीरें तोड़ दो; उसे धक्के देकर कारागृह के बाहर कर दो; लेकिन क्या तुम सोचते हो, इससे वह स्वतंत्रता को उपलब्ध हो गया, मुक्त हो गया?
जो आना भी न चाहता था, जो जंजीरें तोड़ना भी न चाहता था, जिसे कारागृह
के बाहर लाने में भी धक्के देने पड़े। यह तो करागृह के बाहर लाना न हुआ। क्योंकि जहां धक्के देकर लाना पड़े उसी का नाम तो कारागृह है। यह तो बड़ा कारागृह आ गया। इसमें धक्के देकर ले आये। पहले धक्के देकर छोटे कारागृह में लाये थे, अब धक्के देकर जरा बड़े कारागृह में ले आये। दीवालें जरा दूर हैं, इससे क्या फर्क पड़ता है? लेकिन जहां धक्के देकर लाना पड़ता है वहीं तो कारागृह है। जबर्दस्ती में बंधन है।
अब तुम देखते हो, कोई आदमी जबर्दस्ती उपवास कर रहा है इससे थोड़े ही स्वच्छंदता मिलेगी। और जितना ही तड़फता है भूख से उतनी ही जबर्दस्ती करता है; क्योंकि सोचता है, लड़ रहा हूं, धक्के दे रहा हूं, आत्मज्ञान की यात्रा कर रहा हूं। कोई आदमी कांटों पर लेटा है, कोई कोड़े मार रहा है शरीर को। कोई रात सोता नहीं, जागा है, खड़ा है। धूपत्ताप में खड़ा है। सता रहा है। अनाचार कर रहा है। स्वयं को पीड़ा दे रहा है, इस आशा में कि इसी तरह तो मुक्ति होगी। नहीं, अष्टावक्र कहते हैं, यह मुक्त होने का उपाय नहीं। यह तो मुक्ति बंधन से भी बदतर हो जायेगी। जबर्दस्ती कहीं मुक्ति हुई?
तो मुक्ति नकारात्मक नहीं है। मुक्ति बंधन के टूटने में ही नहीं है। मुक्ति स्वातंत्र्य की उपलब्धि में है, स्वच्छंदता की उपलब्धि में है। जो स्वच्छंद को उपलब्ध हो जाता है उसके बंधन ऐसे ही गिर जाते हैं, जैसे कभी थे ही नहीं।
ठीक से समझें तो इसका अर्थ होता है कि हम बंधे हैं क्योंकि हमें अपनी आंतरिक स्वतंत्रता का कोई पता नहीं। आंतरिक स्वतंत्रता का पता चल जाये, बंधन गिर जाते हैं। बांधा हमें किसी और ने नहीं है इसलिए लड़ने का कोई सवाल नहीं है। बंधे हैं हम क्योंकि हमने स्वयं को जाना नहीं। हमने अपने को ही बांधा है। किसी ने हमें बांधा नहीं है। यह हमारी धारणा है।
तुमने कभी देखा किसी सम्मोहनविद को किसी व्यक्ति को सम्मोहित करते? सम्मोहनविद जब किसी व्यक्ति को सम्मोहित कर देता है तो उससे जैसा कह देता है, सम्मोहित व्यक्ति वैसा ही मान लेता है। अगर पुरुष को कहे कि तू स्त्री हो गया, अब तू चल मंच पर, तो वह स्त्री की तरह चलता है। कठिन है स्त्री की तरह चलना। पुरुष स्त्री की तरह चले, बहुत कठिन है। क्योंकि स्त्री की तरह चलने के लिए भीतर पूरे शरीर की रचना भिन्न होनी चाहिए। गर्भाशय होना चाहिए तो ही स्त्री की तरह कोई चल सकता है। नहीं तो बहुत मुश्किल है। बड़े अभ्यास की जरूरत है।
लेकिन यह आदमी तो कभी अभ्यास किया भी नहीं। अचानक इसको सम्मोहित करके
कह दिया कि तू स्त्री है, चल। और वह स्त्री की तरह चलता है। क्या हो गया?-- एक मान्यता।

तुम चकित होओगे, आधुनिक मनस्विद सम्मोहन पर बड़ी खोजें कर रहे हैं। अगर सम्मोहित व्यक्ति के हाथ में साधारण-सा कंकड़ उठाकर रख दिया जाये, ठंडा कंकड़, और कह दिया जाये अंगारा है तो हाथ में फफोला आ जाता है। अंगारा तो रखा नहीं, फफोला आता कैसे?
इसी सूत्र के आधार पर लंका में बौद्ध भिक्षु अंगार पर चलते हैं। इससे उल्टा सूत्र। अगर तुमने मान रखा है कि अंगार नहीं जलायेगा, तो नहीं जला सकेगा। तुम्हारी मान्यता चीन की दीवाल बन जाती है। तुमने अगर मान लिया है कि कंकड़ भी अंगारा है तो कंकड़ से भी फफोला आ जाता है। तुम्हारी मान्यता! सूफियों में कहानी है कि बगदाद के बाहर खलीफा उमर शिकार को गया था। और उसने एक बड़े अंधड़ की तरह एक काली छाया को आते देखा। तो उसने रोका। उसने कहा, रुक! मैं खलीफा उमर हूं। और बगदाद में प्रवेश के पहले मेरी आज्ञा चाहिए। तू है कौन? उसने कहा, क्षमा करें मैं मृत्यु हूं। और पांच हजार लोगों को मरना है बगदाद में। और मृत्यु किसी की आज्ञा नहीं मानती। खलीफा आप होंगे। क्षमा करें। पांच हजार लोग मरने को हैं, इतना आपको कह देती हूं। महाप्लेग फैली। और कहते हैं, पचास हजार लोग मरे। खलीफा बहुत नाराज हुआ। वह बाहर राह देखता रहा। जब प्लेग खतम होने लगी और गांव से बीमारी समाप्त होने लगी तो वह बाहर आकर खड़ा रहा। फिर अंधड़ की तरह निकली मौत और उसने पूछा, रुक। आज्ञा न मान, ठीक; लेकिन मौत होकर झूठ बोलना कब से सीखा? तूने कहा, पांच हजार मारने हैं, पचास हजार मर गये। उसने कहा, क्षमा करें, मैंने पांच हजार ही मारे। बाकी पैंतालीस हजार अपने ही भय से मर गये। मैंने उनको छुआ ही नहीं है।
आदमी की हजार बीमारियों में नौ सौ निन्यानबे अपनी ही पैदा की होती हैं। मान लेता है। मान लेता है तो घटना घट जाती है। तुम्हारी मान्यता छोटी-मोटी बात नहीं है।
नागार्जुन एक बौद्ध भिक्षु हुआ। एक युवक ने आकर नागार्जुन को कहा कि मुझे भी मुक्ति का कुछ स्वाद दें। तो नागार्जुन ने कहा, इसके पहले कि मुक्ति का स्वाद ले सको, एक सत्य को जानना पड़ेगा कि बंधन तुमने पैदा किये हैं। उसने कहा, मैं और अपने बंधन करूंगा पैदा? आप भी क्या बात कर रहे हैं! कोई अपने बंधन अपने हाथ से पैदा करता? यह बात तर्कयुक्त नहीं है। बंधन कौन डालना चाहता है? सब मुक्ति चाहते हैं।
नागार्जुन ने कहा, तू भूल यह बात। मेरे देखे मुक्ति शायद ही कोई चाहता है। लोग बंधन ही चाहते हैं। लोग बंधनों से प्रेम करते हैं। पर वह युवक न माना तो नागार्जुन ने कहा, फिर तू एक काम कर, यह सामने गुफा है, तू इसमें भीतर चला जा। और तीन दिन अब न तो पानी, न भूख; बस तीन दिन तू एक ही बात का विचार करता रह कि तू आदमी नहीं है, भैंस है। उसने कहा, इससे क्या होगा? तीन दिन बाद नागार्जुन ने कहा, हम देखेंगे। अगर तीन दिन तू टिक गया तो बात हो जायेगी।
युवक जिद्दी था। युवक था। चला गया गुफा में। लग गया रटन में। न दिन देखा, न रात; न भूख देखी, न प्यास। बाहर आया नहीं। आंख नहीं खोली। दोहराता रहा कि मैं भैंस हूं, मैं भैंस हूं...। पहले तो पागलपन लगा। घंटे-दो घंटे तो बिलकुल व्यर्थ की बकवास लगी। लेकिन धीरे-धीरे हैरान होना शुरू हुआ। भैंस भीतर से प्रकट होने लगी। भाव आने लगा। आंख खोलकर देखी तो आदमी जैसा आदमी है। आंख बंद करे तो कुछ-कुछ भैंस की धारणा। स्थूल देह...वजन होने लगा।
तीन दिन पूरे होतेऱ्होते...तीसरे दिन सुबह जब नागार्जुन ने उसके पास जाकर द्वार पर खड़े होकर कहा कि बाहर आ, तो उसने निकलने की कोशिश की और उसने कहा, क्षमा करें, सींग के कारण निकल नहीं सकता हूं। सींग अटकते हैं। नागार्जुन ने जोर से उसे चांटा मारा और कहा, आंख खोल। कैसे सींग? आंख खोली तिलमिला कर--न कोई सींग हैं, न कोई बात है, लेकिन क्षणभर पहले निकल नहीं पा रहा था। नागार्जुन ने कहा, मान्यता...। यह सम्मोहन का एक प्रयोग था।
हम अपने बंधन स्वयं माने बैठे हैं।
मुक्तबंधन का अर्थ होता है: हमने स्वयं के छंद को अनुभव किया। हमने स्वतंत्रता का स्वाद और रस लिया। रस लेते ही फिर हम बंधन अपने निर्मित

नहीं करते। कोई और तुम्हारा कारागृह नहीं बना रहा है, तुम ही अपने कारागृह के निर्माता हो। तुम्हीं कैदी हो, तुम्हीं जेलर। तुम्हीं पड़े हो सीखचों के भीतर और सीखचे तुमने ही ढाले हैं। हथकड़ियां, बेड़ियां जरूर तुम्हारे पैरों पर हैं लेकिन किसी और के द्वारा निर्मित नहीं हैं: उन हथकड़ियों- बेड़ियों पर तुम्हारे ही हस्ताक्षर हैं।
एक बड़ी प्रसिद्ध सूफी कथा है। एक बहुत बड़ा लोहार था। बड़ा प्रसिद्ध लोहार था। वह जो भी बनाता था, सारे संसार में उसकी बनाई गई चीजों की ख्याति थी। वह जो भी बनाता था उस पर अपने हस्ताक्षर कर देता था। फिर एक बार उसकी राजधानी पर हमला हुआ। वह पकड़ लिया गया। गांव के सभी प्रमुख प्रतिष्ठित लोग पकड़ लिये गये, उनमें वह भी पकड़ लिया गया। उसके हाथ में जंजीरें डाल दी गईं, पैर में बेड़ियां डाल दी गईं और पहाड़ी खंदकों में उसे फिंकवा दिया गया और प्रतिष्ठित नागरिकों के साथ।
और सब तो बड़े रो रहे थे और घबड़ा रहे थे लेकिन वह निश्चिंत था। उस नगर
के वजीर ने उससे कहा कि भाई, हम सब घबड़ा रहे हैं कि अब क्या होगा, लेकिन तू निश्चिंत है? उसने कहा, मैं लोहार हूं। जीवन भर हथकड़ियां मैंने ढालीं; तोड़ भी सकता हूं। ये हथकड़ियां मुझे कुछ रोक न पायेंगी। आप घबड़ायें मत। अगर मैंने अपनी हथकड़ियां तोड़ लीं तो तुम्हारी भी तोड़ दूंगा। एक दफा इनको हमें फेंककर चले जाने दें।
वजीर भी हिम्मत से भर गया, राजा भी हिम्मत से भर गया। जब दुश्मन उन्हें खंदकों में फेंककर लौट गये तो वजीर ने कहा, अब क्या विचार है? लेकिन अचानक लोहार उदास हो गया और रोने लगा। उसने कहा, क्या मामला है? तू अब तक तो हिम्मत बांधे था, अब क्या हुआ? उसने कहा, अब मुश्किल है। मैंने हथकड़ी गौर से देखी, इस पर तो मेरे हस्ताक्षर हैं। यह तो मेरी ही बनाई हुई है। यह नहीं टूट सकती। यह असंभव है। मैंने कमजोर चीज कभी बनाई ही नहीं। मैं हमेशा मजबूत से मजबूत चीज ही बनाता रहा हूं। वही मेरी ख्याति है। यह किसी और की बनाई होती तो मैंने तोड़ दी होती। अब यह टूटनेवाली नहीं। क्षमा करें। इस पर मेरे हस्ताक्षर हैं।
मैं तुमसे कहता हूं, तुम्हारी हर हथकड़ी पर तुम्हारे हस्ताक्षर हैं। कोई और तो ढालेगा भी कैसे? और मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि रोने की कोई जरूरत नहीं है। कितनी ही मजबूत हो, तुम्हारी ही बनाई हुई है। और बनानेवाले से बनाई गई चीज कभी भी बड़ी नहीं होती। हो नहीं सकती।
कितना ही बड़ा चित्र कोई बनाये चित्रकार, लेकिन चित्रकार चित्र से बड़ा रहता है। और कितना ही बड़ा गीत कोई गाये गीतकार, लेकिन गायक गीत से बड़ा रहता है। और कितना ही मधुर कोई नाचे नर्तक, लेकिन नर्तक नृत्य से बड़ा रहता है। इसीलिए तो परमात्मा संसार से बड़ा है। और इसीलिए तो आत्मा शरीर से बड़ी है।
चिंता न लेना। यह बात, कि जीवन के सारे बंधन हमारे ही बनाये हुए हैं, घबड़ानेवाली नहीं है, मुक्तिदायी है। हम तोड़ सकते हैं।
और मजा तो यह है कि बंधन काल्पनिक हैं। वस्तुतः नहीं हैं, स्वप्नवत हैं, सम्मोहन के हैं।
निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो मुक्तबंधनः।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्।।
"वासनामुक्त, वासनाशून्य, स्वतंत्र, निरालंब, स्वयं के छंद को उपलब्ध बंधनरहित जो पुरुष है"--फिर अनुवाद में थोड़ी भूल है--"प्रारब्धरूपी हवा से प्रेरित होकर शुष्क पत्ते की भांति व्यवहार करता है।"
मूल है: संसारवातेन--संसार की हवा से--प्रारब्ध का कोई सवाल नहीं है। भाग्य का कोई सवाल नहीं है। संसार की गति है, उस संसार की गति में सूखे पत्ते की तरह...हवा में जैसे सूखा पत्ता पूरब-पश्चिम जाता, ऊपर-नीचे गिरता; ऐसे ही पूर्ण ज्ञानी पुरुष बहुत-से व्यवहारों में संलग्न होता मालूम पड़ता है, लेकिन तुम यह नहीं कह सकते कि वह करता है।
जब सूखा पत्ता पूरब की तरफ जाता है तो तुम यह थोड़े ही कहोगे कि सूखा पत्ता पूरब की तरफ जा रहा है। सूखा पत्ता तो कहीं नहीं जा रहा है, हवा पूरब की तरफ जा रही है। हवा दिखाई नहीं पड़ती, सूखा पत्ता दिखाई पड़ता है। लेकिन सूखा पत्ता तो कहीं नहीं जा रहा है। हवा न चले, सूखा पत्ता गिर जायेगा।

ज्ञानी अपने को छोड़ देता अस्तित्व के सागर में जहां ले जाये। उसकी अपनी कोई निजी आकांक्षा नहीं है।
और इस सूत्र में समाधि का सारा सार है। चलो, उठो, बैठो--संसारवातेन।
तुम अपनी आकांक्षा से नहीं। जो होता हो, जैसा होता हो, वैसा होने दो। दुकान करते हो, दुकान करते रहो। युद्ध के मैदान में खड़े हो तो युद्ध के मैदान में जूझते रहो। जैसे हो, जहां हो, छोड़ दो अपने को वहीं। वहीं समर्पित हो जाओ।
बहने दो संसार की हवाएं; तुम सूखे पत्ते हो जाओ।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्।
बस, फिर सब अपने से हो जायेगा। फिर कुछ और करने को नहीं है। तुम सूखे पत्ते क्या हुए, तुम्हारे जीवन में सारे अमृत की वर्षा हो जायेगी।
जहां अपनी कोई आकांक्षा नहीं रहती वहां कोई दुख नहीं रह जाता। वहां कोई पराजय नहीं, विषाद नहीं। वहां कोई मान नहीं, सम्मान नहीं, अपमान नहीं।
वहां कोई हार नहीं, जीत नहीं। क्षण-क्षण वहां परमात्मा बरसता है। उस परमात्मा का नाम ही स्वयं का छंद है। वह तुम्हारा ही गीत है जो तुम भूल बैठे। गुनगुनाओगे, फिर याद आ जायेगा।
असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता।
और जो सूखे पत्ते की भांति हो गया, ऐसे जिसके भीतर संसार न रहा-- असंसारस्य।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।
"संसारमुक्त पुरुष को न तो कभी हर्ष है और न विषाद। वह शांतमना सदा विदेह की भांति शोभता है।"
अनुवाद में कुछ खो जाता लगता है। असंसारस्य--अनुवाद में कहा है संसारमुक्त पुरुष को। असंसारस्य का अर्थ होता है, जिसके भीतर संसार न रहा; या जिसके लिए संसार न रहा।
संसार का अर्थ ही क्या है? ये वृक्ष, ये चांदत्तारे, ये थोड़े ही संसार हैं! संसार का अर्थ है, भीतर बसी वासनाएं, कामनाएं, इच्छाएं--उनका जाल। कुछ पाने की इच्छा संसार है। कुछ होने की इच्छा संसार है। महत्वाकांक्षा संसार है।
असंसारस्य--जिसके भीतर संसार न रहा, जिसमें संसार न रहा; या जो संसार में रहकर भी अब संसार का नहीं है। ऐसे व्यक्ति को कहां हर्ष, कहां विषाद! स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।
ऐसे पुरुष का मन हो गया शीतल--शीतलमना।
इसे भी समझना। जब तक जीवन में हर्ष और विषाद है तब तक तुम शीतल न हो सकोगे। क्योंकि हर्ष और विषाद, सुख और दुख, सफलता-असफलता ज्वर लाते हैं, उत्तेजना लाते हैं, उद्वेग लाते हैं। जब तुम दुखी होते हो तब तो बीमार होते ही हो, जब तुम सुखी होते हो तब भी बीमार होते हो। सुख भी बीमारी है, क्योंकि उत्तेजक है। सुख में शांति कहां? तुमने एक बात तो जान ली है कि दुख में शांति कहां? दूसरी बात जाननी है कि सुख में भी शांति कहां? सुख में भी उत्तेजना हो जाती है। चित्त में खलल हो जाती है।
तुमने देखा न? आदमी दुख में तो बच जाता है, कभी-कभी सुख में मर जाता है।
मैंने सुना, एक आदमी को दस लाख रुपये मिल गये लाटरी में। खबर आयी तो पत्नी घबड़ा गई। पत्नी ने कहा, पति आते ही होंगे...दस लाख! दस रुपये का नोट भी कभी इकट्ठा इनके हाथ में नहीं पड़ा। दस लाख! सह न सकेंगे इस सुख को। बहुत डर गई। ईसाई थी। पास में ही पादरी था, भागी गई। कहा कि आप कुछ उपाय करिये। पति आयें, इसके पहले कुछ उपाय करिये। दस लाख! अचानक! हृदय की गति बंद हो जायेगी। मेरे पति को बचाइये।
पुरोहित ने कहा, घबड़ाओ मत। पादरी ने कहा, मैं आता हूं। सब सम्हाल लेंगे। पादरी आकर बैठ गया। आया पति घर, तो पादरी ने हिसाब से बात की। उसने कहा कि सुनो, तुम्हें लाटरी मिली, एक लाख रुपया जीते...धीरे-धीरे उसने सोचा, ऐसा हिसाब करके धीरे-धीरे कहेंगे। लाख सह लेगा तो फिर लाख और बतायेंगे; फिर लाख सह लेगा तो फिर लाख और बतायेंगे। वह आदमी बड़ा प्रसन्न हो गया। उसने कहा कि अगर लाख रुपये मुझे मिले तो पचास हजार चर्च को दान करता हूं।

कहते हैं, पादरी वहीं गिर पड़ा, हार्ट फेल हो गया। पचास हजार...! कभी देखे नहीं, सुने नहीं।
सुख भी गहरी उत्तेजना लाता है। सुख का भी ज्वर है। दुख का तो ज्वर है ही; और दुख को तो हम झेल भी लेते हैं, क्योंकि दुख के हम आदी हो गये हैं। और सुख को तो हम झेल भी नहीं पाते, क्योंकि सुख का हमें कोई अभ्यास ही नहीं है। मिलता ही कहां सुख कि अभ्यास हो जाये?
तो न तो आदमी दुख को झेल पाता, न सुख को झेल पाता है। और दोनों ही स्थिति में आदमी का चित्त उत्तेजना से भर जाता है। उत्तेजना यानी गर्मी। शीतलता खो जाती है। और शीतलता में शांति है।
असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।।
और जो शीतलमन हो गया, अब जहां सुख-दुख नहीं आते, अब जहां सुख और दुख के पक्षी बसेरा नहीं करते; ऐसा जो अपनी स्वच्छंदता में शीतल हो गया है; जिसके भीतर बाहर से अब कोई उत्तेजना नहीं आती; हार और जीत की कोई खबरें अब अर्थ नहीं रखतीं; सम्मान कोई करे और अपमान कोई करे, भीतर कुछ अंतर नहीं पड़ता। भीतर एकरसता बनी रहती है। ऐसा जो शीतलमन हो गया है, वह व्यक्ति शांतमना सदा विदेह की भांति शोभता है। वह तो राजसिंहासन पर बैठ गया।
नित्यं विदेह इव राजते।
वह तो देह नहीं रहा अब, विदेह हो गया। क्योंकि सुख और दुख से जो प्रभावित नहीं होता है वह देह के पार हो गया। सुख और दुख से देह ही प्रभावित होती है। ये सब देह के ही गुणधर्म हैं: सुख और दुख से आंदोलित हो जाना। विदेह हो गया। देह के पार हो गया, अतिक्रमण हो गया।
कुत्रापि न जिहासाऽस्ति नाशो वापि न कुत्रचित्।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः।।
"आत्मा में रमण करनेवाले और शीतल तथा शुद्ध चित्तवाले धीरपुरुष की न कहीं त्याग की इच्छा है और न कहीं पाने की इच्छा है।"
अब न कुछ पकड़ना है, न कुछ छोड़ना है। अब तो उसे जान लिया जो है। पकड़ना- छोड़ना तो तभी तक है जब तक हमें अपना पता नहीं। अपना पता हो गया तो क्या पकड़ना है? क्या छोड़ना है? क्योंकि पकड़ने से अब कुछ बढ़ेगा नहीं और छोड़ने से अब कुछ घटेगा नहीं। अब जिसे अपना पता हो गया उसे तो सब मिल गया। अब सब पकड़ना-छोड़ना व्यर्थ है।
अब तो ऐसा ही है, जैसे सारे जगत का साम्राज्य मिल गया, वह कंकड़-पत्थर बीनता फिरे। जो सारे साम्राज्य का मालिक हो गया, विराट के सिंहासन पर बैठ गया, अब वह चुनाव में खड़ा हो जाये, कि म्युनिसपल में मेंबर बनना है! बेमानी बातें हैं। अब उसका कुछ अर्थ न रहा।
जिसे अंतर की प्रतिष्ठा मिल गई अब वह किसी और की प्रतिष्ठा चाहे, यह बात ही खतम हो गई। सच तो यह है, दूसरे के द्वारा दी गई प्रतिष्ठा कोई प्रतिष्ठा थोड़े ही है। क्योंकि दूसरे के हाथ में है। जब चाहे तब खींच लेगा। दूसरे के द्वारा मिली प्रतिष्ठा तो एक तरह की गुलामी है। अगर तुमने मुझे प्रतिष्ठा दी तो मैं तुम्हारा गुलाम हुआ। क्योंकि तुम किसी दिन खींच लोगे तो मैं क्या करूंगा? तुम्हारी दी थी, तुम्हारा दान था, मैं तो भिखारी था। तुम्हारा दिल बदल गया, तुम्हारा मन बदल गया, हवा बदल गई, मौसम बदल गया। तुम और ढंग से सोचने लगे। दूसरे के द्वारा दी गई प्रतिष्ठा तो भीख है। स्वच्छंद में जो जीता है उसकी एक और ही प्रतिष्ठा है। वह एक और ही सिंहासन है। वह अपना ही सिंहासन है। उसे कोई छीन नहीं सकता। उसे कोई चोर चुरा नहीं सकता, डाकू लूट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती। मृत्यु भी उसे नहीं छीन सकती, औरों की तो बात ही क्या!
और ऐसा व्यक्ति आत्मा में रमण करनेवाला हो जाता है। स्वच्छंद आत्मा में रमण करने वाला--आत्मारामस्य।
हम सब दूसरे में रमण कर रहे हैं। कोई धन में रमण कर रहा है। सोचता है
और लाख, दस लाख, और करोड़ हो जायें। उसका रमण धन में चल रहा है। कोई पद में रमण कर रहा है: इससे बड़ी कुर्सी, उससे बड़ी कुर्सी, कुर्सियों पर कुर्सियां चढ़ता चला जाता है।

अलग-अलग तरह के लोग हैं, लेकिन एक बात में समान हैं कि रमण अपने से बाहर हो रहा है--पर-संभोग। यह संसारी का लक्षण है। स्व-संभोग, आत्मरति, आत्मा में रमण, यह धार्मिक का लक्षण है। धार्मिक वही है, जिसे यह कला आ गई कि अपना रस अपने भीतर है; और जो अपने ही रस को चूसने लगा।
अब यह बड़े मजे की बात है कि जब हम दूसरे का रस भी चूसते हैं, तब भी वस्तुतः हम दूसरे का रस नहीं चूसते, तब भी रस तो अपना ही होता है।
जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चूसता है और बड़ा प्रसन्न होता है। तुम हड्डी छुड़ाओ, छोड़ेगा नहीं। हालांकि हड्डी में कुछ भी नहीं है, रस तो है नहीं।
हड्डी में रस कहां? लेकिन कुत्ते को कुछ मिलता जरूर है। मिलता यह है कि सूखी हड्डी उसके मुंह में घाव बना देती है। खुद का ही खून बहने लगता है। खुद के ही खून का स्वाद आने लगता है। वही खुद का खून कंठ में उतरने लगता है, कुत्ता सोचता है रस हड्डी से आ रहा है।
सब रस तुमने जो अब तक जाने हैं, तुमसे ही आये। और हड्डी के कारण नाहक तुमने घाव बनाये। हड्डी छोड़ दो, घाव से छुटकारा हो जायेगा। रस तो तुम्हारा है। रस बाहर से आता ही नहीं।
एक अमीर आदमी अपनी तिजोड़ी में सोने की ईंटें रखे था। रोज खोलकर देख लेता था। अंबार लगा रखा था सोने की ईंटों का। फिर बंद कर देता था। बड़ा प्रसन्न होता था। उसका बेटा यह देखता था। सारा घर परेशान था। लोग जरूरत की चीजें भी पा नहीं सकते थे और वह ईंटें जमाये बैठा था। घर के लोग ही दरिद्रता में जी रहे थे।
आखिर बेटे ने धीरे-धीरे करके एक-एक ईंट खिसकानी शुरू कर दी और ईंट की जगह पीतल की ईंटें रखता गया--सोने की ईंट की जगह। बाप की प्रसन्नता जारी रही। धीरे-धीरे सब ईंटें नदारद हो गईं। लेकिन बाप रोज खोल लेता तिजोड़ी, देखता ईंटें रखी हैं, प्रसन्न होकर ताला बंद कर देता। जिस दिन मर रहा था, उस दिन बेटे ने कहा, एक बात आपसे कहनी है। यह मजा आप भीतर ही भीतर का ले रहे हैं। ईंटें वहां हैं नहीं, क्योंकि ईंटें तो हम खिसका चुके हैं बहुत पहले। तत्क्षण बाप दुखी हो गया; छाती पीटने लगा। जिंदगी गुजर गई मजे में, अब यह मरते वक्त दुखी हो गया।
सोने की ईंट में थोड़े ही सुख है, तुम्हारी मान्यता, कि सोने की ईंट है, बहुमूल्य है, अपनी है, मैं मालिक, अपने पास है, इसमें सुख है। सुख तो तुम्हारा भीतर है, हड्डी तुम कोई भी चुन लो।
धार्मिक व्यक्ति वही है जिसने हड्डी छोड़ दी, क्योंकि हड्डी के कारण घाव बनते हैं। और जिसने कहा, जब सुख भीतर ही है तो सीधा-सीधा ही क्यों न ले लें? बैठेंगे आंख बंद करके; डूबेंगे। नाचेंगे भीतर। बजायेंगे वीणा भीतर की। गुनगुनायेंगे भीतर। डुबकी लेंगे प्रेम में। डूबेंगे भीतर रस में। इतना ही फर्क है संसारी और असंसारी में। संसारी सोचता है, बाहर कहीं है। जब तुम किसी सुंदर स्त्री को देखकर प्रसन्न होते हो तब भी प्रसन्नता तुम्हारे भीतर से ही आती है। और जब तुम, लोग तुम्हें फूलमालायें पहनाते हैं तब तुम प्रसन्न होते हो, तब भी प्रसन्नता तुम्हारे भीतर से ही आती है। और जब कोई तुम्हें किसी भी तरह का सुख देता है, तब जरा गौर से देखना, सुख वहां से आता है कि कहीं भीतर से ही झरता? बाहर तो निमित्त हैं, स्रोत भीतर है। बाहर तो बहाने हैं, मूल स्रोत भीतर है।
बहानों से मुक्त होकर जो व्यक्ति रस लेने लगता है उसको अष्टावक्र कहते हैं, "आत्मारामस्य"। आत्मा में ही अब अपना रस लेने लगा। अब इसके ऊपर कोई बंधन न रहा। अब दुनिया में कोई इसे दुखी नहीं कर सकता। और अब इसकी सारी भ्रांतियां टूट गईं। इसने मूल स्रोत को पा लिया।
यह स्रोत भीतर है। हम जरा चक्कर लगाकर पाते हैं। और चक्कर लगाने के कारण बहुत-सी उलझनें खड़ी कर लेते हैं। कभी-कभी तो ऐसा हो जाता है कि जिन निमित्तों के कारण हम इस सुख को पाना चाहता हैं, वे निमित्त ही इतने बड़े बाधा बन जाते हैं कि हम इस तक पहुंच ही नहीं पाते।
प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता।।

"स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है और सहज रूप से कर्म करता है, उस धीरपुरुष के सामान्य जन की तरह न मान है और न अपमान है।"
"स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है...।"
क्या अर्थ हुआ, स्वाभाविक रूप से शून्यचित्त? चेष्टा से नहीं, प्रयास
से नहीं, अभ्यास से नहीं, यत्न से नहीं; स्वभावतः, समझ से, बोध से, जागरूकता से जिसने इस सत्य को समझा कि सुख मेरे भीतर है। इसे तुम देखो। इसे तुम पहचानो। इसे तुम जगह-जगह जांचो, परखो। इसके लिए कसौटी सजग रखो।
देखा तुमने? रात पूर्णिमा का चांद है, तुम बैठे हो, बड़ा सुख मिल रहा है। तुम जरा आंख बंद करके खयाल करो, चांद निमित्त है या चांद से सुख आ रहा? क्योंकि तुम्हारे पड़ोस में ही दूसरा आदमी भी बैठा है और उसको चांद से बिलकुल सुख नहीं मिल रहा। उसकी पत्नी मर गई है, वह रो रहा है। चांद को देखकर उसे क्रोध आ रहा है, सुख नहीं आ रहा। चांद पर उसे नाराजगी आ रही है। वह कह रहा है कि आज ही पूर्णिमा होनी थी? यह भी कोई बात हुई? इधर मेरी पत्नी मरी और आज ही तुम्हें पूरा होना था? और आज ही रात ऐसी चांदनी से भरनी थी? यह व्यंग हो रहा है मेरे ऊपर, यह मजाक हो रहा है मेरे ऊपर। यह कोई वक्त था? चार दिन रुक जाते तो कुछ हर्ज था?
जिसकी प्रेयसी मिल गई है, उसको अमावस की रात में भी पूर्णिमा मालूम पड़ती है और जिसकी प्रेयसी खो गई है, पूर्णिमा की रात भी अमावस हो जाती है। कहते हैं भूखा आदमी अगर देखता हो आकाश में तो चांद भी रोटी जैसा लगता है, जैसे रोटी तैर रही है।
जर्मनी के एक बहुत बड़े कवि हेनरिक हेन ने लिखा है कि वह तीन दिन के लिए जंगल में खो गया एक बार। इतना भूखा, इतना भूखा, कि जब पूर्णिमा का चांद निकला तो उसे लगा कि रोटी तैर रही है। वह बड़ा हैरान हुआ। उसने कवितायें पहले बहुत लिखी थीं, कभी भी नहीं सोचा था कि चांद में और रोटी दिखाई पड़ेगी। हमेशा किसी सुंदरी का मुख दिखाई पड़ता था। आज एकदम रोटी दिखाई पड़ने लगी। उसने बहुत चेष्टा भी की कि सुंदरी का मुख देखे, लेकिन जब पेट भूखा हो, तीन दिन से भूखा हो, पांव में छाले पड़े हों और जान जोखिम में हो, कहां की सुंदर स्त्री! ये सब तो सुख-सुविधा की बातें हैं। चांद दिखता है कि रोटी तैर रही है। आकाश में रोटी तैर रही है।
तुम्हें बाहर से जो मिलता है वह भीतर का ही प्रक्षेपण है। रस भीतर है। जीवन का सारा सार भीतर है।
"स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है--प्रकृत्या शून्यचित्तस्य।"
और जबर्दस्ती चेष्टा मत करना। जबर्दस्ती की चेष्टा काम नहीं आती। तुम जबर्दस्ती अपने को बिठाल लो पद्मासन लगाकर, आंख बंद करके, पत्थर की तरह मूर्ति बनकर बैठ जाओ, इससे कुछ भी न होगा। तुम भीतर उबलते रहोगे, आग जलती रहेगी। भागदौड़ जारी रहेगी। वासना का तूफान उठेगा, अंधड़ उठेंगे। कुछ भी बदलेगा नहीं।
प्रकृत्या--तुम्हें धीरे-धीरे समझपूर्वक, चेष्टा से नहीं, जबर्दस्ती आरोपण से नहीं। कबीर कहते हैं, साधो सहज समाधि भली। सहजता से। समझो जीवन को। देखो। जहां-जहां सुख मिलता हो वहां-वहां आंख बंद करके गौर से देखो-- भीतर से आ रहा, बाहर से? तुम सदा पाओगे, भीतर से आ रहा है। और जहां-जहां जीवन में दुख मिलता हो वहां भी गौर से देखना; तुम सदा पाओगे, दुख का अर्थ ही इतना होता है, भीतर से संबंध छूट गया।
सुख का इतना ही अर्थ होता है, भीतर से संबंध जुड़ गया। किस बहाने जुड़ता
है यह बात महत्वपूर्ण नहीं है। भीतर से जब भी संबंध जुड़ जाता है, सुख मिलता है। और भीतर से जब भी संबंध छूट जाता है, दुख मिलता है।
किसी ने गाली दे दी, दुख मिलता है। लेकिन तुम समझना, गाली केवल इतना ही करती है कि तुम भूल जाते हो अपने को। तुम्हारा भीतर से संबंध छूट जाता है। गाली तुम्हें इतना उत्तेजित कर देती है कि तुम्हें याद ही नहीं रह जाती कि तुम कौन हो। एक क्षण में तुम बावले हो जाते! उद्विग्न, विक्षिप्त। टूट गया संबंध भीतर से।
मित्र आ गया बहुत दिन का बिछुड़ा, वर्षों की याद! हाथ में हाथ ले लिया, गले से गले लग गये। एक क्षण को भीतर से संबंध जुड़ गया। इस मधुर क्षण में, इस

मित्र की मौजूदगी में तुम अपने से जुड़ गये। एक क्षण को भूल गईं चिंतायें, दिन के भार, दिन के बोझ खो गये। एक क्षण को तुम अपने में डूब गये। यह मित्र केवल बहाना है। यह केवल निमित्त हो गया।
जिस घड़ी में भी तुम अपने से जुड़ जाते, सुख बरस जाता। जिस घड़ी तुम अपने
से टूट जाते, दुख बरस जाता।
इस सत्य को धीरे-धीरे पहचानने लगता है जब कोई, तो धीरे-धीरे निमित्त
को त्यागने लगता है। फिर बैठ जाता है अकेला। इसी का नाम ध्यान है। फिर वह यह फिक्र नहीं करता कि मित्र आये तब सुखी होंगे। ऐसे रोज मित्र आते नहीं। और रोज आने लगें तो सुख भी न आयेगा; वे कभी-कभी आते हैं तो ही आता है। ऐसे घर में ही ठहर जायें तो फिर बिलकुल न आयेगा।
फिर ऐसा व्यक्ति इसकी चिंता नहीं करता कि चांद जब निकलेगा तब सुखी होंगे; कि जब बसंत आयेगा और फूल खिलेंगे तब सुखी होंगे। ऐसी भी क्या कंजूसी? जब सुख भीतर ही है तो धीरे-धीरे बिना निमित्त के व्यक्ति अपने को अपने से जोड़ने लगता है। इसी का नाम ध्यान। ऐसे बैठ जाता है शांत, अपने से जोड़ लेता है--बिना निमित्त के। निमित्तशून्यता में अपने से जोड़ लेता।
और जब कभी एक बार भी बिना निमित्त के तुम अपने से जुड़ जाते हो, तो घटना
घट गई। कुंजी मिल गई। अब तुम जानते हो, अब किसी पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं है। जब चाहो तब ताला खुलेगा। जब चाहो तब भीतर का द्वार उपलब्ध है। बीच बाजार में तुम आंख बंद करके खड़े हो सकते हो और डूब जा सकते हो अपने में।
फिर धीरे-धीरे आंख बंद करने की भी जरूरत नहीं रह जाती, क्योंकि वह भी निमित्त ही है। फिर आंख खुली रखे तुम अपने में डूब जाते हो। फिर तुम काम करते-करते भी डूब जाते हो। फिर ऐसा भी नहीं है कि पद्मासन में ही बैठना पड़े, कि पूजागृह में बैठना पड़े, कि मंदिर-मस्जिद में बैठना पड़े। फिर तुम बाजार में, खेत में, खलिहान में काम करते-करते भी अपने में डूब जाते हो। धीरे-धीरे यह तुम्हारा इतना सहज भाव हो जाता कि इसमें बाहर आना, भीतर आना जरा भी अड़चन नहीं देता। एक घड़ी ऐसी आती कि तुम अपने भीतर के स्रोत में डूबे ही रहते हो। करते रहते हो काम, चलता रहता है बाजार, दुकान भी चलती है, ग्राहक से बात भी चलती, खेत-खलिहान भी चलता, गङ्ढा भी खोदते जमीन में, बीज भी बोते, फसल भी काटते, बात भी करते, चीत भी सुनते, सब चलता रहता है और तुम अपने में डूबे खड़े रहते हो। ऐसे रसलीन जो हो गया वही सिद्ध-पुरुष है। "स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है और सहज रूप से कर्म करता है, उस धीरपुरुष के सामान्य जन की तरह न मान है न अपमान।"
कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।
इति चिंतानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न।।
"यह कर्म शरीर से किया गया है, मुझ शुद्धस्वरूप द्वारा नहीं, ऐसी चिंतना का जो अनुगमन करता है, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता है।"
और अब तो जब तुम अपने स्वरूप में डूब जाते हो तो तुम्हें पता चलता है,
जो हो रहा है, या तो शरीर का है या मन का है; या शरीर और मन के बाहर फैली प्रकृति का है। मेरा किया हुआ कुछ भी नहीं। मैं अकर्ता हूं। मैं केवल साक्षी मात्र हूं। ऐसी चिंतना की धारा तुम्हारे भीतर बह जाती। ऐसा सूत्र, ऐसी चिंतामणि तुम्हारे हाथ लग जाती।
जब तुम देखते हो कि भूख लगी तो शरीर में घटना घटती है और तुम देखनेवाले ही बने रहते हो। तुम्हारी सुखधार में जरा भी भेद नहीं पड़ता। इसका यह अर्थ नहीं कि तुम भूखे मरते रहते हो। तुम उठते हो, तुम शरीर को कुछ भोजन का इंतजाम करते हो। प्यास लगती है तो शरीर को पानी देते हो। यह तुम्हारा मंदिर है। इसमें तुम्हारे देवता बसे हैं। तुम इसकी चिंता लेते, फिक्र लेते, लेकिन अब तुम तादात्म्य नहीं करते। अब तुम ऐसा नहीं कहते कि मुझे भूख लगी है। अब तुम कहते हो, शरीर को भूख लगी है। अब तुम चिंता करते हो लेकिन चिंता का रूप बदल गया। अब शरीर तृप्त हो जाता है, तो तुम कहते हो शरीर तृप्त हुआ। शरीर को प्यास लगी, पानी दिया। शरीर को नींद आ गई, शरीर को विश्राम दिया। लेकिन तुम अलिप्त, अलग-अलग, दूर-दूर, पार-पार रहते।

तुम फिक्र कर लेते हो, जैसे कोई अपने घर की फिक्र करता है। जिस घर में तुम रहते हो, स्वच्छ भी करते हो, कभी रंग-रोगन भी करते हो, दीवाली पर सफेदा भी पुतवाते हो, कपड़े भी धुलवाते हो, परदे भी साफ करते हो, फर्नीचर भी बदल लेते हो; यह सब...लेकिन इससे तुम यह भ्रांति नहीं लेते कि मैं मकान हूं। तुम मकान के मालिक ही रहते हो; निवास करते हो। तुम कभी इसके साथ इतने ज्यादा संयुक्त नहीं हो जाते कि मकान गिर जाये तो तुम समझो कि मैं मर गया; कि छप्पर गिर जाये तो तुम समझो कि अपने प्राण गये; कि मकान में आग लग जाये तो तुम चिल्लाओ कि मैं जला।
ऐसी ही घटना घटती है ज्ञानी की। जैसे-जैसे भीतर का रस स्पष्ट होता, भीतर का साक्षी जागता, वैसे देह तुम्हारा गृह रह जाती।
अगर ठीक से समझो तो गृहस्थ का यही अर्थ है: जिसने देह को अपना होना समझ लिया, वह गृहस्थ। और जिसने देह को देह समझा और अपने को पृथक समझा, वही संन्यस्त।
"यह कर्म शरीर से किया गया, मुझ शुद्धस्वरूप द्वारा नहीं, ऐसी चिंतना
का जो अनुगमन करता, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता है।"
और यह महाघोष--कि फिर उस व्यक्ति के कोई कर्म नहीं हैं। उसे कोई कर्म छूता नहीं। वह अकर्ता हो गया। करते हुए अकर्ता हो गया।
"जीवन्मुक्त उस सामान्य जन की ही तरह कर्म करता है, जो कहता कुछ है और करता कुछ और है"--इस सूत्र को समझना--"तो भी वह मूढ़ नहीं होता है। और वह सुखी श्रीमान संसार में रहकर भी शोभायमान होता है।"
अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते।।
यह सूत्र थोड़ा जटिल है; फिर से सुनें।
"जीवनमुक्त उस सामान्य जन की तरह ही कर्म करता है, जो कहता कुछ है और करता कुछ और है...।"
सामान्य आदमी का क्या लक्षण है? हम कहते हैं, बेईमान है; कहता कुछ, करता कुछ। अष्टावक्र कहते हैं, यही हालत मुक्त पुरुष की भी है--कहता कुछ, करता कुछ। मगर एक बड़ा फर्क है; और फर्क बड़ा बुनियादी है।
अज्ञानी कहता कुछ, करता कुछ। अज्ञानी जो करता, वही उसकी सचाई है; जो कहता वह झूठ। फर्क समझ लेना। अज्ञानी जो कहता, वह झूठ। वह धोखा दे रहा है। कहने में मामला उसका सच नहीं है, वह झूठ बोल रहा है। जो करता है, वही उसकी सचाई है। तुम उसके कर्म से ही उसे पहचानना।
ज्ञानी के मामले में सिक्का बिलकुल उल्टा है। ज्ञानी जो कहता, बिलकुल सच; जो करता, वह झूठ। फर्क खयाल में आया? ज्ञानी जो कहता, बिलकुल सच कहता। कहने में जरा भी भूलचूक नहीं होती उसकी। लेकिन वह जो करता है, उस पर तुम ज्यादा जोर मत देना। क्योंकि भूख लगेगी तो वह भी भोजन करेगा। आग लगेगी मकान में तो वह भी निकलकर बाहर आयेगा।
वह भी कुछ कहेगा और करेगा कुछ। पूछने जाओगे तो वह कहेगा कि मैं कहां
जल सकता? "नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।" कहां आग जला सकती और कहां शस्त्र मुझे छेद सकते! लेकिन मकान में आग लगेगी तो तुम उसे भागते बाहर देखोगे। इससे तुम यह मत सोचना कि यह आदमी बेईमान है। वह जो कहता है, सच कहता है। उसके करने पर ध्यान मत देना, उसके कहने पर ध्यान देना। यह सच है, वह जो कह रहा है कि कहां मुझे कौन जला सकता? उसे कोई जलाता भी नहीं। देह जलेगी, वह नहीं जलेगा। लेकिन देह में जब तक तुम हो, देह तुम्हारा मंदिर है; तुम्हारे देवता का आवास, उसकी चिंता लेना।
अज्ञानी की हालत भी ऐसी ही लगती है कि कुछ कहता, कुछ करता। लेकिन उसके करने पर ध्यान देना। वह जो करता है वही उसकी सचाई है; वह कहे कुछ भी। उसके करने में तुम सत्य को पाओगे, ज्ञानी के ज्ञान में तुम सत्य को पाओगे। ज्ञानी ज्ञान में जीता, कर्म में नहीं। अज्ञानी कर्म में जीता, ज्ञान में नहीं।
"जो धीरपुरुष अनेक प्रकार के विचारों से थककर शांति को उपलब्ध होता
है, वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है, न देखता है।" नानाविचारसुश्रांतो धीरो विश्रांतिमागतः।

न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति।।
"जो धीरपुरुष अनेक प्रकार के विचारों से थककर शांति को उपलब्ध होता है...।"
और जल्दी मत करना। जल्दबाजी खतरनाक है, महंगी है। अधैर्य मत करना। अगर अभी विचारों में रस हो तो विचार खूब कर लेना, थक जाना। अगर संसार में रस हो तो जल्दी नहीं है कुछ। परमात्मा प्रतीक्षा कर सकता है अनंत काल तक। घबड़ाओ मत। जल्दी मत करना। संसार में रस हो तो थका लेना रस को। अगर बिना थके संसार से आ गये भागकर और छिप गये संन्यास में तो मन दौड़ता रहेगा। शांति न मिलेगी।
अगर विचारों में मन अभी लगा था और मन डांवांडोल होता था, और तुम किसी तरह बांधकर ले आये जबर्दस्ती तो भाग-भाग जायेगा। सपने उठेंगे। कल्पनाजाल उठेगा। मोह फिर पैदा होंगे। नये-नये ढंगों से पुरानी विकृतियां फिर वापिस आयेंगी; पीछे के दरवाजों से आ जायेंगी, बाहर के दरवाजे बंद कर आओगे तो। इससे कुछ लाभ न होगा।
अष्टावक्र कहते हैं, जीवन को ठीक-ठीक जान लो। थक जाओ। जहां-जहां रस हो, वहां-वहां थक जाओ। जाओ। गहनता से जाओ। भय की कोई जरूरत नहीं है। खोना कुछ संभव नहीं। तुम कुछ खो सकते नहीं। जो तुम्हारा है, सदा तुम्हारा है। तुम कितने ही गहन संसार में उतर जाओ, तुम्हारी आत्मा अलिप्त रहेगी। जाओ। खोज लो अंधेरी रात को। इसमें रस है, इसे पूरा कर लो। इसे विरस हो जाने दो। तुम्हारे ओंठ ही तुमसे कह दें, तुम्हारी जीभ तुमसे कह दे कि बस, अब तिक्त हो गया स्वाद। किसी और की सुनकर मत भाग खड़े होना।
कोई बुद्धपुरुष मिल जाये और कह दे कि संसार सब असार है...और जब बुद्धपुरुष कहते हैं तो उनकी बात में बल तो होता ही है। उनकी बात में चमत्कार तो होता ही है। उनकी बात के पीछे उनके प्राण तो होते ही हैं। उनकी बात के पीछे उनकी पूरी ऊर्जा होती है, जीवन का अनुभव होता है। तो जब कोई बुद्धपुरुष कुछ कहता है तो उसके वचन तीर की तरह चले जाते हैं। मगर इससे काम न होगा। तुम किसी बुद्धपुरुष की मानकर पीछे मत चले जाना, नहीं तो तुम भटकोगे, पछताओगे। फिर-फिर लौटोगे। इस संसार की प्रक्रिया को ठीक से थका ही डालो। जहां तुम्हारा रस हो वहां चले ही जाओ। उसे भोग ही लो।
जब विचार स्वयं थक जाते हैं और मन स्वयं ही थककर क्षीण होने लगता है तभी...।
"जो धीर पुरुष अनेक प्रकारों के विचारों से थककर"--थककर, खयाल रखना--"शांति को उपलब्ध होता है, वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है, न देखता है।"
फिर कोई अड़चन नहीं रह जाती। जो थककर आया है वह बैठते ही शांत हो जाता है। जिसका रस अभी कहीं अटका रह गया है वह शांत नहीं हो पाता। वह मंदिर में भी चला जायेगा तो दुकान की सोचेगा। वह प्रार्थना भी करेगा, पूजा भी करेगा तो दूसरे विचारों की तरंगें आती रहेंगी। ऊपर-ऊपर होगी प्रार्थना, भीतर-भीतर होगी वासना। ऊपर-ऊपर होगा राम, भीतर-भीतर होगा काम। उससे कुछ लाभ न होगा, क्योंकि जो भीतर है वही सच है। जो ऊपर है वह किसी मूल्य का नहीं। दो कौड़ी उसका मूल्य है। तुम कितना ही राम-राम दोहराओ इससे कुछ भी नहीं होता। तुम्हारे दोहराने का सवाल नहीं है, तुम्हारे अनुभव का; अनुभवसिक्त हो जाने का।
नानाविचारसुश्रांतो धीरो विश्रांतिमागतः।
तभी मिलती है विश्रांति, विराम, जब नाना विचारों में दौड़कर थक गये तुम। जीवन का अनुभव लेकर लौट आये घर। बाजार, दुकान, व्यर्थ। सबको खोज डाला, कहीं पाया नहीं। सब तरह से हारकर लौटे। हारे को हरिनाम! और तब हरि का जो नाम उठता है, जो हरिकीर्तन उठता है, उसकी सुगंध और, उसकी सुवास और।
जब तक हार न गये हो, आधी यात्रा से मत लौट आना। नहीं तो मन तो यात्रा करता ही रहेगा। इस जीवन में बड़े से बड़े संकटों में एक संकट है, अपरिपक्व अवस्था में ध्यान, समाधि, धर्म में उत्सुक हो जाना। ऐसे, जैसे कच्चा फल कोई तोड़ ले। पका नहीं था अभी। जब पक जाता है फल तो अपने से गिरता है। उसमें एक सौंदर्य है, एक लालित्य है, एक प्रसाद है। न तो वृक्ष को पता चलता है कि कब

फल गिर गया। न फल को पता चलता है कि कब गिर गया। न कोई चोट फल को लगती, न वृक्ष को लगती। चुपचाप अलग हो जाता है। बिना किसी संघर्ष के अलग हो जाता है। सहज, प्रकृत्या--चुपचाप अलग हो जाता है।
पको! पककर ही गिरो।
और इसीलिए मेरा जोर इस बात पर है कि संसार से भागो ही मत। क्योंकि भागने में बड़ा आकर्षण है। क्योंकि संसार में दुख है यह सच है। संसार में सुख भी है यह भी सच है। दुख देखकर तुम भाग जाओगे, लेकिन जब कुटी में बैठोगे जाकर जंगल की तो सुख याद आयेगा।
बड़ी पुरानी कथा है: ईश्वर ने आदमी को बनाया। आदमी अकेला था। उसने प्रार्थना की कि मैं अकेला हूं, मन नहीं लगता, तो ईश्वर ने स्त्री को बनाया। सब काम पूरा हो चुका था, ईश्वर सारी बनावट पूरी कर चुका था। सामान बचा नहीं था बनाने को तो उसने कई-कई जगह से सामान लिया। थोड़ी चांदनी चांद से ले ली, थोड़ी रोशनी सूरज से ले ली, थोड़े रंग मोर से ले लिये, थोड़ी तेजी सिंह से ले ली। ऐसा सामान चारों तरफ से, सब तरफ से इकट्ठा करके उसने स्त्री बनाई, क्योंकि सब काम पूरा हो चुका था। वह आदमी बना चुका था, तब आखिर में ये सज्जन आये, कहने लगे, अकेले में मन नहीं लगता।
तो स्त्री बना दी उसने लेकिन स्त्री उपद्रव थी। क्योंकि कभी-कभी वह गीत गाती तो कोयल जैसा! और कभी-कभी सिंहनी जैसी दहाड़ती भी। कभी-कभी चांद जैसी शीतल, और कभी-कभी सूरज जैसी उत्तप्त हो जाती। जब क्रोध में होती तो सूरज हो जाती, जब प्रेम में होती तो चांदनी हो जाती। तीन दिन में आदमी थक गया। उसने कहा, यह तो मुसीबत है। इससे तो अकेले बेहतर थे। तीन दिन स्त्री के साथ रहकर पता चला कि एकांत में बड़ा मजा है। एकांत का मजा बिना स्त्री के चलता ही नहीं पता। ब्रह्मचर्य का आनंद गृहस्थ हुए बिना पता चलता ही नहीं। वह भागा, वापिस गया। उसने ईश्वर से कहा, कि क्षमा करें, भूल हो गई। मैंने जो मांगा, वह गलती हो गई। आप यह स्त्री वापिस ले लें, मुझे नहीं चाहिए। यह तो बड़ा उपद्रव है। और यह तो मुझे पागल कर छोड़ेगी। और यह भरोसे योग्य नहीं है। कभी गाती और कभी क्रोधित हो जाती। और कब कैसे बदल जाती यह कुछ समझ में नहीं आता। यह अतक्र्य है। यह आप ही सम्हालें।
ईश्वर ने कहा, जैसी मर्जी।
तीन दिन छोड़ गया ईश्वर के पास स्त्री को। घर जाकर लेटा, बिस्तर पर पड़ा, याद आने लगी। उसके मधुर गीत! उसका गले में हाथ डालकर झूलना! उसकी सुंदर आंखें! तीन दिन बाद भागा पहुंचा। उसने कहा कि क्षमा करें, वह स्त्री मुझे वापिस दे दें। सुंदर थी। गीत गाती थी। घर में थोड़ी गुनगुन थी। सब उदास हो गया। अब जंगल से लौटता हूं हारा-थका, लकड़ी काटकर, जानवर मारकर, कोई स्वागत करने को नहीं। घर थी तो चाय-कॉफी तैयार रखती थी। द्वार पर खड़ी मिलती थी। प्रतीक्षा करती थी। नहीं, बड़ी उदासी लगती है। क्षमा करें, भूल हो गई। मुझे वापिस दे दें।
ईश्वर ने कहा, जैसी तुम्हारी मर्जी।
तीन दिन में फिर हालत खराब हो गई। तीन दिन बाद वह फिर आ गया। ईश्वर ने कहा, अब बकवास बंद। तुम न स्त्री के बिना रह सकते हो, न स्त्री के साथ रह सकते हो। तो अब जैसे भी हो, गुजारो।
तब से आदमी जैसे भी हो वैसे गुजार रहा है!
तुम अगर बाजार में हो तो आश्रम बड़ा प्रीतिकर लगेगा। अगर तुम आश्रम में हो तो बाजार की याद आने लगेगी। अगर तुम बंबई में हो तो कश्मीर, अगर कश्मीर में हो तो बंबई।
संसार में सुख और दुख मिश्रित हैं। वहां चांद भी है और सूरज भी। और मोर भी नाचते हैं और सिंह भी दहाड़ते हैं। तो जब तुम मौजूद होते हो संसार में तो सब उसका दुख दिखाई पड़ता है; वह उभरकर आ जाता है। जब तुम दूर हट जाते हो तो सब याद आती हैं सुख की बातें।
इसलिए मैं कहता हूं मेरे संन्यासी को, भागना मत। वहीं रहना। पकना।
भागना मत, पकना। पककर गिरना। थक जाने देना। अपने से होने देना। तुम जल्दी मत करना।
जो सहज हो जाये वही सुंदर है।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
बासठवां प्रवचन

घन बरसे

पहला प्रश्न: आप कहते हैं कि समझ पैदा हो जाये तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। आप जिस समझ की तरफ इशारा करते हैं, क्या वह बुद्धि की समझ से भिन्न है? असली समझ पर कुछ प्रकाश डालने की अनुकंपा करें।

बुद्धि की समझ तो समझ ही नहीं। बुद्धि की समझ तो समझ का धोखा है। बुद्धि की समझ तो तरकीब है अपने को नासमझ रखने की। बुद्धि का अर्थ होता है: जो तुम जानते हो उस सबका संग्रह। जाने हुए के माध्यम से अगर सुना तो तुम सुनोगे ही नहीं। जाने हुए के माध्यम से सुना तो तुम ऐसे ही सूरज की तरफ देख रहे हो, जैसे कोई आंख बंद करके देखे।
जो तुम जाने हुए बैठे हो--तुम्हारा पक्षपात, तुम्हारी धारणाएं, तुम्हारे सिद्धांत, तुम्हारा शास्त्र, तुम्हारे संप्रदाय--अगर तुमने उनके माध्यम से सुना तो तुम सुनोगे कैसे? तुम्हारे कान तो बहरे हैं। शब्द तो भरे पड़े हैं। कुछ का कुछ सुन लोगे। वही सुन लोगे जो सुनना चाहते हो। बुद्धि का अर्थ है: तुम्हारा अतीत--अब तक तुमने जो जाना, समझा, गुना है।
समझ का अतीत से कोई संबंध नहीं। समझ तो उसे पैदा होती है जो अतीत को सरका कर रख देता है नीचे; और सीधा वर्तमान के क्षण को देखता है--अतीत के माध्यम से नहीं, सीधा-सीधा, प्रत्यक्ष, परोक्ष नहीं। बीच में कोई माध्यम नहीं होता।
तुम अगर हिंदू हो और मुझे सुनते वक्त हिंदू बने रहे तो तुम जो सुनोगे
वह बुद्धि से सुना। मुसलमान बने रहे तो जो सुना, बुद्धि से सुना। गीता भीतर गूंजती रही, कुरान भीतर गुनगुनाते रहे और सुना, तो बुद्धि से सुना। गीता बंद हो गई, कुरान बंद हो गया, हिंदू-मुसलमान चले गये, तुम खाली हो गये निर्मल दर्पण की भांति, जिस पर कोई रेखा नहीं विचार की, अतीत की कोई राख नहीं; तुमने सीधा मेरी तरफ देखा खुली आंखों से, कोई पर्दा नहीं, और सुना तो एक समझ पैदा होगी।
उस समझ का नाम ही प्रज्ञा, विवेक। वही समझ रूपांतरण लाती है। बुद्धि
से सुना तो सहमत हो जाओगे, असहमत हो जाओगे। बुद्धि को हटाकर सुना, रूपांतरित हो जाओगे; सहमति-असहमति का सवाल ही नहीं।
सत्य के साथ कोई सहमत होता, असहमत होता? सत्य के साथ बोलो कैसे सहमत होओगे? सत्य के साथ सहमत होने का तो यह अर्थ होगा कि तुम पहले से ही जानते थे। सुना, राजी हो गये। तुमने कहा, ठीक; यही तो सच है। यह तो प्रत्यभिज्ञा हुई। यह तो तुम मानते थे पहले से, जानते थे पहले से। गुलाब का फूल देखा, तुमने कहा गुलाब का फूल है। जानते तो तुम पहले से थे ही; नहीं तो गुलाब का फूल कैसे पहचानते?
सत्य को तुम जानते हो? जानते होते तो सहमत हो सकते थे। जानते होते और कोई गेंदे के फूल को गुलाब कहता तो असहमत हो सकते थे। जानते तो नहीं हो। जानते नहीं हो इसीलिए तो खोज रहे हो। इस सत्य को समझो कि जानते नहीं हो। तुमने अभी गुलाब का फूल देखा नहीं। इसलिए कैसे तो सहमति भरो, कैसे असहमति भरो? न तो सिर हिलाओ सहमति में, न असहमति में। सिर ही मत हिलाओ। बिना हिले सुनो।
और जल्दी क्या है? इतनी जल्दी हमें रहती है कि हम जल्दी से पकड़ लें-- क्या ठीक, क्या गलत। उसी जल्दी के कारण चूके चले जाते हैं। निष्कर्ष की जल्दी मत करो। सत्य के साथ ऐसा अधैर्य का व्यवहार मत करो। सुन लो। जल्दी नहीं है सहमत-असहमत होने की।
और जब मैं कहता हूं सुन लो, तो तुम यह भ्रांति मत लेना कि मैं तुमसे कह रहा हूं, मुझसे राजी हो जाओ। बहुतों को यह डर रहता है कि अगर सुना और अपनी बुद्धि एक तरफ रख दी तो फिर तो राजी हो जायेंगे। बुद्धि एक तरफ रख दी तो

राजी होओगे कैसे? बुद्धि ही राजी होती, न-राजी होती। बुद्धि एक तरफ रख दी तो सिर्फ सुना।
पक्षियों की सुबह की गुनगुनाहट है--तुम राजी होते? सहमत होते? असहमत होते? निर्झर की झरझर है, कि हवा के झोंके का गुजर जाना है वृक्षों की शाखाओं से--तुम राजी होते? न राजी होते? सहमत-असहमति का सवाल नहीं। तुम सुन लेते। आकाश में बादल घुमड़ते, तुम सुन लेते। ऐसे ही सुनो सत्य को, क्योंकि सत्य आकाश में घुमड़ते बादलों जैसा है। ऐसे ही सुनो सत्य को, क्योंकि सत्य जलप्रपातों के नाद जैसा है। ऐसे ही सुनो सत्य को क्योंकि सत्य मनुष्यों की भाषा जैसा नहीं, पक्षियों के कलरव जैसा है।
संगीत है सत्य; शब्द नहीं।
निःशब्द है सत्य; सिद्धांत नहीं।
शून्य है सत्य; शास्त्र नहीं।
इसलिए सुनने की बड़ी अनूठी कला सीखनी जरूरी है। जो ठीक से सुनना सीख गया उसमें समझ पैदा होती। तुम ठीक से तो सुनते ही नहीं।
मुल्ला नसरुद्दीन से एक दिन पूछा कि तू पागल की तरह बचाये चला जाता है। रद्दी-खद्दी चीजें भी फेंकता नहीं। कूड़ा-करकट भी इकट्ठा कर लेता है। सालों के अखबारों के अंबार लगाये बैठा है। कुछ कभी तेरे घर से बाहर जाता ही नहीं। यह तूने बचाने का पागलपन कहां से सीखा? उसने कहा, एक बुजुर्ग की शिक्षा से। मैं थोड़ा चौंका। क्योंकि मुल्ला नसरुद्दीन ऐसा आदमी नहीं कि किसी से कुछ सीख ले। तो मैंने कहा, मुझे पूरे ब्योरे से कह; विस्तार से कह। किस बुजुर्ग की शिक्षा से?
उसने कहा, मैं नदी के किनारे बैठा था। एक बुजुर्ग पानी में गिर गये और जोर-जोर से चिल्लाने लगे, "बचाओ! बचाओ!" उसी दिन से मैंने बचाना शुरू कर दिया।
तुम वही सुन लोगे जो सुनना चाहते हो।
कवि जी को आयी जम्हाई
बोले, हे मां!
सुनकर कविपत्नी भभकी
बोली, होकर तीन बच्चों के बाप
नाम रट रहे हेमा का?
सत्यानाश हो सिनेमा का
हम जो सुनना चाहते हैं, सुन लेते हैं। वही थोड़े ही सुनते हैं जो कहा जाता है। हमारा सुनना शुद्ध नहीं है, विकृत है।
बुद्धि से सुना गया, सुना ही नहीं गया। सुनने का धोखा हुआ, आभास हुआ। लगता था, सुना। तुम्हारे विचार बीच में आ गये। तुम्हारी बुद्धि ने आकर सब रूपांतरित कर दिया; अपना रंग उंडेल दिया। काले को पीला कर दिया, पीले को काला कर दिया। फिर तुम तक जो पहुंचा, वह वही नहीं था जो दिया गया था। वह बिलकुल ही विनष्ट होकर पहुंचा, विकृत होकर पहुंचा।
इसलिए पहली बात: बुद्धि की समझ कोई समझ नहीं है। एक और समझ है, वही समझ रूपांतरण लाती है। उसको कहो ध्यान की समझ। बुद्धि की नहीं, विचार की नहीं, निर्विचार की समझ। तर्क की नहीं, शांत भाव की; विवाद की नहीं, संवाद की। तुम मुझे सुनो बुद्धि से तो सतत विवाद चलता है। ठीक कह रहे, गलत कह रहे, अपने शास्त्र के अनुसार कह रहे कि विपरीत कह रहे, मैं राजी होऊं कि न राजी होऊं, अब तक मेरी मान्यताओं के तराजू पर बात तुलती है या नहीं तुलती है, ऐसी सतत भीतर तौल चल रही है।
यह विवाद है। तुम राजी भी हो जाओ तो भी दो कौड़ी का है तुम्हारा राजी होना। क्योंकि विवाद से कहीं कोई सहमति आयी? विवाद की सहमति दो कौड़ी की है; उसका कोई मूल्य नहीं।--संवाद! संवाद का अर्थ है, जब मैं कह रहा हूं तब तुम मेरे साथ लीन हो गये। तुमने दूर खड़े रहकर न सुना, तुम मेरे पास आ गये।
तुम मेरे हृदय के पास धड़के। तुम मेरे हृदय की तरह धड़के। तुमने अपने हिसाब-किताब को एक तरफ हटा दिया और तुमने कहा, थोड़ी देर झरोखे को खाली रखेंगे।
थोड़ी देर दर्पण बनेंगे।

दर्पण बनकर जो सुनता है वही सुनता है। और दर्पण बनकर जो सुनता है उसमें समझ अनायास पैदा होती है। दर्पण बनकर जो सुनता है वही शिष्य है; वही सीखने में समर्थ है। जो दर्पण बनकर सुनता है वह ज्ञान के आधार से नहीं सुनता। वह तो इस परम भाव से सुनता है कि मुझे कुछ भी पता नहीं। मैं अज्ञानी हूं। मुझे क, ख, ग भी पता नहीं है। इसलिए क्या विवाद?
पंडित तो कभी सुनता ही नहीं। पंडित का तो अपना ही शोरगुल इतना है कि सुनेगा कैसे? मीन-मेख निकालता, आलोचना में लीन रहता भीतर। अगर राजी भी होता है तो मजबूरी में राजी होता है। और जब राजी भी होता है तो वह अपने से ही राजी होता है। जो सुना गया उससे राजी नहीं होता।
अगर मैंने कुछ बात कही, जो कुरान से मेल खाती थी, मुसलमान राजी हो गया।
वह मुझसे थोड़े ही राजी हुआ! वह कुरान से राजी था, कुरान से राजी रहा। वह मुसलमान था, मुसलमान रहा। इतना ही उसने मान लिया कि यह आदमी भी कुरान की ही बात कहता है। तो ठीक है, कुरान ठीक है, यह इसलिए आदमी भी ठीक है।
जो मुझे सुनेगा उसकी प्रक्रिया बिलकुल उल्टी होगी। वह मुझे सुनेगा। सुनते वक्त विचार नहीं करेगा। सुनते वक्त तो सिर्फ पीयेगा, आत्मसात करेगा। और यह मजा है आत्मसात करने का कि जब कोई सत्य आत्मसात हो जाता है, अगर ठीक होता है तो मांस-मज्जा बन जाता है। तुम्हें सहमत नहीं होना पड़ता, तुम्हारे प्राणों का प्राण हो जाता है। तुम्हें राजी नहीं होना होता, तुम्हारी श्वास-श्वास में बस जाता है।
और अगर सत्य नहीं होता तो यह चमत्कार है...सत्य की यह खूबी है: अगर सत्य
हो और तुम सुन लो तो तुम्हारे प्राणों में बस जाता है। अगर सत्य न हो और तुम मौन और ध्यान से सुन रहे हो, तुमसे अपने आप बाहर निकल जाता है। असत्य पचता नहीं। अगर शांत कोई सुनता हो तो शांति में असत्य पचता नहीं। शांति असत्य को छोड़ देती है। असहमत होती है ऐसा नहीं--इस बात को खयाल में ले लेना--शांति असहमत-सहमत होना जानती ही नहीं। शांति के साथ सत्य का मेल जुड़ जाता है, गठबंधन हो जाता, भांवर पड़ जाती है। और अशांति के साथ असत्य की भांवर पड़ जाती है।
अशांति के साथ सत्य की भांवर पड़नी कठिन है और शांति के साथ असत्य की भांवर पड़नी असंभव है। इसलिए असली सवाल है: शांति से सुनो। जो सत्य होगा उससे भांवर पड़ जायेगी। जो असत्य होगा उससे छुटकारा हो गया। तुम्हें ऐसा सोचना भी न पड़ेगा, क्या ठीक है, क्या गलत है। जो ठीक-ठीक है वह तुम्हारे प्राणों में निनाद बन जायेगा।
और ध्यान रखना, जब सत्य तुम्हारे भीतर गूंजता है तो वह मेरा नहीं होता। अगर तुम उसे गूंजने दो, तुम्हारा हो गया। सत्य किसी का थोड़े ही होता है। जिसके भीतर गूंजा उसी का हो जाता है। असत्य व्यक्तियों के होते हैं; सत्य थोड़े ही किसी का होता है! सत्य पर किसी की बपौती नहीं। सत्य का कोई दावेदार नहीं।
असत्य अलग-अलग होते हैं। तुम्हारा असत्य तुम्हारा, मेरा असत्य मेरा। असत्य निजी होते हैं। झूठ हरेक का अलग होता है। इसलिए सब संप्रदाय झूठ। धर्म का कोई संप्रदाय नहीं, क्योंकि सत्य का कोई संप्रदाय नहीं हो सकता।
सत्य तो एक है, अनिर्वचनीय है। सत्य तो किसी का भी नहीं--हिंदू का नहीं, मुसलमान का नहीं, सिक्ख का नहीं, पारसी का नहीं। सत्य तो पुरुष का नहीं, स्त्री का नहीं। सत्य तो वेद का नहीं, कुरान का नहीं। सत्य तो बस सत्य का है।
तुम जब शांत हो तब तुम भी सत्य के हो गये। उस घड़ी में भांवर पड़ जाती।
उस भांवर में ही क्रांति है। सम्यक श्रवण, शांतिपूर्वक सुनना; और निष्कर्ष की जल्दी नहीं--तो तुम्हारे भीतर वह समझ पैदा होगी जिसकी मैं बात करता हूं।
तुम्हारी बुद्धि के निखार में कुछ सार नहीं है। तुम्हारा तर्क कितना
ही पैना हो जाये, तुम कितनी ही धार रख लो, इससे कुछ भी न होगा। विवाद करने में कुशल हो जाओगे, थोड़ा पांडित्य का प्रदर्शन करने की क्षमता आ जायेगी, किसी से झगड़ोगे, लड़ोगे तो दबा दोगे, किसी को चुप करने की कला आ जायेगी, लेकिन कुछ मिलेगा नहीं।

मिलता तो उसे है, जो चुप होकर पीता है।

दूसरा प्रश्न: आपको पाने के बाद मुझमें बहुत कुछ रूपांतरण हुआ; और ऐसा
भी लगता है कि कुछ भी नहीं हुआ है। इस विरोधाभास को स्पष्ट करने की कृपा करें।

स्वाभाविक है। ऐसा ही होगा। ऐसा ही प्रत्येक को लगेगा। क्योंकि जिस रूपांतरण की हम चेष्टा कर रहे हैं, इस रूपांतरण में कुछ अनूठी बात है, जो समझ लेना। यहां तुम्हें वही बनाने का उपाय किया जा रहा है जो तुम हो। यहां तुम्हें अन्यथा बनाने की चेष्टा नहीं चल रही है। तुम्हें तुम्हारे स्वाभाविक रूप में ले जाने का उपाय हो रहा है। तुम्हें वही देना है जो तुम्हारे पास है।
तो जब मिलेगा तो एक तरफ से तो लगेगा कि अपूर्व मिलन हो गया, क्रांति घटी। अहोभाव! और दूसरी तरफ यह भी लगेगा कि जो मिला वह कुछ नया तो नहीं है। वह तो कुछ पहचाना लगता है। वह तो कुछ अपना ही लगता है। वह तो जैसे था ही अपने भीतर, और याद न रही थी।
बुद्ध को जब ज्ञान हुआ और देवताओं ने उनसे पूछा कि क्या मिला? तो कथा कहती है, बुद्ध हंसे और उन्होंने कहा, मिला कुछ भी नहीं। जो मिला ही हुआ था उसका पता चला। जो प्राप्त ही था लेकिन भूल बैठे थे।
जैसे कभी आदमी चश्मा लगाये और अपने चश्मे को खोजने लगता है। और चश्मे
से ही खोज रहा है। आंख पर चश्मा लगाये है और खोज रहा कि चश्मा कहां गया है। विस्मरण! याददाश्त खो गई है। सत्य नहीं खोया है सिर्फ याद खो गई है।
तो जब याद जागेगी तो ऐसा भी लगेगा कि कुछ मिला, अपूर्व मिला; क्योंकि इसके पहले याद तो नहीं थी। तो भिखारी बने फिर रहे थे। सम्राट थे और अपने को भिखारी समझा था। और ऐसा भी लगेगा कि कुछ भी तो नहीं मिला। सम्राट तो थे ही। इसी की याद आ गई।
विरोधाभास नहीं है। अगर तुम्हें ऐसा लगे कि कुछ एकदम नवीन मिला है तो समझना कि कुछ झूठ मिल गया। ऐसा लगे कि कुछ नवीन मिला है जो अति प्राचीन भी है, तो ही समझना कि सच मिला। अगर ऐसा लगे कि सनातन और चिर नूतन; सदा से है और अभी-अभी ताजा घटा है, ऐसी दोनों बातें एक साथ जब लगें तभी समझना कि सत्य के पास आये। सत्य के द्वार में प्रवेश मिला है।
तुम्हें अन्यथा बनाने की चेष्टा बहुत की गई है। कोई नहीं चाहता कि तुम वही हो जाओ, जो तुम हो। कोई चाहता है तुम कृष्ण बन जाओ, कोई चाहता है तुम क्राइस्ट बन जाओ, कोई चाहता है महावीर बनो, कोई चाहता है बुद्ध बनो। लेकिन तुमने खयाल किया? कभी दुबारा कोई आदमी बुद्ध बन सका? एक बार एक आदमी बुद्ध बना, बस। एक बार एक आदमी कृष्ण बना, बस। अनंत काल बीत गया, दुबारा कोई कृष्ण नहीं बना।
इससे तुम्हें कुछ समझ नहीं आती? इससे कुछ बोध नहीं होता? कि तुम लाख उपाय करो कृष्ण बनने के--रासलीला में बनना हो, बात अलग; असली कृष्ण न बन सकोगे। लाख उपाय करो राम बनने के, रखो धनुषबाण, चले जंगल की तरफ, ले लो सीता को भी साथ और लक्ष्मण को भी; रामलीला होगी, असली राम न बन सकोगे।
असली तो तुम एक ही चीज बन सकते हो, जो अभी तक तुम बने नहीं। और कोई नहीं बना है। असली तो तुम एक ही चीज बन सकते हो जो तुम्हारे भीतर पड़ी है; जो तुम्हारी नियति है; जो तुम्हारा अंतरतम भाग्य है; जो तुम्हारे बीज की तरह छिपा है और वृक्ष की तरह खिलने को आतुर है। और तुम्हें कुछ भी पता नहीं कि वह क्या है। क्योंकि जब तक तुम बन न जाओ, कैसे पता हो? तुमने जिनकी खबरें सुनी हैं उनमें से कोई भी तुम बननेवाले नहीं हो।
बुद्ध, बुद्ध बने। बुद्ध को भी तो राम का पता था। राम नहीं बने बुद्ध। बुद्ध को कृष्ण का पता था, कृष्ण नहीं बने बुद्ध। बुद्ध, बुद्ध बने। तुम, तुम बनोगे। तुम तुम ही बन सकते हो, बस। और कुछ बनने की कोशिश की, झूठ हो जायेगा, विकृति हो जायेगी। आरोपण हो जायेगा। पाखंड बनेगा फिर। परमात्मा तो दूर, और दूर हो जायेगा। तुम पाखंडी हो जाओगे।

मेरी सारी चेष्टा एक है: तुम्हें इस बात की याद दिलानी, कि तुम तुम ही
बन सकते हो।
तो मैं यहां तुम्हें कुछ अन्यथा बनाने की कोशिश या उपाय नहीं कर रहा हूं। मेरी कोई चेष्टा ही नहीं कि तुम्हें कुछ और बना दूं। मेरी सिर्फ इतनी ही चेष्टा है कि तुम्हें इतना याद दिला दूं कि तुम कुछ और बनने की चेष्टा में मत उलझ जाना, अन्यथा चूक जाओगे। समय खोयेगा। शक्ति व्यय होगी। और तुम्हारा जीवन संकट और दुख और दारिद्रय से भरा रह जायेगा।
तुम्हारे भीतर एक फूल छिपा है। और कोई भी नहीं जानता कि वह फूल कैसा होगा। जब खिलेगा तभी जाना जा सकता है। जब तक बुद्ध न हुए थे, किसी को पता न था कि यह गौतम सिद्धार्थ कैसा फूल बनेगा। हां, कृष्ण का फूल पता था, राम का फूल पता था। लेकिन बुद्ध का फूल तो तब तक हुआ न था। अब हमें पता है। लेकिन तुम्हारा फूल अभी भी पता नहीं है। तुम्हारे भीतर कैसा कमल खिलेगा, कितनी पंखुड़ियां होंगी उसकी, कैसा रंग होगा, कैसी सुगंध होगी। नहीं, कोई भी नहीं जानता।
तुम्हारा भविष्य गहन अंधेरे में पड़ा है। तुम्हारा भविष्य बीज में छिपा है। बीज टूटे, बीज की तंद्रा मिटे, बीज जागे, अंकुरित हो, खिले, तो तुम भी जानोगे और जगत भी जानेगा। उसी जानने में जानना हो सकता है। उसके पहले जानने का कोई उपाय नहीं।
इसलिए मैं तुमसे यह भी नहीं कह सकता कि तुम क्या बन जाओगे। भविष्यवाणी नहीं हो सकती। और यही आदमी की महिमा है कि उसके संबंध में कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। आदमी कोई मशीन थोड़े ही है कि भविष्यवाणी हो सके। मशीन की भविष्यवाणी होती है। सब तय है। मशीन मुर्दा है। आदमी परम स्वातंत्र्य है; स्वच्छंदता है।
और एक आदमी बस अपने जैसा अकेला है, अद्वितीय है। दूसरा उस जैसा न कभी हुआ, न कभी होगा, न हो सकता है। इस महिमा पर ध्यान दो। इस महिमा के लिए धन्यभागी समझो। परमात्मा ने तुम जैसा कभी कोई नहीं बनाया। परमात्मा दोहराता नहीं। तुम अनूठी कृति हो।
लेकिन जब तुम्हारे भीतर फूल खिलना शुरू होगा तो यह विरोधाभास तुम्हें मालूम होगा। तुम्हें यह लगेगा...पूछा है: "आपको पाने के बाद मुझमें बहुत-बहुत रूपांतरण हुआ। और ऐसा भी लगता है कि कुछ भी नहीं हुआ।"
बिलकुल ठीक हो रहा है; तभी ऐसा लग रहा है। रूपांतरण भी होगा। महाक्रांति भी घटित होगी। तुम बिलकुल नये हो जाओगे। और उस नये होने में ही अचानक तुम पाओगे, "अरे! यह तो मैं सदा से था। यह खजाना मेरा ही है।" यह सितार तुम्हारे भीतर ही पड़ा था, तुमने इसके तार न छेड़े थे। मैं तुम्हें तार छेड़ना सिखा रहा हूं। जब तुम तार छेड़ोगे तो तुम पाओगे कि कुछ नया घट रहा है संगीत। लेकिन तुम यह भी तो पाओगे कि यह सितार मेरे भीतर ही पड़ा था। यह संगीत मेरे भीतर सोया था। छेड़ने की बात थी, जाग सकता था।
और शायद किन्हीं अनजाने क्षणों में, धुंधले-धुंधले तुमने यह संगीत कभी सुना भी हो। क्योंकि कभी-कभी अंधेरे में भी, अनजाने भी तुम इन तारों से टकरा गये हो और संगीत हुआ है। कभी बिना चेष्टा के भी, अनायास ही तुम्हारे हाथ इन तारों पर घूम गये हैं। हवा का एक झोंका आया है और तार कंप गये हैं और तुम्हारे भीतर संगीत की गूंज हुई है।
अब तुम अचानक जब तार बजेंगे तब तुम पहचान पाओगे, जन्मों-जन्मों में बहुत बार कभी-कभी सपने में, कभी-कभी प्रेम के किसी क्षण में, कभी सूरज को उगते देखकर, कभी रात चांद को देखकर, कभी किसी की आंखों में झांककर, कभी मंदिर के घंटनाद में, कभी पूजा का थाल सजाये...ऐसा कुछ संगीत, नहीं इतना पूरा, लेकिन कुछ ऐसा-ऐसा सुना था। सब यादें ताजी हो जायेंगी। सब स्मृतियां संगृहीत हो जायेंगी।
अचानक तुम पाओगे कि नहीं, नया कुछ भी नहीं हुआ है। जो सदा से हो रहा था, धीमे-धीमे होता था। सचेष्ट नहीं था मैं। जाग्रत नहीं था मैं। जैसे नींद में किसी ने संगीत सुना हो, कोई सोया हो और कोई उस कमरे में गीत गा रहा हो या तार बजा रहा हो, नींद में भनक पड़ती हो, कान में आवाज आती हो। कुछ साफ न

होता हो। फिर तुम जागकर सुनो और पहचान लो कि ठीक, यही मैंने सुना था, नींद में सुना था। तब पहचान न थी, अब पहचान पूरी हो गई।
ऐसा ही होगा। जब तुम्हारे भीतर की स्मृति जागेगी, सुगंध बिखरेगी, तुम्हारे नासापुट तुम्हारी ही सुवास से भरेंगे तो तुम निश्चित पहचानोगे, नया भी हुआ है और पुरातन से पुरातन। नित नूतन और सनातन। शाश्वत घटा है क्षण में।
विरोधाभास जरा भी नहीं है।

तीसरा प्रश्न: एक ओर आप कहते हैं कि वासना स्वभाव से दुष्पूर है। वह सदा अतृप्त की अतृप्त बनी रहती है। और दूसरी ओर आप यह भी कहते हैं कि यदि संसार में रस बाकी रह गया हो तो उसे पूरा भोग लेना भी अपेक्षित है। इस विरोधाभास को दूर करने की अनुकंपा करें।

विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। विरोधाभास मालूम पड़ते हैं, क्योंकि तुम्हारी आंख खुली हुई नहीं है। अंधेरे में टटोलते हो, इसलिए विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं। अन्यथा कोई विरोधाभास नहीं है। समझो।
निश्चित ही वासना दुष्पूर है; ऐसा बुद्ध का वचन है। ऐसा समस्त बुद्धों का वचन है। वासना दुष्पूर है, इसका अर्थ होता, वासना को भरा नहीं जा सकता। तुम लाख उपाय करो।
दस रुपये हैं तो बीस रुपये चाहिए। दस हजार हैं तो बीस हजार चाहिए। और
दस लाख हैं तो बीस लाख चाहिए। जो अंतर है दस और बीस का; कायम रहता है। वासना दुष्पूर है, इसका अर्थ हुआ कि तुम्हारी अतृप्ति का जो अनुपात है, सदा कायम रहता है। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम कितना कमा लोगे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारी वासना उतनी ही आगे बढ़ जायेगी। वासना क्षितिज की भांति है। दिखाई पड़ता है यह दस मील, बारह मील दूर मिलता हुआ पृथ्वी से। भागो, लगता है घड़ी में, दो घड़ी में पहुंच जायेंगे। भागते रहो जन्मों- जन्मों तक, कभी न पहुंचोगे। तुम जितने भागे उतना ही क्षितिज आगे हट गया। तुम्हारे और क्षितिज के बीच का फासला सदा वही का वही।
वासना दुष्पूर है इसका अर्थ, कि वासना को भरने का कोई उपाय नहीं।
यह सत्य है। अब तुम्हें विरोधाभास लगता है क्योंकि दूसरी बात मैं कहता हूं, कि जब तक रस बाकी रह गया हो तब तक कठिनाई है। रस को पूरा ही कर लेना। मैं तुमसे कहता हूं वासना दुष्पूर है; मैंने तुमसे यह नहीं कहा कि रस समाप्त नहीं होगा। रस विरस हो जायेगा। वासना तो दुष्पूर है। तुम्हारा रस सूख जायेगा।
सच तो यह है, वासना दुष्पूर है ऐसा जान कर ही रस विरस हो जायेगा। विरोधाभास नहीं है। जिस दिन तुम जानोगे कि वासना भर ही नहीं सकती। दौड़-दौड़ थकोगे, दौड़-दौड़ गिरोगे। सब उपाय कर लोगे, वासना भरती नहीं। कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता। असंभव है। हो ही नहीं सकता। तो धीरे-धीरे तुम पाओगे कि जो हो ही नहीं सकता, जो कभी हुआ ही नहीं है, उसमें रस विक्षिप्तता है।
जैसे कोई आदमी दो और दो को तीन करना चाहता हो और कहता हो, मुझे बड़ा रस है, मैं दो और दो को तीन करना चाहता हूं। तो हम कहेंगे, करो। दो और दो तीन होंगे नहीं। तुम करो। दो और दो तीन होंगे नहीं तुम्हारे करने से, एक दिन तुम ही जागोगे और तुम्हारा रस ही मूढ़तापूर्ण सिद्ध हो जायेगा। और तुम ही कहोगे कि यह होनेवाला नहीं, क्योंकि यह हो ही नहीं सकता। मेरे रस में ही मूढ़ता है। तुम्हारा रस ही खंडित हो जायेगा।
जब तुम्हारा रस खंडित होगा, तब भी तुम यह मत सोचना कि दो और दो तीन हो जायेंगे। तब भी दो और दो तीन नहीं होते लेकिन अब तुम्हारा रस न रहा। रस का अर्थ ही है कि तुम्हें आशा है कि शायद कोई विधि होगी, कोई तरकीब होगी, कोई जादू होगा, कोई चमत्कार होगा जिससे दो और दो तीन हो सकेंगे। दूसरों को पता न होगा। सिकंदर हार गया माना, नेपोलियन हार गया माना, लेकिन मैं भी हारूंगा यह क्या पक्का है? शायद कोई तरकीब रह गई हो, जो उन्होंने काम में न लाई हो। सच है कि बुद्ध हार गये और महावीर हार गये, लेकिन यह कहां पक्का

पता है कि उन्होंने सभी उपाय कर लिये थे और सभी विधियां खोज ली थीं? अगर एक हजार विधियां खोजी हों और एक भी बाकी रह गई हो, कौन जाने उस एक से ही द्वार खुलता हो! उस एक में ही कुंजी छिपी हो।
रस का अर्थ है, आशा बाकी है। रस का अर्थ है, शायद हो जाये। कभी नहीं हुआ
सच है, लेकिन कभी नहीं होगा यह क्या जरूरी है? जो कल तक नहीं हुई थीं चीजें, आज हो रही हैं। जो कभी नहीं हुई थीं वह कभी हो सकती हैं। अतीत में नहीं हुईं, भविष्य में नहीं होंगी ऐसा क्या पक्का है? आदमी और भी महत्वपूर्ण विधियां खोज ले सकता है। नये तकनीक, नये कौशल, नये उपाय; या नई तालियां गढ़ ले या ताले को तोड़ने का उपाय कर ले।
आशा! रस का अर्थ है, आशा। रस का अर्थ है, अभी मैं थका नहीं। अभी मैं थोड़ी और चेष्टा करूंगा। अभी लगता है कि कहीं से कोई न कोई मार्ग मिल जायेगा।
वासना दुष्पूर है, यह तो पक्का। और रस भी विरस हो जाता है यह भी पक्का। लेकिन रस विरस तभी होता है जब तुम रस में पूरे जाओ; नहीं तो विरस नहीं होता। जैसे बीच से कोई भाग आये, अधूरा भाग आये, जंगल में बैठ जाये तो मुश्किल खड़ी होगी। बार-बार मन में होगा, शायद एक बार और चुनाव लड़ लेता। कौन जाने जीत जाता!
कहानियां हैं, गौरी अठारह दफे हारा, उन्नीसवीं बार जीत गया। और कैसे जीता पता है? भाग गया था। छिपा था एक जंगल में एक खोह में, गुफा में। और बैठा था थका हुआ, घबड़ाया हुआ कि अब क्या होगा? सब हार गया। और एक मकड़ी को जाला बुनते देखा। मकड़ी जाला बुनती रही, सत्रह बार गिरी और अठारहवीं बार जाला पूरा हो गया।
गौरी उठकर खड़ा हो गया। उसने कहा, जो मकड़ी के लिए हो सकता है, मुझे क्यों नहीं हो सकता? एक बार और कोशिश कर लूं। और गौरी कोशिश किया और जीत गया।
तुम अगर अधूरे भाग गये तो कोई न कोई मकड़ी को गिरते देखकर, जाला बुनते देखकर तुम लौट आओगे। कौन जाने! उपाय पूरा नहीं हो पाया था इसलिए हार गया। जाऊं, उपाय पूरा कर लूं।
और तुम न भी लौटे तो भी मन तुम्हारा लौटता रहेगा। तुम चाहे बैठे रहो गुफा में, मन तुम्हारा बाजारों में भरमेगा, धन-तिजोड़ियों की चिंता करेगा, स्त्रियों-पुरुषों के सपने देखेगा, पद-प्रतिष्ठा के रस में तल्लीन होगा।
गुफा में बैठने से क्या फर्क होता है? मन को गुफा में बिठा देना इतना आसान थोड़े ही है! शरीर को बिठा देना आसान है। जंजीरें डाल दो, कहीं भी बैठ जायेगा।
मैंने सुना है, एक ईसाई फकीर के दर्शन करने लोग आते थे बड़े दूर-दूर से।
वह मिस्र के पास एक रेगिस्तान में, एक गुफा में रहता था। हजारों मील से लोग उसके दर्शन करने आते थे। लोग बड़े चकित होते थे उसकी तपश्चर्या, उसका त्याग देखकर। एक दिन एक फकीर भी उसके दर्शन को आया था, वह देखकर हंसने लगा। उसने पूछा, मैं समझा नहीं। आप हंस क्यों रहे हैं? उस फकीर ने कहा कि मैं यह देखकर हंस रहा हूं कि तुमने अपने हाथ में जंजीरें और पैरों में बेड़ियां क्यों डाल रखी हैं?
वह जो फकीर था गुफा में रहनेवाला, उसने अपने पैरों में जंजीरें डाल रखी थीं और गुफा के साथ जोड़ रखी थीं जंजीरें; और हाथ में जंजीरें थीं। मैं इसलिए हंस रहा हूं कि तुमने ये जंजीरें क्यों डाल रखी हैं? उस फकीर ने कहा, इसलिए कि कभी-कभी मन में कमजोरी के क्षण आते हैं और भाग जाने का मन होता है। संसार में लौट जाने की इच्छा प्रबल हो जाती है। तब ये जंजीरें रोक लेती हैं। थोड़ी देर ही रुकती है वह कमजोरी; फिर अपने को सम्हाल लेता हूं। उतनी देर के लिए जंजीरें काम दे जाती हैं क्योंकि जंजीरें खोलना आसान नहीं। ये मैंने सदा के लिए बंद करवा दी हैं। तो कमजोरी के क्षण में सहारा मिल जाता है।
लेकिन यह भी कोई बात हुई? जंजीरों के सहारे अगर रुके रहे गुफा में...।
और ऐसा नहीं है कि सभी संन्यासी इस तरह की स्थूल जंजीरें बांधते हैं, सूक्ष्म जंजीरें हैं। कोई जैन मुनि हो गया; अब बीस साल प्रतिष्ठा, तीस साल

प्रतिष्ठा, सम्मान, चरणस्पर्श, लोगों का मान, पूजा, आदर...। अब आज अचानक अगर लौटना चाहे तो यह सारा पूजा-आदर जो तीस साल मिला है, यह जंजीर बन जाता है। आज हिम्मत नहीं होती कि लौटकर जाऊं संसार में, लोग क्या कहेंगे? अहंकार बाधा बन जाता है। यह बड़ी सूक्ष्म जंजीर है।
इसलिए तो त्यागी को आदर दिया जाता है। यह संसारी की तरकीब है उसको गुफा में रखने की। भाग न सको। बच्चू, एक दफा आ गये गुफा में, निकलने न देंगे। ऐसी सूक्ष्म जंजीरें हैं। इतना शोरगुल मचायेंगे, इतना बैंडबाजा बजायेंगे, शोभा यात्रा निकालेंगे, लाखों खर्च करेंगे। लगा दी उन्होंने मुहर। अब तुम्हें भागने न देंगे। क्योंकि ध्यान रखना, जितना सम्मान दिया इतना ही अपमान होगा।
सम्मान की तुलना में ही अपमान होता है। इसलिए जैन मुनि भागना बहुत मुश्किल पाता है। हिंदू संन्यासी इतना मुश्किल नहीं पाता, क्योंकि इतना सम्मान कभी किसी ने दिया भी नहीं। तो उसी मात्रा में अपमान है। मेरे संन्यासी को तो कोई दिक्कत नहीं। वह किसी भी दिन संन्यास छोड़ दे। क्योंकि किसी ने कोई सम्मान दिया नहीं था; अपमान कोई देगा नहीं। अपमान का कोई कारण नहीं है। अपमान उसी मात्रा में मिलता है जिस मात्रा में सम्मान ले लिया। सम्मान जंजीर बन जाता है।
अगर तुम सच में समझदार हो तो कभी अपने ध्यान, अपने संन्यास के लिए किसी तरह का सम्मान मत लेना। क्योंकि जो सम्मान दे रहा है वह तुम्हारा जेलर बन जायेगा। उससे कह देना, सम्मान नहीं। क्षमा करो। धन्यवाद। क्योंकि कल अगर मैं लौटना चाहूं तो मैं कोई जंजीरें नहीं रखना चाहता अपने ऊपर। मैं जैसा मुक्त संन्यास में आया था उतना ही मुक्त रहना चाहता हूं अगर संन्यास के बाहर मुझे जाना हो।
तो कुछ तो गुफाओं में स्थूल जंजीरें बांध लेते हैं, कुछ सूक्ष्म जंजीरें; मगर जंजीरें हैं। और ये जंजीरें रोके रखती हैं। यह कोई रुकना हुआ? जंजीरों से रुके, यह कोई रुकना हुआ?
आनंद से रुको, जंजीरों से नहीं। अहोभाव से रुको, अपमान के भय से नहीं।
सम्मान की आकांक्षा से नहीं, समाधि के रस से।
लेकिन यह तभी संभव होगा जब संसार का रस चुक गया हो। इसलिए मेरा जोर है
कि कच्चे मत भागना। अधूरे-अधूरे मत भागना। बीच से मत उठ आना महफिल से। महफिल पूरी हो जाने दो। यह गीत पूरा सुन ही लो। इसमें कुछ सार नहीं है। घबड़ाना कुछ है भी नहीं। यह नाच पूरा हो ही जाने दो। कहीं ऐसा न हो कि घर जाकर सोचने लगो कि पता नहीं...। यह कहानी पूरी हो जाने दो। अंतिम परदा गिर जाने दो। कहीं ऐसा न हो कि बीच से उठ जाओ और फिर मन पछताये। और मन सोचे कि पता नहीं, असली दृश्य देखने को रह ही गये हों। अभी तो कहानी शुरू ही हुई थी। पता नहीं अंत में क्या आता है।
इसलिए मैं कहता हूं कि जीवन को जीयो। भरपूर जीयो। डर कुछ भी नहीं है, क्योंकि वासना दुष्पूर है। तुम मेरा मतलब समझो। मैं तुमसे यह कह रहा हूं कि चूंकि वासना दुष्पूर है, तुम लाख जीयो, आज नहीं कल तुम संन्यासी बनोगे। संन्यास से बचने का उपाय नहीं है।
संन्यास संसार के अनुभव का नाम है।
जिसने संसार का ठीक अनुभव ले लिया वह करेगा क्या और? संन्यास संसार के अनुभव की निष्पत्ति है, सार है। मैं संन्यास को संसार का विरोधी नहीं मानता हूं। यह उसी जीवन की सारी अनूभूति का सार-निचोड़ है। जीकर देखा कि वहां कुछ भी नहीं है। जीकर देखा कि वासना भरती नहीं है। जीकर देखा कि वासना भूखा का भूखा रखती है, तृप्त नहीं होने देती। जीकर देखा कि दुख ही दुख है; नर्क ही नर्क है। इसी अनुभव से आदमी ऊपर उठता और इसी अनुभव से जीवेषणा विसर्जित हो जाती; जीने की आकांक्षा चली जाती।
जीने की आकांक्षा के चले जाने का नाम ही मुमुक्षा है: मोक्ष की आकांक्षा। मोक्ष का क्या अर्थ होता है? अब और नहीं जीना चाहता। बहुत जी लिया। नहीं, अब और नहीं जीना चाहता। देख लिया सब, जो देखने को था। सब नाटक पूरे हुए। सब कथायें पूरी पढ़ लीं। जीवन का पाठ अपने अंतिम निष्कर्ष पर आ गया।

संन्यास संसार के प्रगाढ़ अनुभव का नाम है।
इसलिए कहता हूं कि अनुभव से कच्चे मत भागना। संसार से कच्चे भागे तो संन्यास भी कच्चा रह जायेगा। और कच्चा संन्यास दो कौड़ी का है। यह संसार की आग में तुम्हारा घड़ा पके। तुम पककर बाहर आओ।
पूछते हो, "वासना स्वभाव से दुष्पूर है, ऐसा आप कहते हैं। और फिर यह भी कहते हैं कि रस को पूरा भोग लो, इनमें विरोधाभास दिखाई पड़ता है।"
दिखाई पड़ता है, क्योंकि तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वासना दुष्पूर है, इसीलिए रस से मुक्त हुआ जा सकता है।
और जब रस से मुक्त हुआ जा सकता है और वासना भरती ही नहीं तो जल्दी क्या है? घबड़ाहट क्या है? इतना अधैर्य क्या है? इस संसार में कितने ही गहरे जाओ, कुछ हाथ न लगेगा। इसलिए मैं कहता हूं, दिल भरकर जाओ।
वे जो तुमसे कहते हैं कि मत जाओ, संसार में जाने में खतरा है, मुझे लगता है, उन्हें अभी पक्का पता नहीं। उन्हें एक डर है कि कहीं ऐसा न हो कि तुम भरम जाओ। उन्हें भय है। उन्हें लगता है, कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी वासना तृप्त ही न हो जाये; कहीं फिर तुम मोक्ष की आकांक्षा ही न करो। उन्हें डर है कि कहीं यह क्षितिज मिल ही न जाये। मिल गया तो फिर तुम न लौटोगे।
उनका भय तुम समझते हो? उनका भय उनका अज्ञान है। मैं तुमसे कहता हूं, जाओ। जहां जाना हो जाओ। भोगो। भटको। लौट आओगे। भटकने में कंजूसी मत करो। तो जब तुम लौटोगे, पूरे लौटोगे। फिर तुम पीछे लौटकर भी न देखोगे। फिर संसार ऐसे गिर जाता है, जैसे सांप अपने पुराने वेश को छोड़ देता है; अपनी पुरानी चमड़ी को छोड़ देता है। सरक जाता। बाहर निकल जाता। पीछे लौटकर भी नहीं देखता।
ठीक ऐसा ही जब संन्यास सहज घटता है तब उसकी अपूर्व महिमा है।

चौथा प्रश्न: किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति समर्पण करना क्या निजी अस्तित्व और स्वतंत्रता को खो देना नहीं है? व्यक्तित्व की पूजा न कर व्यक्ति की पूजा करना कहां तक उचित है?

पहली बात: तुम वही खो सकते हो, जो तुम्हारे पास हो। उसे तो तुम कैसे खोओगे जो तुम्हारे पास नहीं है? इसे समझना।
अक्सर ऐसा हो जाता है। कहावत है कि नंगा नहाता नहीं क्योंकि वह कहता है, नहाऊंगा तो निचोडूंगा कहां? निचोड़ने को कुछ है ही नहीं। भिखमंगा रात भर जागता रहता है कि कहीं चोरी न हो जाये। चोरी हो जाये ऐसा कुछ है ही नहीं।
तुम पूछते हो "किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति समर्पण करना क्या निजी अस्तित्व और स्वतंत्रता को खो देना नहीं है?"
अगर है स्वतंत्रता तो, तो कोई जरूरत ही नहीं है किसी के प्रति समर्पण करने की। प्रयोजन क्या है? तुम स्वतंत्रता को उपलब्ध हो गये हो, निजी अस्तित्व तुम्हारा हो गया है, उसी का नाम तो आत्मा है। अब तुम्हें समर्पण की जरूरत क्या है?
लेकिन अक्सर ऐसा होता है, न तो स्वतंत्रता है, न कोई निजी अस्तित्व है
और घबड़ा रहे हैं कि कहीं समर्पण करने से खो न जाये। नंगा नहाये तो डर रहा है कि निचोडूंगा कहां? कपड़े सुखाऊंगा कहां?
पहले तो तुम यही सोच लो ठीक से कि तुम्हारे पास स्वतंत्रता है? तुम्हारे पास तुम्हारा अस्तित्व है? तुमने आत्मा का अनुभव किया है? तुमने उस स्वच्छंदता को जाना है, जिसकी अष्टावक्र बात कर रहे हैं? अगर जान लिया तो अब समर्पण करने की जरूरत क्या है? किसको समर्पण करना है? किसके लिए करना है? समर्पण आदमी इसी स्वतंत्रता की खोज में करता है।
और अगर तुम्हारे पास यह स्वतंत्रता नहीं है तो समर्पण सहयोगी है। फिर समर्पण में तुम वही खोओगे जो तुम्हारे पास है--अहंकार है तुम्हारे पास;

आत्मा तुम्हारे पास अभी है नहीं। और समर्पण में आत्मा नहीं खोती, अहंकार ही खोता है।
और अहंकार ही तरकीबें निकालता है बचने की। वह कहता अरे, यह क्या करते हो, समर्पण कर रहे? इसमें तो निजता खो जायेगी। यह निजता नाम है अहंकार का। इसे साफ समझ लेना। अगर तुमने अपने को जान लिया, अब कोई जरूरत ही नहीं है। तुम यह प्रश्न ही न पूछते। अगर तुम्हें अपनी स्वतंत्रता मिल गई है, तुम अपनी स्वतंत्रता के मालिक हो गये हो, यह संपदा तुमने पा ली, तो यह प्रश्न तुम किसलिए करते?
मैं तो नहीं करता यह प्रश्न। मैं तो किसी के पास नहीं जाता कहने कि समर्पण करने से मेरी स्वतंत्रता खो जायेगी। समर्पण करना ही किसलिए? कोई प्रयोजन नहीं रहा है।
तुम पूछते हो। साफ है, तुम्हें स्वतंत्रता की कोई सुगंध नहीं मिली है
अब तक, सिर्फ शब्द तुमने सीख लिया है। शब्द सीखने में क्या धरा है? तुम्हें आत्मा का कुछ भी पता नहीं है। जिन मित्र ने पूछा है, नये हैं। नाम है उनका "दौलतराम खोजी।" अभी खोज रहे हो। अभी मिला नहीं है। और दौलतराम भी नहीं हो। दौलत और राम...जरा भी नहीं; खोजी हो, इतना सच है। अभी दौलत है नहीं। और राम के बिना दौलत होती कहां? अभी तुम्हें भीतर के राम का पता नहीं है। लेकिन डर है कि कहीं समर्पण किया तो खो न जाये। क्या खो जायेगा? दौलत
है नहीं दौलतराम! सिर्फ अहंकार का धुआं है। खो जाने दो। इसके खोने से लाभ होगा। यह खो जाये तो तुम्हारे भीतर, इस धुएं के भीतर छिपी जो दौलत पड़ी है उसके दर्शन होने लगेंगे।
समर्पण तुम्हें स्वतंत्रता देगा अहंकार से। स्वतंत्रता का क्या अर्थ होता है? हम किसी दूसरे से थोड़े ही बंधे हैं; अपनी ही अस्मिता से बंधे हैं। अपने ही अहंकार से बंधे हैं। किसी और ने हमें थोड़े ही बांधा है। अपना ही दंभ हमें बांधे हुए है। समर्पण का अर्थ है, दंभ किसी के चरणों में रख दो, जहां प्रेम जागा हो। किसी के पास अगर परमात्मा की थोड़ी-सी झलक मिली हो तो चूको मत मौका। रख दो वहीं चरणों में। यह बहाना अच्छा है। इस आदमी के बहाने अपना अहंकार रख दो। इस अहंकार के रखते ही तुम्हारे भीतर जो छिपा है वह प्रकट हो जायेगा। यह आवरण उतार दिया। तुम नग्न हो जाओगे। उस नग्नता में तुम्हें अपनी आत्मा की पहली झलक मिलेगी।
और उस आत्मा का ही स्वभाव स्वतंत्रता है। अहंकार का स्वभाव स्वतंत्रता नहीं है। इसलिए समर्पण में तो आदमी आत्मवान बनता है, स्वतंत्र बनता है। समर्पण से किसी की स्वतंत्रता थोड़े ही खोती है।--एक बात।
दूसरी बात: जो स्वतंत्रता समर्पण से खो जाये वह दो कौड़ी की है। वह बचाने योग्य ही नहीं है। जो स्वतंत्रता समर्पण करने पर भी बचे वही बचाने योग्य है। इस बात को समझना।
स्वतंत्रता कोई ऐसी कमजोर, लचर चीज थोड़े ही है कि तुमने समर्पण किया, किसी के पैर छू लिये और गई! इतनी सस्ती चीज को बचाकर भी क्या करोगे? जो पैर छूने से चली जाये, जो कहीं सिर झुकाने से चली जाये, इसको बचाकर भी क्या करोगे? इसमें कुछ मूल्य भी नहीं है। यह बड़ी कमजोर है, नपुंसक है। स्वतंत्रता तो ऐसी अदभुत घटना है कि तुम सारे संसार के चरण छुओ तो भी
न जायेगी। तुम कंकड़-पत्थरों के चरण छुओ, झाड़-झाड़, पत्थर-पत्थर सिर झुकाओ तो भी न जायेगी। जा ही नहीं सकती। स्वतंत्रता यानी स्वभाव। जा कैसे सकता है? अपना है जो, उसे खोओगे कैसे? सिर झुक जायेगा, तुम झुक जाओगे और तुम पाओगे, तुम्हारे भीतर स्वतंत्रता प्रगाढ़ होकर जल रही है दीये की भांति। अकंप उसकी लौ है। अकंप उसका प्रकाश है। जितने झुकोगे उतना पाओगे, तुम अचानक पाओगे कि विनम्रता से स्वतंत्रता का विरोध नहीं है। स्वतंत्रता विनम्रता में पलती है, पुसती है, बड़ी होती है, फलती है। विनम्रता स्वतंत्रता के लिए खाद है।
समर्पण तो द्वार है स्वतंत्रता का।
लेकिन मैं तुम्हारा मतलब समझता हूं। तुम्हारी तकलीफ मेरे खयाल में है। तकलीफ है अहंकार की। अपने को कुछ मान बैठे हो, तो कैसे किसी के चरणों में झुका दें? तुम्हें परमात्मा भी मिल जाये तो भी तुम बचाओगे।

बचाने की बहुत तरकीबें हैं। पहले तो तुम यह मानने को राजी न होगे कि
यह परमात्मा है। परमात्मा कहीं ऐसे मिलता है? वे पहले जमाने की बातें गईं जब परमात्मा जमीन पर आया करता था। अब थोड़े ही आता है। तुम कुछ न कुछ परमात्मा में भूल-चूक खोज लोगे, जिससे समर्पण करने से बच सको। तुमने राम में भी भूल-चूक खोज ली थी, तुमने कृष्ण में भी खोज ली थी, तुमने बुद्ध में भी खोज ली थी। तुम कुछ न कुछ खोज ही लोगे। तुम अपने को बचा लोगे।
अपने को बचाये-बचाये तुम जन्मों-जन्मों से चले आ रहे हो। यह गांठ जिसे तुम बचा रहे हो, तुम्हारा रोग है। यह गांठ छोड़ो। यह कैंसर की गांठ है। इसी से तो तुम व्याधिग्रस्त हो।
समर्पण का कोई और अर्थ नहीं है। समर्पण तो एक बहाना है। किसी के बहाने तुमने अपनी गांठ उतारकर रख दी। खुद तो उतारने में तुमसे नहीं बनता। खुद तो उतारते नहीं बनता। आदत पुरानी हो गई इसको ढोने की। किसी के बहाने, किसी के सहारे उतारकर रख देते हो। जैसे ही उतार कर रखोगे, तुम पाओगे, अरे! बड़ा पागलपन था। तुम व्यर्थ ही इसे ढो रहे थे। तुम चाहते तो बिना समर्पण के भी उतारकर रख सकते थे। लेकिन यह तुम्हें समर्पण के बाद ही पता चलेगा। समर्पण तो बहाना है। गुरु तो बहाना है। ऐसा कुछ है नहीं कि बिना गुरु
के तुम उतार नहीं सकते। चाहो तो तुम बिना गुरु के भी उतार सकते हो, लेकिन संभावना कम है। तुम तो गुरु से भी बचने की कोशिश कर रहे हो। तो अकेले में तो तुम बच ही जाओगे। अकेले में तुम भूल ही जाओगे उतारने की बात।
यह तो ऐसा ही है, तुम्हें सुबह पांच बजे उठना है, ट्रेन पकड़नी है, तो दो उपाय हैं: या तो तुम अपने पर भरोसा करो कि उठ आऊंगा पांच बजे, या अलार्म घड़ी भरकर रख दो। उठ सकते हो खुद भी। थोड़ा संकल्प का बल चाहिए। अगर तुममें थोड़ी हिम्मत हो तो तुम अपने को रात कहकर सो जा सकते हो कि पांच बजे से एक मिनट भी ज्यादा नहीं सोना है दौलतराम! ऐसा अगर जोर से कह दिया, और तुमने गौर से सुन लिया और धारण कर ली इस बात को, तो पांच बजे से रत्ती भर भी आगे नहीं सो सकोगे। पांच बजे ठीक आंख खुल जायेगी।
अगर अपनी ही बात मान सकते हो, तब तो बहुत ही अच्छा। अगर दौलतराम पर भरोसा न हो, और डर हो कि जब कह रहे हैं तभी जान रहे हैं कि यह कुछ होने वाला थोड़े ही है! कह रहे हैं कि दौलतराम, पांच बजे सुबह उठ आना। लेकिन कहते वक्त भी जान रहे हैं कि यह कहीं होनेवाला थोड़े ही! ऐसे तो कई दफे कह चुके। कभी हुआ?
विवेकानंद अमरीका में एक जगह बोलते थे। तो उन्होंने बाइबिल का उल्लेख किया, जिसमें जीसस ने कहा है, अगर श्रद्धा हो तो पहाड़ भी हट जायें। अगर श्रद्धा से कह दो, "हट जाओ पहाड़ो" तो पहाड़ भी हट जायें।
एक बूढ़ी औरत सामने ही बैठी थी, वह भागी। वह अपने घर भागी। उसके पीछे एक छोटी पहाड़ी थी, जिससे वह बहुत परेशान थी। उसने कहा अरे, इतनी सरल तरकीब! और मुझे अब तक पता नहीं थी। और बाइबिल मेरे घर में पड़ी है। ईसाई थी। और उसने कहा, मैं तो ईसाई हूं और मुझमें श्रद्धा भी है ईसा पर। जाकर अभी निपटा देती हूं इस पहाड़ी को। खिड़की खोलकर उसने आखिरी बार देख ली पहाड़ी कि एक बार और देख लूं। फिर तो यह चली जायेगी। खिड़की बंद करके उसने कहा, हट जा पहाड़ी! श्रद्धा से कहती हूं। ऐसा तीन बार दोहराया। फिर खिड़की खोलकर देखी, हंसने लगी। कहा, मुझे पता ही था, ऐसे कहीं हटती है! पता ही था, ऐसे कहीं हटती है। यह कोई मजाक है कि कह दो, पहाड़ी हट जाये।
मगर अगर पता ही था तो नहीं हटती। भीतर तुम पहले से ही जान रहे हो कि नहीं होनेवाला, नहीं होनेवाला। यह अपने से नहीं हो सकता है। तो फिर नहीं होगा। तो फिर अलार्म घड़ी भरकर रख दो। या किसी पड़ोसी को कह दो कि पांच बजे उठा देना। कोई उपाय करो।
गुरु के पास समर्पण का केवल इतना ही अर्थ है कि तुमसे नहीं होता तो अलार्म भर दो। गुरु तो अलार्म है। जगा देगा। तुमसे नहीं बनता तो वह तुम्हें जगा देगा।
एमेन्युएल कांट हुआ जर्मनी का बहुत बड़ा विचारक; वह अकेला रहा जिंदगी भर, शादी नहीं की। लेकिन एक नौकर को अपने पास रखता था। वह धीरे-धीरे नौकर उसका मालिक हो गया। क्योंकि नौकर पर निर्भर रहना पड़ता। और एमेन्युएल कांट

बिलकुल पागल था समय के पीछे। मिनट-मिनट, सेकेंड-सेकेंड का हिसाब रखता था। अगर ग्यारह बजे खाना खाना है तो ग्यारह ही बजे खाना खाना। दो मिनट देर हो गई तो मुश्किल। रात दस बजे सोना है तो दस बजे सो जाना है। कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि कोई मिलने आया था, वह बात ही कर रहा है और वह उचककर अपना कंबल ओढ़कर सो गया। क्योंकि दस बज गया। घड़ी में देखा। वह इतना भी नहीं कह सकता कि अब मेरे सोने का वक्त हो गया, क्योंकि इसमें भी तो समय लग जायेगा। वह सो ही गया। नौकर आकर कहेगा, अब आप जाइये। मालिक सो गये।
और सुबह तीन बजे उठता था। और तीन बजे उठने में उसे बड़ी अड़चन थी। मगर जिद्दी था। उठता भी था और अड़चन भी थी। अड़चन इतनी थी कि नौकर से मारपीट हो जाती थी। नौकर उठाता था; और मारपीट हो जाती। तो नौकर टिकते नहीं थे। क्योंकि नौकर कहते यह भी अजीब बात है। आप कहते हैं कि तीन बजे उठाना। हम उठाते हैं, आप गाली बकते हो। मारने को खड़े हो जाते हो। मगर वह कहता कि यही तो तुम्हारा काम है। तुम चाहो मुझे मारो, तुम चाहो मुझे गाली दो, मगर उठाना। छोड़ना मत; चाहे कुछ भी हो जाये।
तो एक ही नौकर टिकता था उसके पास। वह उसका मालिक हो गया था। वह तो उसकी पिटाई भी कर देता था।
गुरु तो केवल एक उपाय है। कभी जरूरत होगी तो वह तुम्हारी पिटाई भी करेगा। कभी खींचेगा भी नींद से।
समर्पण का इतना ही अर्थ है कि तुम गुरु से कहते हो कि मुझे पक्का पता
है कि मैं तीन बजे उठ न सकूंगा। और मुझे यह भी पता है कि तीन बजे मैं करवट लेकर सो जाऊंगा। मुझे यह भी पता है कि तुम भी उठाओगे तो मैं नाराज होऊंगा। फिर भी तुम कृपा करना और उठाना।
समर्पण का और क्या अर्थ है? समर्पण का इतना-सा सीधा-सा अर्थ है कि मैं तुम्हारे चरणों में निवेदन करता हूं कि मुझसे तो उठना हो नहीं सकता। और यह भी मुझे पक्का है कि तुम भी मुझे उठाओगे तो मैं बाधा डालूंगा। यह भी मैं नहीं कहता कि मैं बाधा नहीं डालूंगा। मैं सहयोगी होऊंगा यह भी पक्का नहीं है। मगर प्रार्थना है मेरी: तुम मेरी बाधाओं पर ध्यान मत देना। मेरी नासमझियों का हिसाब मत रखना। मैं गाली-गलौज भी बक दूं कभी, क्षमा कर देना। यह मैं तुमसे प्रार्थना कर रहा हूं लेकिन मुझे उठाना। मुझे उठना है। और तुम्हारे सहारे के बिना न उठ सकूंगा।
समर्पण का इतना ही अर्थ है कि तुम अपना अहंकार किसी के चरणों में रख देते हो और उससे निवेदन कर देते हो कि वह तुम्हें खींच ले, उठा ले, जगा ले। तुम्हारी नींद गहरी है; जन्मों-जन्मों की।
अगर तुम स्वयं उठ सको, बड़ा शुभ। कोई जरूरत नहीं। किसी गुरु को कष्ट देने की कोई जरूरत नहीं। कोई गुरु उत्सुक नहीं है। क्योंकि किसी को भी तीन बजे उठाना कोई सस्ता मामला नहीं है, उपद्रव का मामला है। कोई धन्यवाद थोड़े ही देता है!
फिर तुम पूछ रहे हो, "व्यक्तित्व की पूजा न कर व्यक्ति की पूजा कहां तक उचित है?"
समर्पण और व्यक्ति की पूजा का कोई संबंध नहीं है। जिसके प्रति तुमने समर्पण कर दिया उसके साथ तुम एक हो गये। पूजा कैसी? कौन आराध्य और कौन आराधक? गुरु और शिष्य के बीच पूजा का भाव ही नहीं है। शिष्य ने तो गुरु के साथ अपने को छोड़ दिया। यह तो गुरु के साथ एक हो गया। इसमें पूजा इत्यादि कुछ भी नहीं है। अगर पूजा कायम रह गई तो समझना कि समर्पण पूरा नहीं है। समर्पण का तो अर्थ ही यह होता है कि मैंने जोड़ दी अपनी नाव तुम्हारी नाव से। मैं अपने को पोंछ लेता हूं; तुम मेरे मालिक हुए। अब तुम ही हो, मैं नहीं हूं। अब पूजा किसकी, कैसी? यह कोई व्यक्ति-पूजा नहीं है।
और इसमें एक बात और समझ लेने की जरूरत है। पूछा है, "व्यक्तित्व की पूजा न कर व्यक्ति की पूजा कहां तक उचित है?"
आदमी बहुत बेईमान है। आदमी की बेईमानी ऐसी है कि वह तरकीबें खोजता है। अगर तुम उससे कहो, आदमी को प्रेम करो; तो वह कहता है, आदमियत को प्रेम करें तो कैसा? अब आदमियत को खोजोगे कहां? जब भी प्रेम करने जाओगे, आदमी

मिलेगा; आदमियत कभी भी न मिलेगी। अब तुम कहो, हम तो आदमियत को प्रेम करेंगे। तो आदमियत कहां...मनुष्यता को कहां पाओगे?
मनुष्यता तो एक शब्द मात्र है, कोरा शब्द। ठोस तो आदमी है। मगर तरकीब काम कर जायेगी। तुम आदमियों को तो घृणा करोगे और मनुष्यता की पूजा करोगे। ऐसा भी हो सकता है कि मनुष्यता के प्रेम के पीछे मनुष्यों की हत्या करनी पड़े तो कर दो। ऐसा ही तो कर रहे हैं लोग। ईश्वर के भक्त हिंदू मुसलमान को मार डालते हैं, मुसलमान हिंदुओं को मार डालते हैं। वे कहते हैं ईश्वर की सेवा कर रहे हैं। ईश्वर कोरा शब्द है। और जो ठोस है उसे तुम विनाश कर रहे हो। और शाब्दिक प्रत्यय मात्र के लिए, धारणा मात्र के लिए। आदमी बहुत बेईमान है।
अब तुम कहते हो, व्यक्ति की पूजा न करके व्यक्तित्व की पूजा करें। व्यक्तित्व का मतलब क्या होता है? कहां पाओगे व्यक्तित्व को? व्यक्ति से अलग कहीं व्यक्तित्व होता?
तुम कहते हो, नर्तक की हम फिक्र नहीं करते; हम तो नृत्य की पूजा करेंगे। लेकिन नर्तक के बिना नृत्य कहीं होता? और जब भी तुम नृत्य की पूजा करने जाओगे तो तुम नर्तक को पाओगे। भाव-भंगिमायें नर्तन की, नर्तक की भाव-भंगिमायें हैं।
व्यक्तित्व की पूजा का क्या अर्थ होता है? लेकिन मैं तुमसे कह नहीं रहा कि तुम व्यक्ति की पूजा करो। मैं तुमसे इतना ही कह रहा हूं, शब्दों से बचो, ठोस को ग्रहण करो। ठोस है वास्तविक, यथार्थ। शाब्दिक जाल में मत पड़ो। अगर बुद्ध तुम्हें मिल जायें तो तुम यह मत कहना कि हम तो बुद्धत्व की पूजा करेंगे। बुद्धत्व को कहां पाओगे? जब भी पाओगे बुद्ध को पाओगे। और बुद्धत्व अगर कहीं मिलेगा तो बुद्ध की छाया की तरह मिलेगा। तुम कहते हो हम छाया की पूजा करेंगे; मूल की पूजा न करेंगे। तुम कहते हो हम तो जिनत्व की पूजा करेंगे, महावीर से हमें क्या लेना-देना!
लेकिन जरा गौर करना, कहीं अहंकार तुम्हें धोखा तो नहीं दे रहा है? अहंकार तर्क तो नहीं खोज रहा है? अहंकार यह तो नहीं कर रहा है इंतजाम, कि देखो पूजा से बचा दिया, समर्पण से बचा दिया, विनम्र होने से बचा दिया। अब तुम खोजते रहो बुद्धत्व को, जिनत्व को। कहीं मिलेगा नहीं, तो झुकने का कोई सवाल ही न आयेगा।
अब यह बड़े मजे की बात है, जीवन के सामान्य तल पर तुम ऐसा नहीं करते। जब तुम किसी स्त्री के प्रेम में पड़ते हो तो तुम स्त्रीत्व को प्रेम नहीं करते, तुम स्त्री के प्रेम में पड़ते हो। तब तुम यह धोखा नहीं करते। तुम यह नहीं कहते कि हम तो स्त्रीत्व को प्रेम करेंगे; स्त्री को क्या करना! कहते हो? तब तुम यह नहीं कहते। तब तो तुम स्त्री के प्रेम में पड़ते हो। तब तुम नहीं शब्द की बात करते, तब तुम सत्य को पकड़ते हो।
जहां तुम पकड़ना चाहते हो वहां तुम सत्य को पकड़ते हो; जहां तुम नहीं पकड़ना चाहते, जहां तुम बचना चाहते हो, वहां तुम शब्दों के जाल फैलाते हो। जब प्रेम करोगे तो स्त्री को प्रेम करना होगा, स्त्रीत्व को प्रेम नहीं किया जाता। जब प्रेम करना होगा तो गुरु को प्रेम करना होगा, गुरुत्व को प्रेम नहीं किया जाता। और जब करना होगा समर्पण तो बुद्ध को करना होगा, बुद्धत्व को समर्पण नहीं किया जाता।
ये शब्द-जाल हैं। और अहंकार बड़ा कुशल है इन जालों में अपने को छिपा लेने के लिए। तुम इस अहंकार से सावधान रहना।
टूटा सिलसिला
फुनगी पर फूल खिला
झरा तो गहरा
अपना ही मूल मिला
वह जो फुनगी पर फूल खिला है, अगर गिर जाये, झर जाये तो अपनी ही जड़ें पा लेगा। तुम अगर झुक जाओ तो अपना ही मूल पा लोगे।
टूटा सिलसिला
फुनगी पर फूल खिला
झरा तो गहरा

अपना ही मूल मिला
झुको, समर्पण करो तो तुम स्वयं को ही पा लोगे। माध्यम होगा कोई, पाओगे तुम अपने को ही--किसी के द्वार से। गुरु द्वार है। गुरुद्वारा। उसके द्वार से तुम अपने पर ही लौट आओगे।

पांचवां प्रश्न:
मैं किसी को पुकारता हूं, जिसे जानता नहीं
मैं हूं किसी के प्यार में, जिसे पहचानता नहीं
यह क्या, इंतजार के बाद भी आता है इंतजार
या समझूं कि मैं ही तुझे पुकारता नहीं?

सत्य की खोज या सत्य का प्रेम या सत्य की जिज्ञासा उसकी ही खोज है, जिसे हम जानते नहीं। उसकी ही पुकार है, जिसे हम पहचानते नहीं।
जिसे तुम पहचानते हो वह तो झूठा हो गया। जिसे तुम जानते हो उससे तो कुछ भी न पाया। उसे तो जान भी लिया और क्या पाया? अनजान की तलाश है। अपरिचित की खोज है। अज्ञात की यात्रा है।
ऐसा ही है। स्मरण रखना, रोज-रोज जो जान लो उसे छोड़ देना है, ताकि यात्रा दूषित न हो पाये और यात्रा शुद्ध रूप से अनजान, अपरिचित, अज्ञात की बनी रहे। जो जान लो उसे झाड़ देना। वह कचरा हो गया। ज्ञात को इकट्ठा मत करना। ज्ञात से ही तो बुद्धि बनती है। ज्ञात को इकट्ठा ही मत करना। ज्ञात की धूल इकट्ठी मत होने देना, ताकि तुम्हारा चित्त का दर्पण अज्ञात को झलकाता रहे; अज्ञात को पुकारता रहे। अज्ञात का आवाहन और चुनौती आती रहे। ठीक ऐसा ही है। और यह भी खयाल रखना, यह जो परमात्मा की खोज है यह शुरू
तो होती है, पूरी कभी नहीं होती। पूरी हो भी नहीं सकती, क्योंकि परमात्मा अनंत है। इसे तुम पूरा कैसे करोगे? इसे चुकाओगे कैसे? इसे तौलते रहो, तौलते रहो, तौल न पाओगे। अमाप है।
इसलिए रोज-रोज लगेगा पास आये, पास आये; और फिर भी तुम पाओगे, दूर के दूर रहे। रोज-रोज लगेगा मंजिल यह आयी, यह आयी, और फिर भी लगेगा इंतजार जारी है। मगर इंतजार में बड़ा मजा है। मिलने से भी ज्यादा मजा है।
यह जो सतत खोज है और सतत कशिश और खिंचाव है, और यह सतत पुकार है, इसका मजा तो देखो। इसका रस तो अनुभव करो। अगर परमात्मा मिल जाये तो फिर क्या करोगे? बुलाता रहे, दौड़ाता रहे, छिपता रहे। यह छिया-छी चलती रहे। इंतजार जारी रहे।
लेकिन हम बड़े सीमित हैं। हम कहते हैं, अब जल्दी मिल जाओ। इंतजार नहीं चाहिए। हमें पता नहीं हम क्या मांग रहे हैं। अगर यात्रा पूर्ण हो जाये तो फिर मृत्यु के अतिरिक्त कुछ बचता नहीं। पूर्णता तो मृत्यु है। इसलिए यात्रा अपूर्ण रहेगी। क्योंकि मृत्यु है ही नहीं जगत में। अस्तित्व मृत्युविहीन है। यह यात्रा शाश्वत है।
परमात्मा मंजिल नहीं है, यात्रा है। इस तरह सोचना शुरू करो। उसे तुम मंजिल की तरह सोचो ही मत; अन्यथा भ्रांति खड़ी होती है। यात्रा की तरह सोचो। और तब एक नया...नया ही रूप प्रकट होता है। तब कल नहीं है रस; आज है, अभी है, यहीं है। तब ऐसा नहीं है कि किसी दिन पहुंचेंगे और फिर मजा करेंगे, परमात्मा में डूबेंगे और रस लेंगे। प्रतिपल मार्ग पर, राह पर, पक्षियों के गीत में, हवा के झोंकों में, चांदत्तारों में, राह की धूल में--सब जगह परमात्मा लिप्त है। सब जगह मौजूद है।
यात्रा है परमात्मा, मंजिल नहीं।
इंतजार बड़ा मधुर है। और यह इंतजार अनंत है। हमारा मन तो मांगता है, जल्दी हो जाये। हमारा मन बड़ा अधीर है।
इतना मत दूर रहो गंध कहीं खो जाये
आने दो आंच रोशनी न मंद हो जाये

देखा तुमको मैंने कितने जन्मों के बाद
चंपे की बदली-सी धूप-छांह आसपास

घूम-सी गई दुनिया यह भी न रहा याद
बह गया है वक्त लिये सारे मेरे पलाश
ले लो ये शब्द, गीत भी न कहीं सो जाये आने दो आंच रोशनी न मंद हो जाये

उत्सव से तन पर सजा ललचाती महराबें खींच ली मिठास पर क्यों शीशे की दीवारें टकराकर डूब गईं इच्छाओं की नावें लौट-लौट आयी हैं मेरी सब झनकारें
नेह फूल नाजुक न खिलना बंद हो जाये
आने दो आंच रोशनी न मंद हो जाये

क्या कुछ कमी थी मेरे भरपूर दान में?
या कुछ तुम्हारी नजर चूकी पहचान में
या सब कुछ लीला थी तुम्हारे अनुमान में
या मैंने भूल की तुम्हारी मुस्कान में
खोलो देहबंध, मन समाधि-सिंधु हो जाये
आने दो आंच रोशनी न मंद हो जाये
हम बड़े डरे हैं। हम बड़े भयभीत हैं। हम जल्दी मुट्ठी बांध लेना चाहते हैं। हमारा मन बड़ा आतुर है, अशांत है--जल्दी हो।
और कहीं ऐसा न हो कि हम खोजते ही रह जायें, मिलना ही न हो और यह जीवन खो जाये। कहीं ऐसा न हो कि हम राह की धूल में ही दबे रह जायें और तेरे द्वार तक कभी पहुंच ही न पायें। कहीं ऐसा न हो कि हम भटकते ही रहें चांदत्तारों में और तेरा घर ही न मिले।
हमारी परमात्मा को देखने की मौलिक दृष्टि भ्रांत है। परमात्मा कहीं
और है जहां हमें पहुंचना है, इसमें ही भूल हो रही है। परमात्मा यहां है, अभी है, यहीं है; कहीं और नहीं। यह हमारा ध्यान--"कहीं और" हमें चूका रहा है। परमात्मा यहां है, अभी है, यहीं है। चारों ओर घना है। उसी की रोशनी है। उसी की छाया है। उसी के हरे वृक्ष हैं। उसी के नदी-झरने हैं। उसी के पर्वत-पहाड़ हैं। वही झांक रहा तुम्हारी आंखों से। वही बोलता मुझमें, वही सुनता तुममें। कहीं दूर नहीं है, कहीं पार नहीं है, कहीं और नहीं है; यहीं है, अभी है।
तुम जागो। डूबो इस रस में। इस उत्सव को भोगो। और प्रतिपल क्षुद्र में
भी उसे देखो। भोजन करो तो याद रखो, अन्नं ब्रह्म। पानी पीयो, याद रखो, झरने सर-सरितायें सब उसकी हैं। कंठ में तृप्ति हो, याद रखो वही तृप्त हुआ। गले मिलो प्रियजन के, स्मरण रखो वही आलिंगन कर रहा। ऐसे दूर मंजिल की तरह देखोगे तो दुखी होओगे, परेशान होओगे। और उस परेशानी में जो मौजूद है चारों तरफ, उससे चूकते चले जाओगे।
फिर दोहराता हूं--परमात्मा मंजिल नहीं, मार्ग है; गंतव्य नहीं, गति है; आखिरी पड़ाव नहीं, सभी पड़ाव उसके हैं। आखिरी कोई पड़ाव ही नहीं है। यात्रा ही यात्रा है। अनंत यात्रा है।
खुलता है हरेक रहस्य का दरवाजा दूसरे रहस्य में
प्रत्येक वर्तमान की इति है अशेष भविष्य में
और हर रहस्य का दरवाजा खोलकर जब तुम गहरे उतरोगे, फिर पाओगे नया एक दरवाजा। एक पहाड़ के उत्तुंग शिखर को लांघोगे, सोचोगे आ गये घर, अब और चलना नहीं; पहुंचोगे शिखर पर, पाओगे और बड़ा शिखर प्रतीक्षा कर रहा है। और बड़े शिखर की पुकार आ गई।
और ऐसा ही सदा होता रहेगा। शुभ है। सौभाग्य है कि यात्रा थकती नहीं, चुकती नहीं, अंत नहीं आता। यह खेल शाश्वत है, अनवरत है।
तूफान और आंधी हमको न रोक पाये
वो और थे मुसाफिर जो पथ से लौट आये
संकल्प कर लिया तो संकल्प बन गये हम
मरने के सब इरादे जीने के काम आये

कुछ कल्पनायें जोड़ीं, कुछ भावनायें तोड़ीं दीवानगी में हमने क्या-क्या न गुल खिलाये आबाद हो गई हैं दुख-दर्द की सभायें
एक साज की बदौलत सौ तार थरथराये
जाने कहां बसेंगे, जाने कहां लुटेंगे
बादल ने बाग सींचे, बिजली ने घर जलाये
संतोष को सफर में संतोष मिल रहा है
हम भी तो हैं तुम्हारे, कहने लगे पराये
संतोष को सफर में संतोष मिल रहा है
हम भी तो हैं तुम्हारे, कहने लगे पराये
जिस दिन तुम यात्रा को ही गंतव्य मान लोगे उस दिन कोई पराया नहीं, कोई अन्य नहीं, सभी अनन्य हैं। जिस दिन प्रतिपग मंजिल मालूम होने लगेगी उस दिन धन्यभागी हुए; उस दिन प्रभु तुम पर बरसा; उस दिन तुमने पहचाना; उस दिन प्रत्यभिज्ञा हुई।

आखिरी प्रश्न: प्यारे भगवान श्री, हम्मा को बिना सवाल किये जो जवाब दिया, उसे सुनकर मुझे कितनी खुशी हुई यह मैं शब्दों में नहीं कह सकती। आपका आशीर्वाद बरस रहा है।

पूछा है जसु ने।
पहली बात: सवाल हो तो तुम पूछो या न पूछो, जवाब मैं देता हूं। सवाल न हो
तो तुम कितना ही पूछो, जवाब मैं नहीं देता। सवाल पूछने से ही जरूरी नहीं है कि सवाल हो। कुछ लोगों को पूछने की बीमारी है। वे बिना पूछे रह नहीं सकते। जैसे खाज खुजलाती है, ऐसी उनकी बीमारी है। वे पूछते चले जाते हैं। उनको इतनी भी फुरसत नहीं होती कि वे सुनें कि उत्तर क्या दिया। जब मैं उत्तर दे रहा होता हूं तब वे दूसरे प्रश्न बनाते। तब वे सोचते हैं, कल क्या पूछना है। वे आगे पूछने में लग जाते हैं।
कुछ हैं, जिनका धंधा पूछना है। उन्हें उत्तर से कोई प्रयोजन नहीं है। उन्हें प्रश्न पूछना है। उन्हें प्रश्न पूछने में ही सारा रस है।
कुछ हैं, जो उत्तर के लिए प्यासे हैं और पूछते नहीं। उनके लिए भी मैं उत्तर देता हूं। सच तो यह है, वे ही उत्तर पाने के लिए ज्यादा योग्य पात्र हैं। जो पूछते भी नहीं और प्रतीक्षा करते हैं। उत्तर की आकांक्षा है लेकिन प्रश्न पूछने की खुजलाहट नहीं। राह देखते हैं। समय होगा जब, ऋतु आयेगी, ठीक-ठीक घड़ी होगी तो भरोसा है उनका कि मैं उत्तर दूंगा।
इसलिए कभी-कभी मैं उनके भी उत्तर देता हूं, जिन्होंने नहीं पूछा। और रोज ही उन बहुतों के उत्तर नहीं देता हूं जो पूछते चले जाते हैं।
असली सवाल पूछना नहीं है, असली सवाल उत्तर को ग्रहण करने की क्षमता।
असली सवाल उत्तर को स्वीकार करने की हिम्मत, साहस।
हम्मा ने पूछा नहीं था, उत्तर मैंने दिया। हम्मा को पूछने का कोई आग्रह नहीं है। सुनते हैं। वर्षों से सुनते हैं। चुपचाप सुनते रहते हैं।
सुनते हैं--कभी रोते देखता हूं उनको आंसुओं से भरे, कभी हंसते देखता हूं।
कभी प्रफुल्लित, कभी आनंदित। लेकिन गहरे सुनते हैं।
ऐसे जो भी सुननेवाले हैं, उनका कोई भी प्रश्न होगा, वे पूछें या न पूछें, मैं उत्तर दूंगा। उनका प्रश्न हो, बस इतना काफी है। ठीक समय पर उन्हें उनका उत्तर मिल जायेगा।
जसु ने कहा कि उसे सुनकर यह बहुत खुश हुई। जसु जानती है। हम्मा उसके पति हैं। जसु उन्हें पहचानती है। वह चौंकी होगी, मैंने जो उत्तर दिया। क्योंकि उसे खयाल है कि हम्मा की जरूरत क्या है। हम्मा को निकट से उसने जाना है। उनकी छाया से परिचित है। उनसे लंबे जीवन का संबंध है।
तो सुनकर चौंकी होगी जब मैंने उत्तर दिया, क्योंकि पूछा नहीं था और दिया। और जो उत्तर दिया वह वही था, जिसकी उन्हें जरूरत थी। और यह भी मैं आपको कहूं--हम्मा ने तो नहीं पूछा था, जसु ने भी नहीं पूछा था, लेकिन जसु

पूछना चाहती थी। कहना चाहती थी कि मैं हम्मा को कुछ कहूं। वह उसके प्राणों में था; इसलिए आनंदित हुई।
निश्चित ही शब्दों में कहना मुश्किल है। उसने कहा, आपका आशीर्वाद बरस रहा है।
जब तुम मेरे उत्तर को ग्रहण करने में समर्थ हो जाओगे तो तुम अचानक पाओगे कि आशीर्वाद बरसा। मैं उत्तर नहीं दे रहा हूं, आशीष ही दे रहा हूं। जो इन्हें उत्तर समझते हैं, वे चूक गये। ये कोई शाब्दिक सिद्धांत और शास्त्र की बातें नहीं हैं, जो यहां हो रही हैं। यहां कोई शब्दजाल नहीं है। यहां किन्हीं सिद्धांतों की रचना नहीं की जा रही है और न कोई संप्रदाय गढ़े जा रहे हैं। यहां कोई बौद्धिक उत्तर नहीं खोजे जा रहे।
अगर तुमने मेरा उत्तर ग्रहण कर लिया, अगर तुमने हृदय में उसे जाने दिया, तीर की तरह चुभने दिया तो तुम अनुभव करोगे कि आशीर्वाद की वर्षा हुई। तुम पर निर्भर है।
वर्षा होती है, तुम उल्टे घड़े की तरह भी हो सकते हो। घड़ा रखा रहे खुले आंगन में, वर्षा होती रहे, पानी न भरेगा। तुम फूटे घड़े की भांति भी हो सकते हो। सीधा भी रखा रहे, वर्षा भी होती रहे, पानी भरता भी रहे, फिर भी बचे न। तुम सीधे और बिन फूटे घड़े की भांति जब स्वीकार करोगे, तुम्हारे मन और
मन के विचारों के छिद्र, जब जो मैं तुम्हें दे रहा हूं उसे बहा न ले जायेंगे, जब तुम मुझे निर्विचार होकर सुनोगे तो अछिद्र होकर सुनोगे; उस समय तुम्हारे घड़े में कोई छेद नहीं है। और जब तुम मुझे प्रेम, समर्पण से सुनोगे, श्रद्धा से सुनोगे तो तुम्हारा घड़ा सीधा है। तो वर्षा भर जायेगी। तुम्हें आशीर्वाद का अनुभव होगा।
ये उत्तर नहीं हैं, आशीष ही हैं।
ढोलक ठनके रूठी मन के
रूठे प्रीतम के ढिग बेंसे
घन बरसे
घन बरसे, भीग धरा गमके
घन बरसे
रसधार गिरे, दिन सरस फिरे
पपीहा तरसे न पिया तरसे
घन बरसे
घन बरसे, भीग धरा गमके
घन बरसे
और घन बरस रहा है। रसधार बह रही है। तुम्हारे हाथ में है, कितना पी लो। तुम मुझे दोषी न ठहरा सकोगे। न पीया तो तुम्हीं जिम्मेवार हो। तुम मुझे उत्तरदायी न ठहरा सकोगे। तुम यह न कह सकोगे कि घन नहीं बरसे थे; कि रसधार नहीं बही थी। यह उपाय तुम्हारे लिए नहीं है। तुम यह न कह सकोगे कि हम बुद्ध के समय में नहीं थे और क्राइस्ट के समय में नहीं थे, और कृष्ण की बांसुरी को हमने नहीं सुना, क्या करें! तुम यह न कह सकोगे। बांसुरी बज रही है। नहीं सुने तो तुम ही सिर्फ जिम्मेवार हो। सुन लिया तो निश्चित ही आशीर्वाद की वर्षा हो जायेगी। और आशीर्वाद मुक्ति है। आशीष में निर्वाण है।
प्रार्थना में शक्ति है ऐसी
कि वह निष्फल नहीं जाती
जो अगोचर कर चलाते हैं जगत को
उन करों को प्रार्थना नीरव चलाती
प्रार्थना से सुनो। प्रार्थनापूर्ण होकर सुनो।
जो अगोचर कर चलाते हैं जगत को
उन करों को प्रार्थना नीरव चलाती
अगर तुमने प्रार्थनापूर्वक सुन लिया तो तुम्हारे प्राणों से जो भी उठेगा वह परमात्मा को चलाने लगता है। वही तो आशीर्वाद का अर्थ है। उसकी तरफ से आशीर्वाद बरसने लगते हैं।
प्रार्थना में शक्ति है ऐसी

कि वह निष्फल नहीं जाती
जो अगोचर कर चलाते हैं जगत को
उन करों को प्रार्थना नीरव चलाती
कहना भी नहीं पड़ता। बिन कहे भी प्रार्थना पहुंच जाती। बस, हृदय प्रार्थना भरा हो, समर्पित हो, श्रद्धा से आपूर हो, बाढ़ आयी हो प्रेम की तो अनंत आशीषों की वर्षा उपलब्ध होगी। आशीष तो बरस ही रहे हैं; तुम्हारा हृदय खुला होगा और तुम उन्हें पाने में समर्थ हो जाओगे।
इसे याद रखना। यहां कोई बौद्धिक निर्वचन नहीं चल रहा है। यहां तो अनिर्वचनीय की बात हो रही है। उसे पाने के लिए भाव ही एकमात्र पात्रता देता है, विचार नहीं। भाव से समझोगे तो ही समझोगे। विचार से समझा तो चूक सुनिश्चित है।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
तिरसठवां प्रवचन

महाशय को कैसा मोक्ष!

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः।। २०४।।
यस्यांतः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किंचिद्धि कृतं कृतम्।। २०५।।
नोद्विग्नं न च संतुष्टमकर्तृस्पंदवर्जितम्।
निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते।। २०६।।
निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते।
निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायति विचेष्टते।। २०७।।
तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मंदः प्राप्नोति मूढ़ताम्।
अथवाऽऽयाति संकोचममूढ़ः कोऽपि मूढ़वत्।। २०८।।
एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत् स्वपदे स्थिताः।। २०९।।

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः।।

पहला सूत्र: "महाशय पुरुष विक्षेपरहित और समाधिरहित होने के कारण न मुमुक्षु है, न गैर-मुमुक्षु है; वह संसार को कल्पित देख ब्रह्मवत रहता है।"
अत्यंत क्रांतिकारी सूत्र है।
साधारण जन परमात्मा के संबंध में कुछ पूछते हैं तो मात्र कुतूहल होता है। कुतूहल से कोई कभी सत्य तक पहुंचता नहीं। कुतूहल तो बड़ी ऊपर-ऊपर की बात है; बचकाना है। जैसे छोटे बच्चे पूछते हैं। जो सामने आ गया उसी के संबंध में प्रश्न पूछ लेते हैं। उत्तर मिले तो ठीक, न मिले तो ठीक। क्षण भर बाद प्रश्न भी भूल जाता है, उत्तर भी भूल जाता है। हवा की तरंग थी, आयी और गई। उत्तर दिया तो ठीक, न दिया तो भी कोई चिंता नहीं। उत्तर की कोई गहरी चाह न थी। ऐसे ही प्रश्न उठ गया था। प्रश्न उठाना मन का स्वभाव है। कुतूहल से कोई कभी सत्य तक नहीं पहुंचता।
कुतूहल से गहरी जाती है जिज्ञासा। जिज्ञासा खोजी बनाती है। जिज्ञासा
का अर्थ है, खोजकर रहूंगा। प्रश्न मूल्यवान है। और जब तक इस प्रश्न का उत्तर न मिले तब तक जीवन में अर्थ न होगा।
सुकरात ने कहा है, अपरीक्षित जीवन जीने योग्य नहीं है। जिस जीवन का ठीक से परीक्षण न किया हो और जिस जीवन का अर्थबोध न हो, उसे भी क्या जीना! फिर आदमी और पशु के जीवन में भेद क्या? ठीक विश्लेषण, ठीक अर्थबोध, ठीक प्रयोजन का पता चल जाये कि क्यों हूं, तभी जीने का कुछ सार है।
कुतूहल ऊपर-ऊपर है। जिज्ञासा गहरे जाती है, लेकिन फिर भी पूरे प्राणों तक नहीं जाती। अगर जीवन दांव पर लगाना हो तो जिज्ञासु दांव पर नहीं लगाता। उससे भी गहरी जाती है मुमुक्षा।
मुमुक्षा का अर्थ होता है: प्रश्न का उत्तर जीवन से भी ज्यादा मूल्यवान है।
जिज्ञासा का अर्थ होता है: जीवन को जीने के लिए प्रश्न का उत्तर जरूरी है, लेकिन जीवन से ज्यादा मूल्यवान नहीं। अगर कोई कहे कि जीवन को देकर उत्तर मिल सकता है तो क्या सार रहा? जीने के लिए ही उत्तर चाहिए था। अगर जीवन ही गंवाकर उत्तर मिले, उस उत्तर का क्या करेंगे?
मुमुक्षा का अर्थ होता है: मोक्ष की आकांक्षा, परम स्वातंत्र्य की प्रबल अभीप्सा। अब अगर जीवन भी दांव पर लग जाये तो कुछ हर्ज नहीं। इतना महत्वपूर्ण है प्रश्न का उत्तर कि जीवन भी गंवाया जा सकता है; जीवन को भी दांव पर लगाया जा सकता है।

मुमुक्षा और गहरे जाती है। लेकिन यह सूत्र कहता है...ऐसा सूत्र दूसरे किसी शास्त्र में उपलब्ध नहीं है। इसलिए मैं कहता हूं, सूत्र बड़ा क्रांतिकारी है। अष्टावक्र के सूत्र कुछ ऐसे हैं कि किसी शास्त्रकार ने कभी इतने गहरे जाने का साहस नहीं किया।
अष्टावक्र कहते हैं, "महाशय पुरुष विक्षेपरहित और समाधिरहित होने के कारण न मुमुक्षु है और न गैर-मुमुक्षु है।"
लेकिन एक ऐसी भी दशा है, जहां मुमुक्षा भी नहीं ले जाती। वहां जाने के लिए मुमुक्षा भी छोड़ देनी पड़ती है। तो समझें।
मुमुक्षा का अर्थ होता है: स्वतंत्र होने की आकांक्षा, मोक्ष की आकांक्षा। लेकिन मोक्ष का स्वभाव ऐसा है कि कोई भी आकांक्षा हो तो मोक्ष संभव न हो पायेगा। मोक्ष की आकांक्षा भी बाधा बन जायेगी। आकांक्षा मात्र बंधन बन जाती। धन की आकांक्षा तो बंधन बनती ही है, प्रेम की आकांक्षा तो बंधन बनती ही है, लेकिन मोक्ष की आकांक्षा, परमात्मा को पाने की आकांक्षा भी अंतिम बंधन है; आखिरी बंधन है। बड़ा स्वर्णनिर्मित है बंधन; हीरे- जवाहरातों जड़ा है। धन्यभागी हैं वे जिनके हाथों में मोक्ष का बंधन पड़ा हो, लेकिन है तो बंधन ही। यह खयाल कि मैं मुक्त हो जाऊं, बेचैनी पैदा करेगा। और यह खयाल कि मैं मुक्त हो जाऊं, वर्तमान से अन्यथा ले जायेगा, भविष्य में ले जायेगा। यह तो वासना का फैलाव हो गया। नई वासना है, पर है वासना। सुंदर वासना है, पर है वासना।
और बीमारी कितनी ही बहुमूल्य हो, हीरे-जवाहरातों जड़ी हो, इससे क्या फर्क पड़ता है? चाहे चिकित्सा-शास्त्री कहते हों कि बीमारी साधारण बीमारी नहीं है राजरोग है, सिर्फ राजाओं-महाराजाओं को होता है तो भी क्या फर्क पड़ता है? राजरोग भी रोग ही है।
मोक्ष की वासना भी वासना है। इसे समझने की थोड़ी चेष्टा करें। आदमी बंधा क्यों है? बंधन कहां है? बंधन इस बात में है कि हम जो हैं, उससे हम राजी नहीं, कुछ और होना है। तो जो हैं उसमें हमारी तृप्ति नहीं। जहां हम हैं, जैसे हम हैं, वहां हमारा उत्सव नहीं। कहीं और होंगे तो नाचेंगे। यहां आंगन टेढ़ा है। आज तो नहीं नाच सकते। आज तो सुविधा नहीं है, कल नाचेंगे, परसों नाचेंगे। कल आता नहीं। कल ही नहीं आता तो परसों तो आयेगा कैसे? रोज जब भी समय मिलता है वह आज होता है। और जो भी पास आ जाता है वही आंगन टेढ़ा हो जाता है।
हमारे जीवन की धारा भविष्योन्मुख है। कल स्वर्ग में, मोक्ष में, कहीं
और सुख है; यहां तो दुख है। वासना का अर्थ है: यहां दुख, सुख कहीं और। सुख सपने में, यथार्थ में दुख। तो हम सपने को उतार लाने की चेष्टा करते हैं। स्वर्ग को उतारना है पृथ्वी पर या अपने को ले जाना है स्वर्ग में। लेकिन आज और अभी और यहीं तो महोत्सव नहीं रच सकता। आज तो बांसुरी नहीं बजेगी। और जिसकी बांसुरी आज नहीं बज रही वही बंधन में है। उसकी बांसुरी कभी नहीं बजेगी। या तो आज, या कभी नहीं। या तो अभी, या कभी नहीं।
बंधन का अर्थ है, हम भविष्य से बंधे हैं। बंधन का अर्थ है, भविष्य की वासना की डोर हमें खींचे लिये जाती है और हम आज मुक्त नहीं हो पाते। भविष्य हमें बांधे है। वर्तमान मुक्त करता है। वर्तमान मुक्ति है। मोक्ष अभी है और संसार कल है।
तुमने अक्सर उल्टी बात सुनी है। तुमने सुना है, संसार यहां है और मोक्ष वहां है। मैं तुमसे कहना चाहता हूं मोक्ष यहां है, संसार वहां है।
अभी जो मौजूद है यही मुक्ति है। अगर तुम इस क्षण में लीन हो जाओ, तल्लीन हो जाओ, डुबकी लगा लो, तुम मुक्त हो गये। तुम अगर कल की डोर में बंधे खिंचते रहो तो तुम्हारे पैर में जंजीरें पड़ी रहेंगी। तुम कभी नाच न पाओगे। तुम्हारे जीवन में कभी आभार का, आशीष का क्षण न आ पायेगा।
अष्टावक्र कहते हैं, इसका अर्थ हुआ कि मुमुक्षा भी बंधन है। मोक्ष की आकांक्षा भी तो कल में ले जाती है। मोक्ष तो कभी होगा, मरने के बाद होगा, मृत्यु के बाद होता है। अगर जीवन में भी होगा तो आज तो नहीं होना है। बड़ी साधना करनी होगी, बड़े हिमालय के उत्तुंग शिखर चढ़ने होंगे। गहन अभ्यास,

महायोग, तप, जप, ध्यान, फिर कहीं अंतिम फल की भांति आयेगा मोक्ष। प्रतीक्षा करनी होगी। धीरज रखना होगा। श्रम करना होगा। मोक्ष फल की तरह आयेगा। मोक्ष फल नहीं है, मोक्ष तुम्हारा स्वभाव है। इसलिए मोक्ष कल नहीं है, मोक्ष अभी है, यहीं है। तो मुमुक्षा बाधा बनेगी। जो मुमुक्षा से भरा है वह कुतूहल से तो बेहतर है, जिज्ञासा से भी बेहतर है, लेकिन उससे भी ऊपर एक दशा है। मुमुक्षु के पार, वीत-मुमुक्षा की भी एक दशा है; जहां अब यह भी आकांक्षा न रही कि मोक्ष हो, स्वतंत्रता हो; जहां सारी आकांक्षाएं आमूल गिर गईं। संसार की तो मांग रही ही नहीं, परमात्मा की भी मांग न रही; मांग ही न रही।
उस घड़ी तुम्हारे भीतर जो घटता है वही मोक्ष है। उस घड़ी तुम जिसे जानते
हो वही परमात्मा है। उस घड़ी तुम्हारे भीतर जो प्रकाश फैलता है--क्योंकि अब उस प्रकाश को बाधा डालनेवाली कोई दीवाल न रही--वही प्रकाश तुम्हारा स्वभाव है।
तो मुमुक्षा के भी ऊपर जाना है।
"महाशय पुरुष...।"
महाशय का अर्थ होता है, जिसका आशय विराट हो गया, महा-आशय। जिसका आशय आकाश जैसा हो गया, जिसके आशय पर कोई सीमा न रही।
हम तो साधारणतः किसी को भी महाशय कहते हैं। शिष्टाचार तो ठीक है, लेकिन महाशय तो कभी किसी बुद्ध को, अष्टावक्र को, क्राइस्ट को, कृष्ण को, लाओत्सु को ही कहा जा सकता है। सभी को महाशय नहीं कहा जा सकता। कहते हैं, शिष्टाचार है--इस आशा में कि शायद जो आज महाशय नहीं है, कल हो जायेगा। यह हमारी शुभाकांक्षा है, लेकिन सत्य नहीं है।
महाशय का अर्थ होता है: जिसके ऊपर आकांक्षा की कोई सीमा न रही। आकांक्षा से मुक्त जिसका आकाश हो गया वही महाशय है। जिसको अब आकांक्षा का क्षितिज बांधता नहीं। जिस पर अब कोई सीमा ही नहीं है, असीम है। जिसके भीतर की चैतन्य-दशा अब किसी चीज की प्रतीक्षा नहीं कर रही है।
क्योंकि जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रहे हो उसी से अटके हो। जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रहे हो उसी पर तुम्हारा सुख-दुख निर्भर है। जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रहे हो, मिलेगा तो प्रसन्न हो जाओगे, नहीं मिलेगा तो विषाद से भर जाओगे। पर-निर्भरता जारी रहेगी। मोक्ष का अर्थ है, अब मैं पर-निर्भर नहीं। अब मैं अपने में पूरा हूं, समग्र हूं। अब किसी भी बात की जरूरत नहीं है। जो होना था, जो चाहिए था, है; सदा से है। ऐसी महाशय की दशा।
"महाशय पुरुष विक्षेपरहित...।"
फिर विक्षेप का कोई कारण ही नहीं है। विक्षेप तो पड़ता ही इसलिए है कि हमारी कोई आकांक्षा है। तुम्हें धन चाहिए तो विक्षेप पड़ेगा, क्योंकि और लोगों को भी धन चाहिए। संघर्ष होगा, प्रतिस्पर्धा होगी, दुश्मनी होगी, प्रतियोगिता होगी। पक्का नहीं है कि तुम पा पाओगे। क्योंकि और भी प्रतियोगी हैं, बलशाली प्रतियोगी हैं। यह कोई सहज होनेवाला नहीं है। तुम्हें पद चाहिए तो भी उपद्रव होगा, विक्षेप खड़े होंगे। हजार बाधायें आ जायेंगी।
तुम्हें अगर मोक्ष चाहिए तो भी तुम पाओगे कि हजार बाधायें हैं। शरीर बाधायें खड़ी करता है, मन बाधायें खड़ी करता है। वासनायें उत्तुंग हो जाती हैं, कामनायें दौड़ती हैं। हजार-हजार विक्षेप खड़े हो जाते हैं। बांधो, सम्हालो, गांठ बंधती नहीं, खुल-खुल जाती है। इधर से सम्हालो, उधर से बिखर जाता। एक तरफ से बसा पाते हो कि दूसरी तरफ से उजड़ जाता है। ऐसे उधेड़बुन में जीवन बीतता।
जब तक तुम्हारे मन में आकांक्षा है तब तक विक्षेप भी रहेगा। विक्षेप
तो ऐसा ही है जैसे कि आकांक्षा की आंधी चलती हो तो शांत झील पर लहरें उठती हैं। वे लहरें विक्षेप हैं। जब तुम्हारे चित्त पर आकांक्षा की आंधी चलती है तो लहरें उठती हैं। लहरों से मत लड़ो। लहरों से लड़कर कुछ सार न होगा।
यहीं फर्क है अष्टावक्र और पतंजलि का।

पंतजलि कहते हैं, "चित्तवृत्तिनिरोध।" चित्त की वृत्तियों का निरोध करने से योग हो जाता है। यही उनकी समाधि की परिभाषा है--वृत्तियों का निरोध। वृत्ति का मतलब हुआ: तरंग, लहर।
अष्टावक्र कहते हैं, वृत्तियों का कैसे निरोध करोगे? आंधी चल रही है, अंधड़ उठा है, तूफान, बवंडर है। तुम छोटी-छोटी ऊर्मियों को शांत कैसे करोगे? एक-एक लहर को शांत करते रहोगे, अनंत काल तक भी न हो पायेगा। आंधी चल ही रही है, वह नई लहरें पैदा कर रही है।
अष्टावक्र कहते हैं, लहरों को शांत करने की फिक्र छोड़ो, आंधी से ही छुटकारा पा लो। और आंधी तुम ही पैदा कर रहे हो, यह मजा है। आकांक्षा की आंधी, वासना की आंधी, कामना की आंधी। कामना की आंधी चल रही है तो लहरें उठती हैं। अब तुम लहरों को शांत करने में लगे हो। मूल को शांत कर दो, तरंगें अपने से शांत हो जायेंगी। तुम वासना छोड़ दो।
यह तो तुमसे औरों ने भी कहा है, वासना छोड़ दो। लेकिन अष्टावक्र का वक्तव्य परिपूर्ण है। और कहते हैं वासना छोड़ दो, वे कहते हैं संसार की वासना छोड़ दो, प्रभु की वासना करो। तो आंधी का नाम बदल देते हैं। सांसारिक आंधी न रही, असांसारिक आंधी हो गई। धन की आंधी न रही, ध्यान की आंधी हो गई; पर आंधी चलेगी। लेबल बदला, नाम बदला, रंग बदला, लेकिन मूल वही का वही रहा। पहले तुम मांगते थे इस संसार में पद मिल जाये, अब परमपद मांगते हो। मगर मांग जारी है। और तुम भिखमंगे के भिखमंगे हो।
अष्टावक्र कहते हैं छोड़ ही दो। संसार और मोक्ष, ऐसा भेद मत करो। आकांक्षा आकांक्षा है; किसकी है, इससे भेद नहीं पड़ता। धन मांगते, पद मांगते, ध्यान मांगते, कुछ फर्क नहीं पड़ता। मांगते हो, भिखमंगे हो। मांगो मत। मांग ही छोड़ दो।
और मांग छोड़ते ही एक अपूर्व घटना घटती है; क्योंकि जो तुम्हारी ऊर्जा मांग में नियोजित थी, हजारों मांगों में उलझी थी वह मुक्त हो जाती है। वही ऊर्जा मुक्त होकर नाचती है। वही नृत्य महोत्सव है। वही नृत्य है परमानंद, सच्चिदानंद।
कुछ ऊर्जा धन पाने में लगी है, कुछ पद पाने में लगी है, कुछ मंदिर में जाती है, कुछ दूकान पर जाती है। कुछ बचता है थोड़ा-बहुत तो ध्यान में लगाते हो, गीता-कुरान पढ़ते हो, पूजा-प्रार्थना करते हो; ऐसी जगह-जगह उलझी है तुम्हारी ऊर्जा।
अष्टावक्र कहते हैं, महाशय हो जाओ, सब जगह से छोड़ दो। आकांक्षा का स्वभाव समझ लो। आकांक्षा का स्वभाव ही तरंगें उठा रहा है।
कभी तुमने खयाल किया? एक घड़ी को बैठ जाओ, कुछ भी न चाहते हो, उस क्षण कोई तरंग उठ सकती है? कुछ भी न चाहते हो, कोई मांग न बचे तो लहर कैसे उठेगी? तुम कहते हो हम ध्यान करने बैठते हैं लेकिन विचार चलते रहते हैं। उसका कारण यही है कि तुम ध्यान करने तो बैठे हो लेकिन तुम आकांक्षा का स्वरूप नहीं समझे हो। हो सकता है तुम ध्यान करने इसीलिए बैठे होओ कि कुछ आकांक्षायें पूरी करनी हैं, शायद ध्यान से पूरी हो जायें।
मेरे पास लोग आते हैं, वे पूछते हैं, अगर ध्यान करेंगे तो सुख-संपत्ति मिलेगी? सुख-संपत्ति मिलेगी, अगर ध्यान करेंगे? अब यह आदमी ध्यान कैसे करेगा? यह तो सुख-संपत्ति चाहने के लिए ही ध्यान करना चाहता है। अब जब यह ध्यान करने बैठे और सुख-संपत्ति के विचार उठने लगें तो आश्चर्य क्या है? फिर यह कहेगा कि ध्यान नहीं होता क्योंकि विचार चलते हैं। जब ध्यान करने बैठता है तो विचार चलते हैं, तो सोचता है विचार नहीं चलने चाहिए, तो विचारों को रोकता है। और ध्यान करने बैठा ही आकांक्षा से है। क्षुद्र आशय--सुख-संपत्ति!
कोई कहता है ध्यान करेंगे तो स्वास्थ्य मिलेगा? कोई कहता है ध्यान करेंगे तो सफलता हाथ लगेगी? अभी तो विफलता ही विफलता लगती है। ध्यान से जीवन का ढंग बदल जायेगा? सफलता हाथ लगेगी?
अब यह जो आदमी सफलता की आकांक्षा से बैठा पालथी मारकर, आंख बंद करके, इसके भीतर सफलता की तरंगें तो चल ही रही हैं। उलझा रहता था बाजार में तो शायद इतना पता भी न चलता था। अब खाली बैठ गया है सिद्धासन लगाकर, अब कोई

काम भी न रहा, तरंगें और शुद्ध होकर चलेंगी। उलझन भी न रही कोई। मगर आंधी तो बह रही है। अंधड़ तो जारी है।
अष्टावक्र कहते हैं, आकांक्षा की आंधी तुम्हें अंधा बनाये हुए है। आकांक्षा की आंधी ने तुम्हें सीमा दे दी है। तुम वही हो गये हो, जो तुमने आकांक्षा पाल ली है। अगर तुम वस्तुओं को संग्रह करने में लगे हो तो अंततः तुम पाओगे, तुम वस्तुओं जैसे ही गये-बीते हो गये हो। किसी कचरेघर में फेंक देने योग्य हो गये। अगर तुमने धन चाहा तो तुम एक दिन पाओगे, कि तुम भी धन के ठीकरे हो गये। जो तुम चाहोगे वैसे ही हो जाओगे। क्योंकि चाह तुम्हारी सीमा बनती है। और चाह का रंग-रंगत तुम पर चढ़ जाती है। तुम वैसे ही हो जाते हो।
तुमने कभी देखा--कंजूस आदमी की आंखें देखीं? उनमें वैसी ही गंदी घिनौनी छाया दिखाई पड़ने लगती है जैसे घिसे-पिटे सिक्कों पर होती है। तुमने कंजूस, कृपण आदमी का चेहरा देखा? उसमें वैसा ही चिकनापन दिखाई पड़ने लगता है घिनौना जैसा सिक्कों पर होता है। घिसते हैं एक हाथ, दूसरे हाथ, उधार चलते रहते हैं, वैसा ही घिनौनापन उसके चेहरे पर आ जाता है।
तुम जो चाहोगे, तुम्हारी जो चाह होगी वही तुम्हारी मूर्ति बन जायेगी। कामी की आंख देखी? उसका चेहरा देखा? उसके चेहरे पर कामवासना प्रगाढ़ होकर मौजूद हो जाती है। उसके मन की भी पूछने की जरूरत नहीं, उसका चेहरा ही बता देगा। क्योंकि चित्त पूरा का पूरा चेहरे पर उंड़ला आता है। चेहरा तो दर्पण है। जो आकांक्षा भीतर चलती है, चेहरे पर उसके चिह्न बन जाते हैं, मिटते नहीं।
बड़ी पुरानी सूफी कथा है। एक सम्राट ने--जो मूसा का भक्त था--अपने चित्रकार को कहा, राज्य के बड़े से बड़े चित्रकार को, कि मूसा की एक तस्वीर बना दो मेरे दरबार में लगाने को। वह चित्रकार गया। मूसा जीवित थे। वह मूसा के पास रहा, महीनों में तस्वीर पूरी की, फिर वह आया। और वह तस्वीर दरबार में लगी तो राजा नाखुश हुआ। उसने कहा, यह तस्वीर मूसा की नहीं मालूम पड़ती। चेहरे पर तो ऐसे लगता है, जैसे कोई हत्यारा हो। चेहरे पर तो ऐसे लगता है जैसे कोई कामी हो। चेहरे पर शांति की, ध्यान की, समाधि की झलक नहीं है। कुछ भूल हो गई।
चित्रकार ने कहा, मैंने कुछ भूल नहीं की है। जैसा चेहरा था वैसा ही अंकित कर दिया है। सम्राट मूसा को मिलने गया और उसने मूसा को कहा कि मुझे बड़ी बेचैनी होती है उस चित्र को देखकर। वह आपका चित्र नहीं मालूम पड़ता। उस पर तो ऐसा लगता है, जैसे किसी हत्यारे की छाया हो। आंख में जैसे किसी गहन वासना का रोग हो। चेहरे पर आपकी परम आभा और दीप्ति नहीं है।
मूसा हंसने लगे। और मूसा ने कहा, चित्रकार ठीक है। वह मेरे पहले दिनों
की कथा है। वे चिह्न गहरे पड़ गये हैं, मिटते नहीं। मैं बदल गया लेकिन चेहरे पर जो चिह्न पड़ गये हैं वे मिटते नहीं। वह मेरे आधे जीवन की कहानी है। अब मैं ध्यान भी करता हूं, अब मैं शांत भी हूं, अब कोई वासना भी नहीं रही है, अब कोई संघर्ष भी नहीं है, हिंसा, क्रोध भी नहीं है लेकिन वह सब था। चित्रकार ने ठीक पकड़ा। उसने चमड़ी के भीतर पकड़ लिया। मैं भी जानता हूं। जब मैं गौर से आईने में अपने को देखता हूं, गौर से देखता हूं तो मुझे भी दिखाई पड़ती हैं वे छायायें, जो कभी थीं; जिनके चिह्न पड़े रह गये हैं। सांप निकल गया है लेकिन राह पर लकीर पड़ी रह गई है। रस्सी जल गई है, एंठ रह गई है।
तुम जो हो--तुम्हारी वासना की छाप, वही हो तुम।
महाशय का अर्थ है, जिसने अंतिम वासना भी छोड़ दी। मोक्ष को पाने की वासना भी छोड़ दी। ऐसा व्यक्ति विक्षेपरहित। और अनूठी बात सुनते हो? अष्टावक्र कहते हैं, "और समाधिरहित।"
जब विक्षेप ही न रहा तो समाधि की क्या जरूरत? समाधि तो ऐसी है जैसे औषधि। रोग है तो औषधि की जरूरत है। रोग ही न रहा तो औषधि की क्या जरूरत? समाधि का अर्थ होता है समाधान। समस्या है तो समाधान चाहिए। समस्या ही न रही तो समाधान की क्या जरूरत! तो यह बड़ा अनूठा सूत्र है-- असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
न तो मुमुक्षा है, न न-मुमुक्षा है। न समाधि है, न विक्षेप।

"ऐसा जो महाशय है वह संसार को कल्पित देखकर ब्रह्मवत रहता है।"
इसे भी खयाल रखना। अष्टावक्र कहते हैं, एक ही बात घटती है उस व्यक्ति को, इस महाशय की अवस्था में--संसार स्वप्नवत हो जाता है। नहीं कि मिट जाता है; खयाल रखना, मिट नहीं जाता। अनेकों को भ्रांति है कि ज्ञानी के लिए संसार मिट जाता है। मिट नहीं जाता, स्वप्नवत हो जाता है। होता है, लेकिन एक बात निश्चित हो जाती है ज्ञानी के भीतर कि आभास मात्र है।
तुमने देखा? एक सीधी लकड़ी को पानी में डाल दो, तिरछी दिखाई पड़ने लगती है। तुम जानते हो सीधी है। खींचकर निकालो, सीधी है। फिर पानी में डालो, अब तुम भलीभांति जानते हो कि पानी में जाकर तिरछी होती नहीं, सिर्फ दिखाई पड़ती है; फिर भी तिरछी ही दिखाई पड़ती है। पानी में हाथ डालकर लकड़ी को छूकर देख लो, सीधी की सीधी है; मगर दिखाई तिरछी पड़ती है। अब तुम जानते हो कि लकड़ी सीधी है, तिरछी नहीं, सिर्फ आभास होता है। किरण के नियमों के कारण, प्रकाश के नियमों के कारण तिरछी दिखाई पड़ती है। हवा के माध्यम और पानी के माध्यम में फर्क है, इसलिए तिरछी दिखाई पड़ती है।
ज्ञानी को संसार मिट नहीं जाता, स्वप्नवत हो जाता है।
निश्चित्य कल्पितं...।
एक ही बात निश्चित हो जाती है कि कल्पना मात्र है।
पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः।
और ऐसा देखकर...।
पश्यन् ब्रह्मैव आस्ते।
और ऐसा देखकर महाशय, ज्ञानी ब्रह्म में ठहर जाता। अपने ब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाता।
पश्यन् ब्रह्मैवास्ते।
डुबकी लगा लेता है। ठहर जाता। केंद्र पर आ जाता। कल्पना है संसार, ऐसा जानकर अब कल्पना के पीछे दौड़ता नहीं।
राम की कथा में तुमने देखा? स्वर्णमृग के पीछे दौड़ गये। कथा मधुर है।
कोई भी जानता है कि मृग सोने के होते नहीं। कल्पना ही होगी। धोखा ही होगा।
सपना ही होगा। भ्रांति ही होगी। फिर भी राम स्वर्णमृग को खोजने चले गये।
ऐसे गये स्वर्णमृग को खोजने, जो नहीं था उसे खोजने गये, सीता को गंवा बैठे।
यह कथा मधुर है, अर्थपूर्ण है। ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति के भीतर का राम स्वर्णमृगों को खोजने चला गया है। और ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति के भीतर के राम ने अपनी सीता को गंवा दिया, अपने स्वभाव को गंवा दिया। जो अपना था वह गंवा दिया। उसके पीछे चले गये हैं, जो नहीं है; जो सिर्फ दिखाई पड़ता है। जिस दिन तुम्हें दिखाई पड़ जायेगा कि स्वर्णमृग वास्तविक नहीं है, धोखा है, भ्रमजाल है, उसी क्षण तुम लौट आओगे। उसी क्षण अपने में ठहर जाओगे। पश्यन् ब्रह्मैव आस्ते।
उसी क्षण तुम अपने में खड़े हो जाओगे। थिर! स्वस्थ! अब तुम कहीं नहीं जाते। अब तुम जानते हो। ऐसा नहीं है कि स्वर्णमृग अब दिखाई न पड़ेंगे; अब भी दिखाई पड़ेंगे। सुबह की धूप में उनका स्वर्ण चमकेगा। उनका बुलावा अब भी आता रहेगा लेकिन अब तुम जानते हो, एक बात निश्चित हो गई कि संसार कल्पना मात्र है।
जब भी किसी नये सांचे में हम अपने को ढाल रहे हैं
सोना-मढ़े दांत के नीचे जैसे कीड़े चाल रहे हैं

गंगा-जमनी चमक दांत की सिरज रही उन्मुक्त ठहाका
र्ा की चंचल आंखों में काजल-सा है चिह्न धुआं का
विज्ञापन परिचय के सिगरेटों के दौर उछाल रहे हैं

ये सारे संदर्भ स्वयं में अर्थहीन हो गये जतन के जैसे रत्नजड़ी तलवारें शयनकक्ष में राजभवन के हीन ग्रंथियों के विषरस को कंचन के घट पाल रहे हैं

अपने को अभिव्यक्त न कर पाने का दर्द और बढ़ जाता

जब कोई मुसकान व्यथा की सोने का पानी चढ़ जाता
राजा के लक्षण हों जिसमें, हम ऐसे कंगाल रहे हैं
राजा के लक्षण हों जिसमें, हम ऐसे कंगाल रहे हैं
लक्षण तो राजा के हैं, भीख मांग रहे हैं। भिक्षापात्र हाथ में लिये खड़े हैं सम्राट। राम सोने के मृगों में भटक गये हैं और गंवा रहे हैं अपनी सीता को, अपनी आत्मा को।
इतना ही ज्ञानी को हो जाता है। बस इतनी ही घटना घटती है--छोटी कहो, बड़ी कहो, इतनी ही घटना घटती है कि वासना मात्र, कामना मात्र मेरी ही कल्पना का जाल है, ऐसा निश्चय हो जाता है। ऐसा निश्चय होते ही अब न कोई समाधि की जरूरत है, न कोई मुमुक्षा की जरूरत है, न कोई चित्त की तरंगों को शांत करने की। अब चित्तवृत्ति-निरोध नहीं करना है। हो गया निरोध अपने से। मूल को हटा दिया। आंधी को हटा दिया।
और खयाल रखना, आंधी दिखाई नहीं पड़ती, तरंगें दिखाई पड़ती हैं। जो दिखाई पड़ता है उससे लड़ने का मन होता है। जो दिखाई नहीं पड़ता उसकी तो याद ही नहीं आती। इसलिए अष्टावक्र पतंजलि से गहरे जाते हैं। पतंजलि की बात सीधी-साफ है। लहरें दिखाई पड़ रही हैं चित्त की, इनको शांत करो। यम से, नियम से, आसन से, धारणा से, ध्यान से, समाधि से इन्हें शांत करो। इनके शांत हो जाने से कुछ होगा। योग का मार्ग है चित्त के साथ संघर्ष का।
पतंजलि पूरे होते हैं समाधि पर; और अष्टावक्र की यात्रा ही शुरू होती
है समाधि को छोड़ने से। जहां अंत आता है पतंजलि का वहीं प्रारंभ है अष्टावक्र का। अष्टावक्र आखिरी वक्तव्य हैं। इससे ऊपर कोई वक्तव्य कभी दिया नहीं गया। यह इस जगत की पाठशाला में आखिरी पाठ है। और जो अष्टावक्र को समझ ले, उसे फिर कुछ समझने को शेष नहीं रह जाता। उसने सब समझ लिया। और जो अष्टावक्र को समझकर अनुभव भी कर ले, धन्यभागी है। वह तो फिर ब्रह्म में रम गया।
जब तक तुम आशय में बंधे हो तब तक तुम्हारी सीमा है। जिस दिन तुम आशय से मुक्त हुए उसी दिन सीमा से मुक्त हुए। सीमा तुम्हारी धारणा में है। तुमने खींच रखी है। यह जो लक्ष्मण रेखा तुमने खींच रखी है, किसी और ने नहीं खींची है, तुम्हीं ने खींच रखी है। और अब तुम निकल नहीं पाते। अब तुम कहते हो, लक्ष्मण रेखा के बाहर कैसे जायें? डर लगता है। घबड़ाहट होती है।
गुरजिएफ ने लिखा है कि वह अपने युवावस्था के दिनों में मध्य एशिया के बहुत-से देशों में यात्रा करता रहा सत्य की खोज में। कुर्दिस्तान में उसने एक अनूठी बात देखी। पहाड़ी इलाका है। स्त्रियों को, पुरुषों को बड़ी मेहनत करनी पड़ती है तब कहीं दो जून रोटी जुटा पाते हैं। तो बच्चों को घर छोड़ जाते हैं। जंगल-पहाड़ में लकड़ी काटने जाते हैं, काम करने जाते हैं। तो उन्होंने एक तरकीब निकाल रखी है। वे बच्चों के चारों तरफ चॉक की मिट्टी से एक लकीर खींच देते हैं, गोल घेरा बना देते हैं। और बच्चे को कह देते हैं, बाहर तू निकल न सकेगा, चाहे कुछ भी कर।
छोटे बचपन से यह बात कही जाती है। धीरे-धीरे बच्चा इसका अभ्यस्त हो जाता है। बस लकीर खींच दो कि वह उसके भीतर बैठा रहता है। जब गुरजिएफ ने यह देखा तो वह बड़ा हैरान हुआ कि दुनिया में यह कहीं नहीं होता, लेकिन कुर्दिस्तान में होता है। और मां-बाप बड़े निश्चिंत जंगल चले जाते हैं अपना काम करने दिन भर। बच्चा रोये, गाये, कुछ भी करे, लेकिन लकीर के बाहर नहीं निकलता।
और बच्चे की तो बात छोड़ दो, जो कि इसी का अभ्यास बचपन से किया जाता है; अगर किसी बड़े आदमी के आसपास भी तुम लकीर खींच दो और कह दो, तुम बाहर न जा सकोगे तो वह भी एकदम खड़ा रह जाता है। वह चेष्टा भी करता है तो ऐसा लगता है, कोई अदृश्य दीवाल उसे धक्के दे रही है।
कहीं कोई दीवाल नहीं है, धारणा की दीवाल है। वह निकलने नहीं देती। कभी-कभी कोई चेष्टा भी करता है तो धक्का खाकर गिर पड़ता है। और धक्का खाने को कुछ भी नहीं है, अपना ही भाव--कि निकलना हो नहीं सकता।
यह तुम चकित होओगे जानकर, लेकिन सम्मोहन के ये सामान्य नियम हैं। और इसी तरह तुम्हारा जीवन भी न मालूम कितनी लकीरों से ग्रसित है। वे लकीरें

तुमने खींची हैं--तुम्हारे मां-बाप ने, समाज ने, व्यवस्था ने। मगर वे लकीरें सब झूठी हैं। पर एक बार खींच दी तो बस, खिंच गई।
किसी ने लकीर खींच दी कि तुम हिंदू हो। अब तुम हिंदू हो गये। अब तुम हिंदू से इधर-उधर हिल न पाओगे। दीवाल खड़ी है। निकलने की कोशिश की तो चोट खाकर गिरोगे। किसी ने लकीर खींच दी कि तुम मुसलमान हो, तुम मुसलमान हो गये। किसी ने लकीर खींच दी कि जैन हो तो जैन हो गये। ये सब लकीरें हैं। और इन सबके कारण तुम क्षुद्र आशय हो गये हो। तुम्हारा महाशय रूप खो गया। लोग जो कह देते हैं वही तुम हो गये हो।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अगर किसी बच्चे को घर में भी कहा जाये कि तू गधा है; स्कूल में भी कहा जाये कि तू गधा है, वह गधा हो जाता है। जब इतने लोग कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे। धारणा मजबूत हो जाती है। धारणा एक बार गहरी बैठ जाये तो उखाड़ना बहुत मुश्किल हो जाता है।
तुम जरा जांचना; कितनी-कितनी धारणाओं से तुम भरे हो। और इन धारणाओं को तुमने ही सम्हाल रखा है। अब कोई पकड़े भी नहीं है। तुम्हारे मां-बाप भी तुम्हारे पास नहीं होंगे। समाज भी अब तुम्हें कोई रोज तुम्हारे आसपास लकीरें नहीं खींच रहा है। खींच चुका; बात आयी-गई हो गई। लेकिन अब तुम जीये चले जा रहे हो। अब तुम अपनी ही लकीरों में बंद हो। और तब तुम्हारे जीवन में वह महाक्रांति नहीं घट पाती तो आश्चर्य नहीं।
फूल डाली से गुंथा ही झर गया
घूम आयी गंध पर संसार में
फूल तो बंधा है; गंध मुक्त है।
फूल डाली से गुंथा ही झर गया
घूम आयी गंध पर संसार में
गंध जैसे बनो। महाशय बनो। फूल जैसे मत रहो, सीमित मत रहो। था गगन में चांद, लेकिन चांदनी
व्योम से लाई उसे भू पर उतार
बांस की जड़ बांसुरी को एक स्वर
कर गया गुंजित जगत के आरपार
और मिट्टी के दिये को एक लौ
दे गई चिर ज्योति चिर अंधियार में घूम आयी गंध पर संसार में
फूल डाली से गुंथा ही झर गया बद्ध सीमा में समुंदर था मगर मेघ बन उसने छुआ जा आसमान तृप्ति बंधी एक जल-कण में रही
विष अमृत का दे गई पर प्यासदान
कूल जो लिपटा हुआ था धूल से
संग लहर के तैर आया धार में
घूम आयी गंध पर संसार में
फूल डाली से गुंथा ही झर गया
तुम पर निर्भर है। फूल बने-बने ही गिर जाओगे, सूख जाओगे या असीम बनोगे--महाशय! गंध की तरह मुक्त! कि घूम आओ सारे संसार में।
गंध बन जाओ तो मैं कहता हूं संन्यासी हो गये। फूल रह जाओ तो गृहस्थ।
फूल यानी सीमा है, घर है। फूल यानी परिभाषा है, बंधन है, दीवाल है। संन्यास यानी गंध जैसे मुक्त। सब दिशायें खुल गईं। सारी हवाएं तुम्हारी हुईं।
सारा आकाश तुम्हारा हुआ।
"जिसके अंतःकरण में अहंकार है, वह जब कर्म नहीं करता है तो भी करता है।
और अहंकाररहित धीरपुरुष जब कर्म करता है तो भी नहीं करता है।"
यस्यांतः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किंचिद्धि कृतं कृतम्।।
अहंकार है तो तुम कुछ न करो तो भी कर्म हो रहा है। क्योंकि अहंकार का अर्थ ही यह भाव है कि मैं कर्ता हूं। और अगर अहंकार गिर गया तो तुम लाख

कर्म करो तो भी कुछ नहीं हो रहा है। क्योंकि अहंकार के गिरने का अर्थ है कि परमात्मा कर्ता है, मैं नहीं।
इस बात को खयाल में लेना। ऊपर-ऊपर से भागने से कुछ भी नहीं होता।
मुझे एक गांव में जाना पड़ा। गांव में एक बाबाजी आये हुए थे। लोगों ने कहा कि देखिये, बाबाजी कुछ भी नहीं करते, बस दिन भर बैठे रहते हैं। मैंने भी देखा, बैठे थे भभूत इत्यादि लगाये हुए, बड़े-बड़े टीका लगाये हुए, धूनी रमाये हुए। तो मैंने कहा, भभूत तो लगाते होंगे, टीका इत्यादि तो लगाते होंगे, तुम कहते, बाबाजी कुछ भी नहीं करते? कुछ तो करते ही होंगे। कुछ न करना तो असंभव है। पालथी मारकर बैठे हैं, यह भी कर्म हो गया। जंगल भागकर जाओ तो भागना कृत्य हो गया। उपवास करो तो कृत्य हो गया। रात सोओ मत, जागते रहो तो कृत्य हो गया। जीने का नाम कृत्य है। जब तक जी रहे हो, कुछ तो करोगे। और मैंने कहा, यह भभूत इत्यादि किसलिए रमाये बैठे हैं? ये तुम्हारी राह देख रहे हैं। ये उनकी राह देख रहे हैं कि जो भभूत की पूजा करते हैं वे आते होंगे। चरण छुएंगे, पैसे चढ़ायेंगे। ये तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। और कोई आ जायेगा धनीमानी तो गांजा-भांग का भी इंतजाम करेगा।
वे आदमी चौंक गये, जो मुझसे कह रहे थे। कहने लगे, आपको कैसे पता चला कि बाबाजी गांजा पीते हैं? पीते तो हैं। मैंने कहा, करेंगे क्या यहां बैठे- बैठे? यह धूनी रमाये बैठे हैं, करेंगे क्या? किसलिए रमाये बैठे हैं! कुछ तो कर ही रहे हैं। तुम कहते, बाबाजी कुछ भी नहीं करते।
जब तक जीवन है तब तक कृत्य है: एक बात तो खयाल में ले लेना। कर्म से भागने का तो कोई उपाय नहीं। जो भी करोगे वही कर्म होगा। इसलिए कर्म से तो भागने की चेष्टा करना ही मत। उसमें तो धोखा बढ़ेगा। असली काम दूसरा है: अहंकार से मुक्त होना। कर्ता के भाव को गिराना। कर्म को गिराने से कुछ अर्थ नहीं है, कर्ता को जाने दो; फिर जो परमात्मा तुमसे करवायेगा, करवा लेगा। नहीं करवायेगा, नहीं करवायेगा। खाली बिठाना होगा, खाली बिठा देगा। चलाना होगा, चलाता रहेगा। लेकिन तुम न अपने हाथ से चलोगे, न अपने हाथ से बैठोगे।
इसको ही तो अष्टावक्र ने कहा, सूखे पत्ते की भांति। हवायें जहां ले जायें, सूखा पत्ता चला जाता है। वह नहीं कहता है कि मुझे पूरब जाना है, यह क्या अत्याचार हो रहा है कि तुम मुझे पश्चिम लिये जा रहे हो? मुझे पूरब जाना है। सूखा पत्ता कहता ही नहीं कि मुझे कहां जाना है। पूरब तो पूरब, पश्चिम तो पश्चिम। ले जाओ तो ठीक, न ले जाओ तो ठीक। छोड़ दो राह पर तो वहीं घर। उठा लो आकाश में तो गौरवान्वित नहीं होता, गिरा दो कूड़े-करकट में तो अपमानित नहीं होता।
सूखे पत्ते की भांति जो हो गया वही ज्ञानी है। और इस दशा को ही निरहंकार कहा है।
यस्यांतः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
"जिसके अंतःकरण में अहंकार है, वह जब कर्म नहीं करता तो भी करता है।"
तुम अगर खाली बैठोगे अहंकार से भरे हुए तो तुम्हारे मन में यह भाव उठेगा कि देखो, कुछ भी नहीं कर रहे हैं। तुम्हारे मन में यह भाव उठेगा कि देखो, सारी दुनिया मरी जा रही है आपाधापी में; हमको देखो कैसे शांत बैठे हैं! ध्यान कर रहे हैं। जब कि सारी दुनिया धन के पीछे मरी जा रही है, हम ध्यान कर रहे हैं; हमको देखो! यह नया कर्ता का भाव पैदा हुआ।
अष्टावक्र कहते हैं, अगर अहंकार है तो कर्म है। कर्ता है तो कर्म है।
और अगर अहंकाररहित धीरपुरुष बन गये तुम, तो फिर कर्म भी हो तो भी कर्म नहीं।
निरहंकारधीरेण न किंचिद्धि कृतं कृतम्।
फिर तुम करते रहो तो भी कर्म नहीं होता।
मूल ध्यान रखना: कर्म को अकर्म में नहीं बदलना है, कर्ता को अकर्ता में बदलना है।
कर्म को अकर्म में बदलने के कारण इस देश में बड़ी मूढ़ता पैदा हुई।
जमाने भर के काहिल, सुस्त, अपंग महात्मा हो गये। जिनके जीवन में कोई ऊर्जा न थी और जिनके जीवन में कोई मेधा न थी ऐसे व्यर्थ के लोग परमहंस मालूम होने

लगे। इस देश में बड़ी दुर्घटना घटी है। प्रतिभाहीन, सृजनशून्य, जड़बुद्धि लोग समादर को उपलब्ध हो गये। क्योंकि कर्म छोड़ दिया। और कर्म छोड़ने से यह पूरा देश दीन और दरिद्र हो गया। और कर्म छोड़ने से इस देश की सारी महिमा खो गई।
तुम अगर गरीब हो, भूखे हो, बीमार हो, परेशान हो, सारी दुनिया में दीनऱ्हीन हो तो तुम्हीं जिम्मेदार हो, कोई और नहीं। तुम्हारे महात्मा जिम्मेवार हैं और तुम्हारे तथाकथित पंडित जिम्मेवार हैं, पुरोहित जिम्मेवार हैं, जिन्होंने गलत व्याख्या दी। और जिन्होंने समझाया कि कर्म छोड़ दो। जिन्होंने कहा, संन्यास अकर्म का नाम है।
संन्यास अकर्म का नाम नहीं है। सुनो अष्टावक्र को। काश, तुमने अष्टावक्र को सुना होता तो इस देश की कथा दूसरी होती। करो; सिर्फ अहंकार न भरे बस, मैं-भाव न रहे। परमात्मा को करने दो तुम्हारे भीतर से। तुम बांस की पोंगरी हो जाओ। गाने दो उसे गीत। गुनगुनाने दो। जो वह गुनगुनाना चाहे, गुनगुनाने दो। छोड़ दो उसे पूरा स्वतंत्र। कहो कि मैं राजी हूं। तू जो गुनगुनाये, गुनगुनाऊंगा। तुझे जो करवाना हो, करूंगा।
जीवन कर्म है, ऊर्जा है। इसलिए अकर्म तो ठीक नहीं। अकर्म तो आत्मघात है। हां, अकर्ता बन जाओ तो तुम्हारे कर्म में परमात्मा की महिमा प्रवाहित होने लगती है। तुम्हारा कर्म भी दैदीप्यमान हो जाता है। तुम्हारे कर्म में एक ओज, एक दूसरे ही आयाम की झलक आ जाती है। तुम्हारे छोटे-से कर्म के आंगन में परमात्मा का आकाश झांकने लगता है।
ऐसा व्यक्ति सारी स्थितियों में परमात्मा को देखने लगता है। सारे कृत्यों में उसकी ही छाया पाने लगता है। और जो भी करता है, अनुभव करता है, उसी के लिए समर्पित है।
यह कलियों की आनाकानी
यह अलियों की छीनाजोरी
यह बादल की बूंदाबांदी
यह बिजली की चोराचोरी
यह काजल का जादूटोना
यह पायल का सादीगोना
यह कोयल की कानाफूसी
यह मैना की सीनाजोरी
हर क्रीड़ा तेरी क्रीड़ा है हर पीड़ा तेरी पीड़ा है
मैं कोई खेलूं खेल
दांव तेरे ही साथ लगाता हूं
हर दर्पण तेरा ही दर्पण है
मैं कोई खेलूं खेल
दांव तेरे ही साथ लगाता हूं
हर दर्पण तेरा ही दर्पण है
फिर सारा रहस्य, सारी लीला परमात्मा की है। फिर न भागना है, न कुछ वर्जना है, न कुछ त्यागना है। त्यागना है एक बात; उसे तो हम त्यागते नहीं। हम सब त्यागने को तैयार हैं। धन छोड़ने को तैयार हैं, पद छोड़ने को तैयार हैं, पत्नी-बच्चे छोड़ने को तैयार हैं। एक चीज छोड़ने को तैयार नहीं--मैं को छोड़ने को तैयार नहीं।
इसलिए तुम बड़े चकित होओगे; आदमी ने धन छोड़ दिया, पद छोड़ दिया, मकान छोड़ दिया, घर-गृहस्थी छोड़ दी, वस्त्र छोड़ दिये, नग्न खड़ा हो गया। और देखो भीतर-- दहकता अंगारा अहंकार का। वह नहीं छूटा जो छूटना था। तुम्हारे संन्यासी में जैसा अहंकार प्रकट होता है वैसा किसी में प्रकट नहीं होता। अगर तुम्हें असली शुद्ध अहंकारी देखने हों तो साधु-संन्यासी, मुनि-महाराजों में देखना। संसार में तो तुम्हें अशुद्ध अहंकारी मिलेंगे। मिलावट है संसार में बहुत। शुद्ध अहंकारी तुम्हें मंदिरों में, पूजागृहों में मिलेंगे। वहां मिलावट भी नहीं है। वहां बिलकुल शुद्ध अहंकार है, जहर ही जहर है।

छोड़ना है अहंकार, लोग छोड़ते हैं कर्म। कर्म छोड़ना आसान है। कौन नहीं छोड़ना चाहता? सचाई तो यह है, कर्म से तो सभी भागना चाहते हैं। कौन नहीं चाहता कि छुटकारा मिले कर्म से? कर्ता को कोई नहीं छोड़ना चाहता। जिसको कोई नहीं छोड़ना चाहता उसी को छोड़ने में गौरव है।
और आदमी ऐसा है कि हर जगह से अहंकार को बनाने के बहाने खोज लेता है। मुल्ला नसरुद्दीन को लाटरी में पहला इनाम मिल गया। स्वयं तो पढ़ा-लिखा
है नहीं। तो जो स्वयं पढ़े-लिखे नहीं होते उनको अपने बेटे-बच्चों को पढ़ाने की बड़ी धुन होती है। उनके बहाने ही कम से कम पढ़े-लिखों के मां-बाप हो जायें। लाटरी में पैसा हाथ लग गया तो उसको एकदम धुन सवार हुई कि सुपुत्र को खूब पढ़ाना है। किसी ने सलाह दी कि जब पढ़ा ही रहे हो तो विदेशी भाषायें पढ़ाओ। तो मुल्ला ने कहा, यह बिलकुल ठीक सुझाव है। अतः विदेशी भाषा सिखानेवाले विश्वविद्यालय में पहुंचा। उपकुलपति से बोला, मैं अपने पुत्र को विदेशी भाषा सिखाना चाहता हूं। खर्च की फिक्र न करें। जो खर्च होगा, दूंगा। उपकुलपति ने पूछा, महानुभाव, कौन-सी विदेशी भाषा सिखाना चाहते हैं--फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, इटालियन? मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, इस सब विस्तार में मत पड़ो। इनमें जो भी सबसे ज्यादा विदेशी हो वही सिखाना चाहता हूं। मेरा बेटा ऐसी-वैसी विदेशी भाषा नहीं सीखेगा, सबसे ज्यादा विदेशी...! अब सबसे ज्यादा विदेशी क्या होता है? लेकिन अहंकार रास्ते खोजता है। अहंकार को हर जगह प्रथम होना चाहिए। तो एक बड़ी मजे की घटना घटती है, आदमी विनम्रता तक में अहंकार खोज लेता है। वह कहता है, मुझसे विनम्र कोई भी नहीं। मुझसे विनम्र कोई भी नहीं! तो यहां भी अहंकार मजे ले रहा है। यहां भी प्रतिस्पर्धा जारी है।
बस, तुम एक बात छोड़ दो तो संन्यास घट गया। तुम यह मैं-भाव छोड़ दो।
और मजा तो यह है, इसको छोड़कर कुछ छूटेगा नहीं, इसको छोड़कर तुम बहुत कुछ पाओगे। इसको पकड़ने के कारण सब छूटा हुआ है। इसको पकड़ने के कारण तुम दीन-दरिद्र बने हो। इसको पकड़ने के कारण तुम्हें सीमा मिल गई है। इसको छोड़ते ही फूल मुक्त हो जायेगा, गंध हवाओं में उड़ेगी। इसको छोड़ते ही बूंद सागर बनेगी। इसको छोड़ते ही तुम परमात्मा के आवास हो जाओगे।
तीसरा सूत्र--पुनः अत्यंत क्रांतिकारी।
"मुक्त पुरुष का उद्वेगरहित, संतोषरहित, कर्तृत्वरहित, स्पंदरहित, आशारहित और संदेहरहित चित्त ही शोभायमान है।"
नोद्विग्नं न च संतुष्टमकर्तृस्पंदवर्जितम्।
निराशं गतसंदेहं चितं मुक्तस्य राजते।।
एक-एक शब्द को समझने की चेष्टा करें।
"मुक्त पुरुष का उद्वेगरहित...।"
यह तो समझ में आता है। यह तो और शास्त्र भी कहते हैं कि मुक्त पुरुष में कोई उद्वेग न होगा, परम शांति होगी। लेकिन तत्क्षण अष्टावक्र कहते हैं: संतोषरहित।
हम तो आमतौर से सोचते हैं कि जो शांत है वह संतुष्ट होगा। हमारा तो संतोष का अर्थ ही होता है, शांत व्यक्ति को हम कहते हैं, बड़ा संतुष्ट, बड़ा शांत, बड़ा सुखी। संतोषी सदा सुखी। अष्टावक्र कुछ गहरी बात कह रहे हैं। अष्टावक्र कहते हैं, संतोष भी उद्वेग की छाया है। जो उद्विग्न होता है वह कभी-कभी संतुष्ट भी होता है। लेकिन जिसका उद्वेग ही चला गया, अब कैसा संतोष! जहां असंतोष न रहा वहां कैसा संतोष! जब असंतोष ही न रहा तो संतोष भी गया।
तुम जरा ऐसा समझो; जो आदमी सदा से स्वस्थ रहा है, जो कभी बीमार नहीं हुआ, उसे स्वस्थ होने का पता भी नहीं चलता। चल भी नहीं सकता। पता चलने के लिए बीमारी जरूरी है। बीमारी खटके, बीमारी दुख दे तो स्वास्थ्य का पता चलता है। अगर बीमारी हो ही न तो स्वास्थ्य कैसा। जिस दिन बीमारी गई उसी दिन स्वास्थ्य भी गया। स्वास्थ्य और बीमारी साथ-साथ; एक ही सिक्के के दो पहलू। असंतोष-संतोष साथ-साथ। अशांति-शांति साथ-साथ। सुख-दुख साथ-साथ; एक ही सिक्के के दो पहलू।

इसलिए पहली बात जब वे कहते हैं उद्वेगरहित, तो उन्होंने बड़ी महत्वपूर्ण बात कह दी। आगे के लिए अब वे साफ करते हैं, संतोषरहित। क्योंकि कहीं भूल न हो जाये। कहीं तुम यह न समझ लो कि उद्वेगरहित आदमी का अर्थ होता है संतोषी। संतोष वहां कहां? संतोष तो असंतुष्ट आदमी की लक्षणा है।
जब कोई आदमी मेरे पास आकर कहता है कि मैं तो बिलकुल संतुष्ट हूं, तभी मुझे लगता है यह आदमी असंतुष्ट होना चाहिए। नहीं तो यह संतोष की बात ही क्यों कर रहा है? खोज-बीन करता हूं तो फौरन पता चल जाता है, है तो असंतुष्ट, अपने को मना-बुझाकर संतुष्ट कर लिया है। ठोंक- पीटकर, जमा-जमूकर बैठ गये हैं। है तो असंतोष गहरा, लेकिन अब करें क्या? असहाय हैं। जो कर सकते थे, करके देख लिया; उससे कुछ होता नहीं। उछलकूद बहुत कर ली, अंगूरों तक पहुंच नहीं पाये। अब कहते हैं, खट्टे हैं। अब कहते हैं, हम तो संतुष्ट हैं।
हमें धन ज्यादा नहीं चाहिए। ऐसा नहीं कि नहीं चाहिए, अगर आज पड़ा मिल जाये राह के किनारे तो उठा लेंगे। कहते हैं, हमें कोई पद नहीं चाहिए, लेकिन अगर आज छींका टूटे बिल्ली के भाग्य से और कोई पद सिर पर आ बैठे तो मगन हो जायेंगे। प्रतीक्षा ही कर रहे थे। वह संतोष इत्यादि सब समाप्त हो जायेगा। अगर कुछ मिल जाये तो अभी तैयार हैं। लेकिन सब चेष्टा करके देख ली, मिलता नहीं। अब अहंकार को बचाने का एक ही उपाय है: संतोष।
इसे थोड़ा समझना। संतोष कहीं तुम्हारे अहंकार को बचाने के लिए उपाय न हो। अक्सर तो होता है। क्योंकि दौड़ते हैं और हर बार हारते हैं। तो हर बार पीड़ा होती है और अहंकार टूटता है, बिखरता है। अब दौड़ना ही छोड़ दिया। अब कहने लगे, हमें दौड़ में रस ही नहीं है। हम तो संतोषी आदमी। हमें क्या दौड़ में लेना-देना! यह तो पागलों का काम है कि दौड़ते रहो
यह तरकीब न हो। यह कहीं उपाय न हो। यह आड़ न हो। जानते तो हैं कि दौड़ेंगे तो गिरेंगे। जानते हैं, कि दौड़ेंगे तो जीत न सकेंगे। तो अब दौड़ते ही नहीं। लेकिन मन को समझाने के लिए कोई उपाय तो चाहिए। दूसरों को समझाने के लिए कोई उपाय तो चाहिए--कोई रैशनलाइजेशन, कोई तर्क। अब उन्होंने तर्क खोज लिया है कि हमें रस ही नहीं है।
तुम अपने संन्यासियों में, मुनियों में, साधु-महाराजों में निन्यानबे प्रतिशत ऐसे लोग देखोगे जो हारे हुए लोग हैं। जो जीवन में जीत नहीं सकते थे; जिनके पास प्रतिभा जीतने योग्य थी भी नहीं। वे बैठ गये। वे कहते हैं, अंगूर खट्टे हैं। अब वे दूसरों को समझा रहे हैं। जो दौड़ रहे हैं उनको समझा रहे हैं कि दौड़ो मत। इसमें कुछ सार नहीं है, सब असार है। दौड़ना वे खुद भी चाहते हैं, मगर जानते हैं कि अपनी सामर्थ्य नहीं, अपनी सीमा नहीं। इसलिए अब निंदा करो।
संसार की जो निंदा कर रहा हो, खूब गौर से देखना, कहीं न कहीं उसका संसार में रस अटका होगा। नहीं तो निंदा भी क्यों करेगा? मैं तो तुमसे कहता हूं कि जाओ संसार में, दिल खोलकर जाओ। जूझ लो। देख ही लो, अगर कुछ हो देखने को। पा ही लो अगर कुछ पाने को हो। ऐसे अधूरे मत लौट आना।
अधूरे लौटने का आकर्षण है। बीच में रुक जाने का आकर्षण है। जब देखो कि हारने लगे, और लोग जीतने लगे, जब देखो कि दूसरे पहुंचने लगे, तब बहुत मन होता है ऐसा कि अब यही कह दो कि दौड़ ही बेकार है। कम से कम कुछ तो बचाव हो जायेगा, सुरक्षा हो जायेगी, निंदा कर दो संसार की।
इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, ऐसा पुरुष उद्वेगरहित है और संतोषरहित। तत्क्षण जोड़ दिया उन्होंने एक शब्द, जो बड़ा बहुमूल्य है। ऐसे व्यक्ति को तुम यह मत सोच लेना कि उसने संतोष कर लिया है। नहीं, उसने जान ही लिया कि संतोष भी व्यर्थ है, असंतोष भी व्यर्थ है। उसने बीमारी तो फेंकी ही फेंकी, साथ-साथ औषधि और डॉक्टर का प्रिस्क्रिप्शन भी फेंक दिया है। अब उसको रखने की कोई जरूरत नहीं है।
ऐसा व्यक्ति निरुद्विग्न है। अब उसके भीतर कोई उद्वेग नहीं है। अब कोई द्वंद्व नहीं उठता। शांति-अशांति, सुख-दुख, सफलता-असफलता, धर्म-अधर्म, संसार-मोक्ष, ऐसे कोई द्वंद्व नहीं उठते। सारे द्वंद्वों के बाहर। ऐसा व्यक्ति परम आनंद में लीन है।
"कर्तृत्वरहित...।"

और ऐसा व्यक्ति अब नहीं देखता कि मेरा कोई कर्तत्व है, कि मुझे कुछ करना है। जो अस्तित्व करा लेता, हवा का झोंका जहां ले जाता सूखे पत्ते को, चला जाता। अब वह कर्तव्य की भाषा में नहीं बोलता। अब वह यह नहीं कहता, यह मेरा कर्तत्व है। मुझे करना है। मुझे करना ही होगा। मैं नहीं करूंगा तो कौन करेगा? मैं नहीं करूंगा तो संसार का क्या होगा? इस तरह की भाषा नहीं बोलता। वह कहता है, मैं नहीं करूंगा, कोई और करेगा। क्योंकि जिसको करवाना है, इस विराट का जो लीलाधर है, इस विराट के पीछे छिपी हुई जो ऊर्जा शक्ति है, वह मुझसे नहीं तो किसी और से करा लेगी।
यही तो कृष्ण ने अर्जुन से कहा, तू मत भाग क्योंकि अगर उसे मारना ही है...और तू जान कि जिनको तू यहां खड़े देखता है युद्ध में, वे मर ही चुके हैं। तू सिर्फ निमित्त मात्र है। तू नहीं मारेगा, कोई और मारेगा। यह धनुष गांडीव का अगर तेरे कंधे न चढ़ेगा, किसी और के कंधे चढ़ेगा। तेरे भागने से कुछ भी न होगा। जो होना है, होकर रहेगा। जो होना है वही होगा। इसलिए तू भाग, न भाग, कुछ अंतर नहीं पड़ता। नाहक भागने में तेरा अहंकर निर्मित होगा। तू परमात्मा को समर्पित न हो सका। तूने सब न छोड़ दिया। तूने यह न कह दिया कि जो करवाओ, करूंगा। तूने अपने को बचा लिया। तेरा कर्तापन छोड़ दे। "संतोषरहित, कर्तृत्वरहित, स्पंदरहित...।"
स्पंद उठते ही हैं वासना के कारण, आकांक्षा के कारण। नये-नये स्पंद उठते हैं।
तुमने देखा, अगर कभी जीवन में स्पंद नहीं उठते तो तुम धीरे-धीरे मुर्दा होने लगते हो। तुम्हें नये स्पंद चाहिए। एक धंधा किया, अब ठीक है। अब कोई नया धंधा चाहिए ताकि फिर से स्पंदन उठे, फिर से जीवन-धार बहे। एक दिशा में सफलता पा ली, अब दूसरी दिशा में भी सफलता चाहिए। धन कमा लिया, अब राजनीति में भी पद चाहिए। राजनीति कमा ली, अब ध्यान भी करना है।
नये-नये स्पंदन उठते हैं। वासना नये-नये अंकुर फोड़ती है। वासना तुम्हें कभी ठहरने नहीं देती। इधर एक से चुके नहीं कि दूसरी यात्रा शुरू। एक यात्रा पूरी भी नहीं होती कि दूसरे का आयोजन तैयार हो जाता है।
महाशय व्यक्ति स्पंदनरहित होता है। उसके जीवन में अब कोई स्पंदना नहीं है, कोई उत्तेजना नहीं है। अब कुछ पाने को नहीं है, कुछ जाने को नहीं है, कहीं पहुंचने को नहीं है। पहुंच गया! जहां है वहीं उसकी मंजिल है।
इस सत्य की उदघोषणा अगर तुम्हें समझ में आ जाये तो तुम इसी क्षण नाच उठोगे। तुम जहां हो, ठीक ऐसे ही परिपूर्ण हो। सब स्पंदन मन के धोखे हैं। और स्पंदनों के कारण तुम वह नहीं देख पाते, जो तुम हो। जरा गौर से देखो। और जरा समझपूर्वक अपने भीतर उतरो। क्या कमी है? नाचना है, आनंदित होना है? कुछ भी तो कमी नहीं है। परमात्मा बरस रहा है। इस घड़ी जितना बरस रहा है, इससे ज्यादा कभी भी नहीं बरसेगा। इतना ही बरसता रहा है सदा से, इतना ही सदा बरसेगा। इसलिए कल की प्रतीक्षा मत करो।
"आशारहित...।"
सुनते हैं? अष्टावक्र कहते हैं, ऐसा व्यक्ति आशारहित है। वह कोई आशाएं नहीं बांधता। जब आकांक्षा ही न रही तो आशा कैसी!
निराशं गतसंदेहम्...।
संदेहरहित है। अब उसको कोई संदेह नहीं है कि क्या सच है और क्या झूठ है। एक बात साफ हो गई है, देखनेवाला सच है और जो भी दिखाई पड़ रहा है, सब झूठ है। बस इतना ही सत्य है। इतना ही सारे शास्त्रों का सार है: जो भी दिखाई पड़ रहा है, झूठ है; और जो देख रहा है, सच है।
अभी हमारी हालत उलटी है। जो दिखाई पड़ता है वह सच मालूम पड़ता है और जो देख रहा है उसका तो हमें पता ही नहीं। झूठ ही समझो। लोग पूछते हैं, आत्मा कहां है? जो पूछ रहा है वह आत्मा है। लोग पूछते हैं, आत्मा का दर्शन कैसे हो? आत्मा का कहीं दर्शन हो सकता है? जो दर्शन करेगा वही आत्मा है। आत्मा कभी दृश्य नहीं हो सकती। संसार पर तो भरोसा है, अपने पर कोई भरोसा नहीं है। जो दिखाई पड़ रहा है उसके पीछे तो दौड़ रहे हैं और जो देख रहा है उसको छुआ भी नहीं; उसके हाथ में हाथ डालकर कभी दो क्षण को शांत बैठे नहीं।

इतना ही सारे शास्त्रों का सार है: जो दिखाई पड़ता है, कल्पनावत है; और
जो देख रहा है, वही सत्य है।
रात तुम सपना देखते हो। सपने में सपना भी सच मालूम होता है, क्योंकि तुम्हारी आदत खराब हो गई है। तुम्हें जो दिखाई पड़ता है वही सच मालूम होता है। तुमने अभ्यास कर लिया है। जो दिखाई पड़ता है वही सच मालूम होता है। तुमने इस पर कभी विचार किया, कि सपना तक सच मालूम होता है! मूढ़ता की और कोई सीमा होगी? पागलपन और क्या होगा?
और ऐसा नहीं है कि सपना तुमने पहली दफे देखा है इसलिए धोखा खा गये। जिंदगी भर से देख रहे हो। अनेक जिंदगियों से देख रहे हो। रोज सुबह उठकर पाते हो, झूठ था। और फिर रात, दूसरे दिन फिर...फिर खो गये। आज भी सुबह उठकर पाया था कि रात जो देखा, झूठ था। क्या तुम पक्का विश्वास दिला सकते हो कि फिर रात आ रही है, फिर सपना आयेगा, याद रख सकोगे? इतनी-सी बात याद नहीं रहती। इतनी बार दोहराकर याद नहीं रहती। फिर नींद पकड़ती है, फिर भ्रांति हो जाती है, फिर भूल हो जाती है, फिर सपना सच मालूम होता है।
इसका कारण है। इसका कारण है कि तुम जो देखते हो वही सच मानने की आदत है। गुरजिएफ अपने शिष्यों को कहता था कि अगर तुम्हें सपने को सपने की तरह देखना हो तो सपने के साथ कुछ नहीं करना है, जागरण में कुछ करना पड़ेगा। और वह एक अभ्यास करवाता था। वह अभ्यास बड़ा कीमती है। वह कहता था कि दिन भर-- तीन महीने तक कम से कम--जो भी दिखाई पड़े, होश से समझना कि झूठ है।
जैसे अभी मैं बोल रहा हूं यहां। अब तुम यह सोच सकते हो कि कोई नहीं बोल रहा। यह सब अपना सपना है। कठिन होगा। सच भी नहीं है, मगर यह तीन महीने का अभ्यास। वृक्ष दिखाई पड़ रहे हैं, तुम खयाल रखना कि सपना है, झूठ है। जो भी दिखाई पड़ रहा है, झूठ है।
तीन महीने तक अगर तुम जो भी दिन में देखो, उसे झूठ मानते रहो तो तीन महीने के बाद एक दिन अचानक रात में तुम देखोगे कि सपना दिखाई पड़ रहा है और तुम जान रहे हो कि झूठ है। अभ्यास हो गया। नई बात का अभ्यास हो गया।
यही तो हिंदुओं के माया के सिद्धांत का सारा अर्थ है। गुरजिएफ का जो प्रयोग है वह माया का प्रयोग है। हिंदुओं का यह कहना कि संसार माया है, सिर्फ इतना ही अर्थ रखता है कि तुम अगर जागते में याद कर लो, अभ्यास कर लो तो एक दिन नींद में भी पक्का हो जायेगा कि सपना झूठ है। और रात सपने खो जायें, दिन में विचार खो जायें, तो धीरे-धीरे तुम्हें उसकी याद आने लगेगी, जो देख रहा है। अभी तो हम इतने ग्रसित हैं दृश्य के साथ कि द्रष्टा की स्मृति नहीं आती। और वही मूल सत्य है; स्रोत सत्य है। वही हमारी वास्तविक संपदा है। वहीं छिपा है महाशय। वहीं हमारा आकाश छिपा है।
"आशारहित, संदेहरहित चित्त ही शोभायमान है।"
तुम्हारी आशाएं तुम्हारे अतीत का ही प्रक्षेपण है। तुमने जो अतीत में जाना है उसी को छांट-छांट कर, बुरे को काटकर, भले को बचाकर, कतरन जोड़-जोड़कर तुम भविष्य की आकांक्षायें बनाते हो। जो-जो दुखद था वह छोड़ देना चाहते हो, जो-जो सुखद था उसको बढ़ा-बढ़ाकर भविष्य में पाना चाहते हो। भविष्य तुम्हारे अतीत की प्रतिध्वनि है।
अंजुरी के फूल झर गये, गंध है अंगुलियों में शेष
अतीत तो गया, जा चुका, लेकिन उसकी यादें रह गई हैं बसी।
अंजुरी के फूल झर गये, गंध है अंगुलियों में शेष

गुजर रहे लोग भीड़ से अपने में खोये-खोये
सहमे-से सोच रहे हम कहां तलक खुद को ढोयें
एक उम्र काटी हमने स्मृति के चुनते अवशेष

रिश्तों के बीच ही कहीं कुचल नहीं जायें इसलिए
पूछ थके हर अपने से इतने संबंध किसलिए?
क्यों यह असुरक्षा का भय? क्यों यह संबंधों के क्लेश?

कुछ अपने साथ है बची भोगें अनुभव की पूंजी

जिस पर प्रतिध्वनित हो रही कोई अनगूंजन गूंजी
और हम भविष्य की तरफ टकटकी लगाये अनिमेष
अनुभव की पूंजी में से ही हम छांट रहे हैं। फूल तो गये, अंगुलियों में थोड़ी गंध रह गई, स्मृति बची रह गई। स्मृति का ही फिर से फैलाव आशा है। अतीत का ही फिर-फिर फैलाव आशा है।
अतीत को भी छोड़ देना है। जो नहीं है, नहीं हो जाने दो। और अतीत की पुनरुक्ति की आशा भी मत करो। जब अतीत और भविष्य दोनों न होंगे तभी तुम वर्तमान में जागोगे। वही जागरण ध्यान का पहला अनुभव होगा। वही जागरण समाधि की पहली सुगंध होगी।
समाधि यानी वर्तमान। मन यानी अतीत और भविष्य।
मन वर्तमान में होता ही नहीं। वर्तमान में होगी तुम्हारी आत्मा, होगा तुम्हारा परमात्मा। अतीत भी नहीं, भविष्य भी नहीं, दोनों छूट गये। न स्मृति और न कल्पना का जाल। न अतीत के अनुभवों का बोझ, न भविष्य की आशा। किसी क्षण में जब तुम ऐसे वर्तमान में अडिग खड़े हो जाते हो, वहीं--ठीक वहीं सत्य से मिलन होता। अस्तित्व से पहली परख होती। आलिंगन में बंधते हो तुम उसके, जो है।
"मुक्त पुरुष का चित्त ध्यान या कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है, लेकिन वह निमित्त या हेतु के बिना ही ध्यान करता और कर्म करता है।" "मुक्त पुरुष का चित्त ध्यान या कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है...।"
अब एक और अनूठी बात अष्टावक्र कहते हैं, न तो उसे कर्म की कोई आकांक्षा है, न ध्यान की कोई आकांक्षा है। आकांक्षा ही नहीं है। न तो वह अशांत होना चाहता है, न वह शांत होना चाहता है। वह कुछ होना ही नहीं चाहता। वह तो जो है उसके साथ राजी है। उसका राजीपन परिपूर्ण है, समग्र है। वह किसी तरह की वासना से ग्रसित नहीं है। उसके भीतर न कोई निमित्त है, न कोई हेतु है। जो प्रभु करवा लेता है, जब। कभी कर्म करवा लेता तो वह कर्म करता, कभी ध्यान करवा लेता तो वह ध्यान करता।
तुम कभी इस अनुभव से थोड़ा गुजरो। एक बार ऐसा कर लो कि तीन महीने के लिए तुम कुछ करोगे ही नहीं अपनी तरफ से। जो प्रभु करवा लेगा, कर दोगे। फिर प्रतीक्षा करने लगोगे। कभी मौन ला देगा तो तुम मौन बैठ जाओगे। कभी वाणी मुखर कर देगा तो तुम बोलोगे, कभी कोई गीत आयेगा तो गाओगे और कभी चुप्पी आ जायेगी तो चुप रह जाओगे।
शुरू-शुरू में कठिन होगा क्योंकि बड़ी बिबूचन होगी। कोई बोलने आया है
और प्रभु तुम्हारे भीतर बोलता नहीं तो तुम्हें क्षमा मांगनी होगी। तुम कहोगे, भीतर प्रभु अभी बोलते नहीं। शुरू-शुरू अड़चन होगी। कभी कोई काम का बड़ा जाल सिर पर खड़ा होगा और भीतर से प्रेरणा न उठेगी प्रभु की, तो तुम नहीं करोगे, चाहे कुछ भी हो। कुछ भी खोये, कुछ भी हानि हो। और कभी-कभी व्यर्थ के काम को प्रभु करवाना चाहेगा। ऊर्जा उठेगी, बड़ी प्रेरणा आयेगी कि जाओ, सड़क साफ कर डालो; तो तुम सड़क साफ कर डालोगे। लोग पागल कहेंगे। लेकिन अगर तुम तीन महीने भी इस प्रक्रिया से गुजर जाओ तो तुम्हारे जीवन में कुंजी हाथ आ जायेगी।
उसी कुंजी की तरफ अष्टावक्र के सारे सूत्र इशारा हैं। और एक बार तुम्हें आनंद आ जाये...और ऐसा आनंद आयेगा, ऐसा अनिर्वचनीय आनंद आयेगा जैसा तुमने कभी जाना नहीं। फिर तुम लौट न सकोगे। तीन महीने तुम करो, फिर यह कभी समाप्त होनेवाला नहीं है। तीन महीने के बाद तुम इसे बदल न सकोगे। तुम्हें स्वाद लग जायेगा। और यह स्वाद अनूठा है।
इसी को कबीर ने सहज समाधि कहा है। उठूं-बैठूं सो परिक्रमा, खाऊं-पिऊं
सो सेवा। अब जो प्रभु करवाता, जैसा करवाता बस वैसा; उससे अन्यथा नहीं। "मंदमति यथार्थत्व को सुनकर मूढ़ता को ही प्राप्त होता है, लेकिन कोई ज्ञानी मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है।"
निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते।
निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायति विचेष्टते।।
तत्वं यथार्थमाकर्ण्य मंदः प्राप्नोति मूढ़ताम्।
अथवाऽऽयाति संकोचममूढ़ः कोऽपि मूढ़वत्।।

वह जो मंदबुद्धि है, यथार्थत्व को सुनकर भी मूढ़ता को ही प्राप्त होता है। और जो ज्ञानी है, वह मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है। तुम पर निर्भर है। इन सूत्रों में तो बड़े रहस्य की कुंजियां छिपी हैं लेकिन क्या तुम करोगे, तुम पर निर्भर है। तुम इनके गलत अर्थ कर सकते हो, और बड़ी आसानी से। और जितना महान सूत्र हो। उतनी ही गलत अर्थ करने की संभावना बढ़ जाती है। और अष्टावक्र का एक-एक सूत्र अंगारे की तरह है। चाहो तो तुम्हारे जीवन में ज्योति हो जाये। और अगर मंदबुद्धि से काम लिया तो बुरी तरह जलोगे।
अब जैसे अष्टावक्र कहते हैं, परमात्मा पर छोड़ दो सब। होने दो, जो हो।
अब अगर मंदबुद्धि आदमी हुआ तो वह सोचेगा, चलो अब चादर तानकर सोओ। अब कुछ करने को क्या है? परमात्मा को करने दो। जो करना होगा, करेगा। चादर तानकर सोओ। आलसी व्यक्ति, मंदबुद्धि व्यक्ति इससे आलस्य का सूत्र निकाल लेगा। अकर्ता तो नहीं बनेगा, कर्म छोड़ देगा। वह कहेगा, अभी अपना करने जैसा कुछ है ही नहीं।
अष्टावक्र कहते हैं, समाधि के भी पार चला जाता है महाशय। मूढ़ जो होगा
वह कहेगा, अब ध्यान करने से क्या सार! जब समाधि के पार ही जाना है तो क्या सार! ध्यान के भी पार चला जाता है? तो वह कहेगा, छोड़ो ध्यान। मूढ़ व्यक्ति कहेगा कि जब मुमुक्षा भी व्यर्थ है तो क्यों खोजें सत्य को? क्यों खोजें आत्मा को, क्यों परमात्मा को? आदमी पर निर्भर है।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी उसे मनोचिकित्सक के पास ले
गई और उसने कहा, मेरे पति को हमेशा कुछ न कुछ भूल आने की आदत है। कभी छाता, कभी फाउंटेन पेन, कभी जूते...बात यहां तक हो जाती है कि अगर चश्मा और रूमाल ये ही चीजें भूलते रहें तो भी ठीक है, कभी-कभी मुझे तक भूल आते हैं। साथ ले जाते हैं क्लब में और खुद नदारद हो जाते हैं, घर पहुंच जाते हैं। फिर पीछे कहते हैं, मुझे याद ही न रही।
मनोचिकित्सक ने कहा, घबड़ाओ मत, इलाज हो जायेगा। फिर उसने मुल्ला की तरफ गौर से देखा। मुल्ला को जानता है भलीभांति। उसने कहा, लेकिन एक बात खयाल रखना कि इलाज के बाद कहीं प्रवृत्ति उलट न जाये और यह कहीं कुछ का कुछ घर लाना शुरू न कर दे। छाता ले आये, किसी दूसरे के जूते उठा लाये। पत्नी ने थोड़ा सोचा, फिर बोली तो फिर रहने दें; ऐसे ही ठीक है। अगर दूसरे की पत्नी ले आये! अभी तो भूल आता है, वहां तक ठीक है।
मूढ़ व्यक्ति जो भी करेगा उसमें कुछ न कुछ मूढ़ता रहेगी ही। इसलिए बहुत सावधानी से...इसलिए गुरु का बड़ा अर्थ है। नहीं तो तुम्हारी मूढ़ता से तुम्हें कौन बचाये? ये सारे अनूठे प्रयोग अगर किसी गुरु के सान्निध्य में किये तो खतरा नहीं होगा। कोई नजर रखेगा, कोई खयाल रखेगा कि तुम्हारी मूढ़ता कहीं विपरीत परिणाम न लाने लगे। कोई तुम्हारे ऊपर ज्योतिस्तंभ की तरह खड़ा रहेगा। कोई दर्पण की तरह तुम्हारे चेहरे की सारी आकृतियों को प्रकट करता रहेगा।
एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन ने मुझसे पूछा कि आपकी घड़ी में कितने बजे हैं? मैंने कहा, ग्यारह। ग्यारह बजे थे। उसने बहुत हैरानी से मेरी तरफ देखा, अपने माथे पर जोर से हाथ मारा और कहा कि लगता है मैं पागल हो जाऊंगा। मैं भी थोड़ा हैरान हुआ। मैंने कहा इसमें पागल होने की क्या बात है? ग्यारह बजने से तेरे पागल होने का क्या संबंध? उसने कहा, है; संबंध क्यों नहीं है? आज दिन भर से पूछ रहा हूं, न मालूम कितने लोगों से पूछ चुका, सबने अलग-अलग समय बतलाया। मैं पागल हो जाऊंगा अगर...कोई एक समय बतलाता ही नहीं। कोई दस बतलाता, कोई नौ, कोई आठ, कोई साढ़े आठ! आखिर आदमी पागल न हो जाये तो करे क्या? "मंदमति यथार्थ तत्व को सुनकर भी मूढ़ता को ही प्राप्त होता है।"
इसलिए अपनी बुद्धि पर बहुत ध्यान रखना। अगर जरा भी अपनी बुद्धि पर संदेह हो तो किसी सदगुरु का साथ पकड़ लेना। जरा-सा भी अगर बुद्धि में शक हो कि अपने पैर से, अपने ही हाथ से हम कुछ गलत कर लेंगे, तो बचना।
"और कोई ज्ञानी मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है।"
ऐसी उलटी दुनिया है। यहां मूढ़ तत्व की बात सुनकर भी और मूढ़ हो जाता है
और यहां ज्ञानी तो ऐसा कुशल होता कि ज्ञान की बात सुनकर मूढ़वत हो जाता है।

संसार में ऐसा व्यवहार करने लगता जैसे मैं कुछ जानता ही नहीं; मूढ़वत हो जाता। और इस तरह संसार से अपने बहुत से व्यर्थ के संबंध छुड़ा लेता है। मूढ़वत हो जाता है तो लोग उसका पीछा ही छोड़ देते। मूढ़वत हो जाता है तो लोग उसकी चिंता नहीं करते। मूढ़वत हो जाता है तो लोग उसे उलझनों में नहीं डालते। मूढ़वत हो जाता है तो कोई उसे किसी काम में नहीं उलझाता।
कहते हैं, महावीर जब संन्यस्त होना चाहते थे तो उन्होंने आज्ञा मांगी। लेकिन मां ने कहा, जब तक मैं जीवित हूं, संन्यास नहीं। तो वे रुक गये। फिर मां चल बसी। मरघट से लौटते थे, भाई से कहा, कि अब मैं संन्यास ले लूं? क्योंकि मां से वादा किया था, वह भी बात हो गई, वह भी चल बसी। भाई ने कहा, यह कोई वक्त है? इधर हम मां के मरने की पीड़ा से मरे जा रहे हैं कि मां चल बसी और तू छोड़ जाने की बात करता है? भूलकर यह बात मत करना।
तो वे चुप हो रहे। लेकिन फिर उन्होंने जीवन का एक ऐसा ढंग अख्तियार किया कि घर में किसी को पता ही नहीं चलता कि वे हैं भी कि नहीं। वे ऐसे चुप हो गये, ऐसे संकोच को उपलब्ध हो गये कि साल-दो साल में घर के लोगों को ऐसा लगने लगा कि उनका घर में रहना-न रहना बराबर है। आखिर घर के लोगों ने ही कहा कि अब हम आपको रोकें, यह ठीक नहीं। आप तो जा ही चुके। देह मात्र यहां है, प्राण-पखेरू तो जा चुके। आपकी आत्मा तो जा चुकी जंगल। अब हम रोकेंगे नहीं। घर के किसी काम में, घर के किसी व्यवस्था में कोई मंतव्य न देते। धीरे-धीरे सरक गये; शून्यवत हो गये। इसका नाम है संकोच।
"लेकिन कोई ज्ञानी मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है।" संकोचममूढ़ः कोऽपि मूढ़वत्।
कोई धीरे-धीरे अपने व्यर्थ के फैलाव को सिकोड़ लेता है, अपने व्यर्थ के व्यापार को सिकोड़ लेता है। जैसे मछुआ अपने जाल को सिकोड़ लेता है, जैसे सांझ सूरज अपने जाल को सिकोड़ लेता, ऐसा कोई ज्ञानी तत्व की बात सुन लेता है तो मूढ़वत हो जाता है। संसार से अपने को ऐसे तोड़ लेता है जैसे मूढ़ हो गया। अब संसार से कुछ लेना-देना नहीं। और समाधि को प्राप्त हो जाता है। "अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध का बहुत-बहुत अभ्यास करता है, लेकिन धीरपुरुष सोये हुए व्यक्ति की तरह अपने स्वभाव में स्थित रहकर कुछ करने योग्य नहीं देखता है।"
यह सूत्र भी खूब ध्यानपूर्वक सुनना।
एकाग्रता निरोधो वा मूढ़ैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं न पश्यंति सुप्तवत् स्वपदे स्थिताः।।
अज्ञानी चित्त तो बड़ी एकाग्रता और निरोध का बहुत-बहुत अभ्यास करता है। अज्ञानी को अगर धुन पकड़ जाती है...अज्ञानी बड़ा धुनी होता है, पागल होता है। धन की धुन पकड़ जाये तो धन के पीछे लग जाता है, ध्यान की धुन पकड़ जाये तो ध्यान के पीछे लग जाता है। अज्ञानी जिद्दी होता है, हठी होता है। अज्ञानियों ने ही तो हठ योग पैदा किया है। पागल की तरह लग जाता है। फिर सारा अहंकार उसी में लगा देता है।
"अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध का बहुत-बहुत अभ्यास करता है, लेकिन धीरपुरुष सोये हुए व्यक्ति की तरह अपने स्वभाव में स्थित रहकर कुछ करने योग्य नहीं देखता।"
सुप्तवत् स्वपदे...।
ज्ञानी तो धीरे-धीरे अपने में विश्रांति को पहुंच जाता है। जैसे नींद में, गहरी नींद में तुम्हारा अहंकार कहां होता है? गहरी नींद में जब स्वप्न भी खो जाते हैं तब तुम्हारे विचार कहां होते हैं? गहरी नींद में, जब मन में कोई तरंग नहीं होती, तुम्हारी कौन-सी सीमा होती है? गहरी सुषुप्ति में तुम महाशय हो जाते हो। न तुम पति रह जाते न पत्नी, न हिंदू न मुसलमान, न ईसाई न बौद्ध, न स्त्री न पुरुष, न बाप न बेटे, न गरीब न अमीर, न जवान न बूढ़े, न सुंदर न कुरूप। गहरी प्रसुप्ति में तुम्हारे सब विशेषण समाप्त हो जाते हैं। तुम होते हो जरूर लेकिन बड़े विराट हो जाते हो। अष्टावक्र कह रहे हैं कि ज्ञानी पुरुष ऐसे जीने लगता है जैसे प्रतिपल गहरी सुषुप्ति में है। न अहंकार, न हिंदू न मुसलमान, न ईसाई न बौद्ध, न

सुंदर न कुरूप, न धनी न गरीब, न नैतिक न अनैतिक, न साधु न असाधु--कोई भी नहीं।
धीराः कृत्यं न पश्यंति सुप्तवत् स्वपदे स्थिताः।
जैसे गहरी नींद में कोई अपने स्वपद में लीन हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानी अपने स्वभाव में लीन हो जाता है। और फिर स्वभाव से जो होता है सहज, वही होने देता है। करने योग्य...कुछ करना है ऐसी कोई धुन, कुछ करना है ऐसा कोई आग्रह, कुछ करके दिखाना है, कुछ होना है, ऐसी कोई हठवादिता उस में नहीं रह जाती।
और ऐसी अवस्था में तुम सब जगह परमात्मा को पाओगे। अपने स्वपद को जिसने पा लिया उसने सब जगह परमात्मा को पाया है--फूल-फूल, पत्ती-पत्ती में, झरने में, हर आंख में।
तपसिन कुटिया बैरन बगिया
निर्धन खंडहर धनवान महल
शौकीन सड़क गमगीन गली
टेढ़े-मेढ़े गढ़ गेह सरल
रोते दर हंसती दीवारें
नीची छत ऊंची मीनारें
मरघट की बूढ़ी नीरवता
मेलों की क्वांरी चहल-पहल
हर देहरी तेरी देहरी है
हर खिड़की तेरी खिड़की है
मैं किसी भवन को नमन करूं
तुझको ही शीश झुकता हूं
हर दर्पण तेरा दर्पण है
अपने स्वपद में बैठ गया जो, वह परमात्मा में आ गया। वह घर आ गया। उसे मिल गया जो मिला ही हुआ था। उसने पा लिया, जो उसके भीतर छिपा ही हुआ था। सम्राट हो गया। भिखारीपन गया। गये भिखमंगेपन के दिन।
उसकी गरिमा महान है, उसका आशय महान है। उसकी कोई सीमा नहीं। उसका चैतन्य अमाप है। उसका जीवन अमृत है।
हर देहरी तेरी देहरी है
हर खिड़की तेरी खिड़की है
मैं किसी भवन को नमन करूं
तुझको ही शीश झुकता हूं
हर दर्पण तेरा दर्पण है

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच चौसठवां प्रवचन

एकाकी रमता जोगी

पहला प्रश्न: भीड़ में मन नहीं रमता है और निपट एकाकीपन से भी जी घबड़ाता है। क्या यह विक्षिप्तता का लक्षण है? समझाने की अनुकंपा करें।

एकांत के संबंध में कुछ बातें समझ लेनी चाहिए। एकांत के तीन रूप हैं। पहला: जिसे हम अकेलापन कहते हैं, एकाकीपन। दूसरा: एकांत। और तीसरा: कैवल्य।
अकेलापन नकारात्मक है। अकेलापन वास्तविक अकेलापन नहीं है; दूसरे की याद सता रही है; दूसरा होता तो अच्छा होता; दूसरे की गैर-मौजूदगी खलती है, कांटा चुभता है, दूसरे में मन उलझा है। देखने को अकेले हो, भीतर नहीं; भीतर भीड़ मौजूद है। कोई आयेगा तो पायेगा अकेले बैठे हो। लेकिन तुम जानते हो कि तुम अकेले नहीं हो; किसी की याद आती है; किसी में मन लगा है। किसी को बुलावा भेज रहे हो; किसी का स्वप्न संजो रहे हो; किसी की पुकार चल रही है--कोई होता, अकेले न होते! अकेलेपन से राजी नहीं हो। आनंद तो दूर, इस अकेलेपन में शांति भी नहीं। अशांत हो, उद्विग्न हो। जल्दी ही कुछ न कुछ उलझाव खोज लोगे। चले जाओगे मित्र के घर, क्लब में, बाजार में, अखबार पढ़ने लगोगे, रेडियो सुनने लगोगे, कुछ करोगे, कुछ उलझाव बना लोगे। यह अकेलापन नीरस है। यह अकेलापन भौतिक है, मानसिक नहीं; आध्यात्मिक तो बिलकुल ही नहीं।
एकांत दूसरे प्रकार का अकेलापन है। एकांत का अर्थ है: रस आने लगा; अकेले होने में मजा आने लगा; अकेलापन एक गीत की तरह है अब; दूसरे की याद भी नहीं आ रही; अपने होने का मजा आ रहा है; दूसरे की याद भी भूल गई है; दूसरे का कोई प्रयोजन भी नहीं है; व्यस्त होने की कोई आकांक्षा भी नहीं; बड़ी शांति है।
पहला नकारात्मक है; दूसरा विधायक। पहले में दूसरे की अनुपस्थिति खलती है; दूसरे में अपनी उपस्थिति में रस आता है। पहले में तुम अपने से नहीं जुड़े हो; दूसरे में तुम अपने से जुड़े हो। पहले में मन भटक रहा है हजार-हजार स्थानों पर; दूसरे में मन-पंछी अपने घर आ गया।
दूसरा एकांत गहन शांति लाता है--ध्यान की अवस्था है।
फिर तीसरा एकांत है: कैवल्य। पहले अकेलेपन में अपना तो पता ही नहीं है, दूसरे की याद है। दूसरे एकांत में अपनी याद है, दूसरा भूल गया है। कैवल्य में दूसरा भी भूल गया, स्वयं भी भूल गये, कोई भी न बचा--न दूसरा, न स्व; न पर, न स्व। क्योंकि जब तक स्व का भाव बचा है तब तक कहीं कोने-कातर में दूसरा छिपा होगा। क्योंकि स्वयं की लकीर दूसरे की मौजूदगी के बिना खिंच ही नहीं सकती। "मैं" और "तू" साथ-साथ होते हैं। पहले में "तू" प्रगाढ़ है, "मैं" छिपा है। दूसरे में "मैं" प्रगाढ़ है, "तू" छिपा है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पहले में "तू" ऊपर, "मैं" नीचे; दूसरे में "मैं" ऊपर, "तू" नीचे। तीसरे में पूरा सिक्का खो गया--न "मैं" बचा, न "तू" बचा; कैवल्य बचा, चैतन्य बचा। यह परम एकांत है--समाधि की अवस्था! भीड़ तो गई ही गई, तुम भी गये भीड़ के साथ! तुम भी भीड़ के ही हिस्से थे। तुम भी भीड़ के ही एक अंग थे।
पहली अवस्था में अशांति है; दूसरी अवस्था में शांति; तीसरी अवस्था में आनंद। पहली नकारात्मक, दूसरी विधायक, तीसरी महोत्सव की। सिर्फ विधायक नहीं। सिर्फ विधायक काफी नहीं है। अब विधायकता नाचती हुई है, गीत गाती हुई है। अब विधायकता बड़ी रंगीन है।
इस फर्क को ऐसा समझना। एक आदमी बीमार है; वह नकारात्मक स्थिति में है। दूसरा आदमी बीमार नहीं है। डॉक्टर के पास जाता है तो वह निरीक्षण करके कहता है कि कोई बीमारी नहीं, स्वस्थ हो। लेकिन उस आदमी के भीतर स्वास्थ्य का कोई उत्सव नहीं है। वह कहता है: "आप कहते हैं तो मान लेता हूं, लेकिन मुझे कुछ मजा नहीं आ रहा; स्वास्थ्य की ऊर्जा नाचती हुई नहीं है। बीमारी नहीं है तो आप कहते हैं, स्वस्थ हूं। परिभाषा से स्वस्थ हूं; लेकिन अभी स्वास्थ्य का कोई आंदोलन नहीं है, ऐसा तरंगायित नहीं हूं।

तो एक तो बीमारी है, दूसरा डॉक्टर का स्वास्थ्य है--डॉक्टर के निदान
से मिला स्वास्थ्य। जांच कर ली, सब जांच-परख कर ली, कहीं कोई बीमारी नहीं। घर भेज दिया कि कोई बीमारी नहीं, इलाज की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन तुम नाचते हुए घर नहीं आ रहे हो। तुम्हारे भीतर उमंग नहीं है, उत्सव नहीं है, हर्षोन्माद नहीं है।
तीसरा एक और स्वास्थ्य है, जब तुम डॉक्टर से पूछने ही नहीं जाते; जब तुम्हारा स्वास्थ्य ही ऐसा अहर्निश बरसता है। किससे पूछना है! बीमारी भी गई, डॉक्टर का स्वास्थ्य भी गया; अब तुम स्वस्थ हो! तुम इतने स्वस्थ हो कि अब स्वास्थ्य का खयाल भी नहीं आता। स्वास्थ्य का खयाल भी बीमार आदमी को आता है। अब तुम इतने स्वस्थ हो कि विदेह हो गये।
ये तीन अवस्थाएं हैं अकेलेपन की।
पूछा है: "भीड़ में मन नहीं लगता।"
यह शुभ है। यह यात्रा का पहला सूत्रपात है। जिसका भीड़ में मन लगता है,
वह तो बुरी तरह भटका है। वही पागल है। भीड़ में मन लगता है, इसका अर्थ हुआ: अपने में मन नहीं लगता। उसके तो भीतर के मंदिर के द्वार बंद हैं। अच्छा है, तुम्हारा भीड़ में मन नहीं लगता। यह ठीक हुआ। एक कदम ठीक उठा।
दूसरी बात, पूछा है: "लेकिन निपट एकाकीपन से भी जी घबड़ाता है।"
वह भी स्वाभाविक है। जन्मों-जन्मों तक भीड़ में रहे हो, भीड़ का अभ्यास है; अब बोध तो आ गया है कि भीड़ व्यर्थ है, लेकिन अभ्यास कायम है। बोध से ही अभ्यास मिट नहीं जाता। अभ्यास गहरे उतर गया है, रोएं-रोएं में समा गया है, श्वास-श्वास में भिद गया है। अभ्यास तो भीड़ का है। समझ भी आ गई देखकर कि भीड़ में कुछ सार नहीं, बहुत देख लिया, अब अकेले बैठना चाहते हो; लेकिन अभ्यास बल मारता है। जब अकेले बैठते हो तो एकाकीपन में जी घबड़ाता है। जी तो भीड़ से मिला है। वह भीड़ का हिस्सा है। जिसको तुम जी कहते हो, जिसको तुम मन कहते हो, वह तुम्हारा नहीं है। तुम इस भ्रांति में मत रहना कि मन के तुम मालिक हो। मन का मालिक तो भीड़ है; भीड़ ने ही दिया है। इसलिए तो मन को छोड़कर ही कोई भीड़ के बाहर जा सकता है। जी नहीं लगता, यह बात तो समझ में आ जाती है। जी लगेगा कैसे? जी तो भीड़ का है। जी तो भीड़ के ही अभ्यास से ही निर्मित हुआ है। इस जी को भी छोड़ना पड़ेगा तो ही एकांत में रस आयेगा।
इसलिए तो ध्यान का अर्थ होता है: मन से मुक्ति। भीड़ से मुक्ति शुभ आरंभ है; मन से मुक्ति भी चाहनी होगी। क्योंकि मन भीड़ का ही हिस्सा है तुम्हारे भीतर बैठा हुआ।
तुम जरा अपने मन की जांच करो। तुम्हारे मन में जो भी है, सब भीड़ का ही दिया हुआ है। भीड़ ने कहा कि तुम हिंदू हो तो तुम हिंदू हो। और भीड़ ने कहा कि तुम सुंदर हो तो तुम सुंदर हो। और भीड़ ने कहा कि तुम बड़े बुद्धिमान हो तो बुद्धिमान हो। ये सब भीड़ की ही मान्यताएं हैं। इन्हीं को इकट्ठा कर लिया, यही तुम्हारा जी है। इस जी को भी छोड़ देना होगा। तुम जी से पार हो। तुम्हारा वास्तविक होना मन के पार है। तुम्हारा वास्तविक होना परमात्मा से आता है, भीड़ से नहीं आता। भीड़ ने तो जो परमात्मा से आया है, उसके ऊपर एक रंग-रोगन की दीवाल खड़ी कर दी है, पर्दा डाल दिया है। उस पर्दे को तुम पकड़े हो।
तो भीड़ से मन ऊब गया, ठीक हुआ। अब यह भी समझो कि भीड़ ने जो-जो दिया है,
वह भी छोड़ देना होगा; नहीं तो अकेले में मन न लगेगा। मन कहेगा, वहीं चलो जहां मेरे प्राण हैं। जहां मेरा मूल उदगम है, जहां मेरा स्रोत है, जहां मेरी जड़ें हैं--वहां चलो। मन तो भीड़ में ही ले जायेगा। अ-मन में चलना होगा। इसलिए तो कबीर कहते हैं: अ-मनी दशा! भीड़ से जिसे वस्तुतः मुक्त होना है, वह बिना मन से मुक्त हुए न हो पायेगा।
इसलिए तो मैं तुमसे कहता हूं: जंगल जाने से न होगा। अगर तुम्हें जरा-
सी समझ हो तो भीड़ में खड़े-खड़े अकेले हो सकते हो। मन छूट जाये बस!
समझो, तुम हिंदुओं की भीड़ में खड़े हो, लेकिन तुमने यह भाव छोड़ दिया कि मैं हिंदू हूं। चारों तरफ हिंदुओं की भीड़ सागर की तरह लहरा रही है या मुसलमानों की या ईसाइयों की; लेकिन तुम उस भीड़ में खड़े हो और तुम्हारे मन में यह भाव नहीं रहा कि मैं हिंदू हूं, मुसलमान हूं, ईसाई हूं। क्या तुम इस

भीड़ के हिस्से हो? भीड़ में खड़े हो, दिखाई पड़ते हो; लेकिन बड़े अदृश्य मार्ग से तुम मुक्त हो गये। भीड़ कहती है कि तुम सुंदर हो और तुम यह समझ गये कि दूसरे की बातों से कैसे पता चलेगा कि मैं कौन हूं--सुंदर कि असुंदर, कि स्वस्थ कि अस्वस्थ, कि ईमानदार कि बेईमान, कि नैतिक कि अनैतिक--दूसरे से कैसे पता चलेगा! यह दूसरे के आधार पर मैं अपने को कैसे जानूंगा! ये दूसरे अपने को ही नहीं जानते, ये मुझे ज्ञान दे रहे हैं! आत्मज्ञान को तो सीधे- सीधे पाना होगा, किसी के माध्यम से नहीं। ये उधार बातें आत्मज्ञान नहीं बनेंगी। ऐसा तुम जाग गये और धीरे-धीरे तुमने उधार बातें छोड़ दीं। अब तुम भीड़ में खड़े हो, जहां लोग तुम्हें बुद्धिमान मानते हैं या बड़ा नैतिक पुरुष मानते हैं; लेकिन तुम्हारे मन में अब यह कोई धारणा न रही। तुम जानते हो कि भीड़ को बीच में नहीं लेना है। अब तुम भीड़ के भीतर भी खड़े भीड़ के बाहर हो। कभी इसका प्रयोग करना। बीच बाजार में खड़े-खड़े खयाल करना कि बाहर हो। क्षण भर को झलक मिलेगी, झरोखा खुलेगा। एक लहर की तरह दौड़ जायेगी तुम्हारे जीवन में एक नई धारा। वही धारा एकांत में ले जायेगी।
ठीक हो रहा है। जी घबड़ाता है, जी को भी छोड़ो। जी को पकड़ा तो जी भीड़ में
ले जायेगा। जी भीड़ का गुलाम है, तुम्हारा नहीं। तुम्हारी इस पर कोई मालकियत नहीं है। यह तो बड़ी सूक्ष्म तरकीब है भीड़ की। उसने तुम्हारे मन को संस्कारित कर दिया है। वस्तुतः उसने जो-जो संस्कार तुम्हारे भीतर रख दिये हैं, उन्हीं के जोड़ का नाम मन है। इसे भी जाने दो। हिम्मत करो। पहला कदम उठाया, अब दूसरा भी उठाओ। दूसरा कदम यही होगा कि घबड़ाने दो जी को और तुम जानो कि मैं जी नहीं हूं, मैं मन नहीं हूं, मैं पार हूं। धीरे-धीरे जैसे भीड़ से ऊब गये हो, ऐसे ही अपने मन से भी ऊब जाओगे। तब दूसरा एकांत पैदा होगा। तब तुम्हें बड़ी शांति मिलेगी। अपूर्व वर्षा हो जायेगी शांति की। जन्मों- जन्मों से जो प्राण प्यासे थे, तृप्त होंगे।
मगर यहां भी रुक मत जाना, क्योंकि बहुत-से लोग शांति पर रुक जाते हैं।
वे सोचते हैं, आ गया घर। शांति पड़ाव है, मंजिल नहीं। शांति सेतु है, अंत नहीं। अशांति से जाना है, शांति पर पहुंचना नहीं। अशांति से जाना है, शांति से होकर गुजरना है, आनंद पर पहुंचना है। जब तक आनंद न हो जाये...। शांति बड़ी मुर्दा-सी चीज है; अशांति के मुकाबले बड़ी कीमती। अगर अशांति और शांति में चुनना हो, शांति चुनना। लेकिन शांति भी कुछ चुनने जैसी बात है? अगर आनंद और शांति में चुनना हो तो आनंद चुनना। अभी एक और यात्रा बाकी है। दूसरों को तो छोड़ ही दिया, अब अपने को भी छोड़ दो। दूसरे को तो विस्मरण कर दिया, अब अपने को भी विस्मरण कर दो। इस आत्मविस्मरण में, इस अहंकार के त्याग में ही परम घटना घटेगी। तब तुम सुनोगे पहली बार उस बांसुरी को जो आदमी की नहीं है, जो परमात्मा की है। तब तुम पहली बार निमित्त बनोगे--परम ऊर्जा के वाहक! तुम्हारा रोआं-रोआं पुलकित होगा, उमंग से भरेगा। तब कैवल्य की दशा है। चल पड़े हो--रुकना मत, लौटना मत!

दूसरा प्रश्न: जब कोई व्यक्ति अपने जीवन को किसी दिशा विशेष में ले चलने की कोशिश करता है तो इतर दिशाओं का बुलावा विक्षेप बन जाता है। लेकिन क्या यह संभव है कि कोई व्यक्ति अपने जीवन को उसकी सभी दिशाओं में बहने को छोड़ दे और तब क्या विक्षेपरहितता की अवस्था में जीवन के बिखराव का खतरा नहीं खड़ा होगा?

यह प्रश्न स्वाभाविक है, उठेगा ही; एक न एक दिन प्रत्येक के सामने खड़ा होगा ही। अब तक तुम चुनकर जीये हो। जो तुमने चुन लिया है, उससे एक दिशा मिल जाती है; बाकी सब दिशाएं छूट जाती हैं। जो तुमने चुना है उससे तुम्हें अपनी परिभाषा मिल जाती है। तुम्हें पता चल जाता है कि मैं कौन हूं। अगर तुम सत्य को खोज रहे हो तो तुम सत्यार्थी। अगर तुम ध्यान को खोज रहे हो तो ध्यानी। अगर धर्म की यात्रा पर निकले हो तो धार्मिक। अगर पुण्य कर रहे हो तो पुण्यात्मा। एक परिभाषा मिलती है दिशा से। कुछ चुन लिया, चुनाव के साथ ही साथ तुम्हें लगता है कि तुम कुछ हो। स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। और

तुम्हारे चुनाव के कारण तुम्हारा अहंकार सघन होता है। इससे खतरा पैदा होगा।
जब अष्टावक्र कहते हैं, चुनाव ही छोड़ दो, सारे चुनाव छोड़ दो, सारा कर्तृत्व छोड़ दो, कर्ता का भाव छोड़ दो, तो तुम घबड़ाओगे: "इससे बिखराव तो न पैदा हो जायेगा?" बिखराव पैदा होगा। अहंकार के तल पर निश्चित होगा। क्योंकि अहंकार के तल पर तो बिखराव चाहिए ही।
अभी तुमने जिसको आत्मा कहा है, वह तुम्हारी आत्मा नहीं, वह तो तुम्हारे कर्मों, चुनावों का जोड़ है, अहंकार है। अहंकार तो बिखरेगा। अगर तुम सब दिशाओं में अपने को मुक्त छोड़ दो, स्वच्छंद--वही तो देशना है अष्टावक्र की--स्वच्छंद! मत चुनो, मत भविष्य का विचार करो। मत तय करो कि क्या होना है! जीयो क्षण-क्षण। जहां ले जाये जीवन वैसे जीयो। सूखे पत्ते की तरह हो जाओ अंधड़-आंधी में। यह जो जीवन का अंधड़ चल रहा है, इसमें तुम सूखे पत्ते हो जाओ। अब सूखे पत्ते को तो बिखराव होगा ही। सूखे पत्ते का अहंकार बच तो सकता ही नहीं। सूखा पत्ता जा रहा था पूर्व को और आंधी बहने लगी पश्चिम को--तो सूखे पत्ते के अहंकार का क्या होगा? और सूखा पत्ता तड़पेगा: "यह तो गलत हो रहा है! जो नहीं चाहिए था, वह हो रहा है! मैं कुछ और चाहता था। यह तो असफलता हो रही है, यह तो विषाद का क्षण आ गया। तो मैं हार गया।" तो अहंकार टूटेगा। और सूखे पत्ते इतने चालाक भी नहीं हैं कि अपने अहंकार को बचाने के लिए नई-नई तरकीबें खोजते रहें। आदमी तो बड़ा चालाक है।
मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन एक राह से गुजर रहा था और एक बड़े पहलवान जैसे दिखाई पड़नेवाले आदमी ने जोर से उसकी पीठ पर धक्का मारा, धौल जमा दी। वह चारों खाने चित्त जमीन पर गिर पड़ा। उठकर खड़ा हुआ। बड़ा नाराज था। लेकिन नाराजगी एक क्षण में हवा हो गई--देखा कि पहलवान खड़ा है, एक झंझट की बात है। फिर भी लेकिन आदमी तो कुशल है, चालाक है। उसने कहा: "महानुभाव! यह आपने मजाक में किया है या गंभीरता से?" उस पहलवान ने कहा: मजाक में नहीं, गंभीरता से किया है। मुल्ला ने कहा फिर ठीक है, क्योंकि ऐसी मजाक मुझे पसंद नहीं। अगर गंभीरता से किया है, फिर कोई हर्जा नहीं। और चल पड़ा। अब झंझट लेनी ठीक नहीं है। इतना बहाना काफी है अपने अहंकार को बचाने को। आदमी चालाक है बहुत। मजा यह है कि अहंकार को तो रोज ही बिखराव के क्षण झेलने पड़ते हैं। तुम गौर करो! तुम कुछ चाहते हो, कुछ होता है। फिर भी तुम समझा लेते हो। कह देते हो: "दूसरा बेईमान था, इसलिए जीत गया; हम ईमानदार थे, इसलिए हार गए।" अहंकार की हार तुम कभी स्वीकार नहीं करते। तुम कहते हो: "सारी दुनिया मेरे खिलाफ है, इसलिए। अकेला पड़ गया हूं, इसलिए। या मैंने पूरा उपाय ही कहां किया था; मैं तो ऐसे ही गैर-गंभीरता में ले रहा था।" तुम कुछ न कुछ मार्ग खोज लेते हो और अहंकार को बचा लेते हो।
अगर तुम जीवन को गौर से पढ़ो, जीवन के पाठ को ठीक से पढ़ो, तो जीवन रोज तोड़ रहा है। क्योंकि जीवन को तुम्हारे चुनावों से कुछ लेना-देना नहीं। तुम्हारे चुनाव वैयक्तिक हैं; इस समग्र को उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे चुनाव अगर कभी-कभी हल भी हो जाते हैं तो संयोग समझना। यह संयोग की बात है कि तुमने कुछ ऐसी बात चुन ली जिस तरफ अस्तित्व अपने-आप जा रहा था, बस। भाग्यवशात! बिल्ली निकलती थी और छींका टूट गया। यह संयोग की बात समझना; कोई बिल्ली के लिए छींका नहीं टूटता है। यह बिलकुल सांयोगिक था कि तुमने चुन ली ऐसी बात जो होने जा रही थी। लेकिन जब तुम्हारी चुनी हुई बात हो जाती है, तब तुम बड़ी अकड़ से भर जाते हो कि देखा, करके दिखा दिया! और जब तुम्हारी बात टूटती है...और तुम्हारी बात सौ में निन्यानबे मौकों पर टूटती है! क्योंकि संयोग तो कभी सौ में एकाध हो सकते हैं, अपवाद हो सकते हैं। उन निन्यानबे मौकों पर तुम कुछ न कुछ तर्कजाल फैलाकर अपने को समझा लेते हो। कहीं दोष देकर किसी तरह अपने को निवृत्त कर लेते हो।
जीवन को कोई ठीक से देखेगा तो अहंकार निर्मित ही नहीं हो सकता; बिखराव
का तो सवाल ही दूर है। और अगर तुमने अष्टावक्र की बात मानकर चुनावरहितता का प्रयोग किया तो निश्चित बिखराव होगा। लेकिन एक बात खयाल रखना, तुम्हारा नहीं है बिखराव। तुम्हें जैसा परमात्मा ने बनाया है, वैसे का तो कोई बिखराव नहीं है। परमात्मा ने तुम्हें अहंकार शून्य बनाया; अहंकार

तुम्हारा ही निर्मित किया हुआ है। वही टूटेगा। जो तुमने बनाया है, वही टूटेगा। जो तुमने नहीं बनाया है, वह कभी टूटनेवाला नहीं है। हां, अहंकार बिखर जायेगा। और जब अहंकार बिखरेगा तभी तुम्हें आत्मा का पहली दफे पता चलेगा। और वही वास्तविक बात है।
तो पूछते हो--ठीक पूछते हो--कि "तब क्या विक्षेपरहितता की अवस्था में जीवन के बिखराव का खतरा नहीं खड़ा होगा?"
अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञान की जो परम अवस्था है, विक्षेपरहित है। विक्षेपरहित का अर्थ होता है, वहां कोई "डिस्ट्रेक्शन" नहीं। इसका मतलब ही यह हुआ कि अब तुम कुछ चुनाव ही नहीं करते। नहीं तो विक्षेप होगा ही। समझो, तुम ध्यान करने बैठ गये और एक कुत्ता आकर भौंकने लगा--विक्षेप पैदा होगा। क्योंकि तुम एकाग्र होने की चेष्टा कर रहे थे, अब यह कहां बेवक्त कुत्ता आ गया! अब तुम समझाते हो कि न मालूम किस जन्म में कौन-सा कर्म किया है, इस कुत्ते के साथ कौन-सा दर्ुव्यवहार किया था कि मैं ध्यान करने बैठता हूं तब इन सज्जन को भौंकने की याद आयी है। अब कभी और भौंक लेते, चौबीस घंटे पड़े हैं! तुम ध्यान करने बैठे कि बच्चा रोने लगा। तुम्हें बड़ी हैरानी होती है कि बच्चे को पता कैसे चल जाता है कि जब मैं ध्यान करने बैठता हूं तभी रोने लगता है। अबोध बच्चा, झूले में पड़ा हो, वह रोने लगता है। यह तुम्हारे लिए नहीं रो रहा है। लेकिन अभी तुम ध्यान करने बैठे, तुमने एक चुनाव कर लिया कि मैं एकाग्र रहूंगा। एकाग्रता के कारण ही विक्षेप पैदा हो रहा है। तुमने चाहा एकाग्र रहूंगा; और इस जगत में हजारों घटनाएं घट रही हैं! सड़क पर तांगे-घोड़े दौड़ रहे, कारें आवाज कर रहीं, ट्रक जा रहे, हवाई जहाज उड़ रहे, पत्नी चौके में खाना बना रही, बर्तन गिर रहे, बच्चे रो रहे, शोरगुल बच्चे कर रहे, कुत्ते भौंक रहे, कौवे चिल्ला रहे--सब तरफ हजार-हजार चीजें हो रही हैं। तुमने जैसे ही तय किया कि मैं ध्यान में बैठूंगा, अब मैं कोई अपने मन में विकल्प न आने दूंगा, अपने मन में किसी चीज से बाधा न पड़ने दूंगा, निर्बाधा घड़ी भर बैठूंगा--बस बाधा आनी शुरू हो गई! कैसे बाधा आ रही है?
अष्टावक्र कहते हैं: उसने निर्बाधा रहने का जो तय किया, उससे आ रही है।
इसलिए अष्टावक्र एकाग्रता के पक्षपाती नहीं हैं, न मैं हूं। एकाग्रता
का मेरा कोई पक्षपात नहीं। एकाग्रता अहंकार का ही फैलाव है। और वास्तविक ध्यान का एकाग्रता से कोई संबंध नहीं है। क्योंकि एकाग्रता से तो विक्षेप पैदा होता है, डिस्ट्रेक्शन पैदा होता है। इससे तो और अशांति बढ़ती है। फिर ध्यान का क्या अर्थ है? साधारण किताबों में--उन लोगों ने जो किताबें लिखी हैं, जिन्होंने ध्यान को बिलकुल जाना नहीं--तुम यही पाओगे, वे लिखते हैं: ध्यान यानी एकाग्रता। उन्हें कुछ भी पता नहीं है। उन्हें क, ख, ग भी पता नहीं है। ध्यान यानी एकाग्रता! बिलकुल नहीं, कभी नहीं, हजार बार नहीं! ध्यान का अर्थ ही होता है: विक्षेपरहितता। एकाग्रता तो कैसे हो सकता है? एकाग्रता का तो अर्थ होगा: विक्षेप पैदा हुए।
ध्यान का अर्थ होता है: अनेकाग्र। ध्यान का अर्थ होता है: जो होगा होने देंगे। बच्चा रोयेगा, रोने देंगे। कुत्ता भौंकेगा, भौंकने देंगे। हम हैं कौन बाधा डालनेवाले? इस विराट अस्तित्व में हम विराम लगानेवाले कौन हैं? मैं कौन हूं जो कहूं कि कुत्ता अभी न भौंके और कौवे अभी कांव-कांव न करें और बच्चे अभी रोयें नहीं, गाड़ियां अभी रास्ते पर न चलें, हवाई जहाज आकाश में न उड़ें? मैं कौन हूं विराम लगानेवाला? यह तो बड़े अहंकार की घोषणा है कि मैं विराम लगा दूं। नहीं, मैं कोई भी नहीं हूं! जो होगा मैं उसे स्वीकार करूंगा। कुत्ता भौंकता रहेगा, मैं राजी रहूंगा। कुत्ते के भौंकने की आवाज सुनाई पड़ेगी, गूंजेगी मेरे अंतस्तल में, सुनता रहूंगा, लेकिन मेरा चूंकि कोई विरोध नहीं है तो विक्षेप पैदा नहीं होगा। मेरी कोई मांग नहीं है कि कुत्ता न भौंके, तो मुझे कोई चोट न लगेगी।
जैसे ही तुमने एकाग्र होना चाहा कि तुमने घाव बना लिया। देखा तुमने, कभी पैर में घाव हो जाता है तो दिन भर उसी पर चोट लगती है। बच्चा आकर पैर पर चढ़ जाता है। तुम चकित होते हो कि इतने दिन हो गये, जिंदगी हो गई, कभी यह

बच्चा पैर पर नहीं चढ़ता था, आज पैर पर चढ़ गया! राह से निकलते हो, किसी का धक्का लग जाता है। दरवाजे का धक्का लग जाता है। चीजें गिर पड़ती हैं। ये रोज ही गिरती थीं और यह बच्चा अनेक बार चढ़ा था; लेकिन कभी पता न चला था, क्योंकि घाव न था। आज घाव है तो पता चलता है। कोई ऐसा थोड़े ही है कि तुम्हारा घाव देखकर सारी दुनिया तुम्हारे पैर पर गिरी पड़ रही है। घाव का किसी को पता नहीं है। जब तुम एकाग्र होने को बैठ गये और तुमने चेष्टा की, बस घाव पैदा हो गया। अब छोटी-छोटी चीजें बाधा डालने लगेंगी।
तुमने खयाल किया होगा, ध्यान करने बैठो, कहीं चींटी सरकने लगती है-- अभी तक नहीं सरक रही थी, जिंदगी भर नहीं सरकी थी--कहीं खुजलाहट उठती है, कहीं लगता है कि सिर में कोई चींटी चढ़ गई, कहीं पैर सो जाता है। हजार काम एकदम शुरू हो जाते हैं; जैसे सारा संसार तुम्हारे ध्यान के विपरीत है। ध्यान के विपरीत नहीं है, एकाग्रता के विपरीत है। संसार विपरीत है, ऐसा कहना ठीक नहीं; एकाग्रता में तुमने संसार के विपरीत होने की घोषणा कर दी। एकाग्रता की चेष्टा में तुमने कह दिया: मैं दुश्मन हूं। तुमने कह दिया कि अब मैं नहीं चाहता, न चींटियां चलें, न हवाएं चलें, न पक्षी बोलें, न रास्ते पर कोई चले, न बर्तन गिरें--तुमने सारी दुनिया को कह दिया कि अभी मैं ध्यान कर रहा हूं, सब ठहर जाये! तुमने घोषणा कर दी वैपरित्य की। विक्षेप पैदा होगा। हजार-हजार विक्षेप पैदा होंगे। इससे सिर्फ क्रोध पैदा होगा। अशांति पैदा होगी।
ध्यान का वास्तविक अर्थ है: "अनेकाग्रता! नान कंसेनट्रेशन! शांत होकर, शिथिल होकर बैठ गये। जो होता है, होता है। स्वीकार कर लिया।"
इस स्वीकार की दशा में एक चीज बिखरेगी, वह अहंकार है; और एक चीज सम्हलेगी, वह तुम हो। एक चीज जायेगी, वह अहंकार है; एक चीज आयेगी--तुम जाओगे, परमात्मा आयेगा; या तुम्हारा झूठा रूप जायेगा और तुम्हारा वास्तविक रूप आयेगा।
जब तुम्हारा कोई चुनाव नहीं तब जीवन में एक सहजता आती है। साधुओं को कबीर ने कहा है: साधो सहज समाधि भली।
यह कौन-सा मुकाम है!
फलक नहीं, जमीं नहीं
कि शब नहीं, सहर नहीं
कि गम नहीं, खुशी नहीं
कहां यह लेकर आ गई
हवा तेरे दयार की!
अगर तुम ऐसे चुप होकर बैठ गये, अनेकाग्र होकर बैठ गये, तो एक दिन पाओगे--
यह कौन-सा मुकाम है!
फलक नहीं, जमीं नहीं
कि शब नहीं, सहर नहीं
कि गम नहीं, खुशी नहीं
कहां यह लेकर आ गई
हवा तेरे दयार की!
तुम्हीं थे मेरे रहनुमां
तुम्हीं थे मेरे हमसफर
तुम्हीं थे मेरी रोशनी
तुम्हीं ने मुझको दी नजर
बिना तुम्हारे जिंदगी
शमा है एक मजार की!
तुम छोड़ दो अपने को परमात्मा के हाथों में। निश्चित कुछ बिखरेगा। जो बिखरेगा वह बिखरने ही के लिए है, बिखरना ही चाहिए। वह बिखरे, यही शुभ है। और कुछ सम्हलेगा। जो सम्हलना चाहिए, वही सम्हलेगा।
अभी गलत तो सम्हला है, सही सोया है। गलत को जाने दो, ताकि सही जाग सके।
और सही तभी जागता है जब गलत हट जाये। असार को असार की तरह देख लेने में सार का जन्म है। असत्य को असत्य की तरह पहचान लेने में सत्य की पहली किरण है।

तीसरा प्रश्न: प्रभु को पाने का मार्ग क्या है? प्यास तो है, पर पथ नहीं मिलता। पथ-प्रदर्शन करें!
प्यास हो नहीं सकती। कहते हो प्यास है; है नहीं! क्योंकि प्यास ही तो
पथ है। प्यास हो तो पथ मिल ही गया। प्यास से अलग पथ कहां! ये पथ इत्यादि की बातें तो प्यास की कमी के कारण ही पैदा होती हैं। प्यास नहीं तो हम पूछते हैं: पथ कहां है? प्यास हो, ज्वलंत प्यास हो, रोआं-रोआं जलता हो, आग लगी हो विरह की, लपटें उठी हों खोज की--कोई पथ नहीं पूछता। प्यास पथ बना देती है। ऐसा समझो, घर में आग लग गई हो, तब तुम थोड़े ही पूछते हो कि द्वार कहां, मुख्य द्वार कहां, कहां से निकलूं, कहां से न निकलूं? खिड़की से कूद जाते हो। फिर तुम यह थोड़े ही देखते हो कि यह मुख्य द्वार नहीं है--जब घर में आग लगी हो--यह खिड़की से कूद रहा हूं, यह शिष्टाचार के विपरीत है! तुम फिर नक्शा थोड़े ही पूछते हो कि नक्शा कहां है? तुम फिर मार्गदर्शन थोड़े ही चाहते हो। तुम फिर रुकते थोड़े ही हो किसी से पूछने को। घर में आग लगी हो तो तुम्हारे प्राण ऐसे आकुल हो जाते हैं निकलने को बाहर कि तुम राह खोज लेते हो। तुम्हारी आकुलता राह बन जाती है।
राह इत्यादि की बातें तो लोग फुरसत में पूछते हैं; असल में जब निकलना नहीं होता तब पूछते हैं, तब वे कहते हैं: "कैसे निकलें, पहले राह तो पता हो। मार्गदर्शन तो हो।" फिर मार्गदर्शन भी मिल जाये तो वे पूछते हैं: "क्या पक्का है कि यह मार्गद्रष्टा सही है? फिर और भी तो मार्गद्रष्टा हैं, अकेले यही तो नहीं। कौन सही है? पहले यह तो तय हो जाये। बुद्ध सही कि महावीर सही कि कृष्ण कि क्राइस्ट कि मुहम्मद--कौन सही है? कुरान सही कि वेद सही, कौन सही है? पहले यह तो पक्का हो जाये। निकलेंगे जरूर। निकलना है। लेकिन जब तक मार्ग साफ न हो, सुनिश्चित न हो, तब तक कैसे चलें?" तब तक तुम घर में बैठे हो मजे से, अपना काम-धाम जारी रखे हो।
ये तरकीबें हैं बचाव की।
तुम कहते हो: "प्रभु को पाने का मार्ग क्या है? प्यास तो है, पर पथ नहीं मिलता।"
नहीं, जरा अपनी प्यास को फिर से टटोलना। जरा खोलकर फिर देखना--प्यास नहीं होगी। प्यास होती तो मार्ग क्यों न मिलता? प्यास होती तो तुम दांव लगा देते। प्यास होती तो तुम मार्ग खोज लेते। क्योंकि मार्ग तो है; तुम जहां खड़े हो वहीं से मार्ग जाता है। लेकिन जब तक प्यास नहीं, तब तक तुम्हारा उस मार्ग से संबंध नहीं हो पाता है।
तो पहली बात मैं कहना चाहूंगा: बजाय मार्ग खोजने के प्यास को गहरा करो। गहराओ। प्यास को जलाओ। ईंधन बनो कि प्यास की लपटें जोर से उठें। जब तक प्यास विक्षिप्त न हो जाये, जब तक ऐसी घड़ी न आ जाये कि तुम सब दांव पर लगाने को राजी हो, तब तक समझना प्यास नहीं है। अगर मैं तुमसे पूछूं कि क्या दांव पर लगाने को राजी हो, प्यास है तो...?
सिकंदर भारत से वापस लौटता था, तब वह एक फकीर को मिलने गया। और उस फकीर
ने सिकंदर को देखा और वह हंसने लगा। तो सिकंदर ने कहा: "यह अपमान है मेरा। जानते हो मैं कौन हूं? सिकंदर महान!" वह फकीर और जोर से हंसने लगा। उसने कहा कि "मुझे तो कोई महानता दिखाई नहीं पड़ती। मैं तो तुम्हें बड़ा दीन-दरिद्र देखता हूं।" सिकंदर ने कहा कि "या तो तुम पागल हो और या तुम्हारी मौत आ गई। सारी दुनिया को मैंने जीत लिया है।" उस फकीर ने कहा, "छोड़ यह बकवास! मैं तुझसे पूछता हूं, अगर मरुस्थल में तू भटक जाये और प्यास तुझे जोर की लगी हो और चारों तरफ आग बरसती हो और कहीं हरियाली न दिखाई पड़ती हो, कहीं किसी मरूद्यान का पता न चलता हो--उस समय एक गिलास पानी के लिए तू इस राज्य में से कितना दे सकेगा?"
सिकंदर ने थोड़ा सोचा। उसने कहा: "आधा राज्य दे दूंगा।" फकीर ने कहा: "लेकिन आधे में मैं बेचने को राजी न होऊंगा।" सिकंदर ने फिर सोचा। उसने कहा कि ऐसी हालत अगर होगी तो पूरा राज्य दे दूंगा। तो वह फकीर हंसने लगा। उसने कहा: "एक गिलास पानी कुल जमा मूल्य है तेरे राज्य का। और ऐसे ही अकड़ा जा रहा है। वक्त पड़ जाये तो एक गिलास पानी में निकल जायेगी सब अकड़। यह

राज्य तेरी प्यास भी तो न बुझा सकेगा उस क्षण में। चिल्लाना खूब--महान सिकंदर, महान सिकंदर! कुछ न होगा। मरुस्थल बिलकुल न सुनेगा।"
एक गिलास पानी में राज्य चला जाता हो...! अगर तुमसे कोई कहे कि परमात्मा मिलने को तैयार है, तुम क्या खोने को तैयार हो? तुम क्या दांव पर लगाने को तैयार हो? सिकंदर फिर भी हिम्मतवर था, उसने कहा, आधा राज्य दे दूंगा एक गिलास पानी के लिए। तुम एक गिलास परमात्मा के लिए क्या देने को राजी हो? तुम शायद आधी दुकान भी न दोगे। तुम शायद आधा मकान भी न दोगे। तुम शायद अपनी आधी तिजोड़ी भी न दोगे। तुम कहोगे: "प्रभु, अभी और बहुत काम करने हैं, तिजोड़ी अभी कैसे दे दूं? अभी लड़की की शादी करनी है, अभी लड़का युनिवर्सिटी में पढ़ रहा है। दे दूंगा एक दिन, लेकिन अभी नहीं दे सकता।" तुम क्या देने को राजी हो?
कभी अपने मन में पूछना, अगर प्रभु द्वार पर खड़ा हो और कहे कि मैं मिलने
को राजी हूं, तुम क्या देने को राजी हो? तब तुम क्या दे दोगे निकालकर? तुम्हारे हाथ डरेंगे, खीसे में न जायेंगे।
रवींद्रनाथ की एक बड़ी प्रसिद्ध कविता है। एक भिखारी, जैसा रोज भिक्षा मांगने जाता था वैसा ही भिक्षा मांगने निकला। पूर्णिमा का दिन है, धर्म का कोई दिन है और उसे बड़ी आशा है। और जैसे भिखारी जब भिक्षा मांगने जाते हैं तो घर से थोड़ा-सा अपनी झोली में डालकर निकलते हैं--स्वाभाविक है, जरूरी है। झोली में कुछ पड़ा हो तो लोग दे देते हैं, नहीं तो देते भी नहीं। झोली में पड़ा हो तो उनको जरा संकोच आता है कि दूसरों ने दे दिया है तो हम भी दे दें। जरा बदनामी का भी तो डर लगता है। मंदिर में पुजारी तक जब आरती के बाद पैसे के लिए थाली फिराता है तो उसमें कुछ पैसे डाल रखता है। क्योंकि अगर थाली खाली हो तो तुम्हारी हिम्मत बिलकुल टूट जायेगी; तुम एक पैसा भी न डाल पाओगे। तुम कहोगे: किसी ने भी नहीं डाला तो हमीं कोई बुद्धू हैं! अगर और भी बुद्धू बन चुके हैं, कुछ पैसे पड़े हैं, तो फिर तुम्हें ऐसा लगता है कि अब न डालें तो जरा कंजूसी मालूम होगी। तो एकाध पैसा तुम डाल देते हो। वह भी खोटे पैसे लेकर लोग मंदिर आते हैं। छोटी से छोटी चिल्लड़ मांगते हैं। निकला था थोड़े-से पैसे डालकर--थोड़े चने के दाने, थोड़े गेहूं, थोड़े चावल
और राह पर आया है कि देखा, राजा का रथ आ रहा है धूल उड़ाता। सुबह सूरज निकला है और उसका स्वर्ण-रथ चमक रहा है। वह तो बड़ा गदगद हो गया। उसने कहा, ऐसा कभी सौभाग्य न मिला था, क्योंकि राजा के महल में तो कभी प्रवेश ही नहीं मिलता था, भिक्षा मांगने का सवाल ही न था। आज राजा राह पर मिल गया है तो खड़ा हो जाऊंगा बीच में झोली फैलाकर, धन्यभाग हैं मेरे! कुछ न कुछ आज मिलने को है। रथ आया, रुका भी। रुका तो भिखारी घबड़ाया भी। कभी राजा के साथ साक्षात्कार भी न हुआ था। और राजा नीचे उतरा भी। उतरा तो भिखारी बिलकुल ही कंप गया। और इसके पहले कि भिखारी होश जुटा पाता, अपनी झोली फैला पाता, राजा ने अपनी झोली उसके सामने फैला दी। और उसने कहा: "क्षमा करो, ज्योतिषियों ने कहा है कि अगर मैं भिक्षा मांगूं तो राज्य बच सकता है, अन्यथा राज्य पर बड़ा संकट आ रहा है। और ज्योतिषियों ने कहा है, आज सुबह मैं रथ पर निकलूं और जो आदमी पहले मिले, उससे भिक्षा मांग लूं। क्षमा करो, माना कि तुम भिखारी हो और तुम्हें देने में बड़ी कठिनाई होगी, लेकिन अब कोई उपाय नहीं है, राज्य को बचाने का सवाल है। कुछ न कुछ दे दो, इंकार मत कर देना।"
तो भिखारी बड़ा घबड़ाया। कभी उसने दिया तो था ही नहीं, मांगा ही मांगा था। देने की कोई आदत ही न थी, याद ही न आती थी कि कभी उसने कुछ दिया हो।
तुम जरा उसका संकट देखो। ऐसे ही संकट में तुम पड़ जाओगे, परमात्मा अगर झोली फैलाकर सामने खड़ा हो जाये। तुमने भी मांगा ही मांगा है। प्रार्थना जो भी तुमने की हैं अब तक, सब मांगों से भरी थीं। तुमने देने के लिए कभी प्रार्थना की? तुम कभी प्रभु के द्वार पर गये कि प्रभु, मैं अपने को देना चाहता हूं, तू ले ले, कृपा करना और मुझे स्वीकार कर ले! तुम कुछ देने गये? तुम सदा मांगने गये। तुम भिखमंगे की तरह गये।
वह भिखमंगा बहुत घबड़ा गया। इंकार भी न कर सका क्योंकि राज्य पर संकट
है और राजा अगर नाराज हो जाये...। तो उसने झोली में हाथ डाला। हाथ डालता है, मुट्ठी भरके दे सकता था, लेकिन मुट्ठी भरने की आदत ही न थी। मजबूरी में एक

चावल का दाना निकालकर उसने डाला। डालना कुछ था, डालना पड़ रहा था--राजा सामने खड़ा था। एक चावल का दाना!
बात आई-गई हो गई। राजा ने झोली बंद की, बैठा रथ पर और चला गया। धूल उड़ती
रह गई। तब उसे होश आया कि अरे, मैं तो मांगना ही भूल गया; यह तो उलटा ही हो गया! बड़ा दुखी! दिन भर में खूब भीख मिली, क्योंकि जो देता है वह खूब पाता भी है। हालांकि उसने बहुत कुछ न दिया था, मगर फिर भी दिया तो था ही। भिखमंगे के लिए उतना ही बहुत था। उस दिन खूब भीख मिली; लेकिन फिर भी वह उदास था। एक दाना तो कम था! लाख मिल जाये, इससे क्या फर्क पड़ता है, एक दाना तो कम ही रहेगा! और यह भी कैसा दुर्भाग्य का क्षण कि राजा के साथ मुलाकात हुई तो मांगने की जगह उलटा देना पड़ा। बड़ी पीड़ा थी। बड़े बोझ से भरा था। झोला बहुत भर गया था उसका, लेकिन वह खुशी न थी। वह घर लौटा। पत्नी दौड़ी। ऐसा झोला कभी भरकर न आया था। पत्नी बड़ी खुश हो गई। और उसने कहा: "धन्यभाग, आज बहुत कुछ मिला है।" उसने कहा: "छोड़ पागल, तुझे पता नहीं आज क्या गंवाया है! यह कुछ भी नहीं है। एक तो अपने पास का एक दाना गया और इतना ही नहीं, जो मिलना था वह तो मिल ही न पाया। राजा के साथ मिलन हो गया और कुछ मांग न पाया। आज जैसा दुर्भाग्य का क्षण मेरे जीवन में कभी था ही नहीं।"
बड़ी उदासी से उसने झोली उलटायी और तब वह छाती पीटकर रोने लगा, क्योंकि
उस झोली में उसने देखा कि एक चावल का दाना सोने का हो गया था। तब वह छाती पीटकर रोने लगा कि मैंने सब क्यों न दे दिया, तो सब सोने का हो जाता।
देने से सोने का होता है। मांगने से तो सोना भी मिट्टी हो जाता है। देने से मिट्टी भी सोना हो जाती है। इसलिए तो शास्त्र दान की इतनी महिमा गाते हैं।
अगर प्यास है तो देने की तैयारी करो; और छोटी-मोटी चीजें देने से न चलेगा, स्वयं को देना पड़ेगा। क्योंकि छोटी-मोटी चीजें तो मौत तुमसे छीन लेगी, उनको देकर तुम कोई परमात्मा पर आभार नहीं कर रहे हो। जो मौत तुमसे न छीन सकेगी वही देने की तैयारी हो तो परमात्मा अभी मिल जाये, इसी क्षण मिल जाये। वह द्वार पर खड़ा है, दस्तक भी दे रहा है; लेकिन तुम डरते हो कि कहीं कोई भिखमंगा न खड़ा हो! तुम अपने बेटे को भेज देते हो कि कह दो कि पिता जी बाहर गये हैं।
तुम कहते हो कि प्यास है। मैं मान नहीं सकता। क्योंकि जिसको भी कभी प्यास पैदा हुई, परमात्मा प्यास के पीछे-पीछे चला आया है।
ओ गीले नयनोंवाली ऐसे आंज नयन
जो नजर मिलाये तेरी मूरत बन जाये
ओ प्यासे अधरों वाली इतनी प्यास जगा
बिन जल बरसाये यह घनश्याम न जा पाये

रेशम के झूले डाल रही है झूल धरा
आ-आ कर द्वार बुहार रही है पुरवाई लेकिन तू धरे कपोल हथेली पर बैठी है याद कर रही जाने किसकी निठुराई! जब भरी नदी, तू रीत रही
जी उठी धरा, तू बीत रही
ओ सोलह सावनवाली ऐसे सेज सजा
घर लौट न पाये जो घूंघट से टकराये ओ प्यासे अधरोंवाली इतनी प्यास जगा बिन जल बरसाये यह घनश्याम न जा पाये

बादल खुद आता नहीं समुंदर से चलकर सुनो--
बादल खुद आता नहीं समुंदर से चलकर प्यास ही धरा की उसे बुलाकर लाती है जुगनू में चमक नहीं होती केवल तम को छूकर, उसकी चेतना ज्वाला बन जाती है

सब खेल यहां पर है धुन का
जग ताना-बाना है गुण का
ओ सौ गुणवाली ऐसी धुन की गांठ लगा
सब बिखरा जल सागर बन-बनकर लहराये
ओ प्यासे अधरोंवाली इतनी प्यास जगा
बिन जल बरसाये यह घनश्याम न जा पाये
घनश्याम तो घिरे हैं, बादल तो उमड़-घुमड़ रहे हैं, मेघ तो सदा से मौजूद रहे हैं--तुमने पुकारा नहीं। तुम वस्तुतः प्यासे नहीं। तुम्हारी धरा अभीप्सा से डांवाडोल नहीं। तुम्हारे हृदय में ऐसी पुकार नहीं उठी है कि उस पर सब न्योछावर हो। इसीलिए चूक हो रही है।
मार्ग की पूछते हो? पथ की पूछते हो? ये सब गणित के हिसाब हैं।
बुद्ध से किसी ने पूछा है कि आप कहते हैं, बुद्धपुरुष केवल मार्ग दिखाते हैं; तो फिर बुद्धपुरुषों के सान्निध्य और सत्संग का वस्तुतः लाभ क्या है? तो बुद्ध ने कहा: "लाभ है कि प्यास लग जाये; लाभ है कि उनके पास धुन जग जाये।"
बुद्ध को देखकर अगर तुम्हारे भीतर प्यास जग जाये, तुम्हारे भीतर एक अभीप्सा का आरोहण हो कि यही मैं भी हो सकता हूं, दांव पर लगाना है! कंजूसी से न चलेगा, आधे-आधे न चलेगा--दांव पर पूरा ही लगाना होगा। परमात्मा के साथ होशियारी न चलेगी।
मैंने सुना है, इनकमटैक्स दफ्तर में एक आदमी का पत्र आया। एक अमरीकन अखबार में मैं कल ही पढ़ रहा था। उस आदमी ने लिखा है कि क्षमा करें, बीस साल पहले मैंने कुछ धोखाधड़ी की थी इनकमटैक्स देने में और तब से मैं ठीक से सो नहीं पाया। तो ये पचास डॉलर भेज रहा हूं। अब क्षमा करो और मुझे सोने दो। अगर नींद न आयी तो शेष पचास डॉलर भी भेज दूंगा।
ऐसे आधे-आधे न चलेगा। किसको धोखा दे रहे हो? अब इनकमटैक्स दफ्तर को तो पता भी नहीं है, बीस साल हो गये। बात भी आयी-गई हो गई; पता तो तुम्हीं को है, लेकिन फिर भी पचास डॉलर भेज रहे हो! और अगर नींद न आयी तो बाकी पचास भी भेज देंगे। तुम्हें तो पता ही है।
देखो, धोखा और सबको दे देना, परमात्मा को मत देना। क्योंकि परमात्मा
को दिया गया धोखा फिर तुम्हें सोने न देगा, जागने भी न देगा; उठने न देगा, बैठने न देगा। यह परमात्मा को दिया गया धोखा तो अपने ही भविष्य को दिया गया धोखा है। यह तो अपने ही अंतरतम को दिया गया धोखा है। और हम सब यह धोखा देते हैं। फिर हम पूछते हैं, राह नहीं मिलती। और राह आंख के सामने है। तुम जहां खड़े हो वहीं राह है। सच तो यह है कि राहें बहुत हैं, तुम अकेले हो चलनेवाले। इतनी राहें हैं। प्रेम से चलो, ध्यान से चलो, भक्ति से चलो, ज्ञान से चलो, योग से चलो--कितनी राहें हैं! इतनी तो राहें हैं! इतने तो उपाय हैं! मगर तुम चलते नहीं; तुम बैठे हो चौरस्ते पर, जहां से सब राहें जाती हैं।
पुराने शास्त्र कहते हैं: आदमी चौरस्ता है। जैन शास्त्रों में बड़ा महत्वपूर्ण एक सिद्धांत है आदमी के चौरस्ता होने का। कहते हैं कि देवता को भी अगर मोक्ष जाना हो तो फिर आदमी होना पड़ता है, क्योंकि आदमी चौरस्ते पर है। देवताओं ने तो एक रास्ता पकड़ लिया, स्वर्ग पहुंच गये। स्वर्ग तो टर्मिनस है--विक्टोरिया टर्मिनस। वहां तो गाड़ी खतम। वहां से आगे जाना का कोई उपाय नहीं है, वहां तो रेल की पटरी ही खतम हो जाती है। अब अगर कहीं और जाना हो, मोक्ष जाना हो, तो लौटना पड़ेगा आदमी पर। आदमी जंक्शन है। तो अदभुत बात कहते हैं जैन शास्त्र कि देवताओं को भी अगर मोक्ष जाना हो...। किसी न किसी दिन जाना ही होगा। क्योंकि जैसे आदमी दुख से ऊब जाता है, वैसे ही सुख से भी ऊब जाता है। पुनरुक्ति उबा देती है। जैसे आदमी दुख से ऊब जाता है-- ध्यान रखना--सुख ही सुख मिले, उससे भी ऊब जाता है। सच तो यह कि दुख-सुख दोनों मिलते रहें तो इतनी जल्दी नहीं ऊबता, थोड़ा कंधे बदलता रहता है--कभी सुख, कभी दुख--फिर स्वाद आ जाता है। दुख आ गया, फिर सुख की आकांक्षा आ जाती है। फिर सुख आया, फिर थोड़ा स्वाद लिया, फिर दुख आ गया, ऐसी यात्रा चलती रहती है। लेकिन स्वर्ग में तो सुख ही सुख है। स्वर्ग में तो सभी को सुख के कारण

डायबिटीज हो जाता होगा--शक्कर ही शक्कर, शक्कर ही शक्कर! तुम जरा सोचो कैसी मितली और उलटी नहीं आने लगती होगी! सुख ही सुख, शक्कर ही शक्कर! लौटकर आना पड़ता है एक दिन।
आदमी चौराहा है। सब रास्ते तुमसे जाते हैं--नर्क, स्वर्ग, मोक्ष, संसार! सब रास्ते तुमसे जाते हैं। और तुम बैठे चौरस्ते पर पूछते हो कि रास्ता कहां है? न जाना हो न जाओ, कम से कम ऐसे उलटे-सीधे सवाल तो न पूछो। न जाना हो तो कोई तुम्हें भेज भी नहीं सकता। न जाना हो तो कम से कम ईमानदारी तो बरतो; यह कहो कि हमें जाना नहीं है इसलिए नहीं जाते; जब जाना होगा जायेंगे।
लेकिन आदमी बेईमान है। आदमी यह भी मानने को तैयार नहीं है कि मैं ईश्वर की तरफ अभी जाना नहीं चाहता। आदमी बड़ा बेईमान है! हाथ फैलाता संसार में है और कहता है, जाना तो ईश्वर की तरफ चाहते हैं, लेकिन करें क्या, रास्ता नहीं मिलता!
तो पतंजलि ने क्या दिया है? तो अष्टावक्र ने क्या दिया है? तो बुद्ध-महावीर ने क्या दिया? रास्ते दिये हैं। सदियों से तीर्थंकर और बुद्धपुरुष रास्ते दे रहे हैं; तुम कहते हो, रास्ता क्या है! इतने रास्तों में से तुमको नहीं मिलता; एकाध रास्ता मैं और बता दूंगा, तुम सोचते हो, इससे कुछ फर्क पड़ेगा? यही तुम बुद्ध से पूछते रहे, यही तुम महावीर से पूछते रहे, यही तुम मुझसे पूछ रहे हो, यही तुम सदा पूछते रहोगे। समय के अंत तक तुम यही पूछते रहोगे, रास्ता नहीं है।
लेकिन बेईमानी कहीं गहरी है: तुम जाना नहीं चाहते। पहले वहीं साफ-सुथरा कर लो। पहले प्यास को बहुत स्पष्ट कर लो।
मेरे अपने अनुभव में ऐसा है: जो आदमी जाना चाहता है, उसे पूरा संसार भी रोकना चाहे तो नहीं रोक सकता। तुम खोजना चाहो, खोज लोगे। और जब तुम्हारी प्यास बलवती होती है, लपट की तरह जलती है तो सारा अस्तित्व तुम्हें साथ देता है। अभी तुम खोजते तो धन हो और बातें परमात्मा की करते हो; खोजते तो पद हो, बातें परमात्मा की करते हो, खोजते कुछ हो, बातें कुछ और करते हो। बातों के जरिए तुम एक धुआं पैदा करते हो अपने आसपास, जिससे दूसरों को भी धोखा पैदा होता है, खुद को भी धोखा पैदा होता है। दूसरों को हो, इसकी मुझे चिंता नहीं; लेकिन खुद को धोखा पैदा हो जाता है। तुमको खुद लगने लगता है कि तुम बड़े धार्मिक आदमी हो, कि देखो कितनी चिंता करते हो, सोच-विचार करते हो! मैंने सुना है कि लंका में एक बौद्ध भिक्षु हुआ। उसके बड़े भक्त थे, हजारों भक्त थे। जब वह मरने को हुआ, आखिरी दिन उसने खबर भेज दी अपने सारे भक्तों को कि तुम आ जाओ, अब मैं जाने को हूं। काफी उम्र, नब्बे वर्ष का हो गया था। कोई बीस हजार उसके भक्त इकट्ठे हुए। और उसने खड़े होकर पूछा कि देखो, अब मैं जाने को हूं, अब दुबारा मेरात्तुम्हारा मिलना न होगा, इसलिए अगर कोई मेरे साथ निर्वाण में जाना चाहता हो तो खड़ा हो जाये। लोग एक-दूसरे की तरफ देखने लगे। जो जिसको निर्वाण में भेजना चाहता था उसकी तरफ देखने लगा। लोग इशारा करने लगे कि चले जाओ। जो जिसको हटाना चाहता था, उससे कहने लगा: "अब क्या बैठे देख रहे हो! भई हमें तो अभी दूसरी झंझटें हैं, अभी और काम हैं; मगर तुम क्या कर रहे हो! तुम चले जाओ!"
कोई उठा नहीं। सिर्फ एक आदमी ने हाथ उठाया। वह भी उठा नहीं, हाथ उठाया। तो उस बौद्ध भिक्षु ने पूछा कि मैंने कहा, उठकर खड़े हो जायें, हाथ उठाने को नहीं कहा।
उसने कहा: "इसी डर से तो मैं सिर्फ हाथ उठा रहा हूं। मैं सिर्फ यह पूछना चाहता हूं कि रास्ता क्या है स्वर्ग जाने का, मोक्ष जाने का या निर्वाण जाने का? रास्ता बता दें आप। क्योंकि अभी इसी वक्त जाने की मेरी तैयारी नहीं है। मगर रास्ता पूछ लेता हूं, क्योंकि दुबारा आप मिलें न मिलें। रास्ता काम आयेगा; जब जाना चाहूंगा, रास्ते का उपयोग कर लूंगा।" उस बौद्ध भिक्षु ने कहा कि रास्ता तो मैं आज कोई पचास साल से बता रहा हूं, कोई चलता नहीं। इसलिए मैंने सोचा कि अब जाते वक्त अगर कोई जाने को राजी हो तो लेता जाऊं। अब भी कोई राजी नहीं है।
तुम कहते हो: परमात्मा से मिलना है, प्यास है!

नहीं, अपनी प्यास को फिर जांचना। प्यास नहीं है, अन्यथा तुम मिल गये होते। परमात्मा और तुम्हारे बीच प्यास की कमी ही तो बाधा है। जलती प्यास ही जोड़ देती है। ज्वलंत प्यास ही पथ बन जाती है।

चौथा प्रश्न: मैं देख रहा हूं कि जब स्वामी आनंद तीर्थ अंग्रेजी में सूत्र-पाठ करते हैं तब आप उसे बड़े गौर से सुनते हैं और जब मा कृष्ण चेतना महागीता के सूत्र पढ़ती हैं, तब आप आंखें बंद कर लेते हैं! ऐसा फर्क क्यों? उसका राज क्या है? ऐसा तो नहीं है कि मा चेतना के अशुद्ध पाठ और उच्चारण के कारण उन्हें नहीं सुनते? कृपापूर्वक इसके संबंध में हमें समझायें।

अंग्रेजी मैं ज्यादा जानता नहीं; सो गौर से सुनता हूं कि कहीं चूक न जाये, और संस्कृत मैं बिलकुल नहीं जानता; सो आंख बंद करके सुनने का मजा ले सकता हूं; चूकने को कुछ है नहीं।
"चेतना" के पाठ में कोई भूल-चूक नहीं, क्योंकि मैं भूल-चूक निकाल ही नहीं सकता; जानता ही नहीं हूं।
फिर, संस्कृत कुछ ऐसी भाषा है कि आंख बंद करके ही सुननी चाहिए। वह अंतर्मुखी भाषा है। अंग्रेजी बहिर्मुखी भाषा है; वह आंख खोलकर ही सुननी चाहिए।
अंग्रेजी पश्चिम से आती है। पश्चिम है बहिर्मुखी। पश्चिम ने जो भी पाया है वह आंख खोलकर पाया है।
संस्कृत पूरब के गहन प्राणों से आती है। पूरब ने जो भी पाया है, आंख बंद करके पाया है। पश्चिम का उपाय है: आंख खोलकर देखो। पूरब का उपाय है: अगर देखना है, आंख बंद करके देखो। क्योंकि पश्चिम देखता है पर को; पूरब देखता है स्व को। दूसरे को देखना हो, आंख खुली चाहिए; स्वयं को देखना हो, खुली आंख बाधा है। स्वयं को देखना हो, आंख बंद चाहिए।
संस्कृत तो स्वयं को देखनेवालों की भाषा है।
फिर अंग्रेजी, मौलिक रूप से अर्थ-निर्भर है। संस्कृत मौलिक रूप से ध्वनि-निर्भर है। अंग्रेजी में कोई संगीत नहीं। संस्कृत में संगीत ही संगीत है। पुरानी भाषायें काव्य की भाषायें हैं। संस्कृत, अरबी काव्य की भाषायें हैं। अगर कुरान को पढ़ना हो तो गाकर ही पढ़ा जा सकता है। कुरान काव्य है। संस्कृत काव्य है। उसे सुनना हो तो आंख बंद करके, मौन में, संगीत की भांति सुनना चाहिए। अर्थ-निर्भर नहीं है, ध्वनि-निर्भर है। अंग्रेजी अर्थ-निर्भर है।
अंग्रेजी विज्ञान की भाषा है। संस्कृत धर्म की भाषा है। अंग्रेजी में चेष्टा है प्रत्येक शब्द का साफ-साफ, स्पष्ट-स्पष्ट अर्थ हो। अंग्रेजी बड़ी गणितिक है। संस्कृत में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ हैं। बड़ी तरलता है। बड़ा बहाव है! बड़ी सुविधा है।
अगर गीता अंग्रेजी में लिखी गई होती तो एक हजार टीकायें नहीं हो सकती थीं। कैसे करते! शब्दों के अर्थ तय हैं, सुनिश्चित हैं। गीता संस्कृत में है; एक हजार क्या, एक लाख टीकायें हो सकती हैं। क्योंकि शब्द तरल हैं। उनके अनेक अर्थ हैं। एक-एक शब्द के दस-दस बारह-बारह अर्थ हैं। जो मर्जी हो। अंग्रेजी जैसी भाषायें सुननेवाले, पढ़नेवाले को बहुत मौका नहीं देतीं। तुम्हारे लिए कुछ छोड़तीं नहीं। जो है वह साफ बाहर है। संस्कृत-अरबी जैसी भाषायें पूरा नहीं कहतीं; बस शुरुआत मात्र है, फिर बाकी सब तुम पर छोड़ देती हैं। बड़ी स्वतंत्रता है। फिर तुम सोचो। पूरा तुम करो। प्रारंभ है संस्कृत में, पूरा तुम्हें करना होगा। सूत्रपात है। इसीलिए तो इनको हम "सूत्र" कहते हैं। इन संस्कृत के वचनों को हम "सूत्र" कहते हैं। सिर्फ धागा। सब साफ नहीं है, जरा-सा इशारा है। फिर इशारे का साथ पकड़कर तुम चल पड़ना। फिर पूरा अर्थ तुम अपने भीतर खोजना। अर्थ बाहर से तैयार चबाया हुआ उपलब्ध नहीं है। तुम्हें पचाना होगा, तुम्हें अर्थ अपने भीतर जन्माना होगा।
पश्चिम की भाषायें गणित और विज्ञान के साथ-साथ विकसित हुई हैं। इसलिए पाश्चात्य विचारक बड़े हैरान होते हैं कि संस्कृत के एक-एक वचन के कितने ही

अर्थ हो सकते हैं, यह कोई भाषा है! भाषा का मतलब होना चाहिए: अर्थ सुनिश्चित हो। नहीं तो गणित और विज्ञान विकसित ही नहीं हो सकते। अगर गणित और विज्ञान में भी भाषा अनिश्चित हो तो बहुत कठिनाई हो जायेगी। सब साफ होना चाहिए। हर शब्द की परिभाषा होनी चाहिए। संस्कृत में कुछ भी परिभाष्य नहीं है! अपरिभाष्य है। एक तरंग दूसरी तरंग में लीन हो जाती है। एक तरंग दूसरी तरंग को पैदा कर जाती है।
इसलिए अंग्रेजी को तो मैं आंख खोलकर सुनता हूं; वह अंग्रेजी का समादर है। संस्कृत को आंख बंद करके सुनता हूं; वह संस्कृत का समादर है। और उच्चारण और पाठ इन सब में मेरा बहुत रस नहीं है, क्योंकि मैं कोई भाषाशास्त्री नहीं हूं। और व्याकरण और पाठ और उच्चारण सब गौण बातें हैं। मुझे रस है संस्कृत के संगीत में। वह जो ध्वनियों का आघात है चेतना पर; वह जो ध्वनियों से पैदा होता हुआ मंत्रोच्चार है; उच्चारण नहीं, उच्चार; व्याकरण नहीं, शब्दों में छिपा हुआ जो संगीत है--उसे पकड़ने की चेष्टा करता हूं।
मैं भाषाशास्त्री नहीं हूं, यह सदा याद रखना।
इसलिए कभी-कभी मैं शब्दों के ऐसे अर्थ करता हूं, जो कि भाषाशास्त्री राजी नहीं होगा। न हो राजी, वह उसका दुर्भाग्य! मुझे कुछ भाषा से लेना-देना नहीं है।
फिर यह जो मैं कह रहा हूं यहां सूत्रों के ऊपर, यह कोई व्याख्या, टिप्पणी-टीका नहीं है। जो मुझे कहना है वह मैं जानता हूं। जो मुझे कहना है, वह मुझे हो गया है। जो मुझे कहना है, उसका मैं स्वयं गवाह हूं। जब मैं एक संस्कृत का सूत्र सुनता हूं तो कुछ ऐसा नहीं है कि इस सूत्र पर व्याख्या करने जा रहा हूं। नहीं, जो मुझे हुआ है, वह और इस सूत्र का संगीत दोनों को मिल जाने देता हूं--फिर उससे जो पैदा हो जाये। इसको टीका कहनी ठीक नहीं है, इसको व्याख्या कहनी भी ठीक नहीं है। यह तो मेरे भीतर हुई अनुगूंज है। जैसे कि तुम पहाड़ों में गये और तुमने जोर की आवाज की और घाटियों में गूंज हुई--तुम क्या कहोगे, घाटियों ने व्याख्या की? घाटियां क्या व्याख्या करेंगी? घाटियों ने क्या किया? तुमने एक आवाज की थी, घाटियों ने अपने प्राणों में उस आवाज को ले लिया और वापिस बरसा दिया। घाटियों ने अपनी सुगंध उसमें मिला दी, घाटियों ने अपनी शांति उसमें डाल दी, घाटियों ने अपनी नीरवता उसमें प्रवष्टि कर दी। घाटियों ने अपना इतिहास उसमें जोड़ दिया। घाटियों ने अपनी आत्मकथा उसमें सम्मिलित कर दी, बस।
इन सूत्रों के माध्यम से मैं अपनी आत्मकथा इनमें उंडेल देता हूं। जब मैं बोलता हूं तो जो मैं बोलता हूं वह मेरे संबंध में ही है। ये सूत्र तो बहाना हैं, खूंटियां हैं, जिन पर मैं अपने को टांग देता हूं। लेकिन तुमने पूछा, ठीक।
चेतना बड़े प्रेम से गुनगुनाती है। उसका प्रेम देखो! पाठ इत्यादि व्यर्थ की बातें हैं। व्याकरण वगैरह की कोई भूल करती हो तो जो मूढ़ ही यहां होंगे, उनको खटकेगी। मूढ़ों को व्यर्थ की बातें खटकती हैं। तुम उसका प्रेम देखो, उसका भाव देखो, उसका समर्पण देखो! गदगद होकर गाती है, हृदय से गाती है, अपने हृदय को उंडेल देती है।

पांचवां प्रश्न: शास्त्रों में संसार को विषवत कहा है। और आप कहते हैं, संसार से भागो मत! इससे मन में बड़ी उलझन पैदा होती है।
शास्त्रों ने संसार को क्या कहा है, शास्त्र पढ़कर तुम न जान सकोगे। संसार में जाकर ही जान सकोगे कि शास्त्र सच कहते कि झूठ कहते। कसौटी कहां है? परीक्षा कहां होगी?
शास्त्र संसार को विषवत कहते हैं, ठीक। शास्त्र कहते हैं, इतना तो जान लिया। ठीक कहते हैं कि गलत कहते हैं, यह कैसे जानोगे? शास्त्र में लिखा है, इससे ही ठीक थोड़े ही हो जायेगा। सिर्फ लिखे मात्र होने से कोई चीज ठीक थोड़े ही हो जाती है। लिखे शब्द के दीवाने मत बनो। कुछ पागल ऐसे हैं कि लिखे शब्द के दीवाने हैं; जो चीज लिखी है, वह ठीक होनी चाहिए।

एक सज्जन एक बार मेरे पास आये। उन्होंने कहा, जो आपने कहा, वह शास्त्र में नहीं लिखा है, ठीक कैसे हो सकता है? तो मैंने कहा: मैं लिखकर दे देता हूं। और क्या करोगे? लिखे पर भरोसा है, तो छपवाओ। छपवाकर दे दूं, कहो। हस्तलिखित पर भरोसा हो तो हस्तलिखित लिखकर दे दूं। और क्या चाहते हो? शास्त्र कैसे बनता है? किसी के लिखने से बनता है। किसी ने तीन हजार साल पहले लिख दिया, इसलिए ठीक हो गया और मैं आज लिख रहा हूं, इसलिए गलत हो जायेगा? तीन हजार साल के फासले से कुछ गलत-सही होने का संबंध है? फिर तो तीन हजार साल पहले चार्वाकों ने भी शास्त्र लिखा है, फिर तो वह भी ठीक हो जायेगा। तीन हजार साल पहले से थोड़े ही कोई चीज ठीक होती है।
मुल्ला नसरुद्दीन, चुनाव आया तो बड़ा नाराज हुआ। उसकी पत्नी का नाम वोटर-लिस्ट में नहीं था। लिया पत्नी को साथ और पहुंचा ऑफिसर के पास--चुनाव ऑफिसर के पास। और उसने कहा कि देखें, मेरी पत्नी जिंदा है और वोटर-लिस्ट में लिखा है कि मर गई। झगड़ने को तैयार था। पत्नी भी बहुत नाराज थी। ऑफिसर ने वोटर-लिस्ट देखी और कहा, भई लिखा तो है कि मर गई। तो पत्नी बोली कि जब लिखा है तो ठीक ही लिखा होगा। अरे लिखनेवाले गलत थोड़े ही लिखेंगे! घर चलो। जब लिखा है तो ठीक ही लिखा होगा!
कुछ लोग लिखे पर बिलकुल दीवाने की तरह भरोसा करते हैं। शास्त्र में लिखा है, इससे क्या होता है? इससे इतना ही पता चलता है कि जिसने शास्त्र लिखा होगा, उसने जीवन का कुछ अनुभव किया था, अपना अनुभव लिखा है। तुम भी जीवन के अनुभव से ही जांच पाओगे कि सही लिखा है कि गलत लिखा है। कसौटी तो सदा जीवन है। वहीं जाना पड़ेगा। आखिरी परीक्षा तो वहीं होगी।
इसीलिए मैं तुमसे कहता हूं: भागो मत! शास्त्र की सुनकर मत भाग जाना, नहीं तो तुम्हारा शास्त्र कभी पैदा न होगा। अपना शास्त्र जन्माओ। अपने अनुभव को पैदा करो। क्योंकि तुम्हारा शास्त्र ही तुम्हारी मुक्ति बन सकता है। किसी ने तीन हजार साल पहले लिखा था, उसकी मुक्ति हो गई होगी। इससे तुम्हारी थोड़े ही हो जायेगी। उधार थोड़े ही होता है ज्ञान। इतना सस्ता थोड़े ही होता है ज्ञान। जलना पड़ता है, कसना पड़ता है। हजार ठोकरें खानी पड़ती हैं। तब कहीं जीवन के गहन अनुभव से पककर, निखरकर प्रतीतियां जगती हैं।
तो जाओ जीवन में, भागो मत! शास्त्र कहता है, खयाल में रखो। मगर शास्त्र
को मान ही मत लेना; नहीं तो जीवन में जाने का कोई प्रयोजन न रह जायेगा। जरा- सी कोई कठिनाई आयेगी, तुम कहोगे: देखो शास्त्र में लिखा है कि जीवन विषवत। इतनी जल्दबाजी मत करना। जीवन में गहरे जाओ। जीवन के सब रंग परखो। जीवन बड़ा सतरंगा है। उसकी सब आवाजें सुनो। सब कोणों से जांचो-परखो, सब तरफ से पहचानो। जब तुम जीवन को पूरा देख लो, तब तुम भी जानोगे कि हां, जीवन विषवत है और उस जानने में ही तुम्हारा रूपांतरण हो जायेगा। अभी तुमने शास्त्र से पकड़ लिया, इससे क्या हुआ? तुमने जान लिया जीवन विषवत है, लेकिन इससे हुआ क्या? सुन लिया, पढ़ लिया, याद कर लिया, दोहराने लगे। हुआ क्या? क्या छूटा? क्या बदला? क्रोध वहीं का वहीं है। काम वहीं का वहीं है। लोभ वहीं का वहीं है। धन पर पकड़ वहीं की वहीं है। सब वहीं के वहीं हैं। और जीवन विषवत हो गया। और तुम वैसे के वैसे खड़े हो--बिना जरा से रूपांतरण के।
नहीं, इतनी जल्दी मत करो। और फिर मैं तुमसे यह भी कहता हूं कि यह बात
सच है कि जीवन विषवत है। एक और बात भी है जो तुमसे मैं कहता हूं, वह भी शास्त्रों में लिखी है कि जीवन अमृत है। वेद कहते हैं: "अमृतस्य पुत्रः। तुम अमृत के पुत्र हो!" जीवन अमृत है। शास्त्रों में यह भी लिखा है कि जीवन प्रभु है, परमात्मा है।
तो जरूर जीवन और जीवन में थोड़ा भेद है। एक जीवन है जो तुमने अंधे की तरह देखा वह विषवत है; और एक जीवन है तो तुम आंख खोलकर देखोगे, वह अमृत है। एक जीवन है जो तुमने माया, मोह, मद, मत्सर के पर्दे से देखा। और एक जीवन है जो तुम ध्यान और समाधि से देखोगे। जीवन तो वही है। एक जीवन है जो तुमने एक विकृति का चश्मा लगाकर देखा। जीवन तो वही है। चश्मा उतारकर देखोगे तो अमृत को पाओगे। इसी जीवन में परमात्मा को छुपे भी तो लोगों ने देखा। यहां पत्ते-पत्ते में वही है, ऐसा कहनेवाले वचन भी तो शास्त्र में हैं। यहां कण-

68

कण में वही है। यहां सब तरफ वही है। पत्थर-पहाड़ उससे भरे हैं, कोई स्थान उससे खाली नहीं है। वही पास है, वही दूर है। यह भी तो शास्त्र में लिखा है। अब मजा है कि तुम शास्त्र में से भी वही चुन लेते हो, जो तुम चुनना चाहते हो। तुम्हारी बेईमानी हद्द की है। तुम शास्त्रों से भी वही कहलवा लेते हो जो तुम कहना चाहते हो। अभी तुमने पूरा जीवन कहां देखा! अभी कंकड़-पत्थर बीने हैं। जैसे कोई आदमी कुआं खोदता है तो पहले कंकड़-पत्थर हाथ लगते हैं, कूड़ा-कबाड़ हाथ लगता है, कचरा हाथ लगता है; फिर खोदता चला जाये तो धीरे- धीरे अच्छी मिट्टी हाथ लगती है; फिर खोदता चला जाये तो गीली मिट्टी हाथ लगती है; फिर खोदता चला जाये तो जल के स्रोत आ जाते हैं, गंदा जल हाथ लगता है; फिर खोदता चला जाये तो स्वच्छ जल हाथ आ जाता है। ऐसा ही जीवन है। खोदो! तुमने कहा: "जीवन विषवत है।" अभी तुमने ऊपर-ऊपर खोदा है। यह कूड़ा- कर्कट जो लोग फेंक जाते हैं सड़कों पर, वही इकट्ठा है जमीन पर। उसी को खोद लिया, कहने लगे: "जीवन विषवत है।" आ गये घर!
जरा गहरे जाओ।
तुमने कहानी तो पढ़ी है न पुराणों में सागर-मंथन की! पहले विष निकला, फिर अमृत निकला। तुम पढ़ते भी हो, लेकिन अंधे हो। जहां से विष निकला, वहीं से अमृत निकला। पहले विष निकला, फिर अमृत निकला। अंततः अमृत का घट निकला। खोजे जाओ। जीवन तो सागर-मंथन है। विष से ही थककर मत बैठ जाना। नहीं तो जीवन की तुमने अधूरी तस्वीर ले ली, झूठी तस्वीर ले ली। और अगर तुमको जीवन में विष ही मिला, तो फिर परमात्मा को कहां खोजोगे? जीवन के अतिरिक्त और तो कोई स्थान नहीं है। कहां जाओगे? फिर तुम्हारा परमात्मा झूठा होगा। नहीं, खोदो! गहरे खोदो! खोदते जाओ। जब तक अमृत का घट न निकल आये, तब तक खोदते जाना।
सच कहते हैं शास्त्र: जीवन में विष है। और सच कहते हैं शास्त्र: जीवन में अमृत है। लेकिन तुम्हारे जीवन के अनुभव से दोनों का तुम्हें साक्षी बनना है।
अभी तुम जो जीवन जानते हो वहां विष ही विष है। लेकिन उसका कारण जीवन नहीं, उसका कारण तुम्हारी गलत जीवन-दशा है; तुम्हारी गलत चैतन्य की दशा है।
नभ की बिंदिया चंदावाली
भूखी अंगिया फूलोंवाली
सावन की ऋतु झूलोंवाली
फागुन की ऋतु भूलोंवाली
कजरारी पलकें शरमीली
निंदियारी अलकें उरझीली गीतोंवाली गोरी ऊषा
सुधियोंवाली संध्या काली हर चूनर तेरी चूनर है
हर चादर तेरी चादर है
मैं कोई घूंघट छुऊं
तुझे ही बेपरदा कर आता हूं हर दर्पण तेरा दर्पण है। पानी का स्वर रिमझिम-रिमझिम माटी का रुख रुनझुन-रुनझुन बातून जनम की कुनुन-मुनुन खामोश मरण की गुपुन-चुपुन नटखट बचपन की चलाचली
लाचार बुढ़ापे की थमथम
दुख का तीखात्तीखा क्रंदन सुख का मीठा-मीठा गुंजन
हर वाणी तेरी वाणी है
हर वीणा तेरी वीणा है
मैं कोई छेडूं तान

तुझे ही बस आवाज लगाता हूं
हर दर्पण तेरा दर्पण है!
खोजो, थोड़ा गहरा खोजो। तुम अपनी पत्नी में ही विष पाओगे और अपनी पत्नी में ही परमात्मा भी, अमृत भी। तुम अपने ही भीतर विष भी पाओगे और अपने ही भीतर अमृत भी। विष ऊपरी पर्त है। शायद सुरक्षा है। शायद सुरक्षा के लिए है। अमृत भीतर छिपा है; अमृत को सुरक्षा चाहिए। विष सुरक्षा करता है। जैसे देखा न, गुलाब की झाड़ी पर एक फूल और कितने कांटे! कांटे रक्षा करते हैं। कांटे और फूल एक ही स्रोत से आते हैं। कांटों से ही उलझकर रोकर मत लौट आना; अन्यथा गुलाबों से अपरिचित रह गये तो बहुत पछताओगे। कांटे हैं जरूर, निश्चित; मगर जहां कांटे हैं, वहीं छिपे गुलाब के फूल भी हैं। और कांटे केवल रक्षक हैं।
विष है जीवन में बहुत, पर रक्षक है। और जिस दिन तुम ऐसा देखोगे उसी दिन तुम आस्तिक हुए। जिस दिन विष भी रक्षक मालूम हुआ और कांटे भी फूल के मित्र, संगी-साथी मालूम हुए, उसी दिन तुम आस्तिक हुए। उस दिन तुमने परमात्मा को "हां" कहा।

आखिरी प्रश्न: जब कभी परिवार के लोग मेरे सामने मेरी शादी का प्रस्ताव रखते हैं तो अनायास मेरे मुंह से निकलता है कि मेरी शादी तो भगवान रजनीश से हो चुकी है; वे ही मेरे गुरु और सब कुछ हैं। इस पर परिवार के लोग मुझ पर हंसते हैं और कहते हैं: "क्या तुम पागल हो जो ऐसी बातें बोलते हो?" इसे समझाने की अनुकंपा करें!

इसमें समझाने का क्या है? पागल तो तुम हो ही। लेकिन पागल होना शुभ है, सौभाग्य है। सभी पागलपन बुरे नहीं होते और सभी समझदारियां अच्छी नहीं होतीं। कुछ समझदारियां तो सिर्फ अभागे लोगों को ही मिलती हैं और कुछ पागलपन केवल सौभाग्यशीलों को ही...।
अगर तुम मेरे प्रेम में पागल हो तो समझना क्या है? तुम्हारे घर के लोग
भी ठीक कहते हैं। और तुम बिलकुल ठीक हो। तुम्हारे घर के लोग ठीक कहते हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम गलत हो। तुम्हारे घर के लोग ठीक कहते हैं; मगर तुम भी बिलकुल ठीक हो। यह मामला ही पागलपन का है।
सत्य को खोजने समझदार थोड़े ही जाते हैं--समझदार दुकान चलाते हैं, धन कमाते हैं, दिल्ली जाते हैं। समझदार ऐसी उलझनों में नहीं पड़ते हैं। यह तो पागलों के लिए ही यह है।
मीरा ने कहा है: सब लोक-लाज खोई। घर के लोग मीरा के भी, चिंतित हो गये।
जहर इसीलिए तो भेजा कि यह मर ही जाये। क्योंकि घर की बदनामी होने लगी। राजघराने की महिला रास्तों पर नाचने लगी। यह बात घर के लोगों को न जंची। घर के लोगों को कष्ट मालूम होने लगा। यह तो कुल की सारी प्रतिष्ठा गंवा देगी। राह-राह नाचने लगी। साधु-सधुक्कड़ों के साथ बैठने लगी। भीड़-भाड़ में खड़ी हो गई। पर्दा उठ गया। कभी नाचते हुए वस्त्र सरक जाते होंगे। संस्कार, संस्कृति, सभ्यता, सब गंवाने लगी। घर के लोगों ने जहर भेजा होगा, निश्चित भेजा होगा--सिर्फ इसीलिए कि यह उपद्रव मिटे। उनके अहंकार को चोट लगने लगी होगी।
मेरे पास तुम हो, लोक-लाज तो गंवानी ही होगी। जिसने पूछा है, संन्यासी हैं: स्वामी रामकृष्ण भारती। तो संन्यासी का तो अर्थ ही यही होता है कि रंग गये अब तुम पागलपन में। ये गैरिक वस्त्र पागलपन के वस्त्र हैं--सदा से, सनातन से। ये मस्तों के वस्त्र हैं। ये धुनियों के वस्त्र हैं--जिन्होंने संसार से पीठ फेर ली और जिन्होंने कहा, हम प्रभु की यात्रा पर जाते हैं और सब दांव पर लगाने के लिए तत्पर हैं। अब ऐसी कोई बात नहीं है जो परमात्मा मांगेगा और हम इनकार करेंगे। यह पागलपन तो है ही। यह कोई दुकानदारी थोड़े ही है। यह तो जुआ है। यह तो जुआरियों का काम है।
इसमें समझाने की फिक्र मत करो। घर के लोग ठीक ही कहते हैं। हंसना और नाचना और गाना। घर के लोग गलत नहीं कहते। उनके देखने के अपने मापदंड हैं-- शादी करो, नौकरी करो, बच्चे पैदा करो; जो उन्होंने किया वह तुम भी करो। और

तुम भी अपने बच्चों को यही समझाना कि यही समझदारी है और यह पहिया चलाते रहना। तुम बच्चे पैदा करना, बच्चों के लिए जीना। बच्चों को कहना: तुम बच्चे पैदा करो, उनके लिए जीयो। और ऐसा ही चलता रहे। न उनमें से कोई जीया है--तुम्हारे मां-बाप में से; न तुम्हारे मां-बाप के मां-बाप में से कोई जीया है। सब स्थगित कर दिये हैं जीवन को।
तो जब भी कोई इस भीड़ में से जीने के लिए तत्पर होता है, भीड़ को लगता है:
यह पागल हुआ। अरे, कहीं कोई जीता है, कहीं कोई ध्यान करता है! ये बातें शास्त्रों में लिखी हैं, ठीक हैं। शास्त्र पढ़ लो! बहुत हो, पूजा के दो फूल चढ़ा दो! अगर ऐसा कोई मिल जाये और बहुत भाव हो जाये तो झुककर पैर छू लेना और अपने घर आ जाना और भूल जाना। ये बातें पढ़ने की नहीं हैं।
तुमने देखा, तुम्हारे पड़ोसी के बेटे को अगर संन्यास का पागलपन चढ़ जाये तो तुम भी उसके पैर छूने चले जाते हो; लेकिन तुम्हारा बेटा अगर संन्यासी हो जाये तो बड़े नाराज होते हो।
बचपन में मेरे घर संन्यासियों का आवागमन होता रहता था। मेरे पिता को उनमें रस था। एक संन्यासी आये थे। वह मेरी पहली याद है संन्यासियों के बाबत। मेरे पिता उनके पैर छूने गये, तो मैंने उनसे पूछा कि अगर मैं संन्यास ले लूं तो आप आनंदित होंगे? उन्होंने कहा: "क्या पागलपन की बात है!" तो मैंने कहा: "इस पागल के पैर छूने आप गये! अगर संन्यासी होना पागलपन है तो पागल के पैर छूना...। इसमें कौन-सा तर्क है?" वे थोड़े चौंके। वे थोड़ा सोचने लगे। वे सीधे-सरल आदमी हैं। उन्होंने दूसरे दिन मुझसे कहा कि जरूर इसमें अड़चन है, इसमें असंगति है। मैंने इस पर कभी सोचा नहीं इस भांति। तुम अगर संन्यास लोगे तो मैं बाधा डालूंगा। यह भी तो किसी का बेटा होगा और मैं पैर छूने गया! अगर मेरी निष्ठा सच है तो तुम्हारे संन्यास लेने से मुझे प्रसन्न होना चाहिए। तो यह पैर छूना औपचारिक है; इसमें सचाई नहीं।
दूसरा संन्यासी हो जाये तो तुम प्रसन्न हो। तुम्हारे घर कोई संन्यासी
हो जाये तो अड़चन आती है। मीरा से तुम्हें क्या अड़चन! तुम थोड़े जहर का प्याला भेजते हो; वह तो राणा ने भेजा! तुम तो कहते हो: "मीरा, अरे महाभगत! पहुंची हुई!" राणा से पूछो--पागल! कुल-मर्यादा गंवा दी!
तुम्हारे घर के लोग भी ठीक कहते हैं। वे भी संन्यासी के पैर छूने जाते होंगे और कभी-कभी मीरा की भजन-लहरी सुनकर आनंदित होते होंगे और कहते होंगे: कैसा भावपूर्ण भजन है! लेकिन तुम ऐसा भावपूर्ण भजन गाओगे तो वे पागल कहेंगे। वही मीरा के घर के लोगों ने भी कहा था। सोये हुए लोग हैं। न उन्होंने अपना जीवन जीया है, न उन्हें पता है कि कोई और भी जीवन जी सकता है। जैसा वे रहे हैं, उसी को वे मानते हैं, रहना समझदारी है। उनसे अन्यथा तुम रहोगे, अड़चन होगी। उस अड़चन को ही जाहिर करने के लिए वे कहते हैं: तुम पागल हो।
अब उनकी बात सुनकर तुम घबड़ाना मत और तुम कोई व्याख्याएं भी मत खोजो। तुम यह भी मत पूछो कि इसको कैसे समझायें! यह समझाने का काम नहीं। यह समझ के थोड़े बाहर जाने की ही बात है। यह समझ से थोड़े ऊपर है बात। तुम उनसे कह दो कि मैं पागल हूं। तुम इसे स्वीकार कर लो।
छिन-छिन ऐसा लगे कि कोई
बिना रंग के खेले होली
यूं मदमाये प्राण कि जैसे
नई बहू की चंदन डोली
जेठ लगे सावन मन भावन
और दुपहरी सांझ बसंती
ऐसा मौसम फिरा, धूल का
ढेला एक रतन लगता है।

तुम्हें देख क्या लिया कि कोई सूरत दिखती नहीं पराई
तुमने क्या छू दिया बन गई महाकाव्य गीली चौपाई

कौन करे अब मठ में पूजा
कौन फिराये हाथ सुमिरनी
जीना हमें भजन लगता है
मरना हमें हवन लगता है।
तुम्हें चूमने का गुनाह कर ऐसा पुण्य कर गई माटी
जनम-जनम के लिए हरी
हो गई प्राण की बंजर घाटी
पाप-पुण्य की बात न छेड़ो
स्वर्ग-नरक की करो न चर्चा
याद किसी की मन में हो तो
मगहर वृंदावन लगता है।
तुम्हारे जीवन में एक स्पर्श हुआ है, तुमने हिम्मत की है। एक किरण तुम्हें छू गई है। तुम्हारे जीवन में वृंदावन उतर रहा है। तुम पागल होने के लिए तैयार रहो और तुम स्वीकार कर लो कि मैं पागल हूं। इस स्वीकृति से तुम्हें भी लाभ होगा; तुम्हारे परिवार के लोगों को भी लाभ होगा।
तुम समझाने को कोशिश मत करना कि मैं सूझदार हूं। समझदार तुम हो ही नहीं। समझदार होते तो संन्यासी बनते? समझदार दुकानें चलाते, धन कमाते, दिल्ली जाते, पदों पर होते, राजनीति करते। समझदार संन्यासी बनते? यह तो थोड़े-से पागलों का काम है।
लेकिन तुम सौभाग्यशाली हो। समझदार अभागे हैं; क्योंकि एक दिन पाते हैं दुकान तो खूब चली, लेकिन खुद चुक गये; एक दिन पाते हैं पद तो मिला, खुद खो गये; एक दिन पाते हैं धन तो जुड़ गया, लेकिन परम धन नहीं जुड़ पाया। एक दिन मौत आती है, दिल्ली छिन जाती है; मरघट ही हाथ लगता है। खाली हाथ आते, खाली हाथ जाते--क्या उनको समझदार कहो! लेकिन संख्या उनकी ज्यादा है। और निश्चित, संख्या जिनकी ज्यादा है वे अपने को समझदार कहेंगे; उनके पास संख्या का बल है।
बुद्ध भी नासमझ समझे गये। इसलिए तो अब भी हम बुद्ध के नाम पर एक गाली चलाते हैं: बुद्धू! बुद्ध को लोगों ने बुद्धू समझा। यह बुद्धू शब्द बुद्ध से बना। लोगों ने कहा: "यह भी क्या बात हुई! राजमहल छोड़ा, धन-द्वार, साम्राज्य, सुंदर पत्नी, सब छोड़ा। यह आदमी कैसा है!" फिर इस तरह और लोग भी जाने लगे तो लोग कहने लगे: "ये बुद्धू हुए जा रहे हैं! ये भी बुद्धू हुए अब!" ऐसे तुम्हें याद भी भूल गई कि "बुद्धू" शब्द बुद्ध से बना।
लेकिन सदा से ऐसा हुआ है। जो सत्य की खोज में गया है, इस भीड़ में निश्चित ही उसे पागल समझा गया है। यह स्वाभाविक है। तुम भीड़ से सन्मान पाने की आशा मत करो। तुमने अगर यह चाहा कि भीड़ तुम्हें समझदार कहे तो एक बात खयाल में रख लो: मेरे संन्यासी मत बनो, फिर तुम और तरह के संन्यासी बनो! जैन संन्यासी बन जाओ, हिंदू संन्यासी बन जाओ! तो भीड़ तुम्हें कम पागल कहेगी; आदर भी देगी। क्योंकि जैन संन्यासी ने संन्यास तो कभी का छोड़ दिया है; वह तो भीड़ की पूजा लेने में ही तल्लीन है। उसने भीतर के अंतर्जगत को तो कभी का छोड़ दिया है; वह तो बाहर की औपचारिकता ही पूरी कर रहा है।
एक महिला मेरे पास आयी--जैन है। उसने कहा: "मेरे पति को आप छुटकारा दें। आपने संन्यास दे दिया! अगर संन्यास ही लेना है तो वे जैन धर्म का संन्यास लें। यह कोई संन्यास है--आपका संन्यास! यह तो झंझट हो गई! संन्यासी होकर और घर में रह रहे हैं, यह कैसे हो सकता है! वह रो रही थी और मुझसे कहने लगी कि आप उनका संन्यास से छुटकारा करवा लें, इतनी मुझ पर कृपा करें! मैंने कहा कि तुझे तो खुश होना चाहिए; अगर जैन संन्यासी होते तो घर से चले जाते। वह कहती है: "उसके लिए मैं राजी हूं। वे घर से चले जायें, उसके लिए मैं राजी हूं। मैं सम्हाल लूंगी बच्चों को। उसकी चिंता नहीं है।"
पति खो जाये, इसकी चिंता नहीं है। घर पर मुसीबत आयेगी, उसकी चिंता नहीं। लेकिन लोक-सम्मत होगा। समाज को स्वीकृत होगा। लोग आकर समादर तो करेंगे कि धन्यभाग, तेरे पति मुनि हो गये! तूने किन जन्मों में कैसे पुण्य किये थे!

रोयेगी भीतर, परेशान होगी; क्योंकि बच्चों को पढ़ाना है, पैसे का इंतजाम करना है, वह सब परेशानी होगी। लेकिन झेलने योग्य है परेशानी; अहंकार तो तृप्त होगा। अब वह मुझसे कहती है: यह आपका संन्यास तो झंझट है। और लोग आकर मुझसे कहने लगे कि तेरे पति का दिमाग खराब हो गया, पागल हो गया! अरे बचा! अभी मौका है, अभी खींच ले हाथ, नहीं तो गड़बड़ हो जायेगा।
पति छोड़ने को वह राजी है; लेकिन पति पागल समझे जायें, इसके लिए राजी नहीं है। जैन मुनि के होने का तो मतलब होगा कि पति मर गये; वह विधवा हो गई। उसके लिए राजी है!
तुम जरा सोचो, आदमी का मन कैसे अहंकार से चलता है। मेरे संन्यासी का
तो अर्थ स्वाभाविक रूप से पागल है। यह तो एक मस्ती है, एक धुन है। और मैं तुम्हें कहता भी नहीं कि तुम समझदार होने की या समझदार सिद्ध करने की चेष्टा करना। तुम इसे स्वीकार कर लेना। तुम आनंद-भाव से स्वीकार कर लेना। तुम स्वयं ही घोषणा कर देना। अच्छा यही है कि तुम स्वयं ही घोषणा कर दो कि मैं पागल हूं।
तुम्हें देख क्या लिया कि कोई
सूरत दिखती नहीं पराई
तुमने क्या छू दिया, बन गई
महाकाव्य गीली चौपाई
कौन करे अब मठ में पूजा
कौन फिराये हाथ सुमिरनी
जीना हमें भजन लगता है,
मरना हमें हवन लगता है!

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
पैंसठवां प्रवचन

जानो और जागो!

अप्रयत्नात् प्रयत्नाद्वा मूढ़ो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः।। २१०।।
शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपंचं निरामयम्।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः।। २११।।
नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढ़ोऽभ्यासरूपिणा।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियंः।। २१२।।
मूढ़ो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्।। २१३।।
निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढ़ाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः।। २१४।।
न शांतिं लभते मूढ़ो यतः शमितुमिच्छति।
धीरस्तत्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः।। २१५।।

पहला सूत्र:
अप्रयत्नात् प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः।।
अष्टावक्र ने कहा, "अज्ञानी पुरुष प्रयत्न अथवा अप्रयत्न से सुख को प्राप्त नहीं होता है। और ज्ञानी पुरुष केवल तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सुखी हो जाता है।"
महत्वपूर्ण सूत्र है। और प्रत्येक साधक को गहराई से समझ लेना जरूरी है। प्राथमिक है। यहां भूल हुई तो फिर आगे भूल होती चली जाती है। यहां भूल न हुई तो आधा काम ठीक हो गया। ठीक प्रारंभ यात्रा का आधा हो जाना है।
यह सूत्र बुनियाद का है। अज्ञानी पुरुष बड़े प्रयत्न करता है सुख को पाने के, पाता है दुख। प्रयत्न करता है सुख के, पाता है दुख। सफल होता जरूर है, सुख को पाने में नहीं, दुख को पाने में सफल हो जाता है। कौन नहीं जाना चाहता स्वर्ग? पहुंच सभी नर्क जाते हैं। चेष्टा सभी स्वर्ग की तरफ करते हैं, अंत में जो फल हाथ में आते हैं वे नर्क के हैं।
इन फलों से तुम परिचित हो। ये फल ही तो तुम्हारे जीवन का सार है। यही
फल तो तुम्हारा विषाद है। चाहा था अमृत और विष मिला। चाहा था प्रेम और घृणा मिली। सपने देखे थे सफलता के और केवल विषाद ही विषाद प्राणों में भरा रह गया है। जीवन के अंत होतेऱ्होते, जीवन के पूरे होतेऱ्होते ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे सारी प्रकृति तुम्हारे विरोध में काम कर रही है। तुम जीत न सकोगे। तुम्हारी हार सुनिश्चित है।
सुख कौन नहीं चाहता? और सुख मिलता किसको है? यह बहुत आश्चर्यजनक है। सभी सुख चाहते हों और कोई भी सुख उपलब्ध न कर पाता हो तो सोचना पड़ेगा, कहीं कोई बड़ी गहरी भूल हो रही है। कुछ ऐसी गहरी भूल हो रही है, बुनियादी भूल हो रही है; एक से नहीं हो रही है, सभी से हो रही है। वह भूल यही है कि सुख को जिसने सोचा कि पा लूंगा, इस सोचने में ही चूक हो गई।
सुख हमारा स्वभाव है। उसे हम लेकर ही पैदा हुए हैं। सुख के बिना हम पैदा ही नहीं हुए हैं। हमारे जन्म के पूर्व से भी सुख की धारा हमारे भीतर बह रही है।
स्वभाव का अर्थ है: जो हमारा है ही।
जैसे आग जलाती, यह उसका स्वभाव, ऐसे सुखी होना चैतन्य का स्वभाव। सच्चिदानंद हमारे भीतर बसा है। भूल यही हो रही है कि हम सोचते हैं, उसे पा लेंगे बाहर। जो भीतर है उसे हम बाहर खोजते हैं। जो मिला ही हुआ है उसे हम सोचते हैं, उपाय करके पा लेंगे। उपाय से ही सब नष्ट हो जाता है। उपाय में हम इतने उलझ जाते हैं कि जो है उसके दर्शन बंद हो जाते हैं।
ऐसा ही समझो कि तुम्हारे सामने ही धन पड़ा हो और तुम्हारी आंखें दूर आकाश में चांदत्तारों में धन को खोज रही हैं। धन सामने पड़ा है लेकिन आंख

तो सामने नहीं पड़ती। आंख तो दूर जा रही है। आंख तो दूर का उपाय कर रही है। तुम दूर की यात्रा पर निकले हो और जिसे तुम खोज रहे हो वह पास है। तुम जिसे प्रयत्न से खोज रहे हो वह स्वभाव से सिद्ध है। सुख किसी को मिलता नहीं। जो प्रयत्न छोड़ देता है, जो दौड़ना छोड़ देता है, जो आंख बंद करके बैठ जाता है, जो थोड़ी देर अपने भीतर रमता है, आत्माराम बनता है; जो कहता है जरा भीतर तो देख लूं, जिसे मैं बाहर खोजने चला हूं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह बाहर हो ही न, और मैं खोजूं और खोजूं, थकूं और हारूं।
तर्क ऐसा है जीवन का कि जब तुम खोजते हो बाहर, और नहीं मिलता तो और जोर
से खोजते हो। स्वभावतः मन में विचार उठते हैं कि शायद मैं पूरे भाव से नहीं खोज रहा हूं, पूरे हृदय से नहीं खोज रहा, पूरी ऊर्जा संलग्न नहीं हो रही है। दौड़ तो रहा हूं लेकिन जितना दौड़ना चाहिए उतना नहीं दौड़ रहा हूं। और बढ़ाओ दौड़ को, और तेज करो।
यह तर्क स्वाभाविक है। अगर दौड़ने से नहीं मिल रहा है तो दौड़ में कहीं कोई कमी होगी। या कि दूसरे लोग ज्यादा बाधा डाल रहे हैं; इसलिए हटाओ बाधाओं को। नष्ट कर दो दूसरों को। जूझ जाओ संघर्ष में। मिटाना पड़े तो मिटा दो दूसरों को, लेकिन अपने सुख को खोज लो। तो एक गलाघोंट प्रतियोगिता शुरू होती है। दूसरे भी उसी नाव में सवार हैं, जिसमें तुम सवार हो। उन्हें भी नहीं मिल रहा। वे भी बड़े नाराज हैं। वे भी सोचते हैं कि तुम शायद बाधा डाल रहे हो। शायद तुम बीच-बीच में आ जाते हो। वे तुम्हें मिटाने में तत्पर हो जाते हैं। इसीलिए जीवन में इतना संघर्ष है, इतना द्वंद्व है, इतनी हिंसा है।
और जब तक तुम भीतर के सुख को न पहचानोगे तब तक अहिंसक न हो सकोगे। कैसे होओगे अहिंसक? पानी छानकर पी लेने से कोई अहिंसक होता? पानी छानकर पी लोगे लेकिन बाजार में दूसरों का खून बिना छाने पी जाओगे। रात भोजन न करोगे इससे कोई अहिंसक होता? ये छोटी-छोटी तरकीबें हैं। किसको धोखा दे रहे हो तुम? समझना होगा कि हिंसा क्यों है?
हिंसा इसलिए है कि मुझे सुख नहीं मिल रहा और मुझे आभास होता है कि तुम बाधा डाल रहे हो। पड़ोसी बाधा डाल रहा है। और बहुत प्रतियोगी हैं। सभी दिल्ली जा रहे हैं। और मैं दिल्ली नहीं पहुंच पा रहा हूं। भीड़ बहुत है। और आगे लोग, पीछे लोग, चारों तरफ लोग। और इतना घमासान मचा है कि जब तक नहीं उठाऊंगा तलवार हाथ में, रास्ता साफ होनेवाला नहीं है। और लगता है कि शायद दूसरे पहुंच गये हैं। तो संघर्ष पैदा होता है, हिंसा पैदा होती है।
हिंसा का मूल है कि जीवन में सुख नहीं मिल रहा है इसलिए हिंसा पैदा होती है। सिर्फ सुखी आदमी हिंसक नहीं होता। क्यों होगा? कोई कारण न रहा। जो चाहिए था मिल गया, फिर हिंसा कैसी!
हिंसा दुखी आदमी का लक्षण है।
इसलिए तुम हिंसा को छोड़कर सुखी न हो सकोगे। तुम सुखी हो जाओ तो हिंसा छूट जायेगी। यह मौलिक दृष्टि है--आधारभूत। तुम सुखी हो जाओ तो संघर्ष छूट गया। अब संघर्ष क्या करना है! सुख तुम्हारे भीतर लहरें ले रहा है--सुख का सरोवर। किसी से झगड़ा नहीं है, इसे तुम लेकर ही आये हो। इसे कोई छीनना चाहे, छीन नहीं सकता। कोई मिटाना चाहे, मिटा नहीं सकता। इसका दूसरे से कुछ लेना- देना ही नहीं है।
तो दूसरा अर्थहीन हो गया। अब तुम जब चाहो तब आंख बंद करो, डुबकी लगा लो। जब चाहो तब तार छेड़ दो और संगीत उठे। जब चाहो तब क्षीरसागर में शय्या पर विश्राम करो। विष्णु बनो।
और भीतर तुम्हारे है। कहीं जाना नहीं है। इंच भर यात्रा नहीं करनी है। यात्रा के कारण खो रहे हो। दौड़ रहे हो इसलिए खो रहे हो। पाना हो तो दौड़ना छोड़ना होगा। जो दौड़ना छोड़ देता है उसी को हम संन्यासी कहते हैं। जो कहता है दूर नहीं है, पास है। जो कहता है, इतना निकट है कि हाथ भी बढ़ाना नहीं पड़ता। हाथ में ही रखा है। आंख ही खोलने की बात है। जरा-सी होश की चिनगारी बस काफी है।
अष्टावक्र कहते हैं, "अज्ञानी पुरुष प्रयत्न या अप्रयत्न से सुख को प्राप्त नहीं होता।"

पहले तो प्रयत्न से सुख को प्राप्त नहीं होता। बहुत दौड़-धूप करता है।
जब प्रयत्न से सुख नहीं मिलता तो अज्ञानी सोचता है, दौड़-धूप बहुत कर ली, मिलता ही नहीं; तो अब अप्रयत्न भी करके देख लें; क्योंकि ज्ञानी कहते हैं, अप्रयत्न से मिलता है।
अज्ञानी फिर भूल कर जाता। अज्ञानी ज्ञानी की भाषा समझने में भूल कर जाता है। क्योंकि अज्ञानी की भूल उसकी दृष्टि में है। तुम उसे सत्य दे दो, वह उसके हाथ में पहुंचते ही असत्य हो जाता है। तुम उसे सोना दे दो, उसने छुआ कि मिट्टी हुआ।
अज्ञानी की मौलिक दृष्टि ऐसी भ्रांत है, ऐसी विकृत है--पहले वह दौड़ता है, भागदौड़ करता है, उससे नहीं मिलता तो वह पूछने लगता है, खोजने लगता है, ज्ञानियों के पास जाता है, बुद्धपुरुषों की शरण बैठता है कि कैसे पा लूं? वहां उसे सुनाई पड़ता है कि प्रयत्न से तो मिलता ही नहीं कभी; अप्रयत्न से मिलता है।
अज्ञानी अप्रयत्न का कैसा अनुवाद करता है वह समझो। अप्रयत्न का अज्ञानी के लिए अनुवाद होता है आलस्य। वह कहता है, तो कुछ नहीं करना? वह करने की भाषा जानता है, दौड़ने की भाषा जानता है। तो वह कहता है, कुछ नहीं करना? कुछ नहीं करने से मिलता है? चलो यह तो अच्छा हुआ। तो चादर ओढ़कर सो जाता है।
ध्यान रखना, न तो दौड़ने से मिलता है न सोने से मिलता है; बिना दौड़े और जागे रहने से मिलता है। ये दोनों बातें खयाल में ले लेना। दौड़ने में जागना बिलकुल आसान है; क्योंकि दौड़ रहे हो, सोओगे कैसे? और सो गये तो दौड़ना छूट जाता है। वह भी आसान है। सो गये तो दौड़ोगे कैसे? अज्ञानी दो रास्ते जानता है: या तो दौड़ता है या सो जाता है। दिन भर दौड़ता है, रात भर सो जाता है। सुबह उठकर फिर दौड़ने लगता है, फिर रात सो जाता है।
ज्ञानी जब कहता है अप्रयत्न, तो वह यह नहीं कह रहा है कि तुम सो जाओ।
वह आलस्य की बात नहीं कह रहा है। अष्टावक्र ने ज्ञानी के लिए बड़ा अनूठा शब्द चुना है: आलस्य शिरोमणि। ज्ञानी को अष्टावक्र कहते हैं आलस्य शिरोमणि, वह आलसियों में शिरोमणि है। लेकिन आलस्य का अर्थ समझ लेना; इसलिए शिरोमणि शब्द जोड़ा है। वह कोई साधारण आलसी नहीं है, तुम जैसा आलसी नहीं है, बड़ा विशिष्ट आलसी है। दौड़ता नहीं, सोता भी नहीं। दौड़ना और सोना तो जुड़े हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो दौड़ेगा वह सोयेगा; जो सोयेगा वह दौड़ेगा। क्योंकि सोकर फिर शक्ति इकट्ठी होगी, करोगे क्या? और दौड़कर शक्ति चुक जायेगी तो सोओगे नहीं तो शक्ति पाओगे कहां?
तो जागना, दौड़ना, सोना जुड़े हैं। इसलिए तुमने देखा? जो आदमी दिन में ठीक-ठीक मेहनत करता है वह रात बड़ी गहरी नींद सोता है। होना तो नहीं चाहिए ऐसा। तर्क के विपरीत है यह बात। गणित के अनुकूल नहीं है। गणित तो यह होना चाहिए कि जिस आदमी ने दिन भर तकिये-गद्दों पर आराम का अभ्यास किया उसको रात गहरी नींद आनी चाहिए। दिन भर अभ्यास किया बेचारे ने, उसको फल मिलना चाहिए। लेकिन जो दिन भर विश्राम करता है, रात सो ही नहीं पाता।
आखिर धनी व्यक्तियों की नींद क्यों खो जाती है? अगर तर्क से जीवन चलता होता तो धनी आदमी को ही नींद आनी चाहिए; गरीब को तो आनी ही नहीं चाहिए। लेकिन जैसे-जैसे कोई धनी होता है वैसे कुछ चीजें खोती हैं, उनमें से एक नींद अनिवार्य रूप से खो जाती है। उसकी कोई जरूरत नहीं रह जाती। नींद तो श्रम का हिस्सा है। दौड़ो, भागो तो नींद। अगर अमरीका सबसे ज्यादा अनिद्रा से पीड़ित है तो कुछ आश्चर्य नहीं। और अगर अमरीका में सबसे ज्यादा ट्रैंक्विलाइजर बिकता है तो भी कुछ आश्चर्य नहीं।
आलस्य अनिवार्य है श्रम के साथ। आलस्य श्रम से विपरीत नहीं है, श्रम
का परिपूरक है।
तो जब ज्ञानी कहता है अप्रयत्न, नो एफर्ट, तो अज्ञानी क्या समझता है? अज्ञानी समझता है, बिलकुल ठीक, तो दौड़ने से नहीं मिलता। और बुद्ध कहते हैं, महावीर कहते हैं, अष्टावक्र कहते हैं, बैठ जाओ, दौड़ छोड़ो। दौड़ छोड़ देता है।
वह तो खुद ही थक गया। दौड़ छोड़ने को तो राजी ही है। वह चादर ओढ़कर सो जाता है।
फिर भी नहीं मिलता।

न तो अज्ञानी को प्रयत्न से मिलता, न अप्रयत्न से मिलता। अज्ञानी को मिलता ही नहीं, क्योंकि अज्ञानी के देखने का ढंग भ्रांत है। तो अज्ञानी ज्ञानी के पास आकर भी गलत व्याख्याएं कर लेता है। कुछ का कुछ समझ लेता है। कहो कुछ, पकड़ कुछ लेता है।
मेरे पास पत्र आ जाते हैं। एक पत्र मेरे पास आया। पत्र लिखनेवाले ने पूछा है कि अष्टावक्र तो कहते हैं, कुछ भी न करो और आप इतना ध्यान करवा रहे हैं। जब कुछ नहीं करना है तो यह ध्यान, नाचना-कूदना, इसकी क्या जरूरत है? अब यह आदमी क्या कह रहा है? यह आदमी यह कह रहा है, जब अप्रयत्न से मिलता है तो चादर दे दो, हम ओढ़कर सो जायें। जब अष्टावक्र कहते हैं, आलस्य शिरोमणि हो जाओ तो अब जरूरत क्या है? ध्यान करने का श्रम कौन उठाये?
फिर तुम भूल कर लिये। पहले प्रयत्न की भूल की, अब अप्रयत्न की भूल की। ज्ञानी की भाषा को बहुत होशपूर्वक सुनना; उसका अनुवाद मत होने देना। तुम अनुवाद मत करना अपनी भाषा में। तुम अपने को तो किनारे रख देना। तुम तो ज्ञानी की भाषा सुनना वैसी ही, जैसी वह कह रहा है--बड़ी समझपूर्वक, बड़ी ईमानदारी से।
एक बात का स्रमण रखना, अपने को मत मिलाना। अपनी भाषा में अनुवाद किया
कि तुम चूक जाओगे। फिर तुम जो भी नतीजे लोगे वे नतीजे तुम्हारे हैं, वे ज्ञानी ने नहीं कहे।
इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, अज्ञानी पुरुष प्रयत्न और अप्रयत्न दोनों
से ही सुख को नहीं पाता है। प्रयत्न में दौड़-धूप रहती है इसलिए चूक जाता है, अप्रयत्न में आलस्य हो जाता है, गहन तंद्रा छा जाती है इसलिए चूक जाता है। दोनों के मध्य में है मार्ग।
आसान है मैंने कहा, दौड़ने में जागना। और आसान है मैंने कहा, सोने में न दौड़ना। दोनों के मध्य मार्ग है। ऐसे जागे रहो जैसा दौड़नेवाला जागता है और ऐसे विश्राम में रहो जैसे सोनेवाला रहता है, तो तुमने ज्ञानी की भाषा समझी। जागे रहो ऐसा, जैसा संसारी--कितनी भागदौड़ में लगा है! और इतने विश्राम में, इतने गहन विश्राम में, जैसा सोया हुआ आदमी। चैतन्य जागा रहे, शरीर सो जाये। मन सो जाये, चैतन्य जागा रहे। चेतना की लौ जरा भी मद्धिम न हो।
इसलिए पतंजलि ने समाधि को सुषुप्ति जैसा कहा है--नींद जैसा। लेकिन ध्यान रखना, नींद नहीं कहा है, नींद जैसा। थोड़ा-सा फर्क है। नींद जैसा कहा है, क्योंकि नींद जैसा ही गहरा विश्राम है समाधि में; लेकिन बिलकुल नींद नहीं कहा है। जागने की किरण मौजूद है।
इसलिए कृष्ण गीता में कहते हैं, "या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।"
जो सबके लिए नींद है वहां भी संयमी जागा हुआ। जहां सब भूत सो गये, जहां
सब सो जाते हैं वहां भी संयमी की चेतना दीये की तरह जलती रहती है। सब तरफ अंधेरा, सब तरफ निद्रा, सब तरफ विश्राम, लेकिन अंतरतम में, गहन प्रकोष्ठ में, गहरे भीतर के मंदिर में दीया जलता रहता। दीया क्षण भर को भी नहीं बुझता।
तो दौड़ो, नहीं पाओगे। सो जाओ, नहीं पाओगे। दौड़ने से जागरण को बचा लो, सोने से विश्राम को बचा लो। जागरण और विश्राम को जोड़ दो तो समाधि बनती है। बुद्ध ने इसीलिए कहा है, मध्य मार्ग है--मज्झिम निकाय। बीच से चलो। न बायें डोलो, न दायें डोलो। न इस अति पर जाओ, न उस अति पर जाओ। अतियों में संसार है, मध्य में निर्वाण है।
अप्रयत्नात् प्रयत्नाद्वा मूढ़ो नाप्नोति निर्वृतिम्।
अभागा है मूढ़। मूढ़ शब्द को भी समझ लेना। मूढ़ का अर्थ बुद्धिहीन नहीं होता, मूढ़ का अर्थ: सोया-सोया आदमी, तंद्रा में डूबा आदमी, मूर्च्छित आदमी।
मूढ़ बुद्धिमान हो सकता है। इसलिए तुम ऐसा मत सोचना कि मूढ़ सदा बुद्धू होता है। मूढ़ बड़ा पंडित हो सकता है। अक्सर तो मूढ़ ही पंडित होते हैं।
शास्त्र का बड़ा ज्ञान हो सकता है मूढ़ को। शब्द का बाहुल्य हो सकता है।
सिद्धांतों का बड़ा तर्कजाल हो सकता है। तर्क-प्रवीण हो सकता है, कुशल हो सकता है विवाद में; लेकिन फिर भी मूढ़, मूढ़ है।

मूढ़ का अर्थ यहां खयाल ले लेना। मूढ़ का अर्थ मनोवैज्ञानिक अर्थों में नहीं है। जिसको मनोवैज्ञानिक इंबेसाइल कहते हैं, वह मतलब नहीं है मूढ़ से। यहां मूढ़ का बड़ा आध्यात्मिक अर्थ है। मूढ़ का आध्यात्मिक अर्थ है: ऐसा आदमी, जो जागा हुआ लगता है लेकिन जागा हुआ है नहीं। आभास देता है कि जानता है, और जानता नहीं। भ्रांति खुद को भी पैदा कर ली है, दूसरों को भी पैदा करवा दी है कि मैं जानता हूं, और जानता नहीं।
मूढ़ का अर्थ है, अहंकारी। अहंकार की शराब पीये बैठा है। मूढ़ का अर्थ है, सोया-सोया; तंद्रिल। चलता है लेकिन होशपूर्वक नहीं। बोलता है लेकिन होशपूर्वक नहीं। सुनता है लेकिन होश पूर्वक नहीं। पढ़ता है लेकिन होशपूर्वक नहीं।
तुमने कभी खयाल किया? तुम कुछ पढ़ रहे हो; पूरा पेज पढ़ गये तब अचानक खयाल आता है कि अरे! पढ़ तो गये, लेकिन एक शब्द भी पकड़ में नहीं आया। पढ़ा तुमने जरूर, आंख शब्दों पर चलती थी। एक-एक शब्द पढ़ लिया। विराम, पूर्णविराम, सब पढ़ लिये। कुछ शब्द छूटा नहीं। लेकिन पेज के अंत पर आकर अचानक तुम्हें खयाल आया, अरे! पढ़ तो लिया लेकिन याद कुछ भी नहीं आता।
क्या हुआ? इस घड़ी तुम मूढ़ थे। मूढ़ता का अर्थ समझा रहा हूं। इस घड़ी तुमने मूढ़ता को ग्रहण कर लिया था। तुम होश में नहीं थे। तुम बेहोश थे। पढ़ भी गये, आंख ने भी काम किया, बुद्धि ने भी काम किया, लेकिन आत्मा के तल पर गहरी मूर्च्छा थी। लगा, कोई देखनेवाला होता तो देखता कि बड़े तल्लीनता से पढ़ रहे हो। लेकिन तुम जानते हो कि तल्लीनता तो दूर, जरा-सा हाथ नहीं लगा है। सब ऐसे बह गया। फिर से पढ़ोगे, तब शायद थोड़ा-बहुत हाथ लगे।
तुमने कभी खयाल किया? चौबीस घंटे गुजर जाते हैं--सुबह होती, सांझ होती, यूं ही उम्र तमाम होती। तुम कभी ऐसा पाते हो कि कभी थोड़ी-बहुत देर के लिए जागते हो कि नहीं? ऐसे सोये-सोये ही चलते रहते हो। बोल भी देते हो, झगड़ भी लेते हो, प्रेम भी कर लेते हो, शादी-विवाह भी कर लेते हो, धन भी कमा लेते हो। ऐसे सब चलता जाता है। लेकिन कभी तुमने होश से सोचा, यही तुम करना चाहते थे? यही करने को तुम आये थे? यही था प्रयोजन? यही थी तुम्हारी नियति?
तो तुम कंधे बिचकाओगे। तुम कहोगे, कुछ पक्का पता नहीं कि इसीलिए आये थे। किसलिए आये थे? कहां जाना था? कहां नहीं जाना था? धन कमाना था कि नहीं कमाना था? क्या कमाना था इसका भी कुछ पता नहीं है। क्या गंवाना था इसका भी कुछ पता नहीं है। क्या गंवा दिया, क्यों गंवा दिया, क्यों कमा लिया, इसका भी कुछ हिसाब-किताब नहीं है। चल पड़े धक्के में। भीड़ जा रही थी, तुम भी चल पड़े।
तुमने कभी देखा? भीड़ एक तरफ भागी जा रही हो तो तुम हजार काम छोड़कर भीड़
के साथ जाने लगते हो। अगर हिंदुओं की भीड़ मस्जिद पर हमला कर रही हो तो तुम भी चल पड़ते हो। तुम हजार काम छोड़ देते हो। तुम्हें कुछ खयाल ही नहीं रहता। जाकर मंदिर को तोड़ देते हो या मस्जिद को जला देते हो। और पीछे अगर कोई तुमसे पूछे कि क्या अकेले तुम ऐसा कर सकते थे? तो तुम कहोगे, अकेला तो मैं नहीं कर सकता था। वह तो भीड़ कर रही थी इसलिए मैं कर गुजरा। वह तो भीड़ ने करवा लिया। तो तुम होश में हो या बेहोश हो?
कोई आदमी गाली दे देता है, और तुम उबल गये; और तुम कुछ कर गुजरे। पीछे अदालत में लोग कहते हैं, हत्यारे भी कहते हैं कि हमने किया नहीं, हो गया। तुमने किया नहीं और हो गया? तो किसने किया? तो हत्यारे कहते हैं, हमारे बावजूद हो गया। होश न रहा। बेहोशी में हो गया। क्रोध आ गया। नशा छा गया क्रोध का और घटना घट गई। करना भी नहीं चाहते थे। उठा लिया पत्थर और इस आदमी के सिर पर मार दिया। सोचा भी नहीं कि यह मर जायेगा।
इसने जो गाली दी है वह क्या इतनी मूल्यवान है कि इसका जीवन ले लो? यह हिसाब-किताब ही न लगाया। असल में यह खयाल ही न था कि यह मर जायेगा। न मारने के लिए पत्थर उठाया था। बस, हो गया। जब मर गया तब तुम घबड़ाये कि यह क्या हो गया? यह मैंने क्या कर लिया? जब हाथ पर खून दिखाई पड़ा।
सौ में से निन्यानबे हत्याएं बेहोशी में होती हैं। हत्यारा वस्तुतः जिम्मेवार नहीं होता। और अगर तुम अपने भीतर गौर से देखोगे तो तुम्हारे भीतर भी यह हत्यारा बैठा हुआ है और कभी भी प्रकट हो सकता है। तुम यह भरोसा

मत करना कि तुमने अभी तक हत्या नहीं की है तो कल नहीं करोगे। तुम भी कर सकते हो। बेहोश आदमी का क्या भरोसा! कुछ भी कर सकता है।
न तुमने प्रेम होश में किया है, न घृणा होश में की है। न मित्र होश में बनाये, न शत्रु होश में बनाये। ऐसी बेहोश अवस्था का नाम मूढ़ता है। महावीर ने इस अवस्था को प्रमाद कहा है, बुद्ध ने मूर्च्छा कहा है, अष्टावक्र मूढ़ता कहते हैं।
मूढ़ जरूरी रूप से अज्ञानी नहीं है। अज्ञानी से मेरा मतलब, पंडित हो सकता है मूढ़, बड़ा ज्ञानी हो सकता है, बड़ा जानकार हो सकता है, बड़ी सूचनाओं का धनी हो सकता है, लेकिन फिर भी मूर्च्छित है।
तत्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः।
"और ज्ञानी पुरुष केवल तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सुखी हो जाता है।" कुछ करता नहीं। न तो प्रयत्न करता है, और न अप्रयत्न करता है; करता ही नहीं। इतना जानकर कि सुख मेरा स्वभाव है, बस इतना निश्चयपूर्वक जानकर, ऐसी जानने की एक किरण मात्र-- तत्वनिश्चयमात्रेण; बस इतनी-सी बात, और ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है।
रिंझाई के संबंध में उल्लेख है--एक जापानी झेन फकीर के--वह एक मंदिर के पास से गुजरता था और मंदिर में बौद्धों का एक सूत्र पढ़ा जा रहा था। ऐसे मंदिर के द्वार से गुजरते हुए, सुबह का समय है, अभी पक्षी गुनगुना रहे, सूरज निकला है, सब तरफ शांति और सब तरफ सौंदर्य दिख रहा है। उस मठ के भीतर होती हुई मंत्रों की गूंज! उसे एक मंत्र सुनाई पड़ गया--ऐसे ही निकलते। सुनने भी नहीं आया था, कहीं और जा रहा था, सुबह घूमने निकला होगा। मंत्र था, जिसका अर्थ था कि "जिसे तुम बाहर खोज रहे हो वह भीतर है।"
साधारण-सी बात। ज्ञानी सदा से कहते रहे हैं, प्रभु का राज्य तुम्हारे भीतर है, आनंद तुम्हारे भीतर है, आत्मा तुम्हारे भीतर है। ऐसा ही सूत्र, कि जिसे तुम बाहर खोज रहे हो वह तुम्हारे भीतर है।
कुछ झटका लगा। जैसे किसी ने नींद में चौंका दिया। ठिठककर खड़ा हो गया। जिसे तुम बाहर खोज रहे हो, तुम्हारे भीतर है? बात तीर की तरह चुभ गई। बात गहरी उतर गई। बात इतनी गहरी उतर गई कि रिंझाई रूपांतरित हो गया। कहते हैं, रिंझाई ज्ञान को उपलब्ध हो गया। समाधि उपलब्ध हो गई।
खोजने भी न गया था। समाधि की कोई चेष्टा भी नहीं थी। सत्य की कोई जिज्ञासा भी नहीं थी। मंदिर से ऐसे ही अनायास गुजरता था। और ये शब्द कोई ऐसे विशिष्ट नहीं हैं। हर मंदिर में ऐसे सूत्र दोहराये जा रहे हैं। और तुम चकित होओगे जानकर, जो पुजारी दोहराता था वह वर्षों से दोहरा रहा था; उसे कुछ भी न हुआ। वह पुजारी ज्ञानी था लेकिन मूढ़ था। वह दोहराता रहा; तोते की तरह दोहराता रहा। जैसे तोता राम-राम, राम-राम रटता रहे। तुम जो सिखा दो वही रटता रहे। इससे तुम यह मत सोचना कि तोता मोक्ष चला जायेगा क्योंकि राम-राम रट रहा है, प्रभुनाम स्मरण कर रहा है।
यह भी हो सकता है--उस दिन हुआ तो नहीं, लेकिन यह हो सकता है--कि मंदिर में कोई पुजारी न रहा हो, ग्रामोफोन रेकॉर्ड लगा हो, और ग्रामोफोन रेकॉर्ड दोहरा रहा हो कि जिसे तुम बाहर खोजते हो वह तुम्हारे भीतर है। ग्रामोफोन रेकॉर्ड को सुनकर भी कोई ज्ञान को उपलब्ध हो सकता है। तुम पर निर्भर है। तुम कितनी प्रज्ञा से सुनते हो। तुम कितने होश से सुनते हो।
उस सुबह की घड़ी में, सूरज की उन किरणों में, जागरण के उस क्षण में अनायास यह व्यक्ति जागा हुआ होगा; होश से भरा हुआ होगा। एक छोटी-सी बात क्रांति बन गई। रिंझाई महाज्ञानी हो गया। वह घर लौटा नहीं। वह मंदिर में जाकर दीक्षित होकर संन्यस्त हो गया। पुजारी ने पूछा भी, कि क्या हुआ है? उसने कहा, बात दिखाई पड़ गई। जिसे मैं बाहर खोजता हूं वह भीतर है। निश्चयमात्रेण!
पुजारी कहने लगा, मैं जीवन भर से पढ़ रहा हूं, मुझे नहीं हुआ और तुम्हें कैसे हो गया? उसने कहा, यह मैं नहीं जानता। तुम किस ढंग से पढ़ रहे हो तुम जानो। लेकिन यह मैंने सुना, मेरी आंख बंद हुई और मैंने देखा कि ऐसा है।
भीतर सुख का सागर लहरें ले रहा है। मैंने कभी देखा नहीं था। दिखाई पड़ गया।
सूत्र बहाना बन गया। सूत्र के बहाने बात हो गई।

रिंझाई जब ज्ञान को उपलब्ध हो गया और रिंझाई का जब खुद बड़ा विस्तार हुआ और हजारों उसके संन्यासी हुए तो उसके मठ में वह सूत्र रोज पढ़ा जाता था, लेकिन फिर ऐसी घटना न घटी। और रिंझाई बड़ा हैरान होता कि इसी सूत्र को पढ़कर...पढ़कर भी नहीं, सुनकर मैं ज्ञान को उपलब्ध हुआ, लोग क्यों चूके जाते हैं?
तुम्हारे ऊपर निर्भर है, कैसे तुम सुनते हो। अगर तुम शांत, जाग्रत, होश से भरे सुन रहे हो तो इसी क्षण घटना घट सकती है। फिर न ध्यान करना है, न तप, न जप। फिर कुछ भी नहीं करना है। फिर तो न करना भी नहीं करना है। फिर तो न प्रयत्न और न अप्रयत्न। जो है उसका बोध पर्याप्त है। तत्वनिश्चयमात्रेण।
वह जो तत्वतः है, वह जो सत्य है, उसका निश्चय मात्र बैठ जाये प्राणों में; हो गई क्रांति, हो गया मूल रूपांतरण।
प्राज्ञो भवति निर्वृतः।
"निश्चय मात्र हो जाने से जो प्रज्ञावान है...।"
मूढ़ के विपरीत प्रज्ञा। मूढ़ के ठीक विपरीत। मूढ़ सोया हुआ; प्रज्ञावान जागा हुआ।
"केवल तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सुखी हो जाता है।"
पाना नहीं है सुख, सिर्फ जानना है। खोजना नहीं है, पहचानना है। कहीं जाना नहीं है, अपने घर आना है। बहुत दूर तुम निकल गये हो अपने से, यही तुम्हारी अड़चन है। जन्मों-जन्मों यात्रा करके तुम बहुत दूर निकल गये हो। लौटो! वापिस आओ!
और यह मत पूछना कि कैसे लौटें। क्योंकि तुम्हें सिर्फ खयाल है कि तुम दूर निकल गये हो। दूर निकल कैसे सकते हो? ऐसे ही जैसे तुम अपने घर में बैठे हो और एक कल्पना उठी कि कलकत्ते चले जायें। चले गये कल्पना में। मगर जा थोड़े ही रहे हो, वस्तुतः थोड़े ही पहुंच गये हो; सिर्फ कल्पना उठी। हो सकता है, कलकत्ते में कलकत्ते के किसी चौरस्ते पर खड़े--स्वप्न में, कल्पना में। अब अगर मैं तुमसे कहूं कि लौट आओ घर अपने तो क्या तुम मुझसे पूछोगे कि कैसे लौटें? कौन-सी ट्रेन पकड़ें? कौन-सा हवाई जहाज पकड़ें? क्योंकि कलकत्ते के चौरस्ते पर खड़े हैं। लौटना, तो कुछ उपाय तो करना होगा।
नहीं, तुम यह सुनकर कि "लौट आओ, लौट आओ घर अपने"--लौट आये, अगर तुमने सुन लिया। तुम यह न पूछोगे, कैसे? क्योंकि गये तुम कभी भी न थे। जाने का सिर्फ आभास है। भ्रांति है संसार। माया है संसार। आभास है कि तुम संसार में हो। तुम हो तो बाहर ही। तुम लाख उपाय करो तो भी संसार में हो नहीं सकते।
"इस संसार में अभ्यास-परायण पुरुष उस आत्मा को नहीं जानते हैं, जो शुद्ध-बुद्ध, प्रिय, पूर्ण प्रपंचरहित और दुखरहित है।"
शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपंचं निरामयम्।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः।।
बड़ी अदभुत बात कहते हैं अष्टावक्र। कि जो अभ्यास में पड़ गये हैं, जो अभ्यास में उलझ गये हैं, वे कभी भी उस शुद्ध-बुद्ध आनंदमयी आत्मा को नहीं जान पाते।
बड़ी आश्चर्य की बात। क्योंकि लोग तो पूछते हैं, क्या अभ्यास करें ताकि आत्मज्ञान हो जाये? और अष्टावक्र कहते हैं:
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः।
जो व्यक्ति अभ्यास में डूब गये हैं वे कभी आत्मा को नहीं जान पाते।
समझना।
अभ्यास का अर्थ ही होता है कुछ, जो तुम नहीं हो, होने की चेष्टा। जो तुम हो उसकी होने की चेष्टा तो नहीं करनी होती न! जो तुम हो वह तो तुम हो ही। अभ्यास तो ऊपर से कुछ ओढ़ने का नाम है। अभ्यास का तो अर्थ ही है विकृति। अभ्यास का तो अर्थ ही है झूठ, धोखा, प्रपंच, पाखंड। अभ्यास का तो अर्थ ही यह है कि तुम कुछ आयोजन से, चेष्टा से अपने ऊपर आरोपित कर रहे हो। जो है वह तो है; उसके अभ्यास की कोई जरूरत नहीं।
गुलाब का फूल अभ्यास तो नहीं करता गुलाब का फूल होने के लिए। न चमेली,
न चंपा, न जूही, कोई भी तो अभ्यास नहीं करता। कोयल कोयल है, कौवा कौवा है।

कौवा अभ्यास थोड़े ही करता कौवा होने के लिए। कोयल अभ्यास तो नहीं करती कोयल होने के लिए। जो है, जैसा है, उसके लिए तो कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता। लेकिन अगर कोई कौवा पागल हो जाये...होते नहीं कौवे पागल; पागलपन सिर्फ आदमियों में होता है। पागलपन की घटना मनुष्य को छोड़कर कहीं और घटती ही नहीं। अगर कोई कौवा पागल हो जाये और कोयल होने की चेष्टा करने लगे तो उपद्रव, अभ्यास करना होगा। तो फिर शीर्षासन लगाना होगा, योगाभ्यास करना होगा, आसन-व्यायाम साधने होंगे। कौवा कोयल होना चाहता है। और यह सब अभ्यास ऊपर ही ऊपर रहेगा, क्योंकि स्वभाव को कोई अभ्यास कभी बदल नहीं सकता। समय पड़ने पर कौवा प्रकट हो जायेगा। अभ्यास कर ले, चला जाये किसी संगीत-विद्यालय में, और वहां धीरे-धीरे अभ्यास करके अपने कंठ को भी साध ले, कोकिलकंठी हो जाये, लेकिन किसी मौके पर, जहां अभ्यास को साधने का खयाल न रहेगा--किसी मौके पर बात गड़बड़ हो जायेगी।
ऐसा है कालिदास के जीवन में उल्लेख कि वे जिस राजा भोज के दरबार में थे, एक महापंडित आया। उस महापंडित को तीस भाषाएं आती थीं। और उसने सम्राट भोज के दरबारियों को चुनौती दी कि अगर कोई मेरी मातृभाषा पहचान ले तो मैं एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएं भेंट करूंगा। और अगर कोई पहचानने में भूल हुई तो एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएं उस व्यक्ति को मुझे भेंट करनी पड़ेंगी।
सम्राट भोज को यह चुनौती बड़ी अखरी। क्या मेरे दरबार में ऐसा कोई भी आदमी नहीं, जो इसकी मातृभाषा पहचान ले? चुनौती स्वीकार कर ली गई। एक के बाद एक दरबारी हारते गये। और भोज बड़ा दुखी होने लगा। अंततः उसने कालिदास से कहा कि कुछ करो। कालिदास ने कहा कि मुझे जरा निरीक्षण करने दो। आदमी गहन अभ्यासी है। जो भाषा बोलता है, ऐसी लगती है कि इसकी मातृभाषा है। वही भूलें करता है, जो सिर्फ मातृभाषा बोलनेवाले लोग करते हैं। उसी ढंग से बोलता है, उसी लहजे में बोलता है, जो मातृभाषावाले बोलते हैं। और सभी भाषाएं! बड?ा मुश्किल है। लेकिन जरा मुझे देखने दो।
ऐसा दो-चार दिन कालिदास उसका निरीक्षण करते रहे। पांचवें दिन सीढ़ियों से उतरता था राजमहल की फिर एक लक्ष मुद्राएं जीतकर और कालिदास ने उसे धक्का दे दिया। राजमहल की सीढ़ियां...धक्का खाया, सीढ़ियों से लौटता हुआ नीचे जा पहुंचा। खड़ा होकर चिल्लाया, नाराज हो गया। कालिदास ने कहा, क्षमा करें, और कोई और उपाय न था। यही आपकी मातृभाषा है।
उस क्षण भूल गया। उस क्षण कौवा प्रकट हो गया। अब जब कोई गाली देता है
तो थोड़े ही किसी दूसरे की भाषा में गाली देता है। गाली देने का मजा ही नहीं दूसरे की भाषा में।
मेरे एक मित्र एक अमरीकन युवती से विवाह कर लिये। वे मुझसे कहने लगे,
दो बातों में बड़ी अड़चन होती है। झगड़ो, तब गड़बड़ होती है; तब मजा नहीं आता। तब तो दिल होता है कि अपनी मातृभाषा में ही...। मगर वह मजा नहीं आता। और या प्रेम की कुछ गहराइयों में उतरो, तब फिर अड़चन हो जाती। जब कोई प्रेम की गहराई हो तब कोई चाहता है उसी भाषा में बोलो, जो तुम्हारी श्वास-श्वास में रम गई है। या जब क्रोध की गहराई हो तब भी। प्रेम में और युद्ध में मातृभाषा। बीच में कोई भी भाषा चल सकती है।
कालिदास ने कहा, और कोई उपाय न था, क्षमा करें। धक्का देना पड़ा। आप को चोट लग गई हो तो माफ करें, लेकिन यही आपकी मातृभाषा है। और वही मातृभाषा थी।
अभ्यास से हम स्वभाव के ऊपर आरोपण करते हैं।
अष्टावक्र कह रहे हैं, स्वभाव में डूब जाना ही सुख है। इसलिए सुख का
तो कोई अभ्यास नहीं हो सकता। तुम जो भी अभ्यास करोगे उससे दुख ही पाओगे।
अभ्यास मात्र दुख लाता है, क्योंकि अभ्यास मात्र पाखंड लाता है। इसलिए बड़ा अदभुत सूत्र है:
आत्मानं तं न जानन्ति।
उन अभागों के लिए क्या कहें! वे कभी आत्मा को नहीं जान पाते।
तत्राभ्यासपरा जनाः।

जिनके जीवन में अभ्यास की बीमारी पकड़ गई। जो अभ्यास के रोग से पीड़ित
हो गये हैं; जो सदा-सदा अभ्यास ही करते रहते हैं, वे झूठे ही होते चले जाते हैं। मुखौटे ही रह जाते हैं उनके पास।
प्रत्यग्चित भौहों के आगे
समझौते, केवल समझौते

भीतर चुभन सुई की, बाहर
संधिपत्र पर पढ़तीं मुसकानें
जिस पर मेरे हस्ताक्षर हैं
कैसे हैं, ईश्वर ही जाने
आंधी से आतंकित चेहरे
गर्दखोर रंगीन मुखौटे

जी होता आकाश-कुसुम को
एक बार बाहों में भर लें
जी होता एकांत क्षणों में अपने को संबोधित कर लें
लेकिन भीड़-भरी गलियां हैं कागल के फूलों के न्यौते

झेल रहा हूं शोभायात्रा में चलते हाथी का जीवन
जिसके माथे मोती की झालर लेकिन अंकुश का शासन
अधजल घट-से छलक रहे हैं
पीठ चढ़े जो सजे कठौते
समझौते, केवल समझौते

प्रत्यग्चित भौहों के आगे
समझौते, केवल समझौते
अभ्यास तुम्हें झूठ कर जाता है। अभ्यास समझौता है पर से; स्व के विपरीत। अभ्यास का अर्थ है, भीतर अगर आंसू हैं तो ओठों पर मुसकान। अभ्यास का अर्थ है, भीतर कुछ, बाहर कुछ। धीरे-धीरे भीतर और बाहर दो अलग दुनिया हो जाती हैं।
मनोवैज्ञानिक इसी को स्क्वीजोफ्रेनिया कहते हैं। आदमी दो हो गया-- भीतर कुछ, बाहर कुछ। दोनों के बीच ऐसी खाई हो गई कि पुल भी नहीं बन सकता; सेतु भी नहीं बन सकता। अपने से ही संबंध छूट जाता है। क्योंकि धीरे-धीरे तुम अपना मौलिक चेहरा तो भूल जाते हो, मुखौटे को ही अपना चेहरा समझ लेते हो। हाथी के दांत दिखाने के और, खाने के और। तुम्हारे जीवन में ऐसी अड़चन हो जाती। तुम स्वाभाविक न रहे, बस वहीं सुख छिन जाता। सुख है स्वभाव की सुगंध।
ये वृक्ष सुखी हैं। क्योंकि गुलाब का फूल कमल होने की चेष्टा नहीं कर रहा। क्योंकि चंपा चंपा है, चमेली चमेली है। कोई किसी के साथ प्रतिस्पर्धा में नहीं है। कोई कुछ और होने का उपाय नहीं कर रहा है। आदमी पागल है। स्वस्थ आदमी खोजना ही कठिन है। स्वस्थ का अर्थ भी समझ लेना। स्वस्थ शब्द बड़ा कीमती है। इसका मतलब है, स्वयं में स्थित। वही स्वस्थ है जो स्वयं में स्थित है। जो स्वभाव में है वही स्वस्थ है। स्वस्थ आदमी खोजना मुश्किल है। घाव पर घाव, समझौते पर समझौते, मुखौटों पर मुखौटे। तुमने कभी गौर किया कि तुम कितने मुखौटे ओढ़े हुए हो! पत्नी के सामने
एक मुखौटा ओढ़ लेते, बेटे के सामने एक, नौकर के सामने और, मालिक के सामने और-- दिन भर बदलते रहते। ऐसे हजारों चेहरे हैं तुम्हारे। अभ्यास ऐसा हो गया है बदलने का कि तुम्हें पता भी नहीं चलता कैसे बदल लेते। चुपचाप बदल लेते।

पति-पत्नी लड़ रहे हैं, कोई मेहमान ने द्वार पर दस्तक दे दी--मुखौटे बदल गये। मेहमान को पता ही न चलेगा। शायदर् ईष्या से भर जाये कि कितना एक-दूसरे को प्रेम करते हैं। मैं कुछ चूक रहा हूं। मेरे जीवन में ऐसी बात नहीं। मेरी पत्नी क्यों नहीं ऐसा प्रेम करती जैसा यह पत्नी कर रही है? उसे पता नहीं कि घड़ी भर पहले, क्षण भर पहले क्या हो रहा था। उसने जब दस्तक दी थी उसके पहले क्या हो रहा था उसे पता नहीं।
दूसरों को हंसते देखकर हरेक को ऐसा लगता है कि शायद मुझसे ज्यादा दुखी आदमी दुनिया में कोई नहीं। क्योंकि तुम्हें अपने भीतर की असलियत पता है, दूसरों को तो सिर्फ तुम्हारा मुखौटा पता है। तुम सबको धोखा दे लो, अपने को कैसे धोखा दे पाओगे? कितना ही दो, लाख करो उपाय, तुम्हारी असलियत बीच-बीच में उभरती रहेगी और बताती रहेगी कि तुम झूठ हो।
और जब तक तुम झूठ हो तब तक तुम दुखी हो। सच होते ही आदमी सुखी होता है; प्रामाणिक होते ही सुखी होता है।
"इस संसार में अभ्यास-परायण पुरुष उस आत्मा को नहीं जानते हैं, जो शुद्ध है, जो बुद्ध है, जो प्रिय है, जो पूर्ण है, जो प्रपंचरहित है और जो दुखरहित है।"
जिसे तुम लेकर आये हो, जिस संपदा को तुम अपने भीतर लिये बैठे हो उस तिजोड़ी को तुमने खोला ही नहीं। तुमने तिजोड़ी के ऊपर और न मालूम क्या-क्या रंग-रोगन चढ़ा दिया। तुमने तिजोड़ी खोली ही नहीं। तुम्हारे रंग-रोगन के कारण यह भी हो सकता है कि अब ताली भी न लगे। तुमने इतना रंग-रोगन कर दिया हो कि ताली का छेद भी बंद हो गया हो। और तुम जिसे खोज रहे हो वह तुम्हारे भीतर बंद है। तुम उसे लेकर आये हो।
यह विरोधाभास लगेगा, लेकिन इसे याद रखना। इस पृथ्वी पर तुम उसी को खोजने के लिए भेजे गये हो, जो तुम्हें मिला ही हुआ है। इस पृथ्वी पर तुम उससे ही परिचित होने आये हो, जो तुम हो। कुछ और होना नहीं है। जो तुम हो उससे ही पहचान बढ़ानी है; उसके ही आंख में आंख डालनी है; उसका ही हाथ में हाथ लेना है; उसका ही आलिंगन करना है।
और तब तुम पाओगे, तुम कभी अशुद्ध हुए ही नहीं। तुम शुद्ध हो। और तुम कभी बुद्ध से क्षण भर नीचे नहीं उतरे। तुम्हारे भीतर की आत्मा परम बुद्ध की स्थिति में है; परम ज्ञानी की स्थिति में है। वहां रसधार बह रही। वहां अमृत बरस रहा। वहां प्रकाश ही प्रकाश है; अंधकार वहां प्रवेश ही नहीं कर पाया। वहां अंधकार प्रवेश कर भी नहीं सकता। तुम महाचैतन्य के स्रोत हो। तुम्हारे भीतर प्रभु विराजमान है--शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, प्रपंचरहित और दुखरहित।
"अज्ञानी पुरुष अभ्यासरूपी कर्म से मोक्ष को नहीं प्राप्त होता है। क्रियारहित ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान के द्वारा मुक्त हुआ स्थित रहता है।" मोक्ष कोई लक्ष्य नहीं है, कोई गंतव्य नहीं है। मोक्ष आगे नहीं है, तुम्हारे पीछे है। मोक्ष को हाथ फैलाकर नहीं खोजना है, मोक्ष को आंख भीतर डालकर खोज लेना है। मोक्ष तुम्हारी गहराई में पड़ा हुआ हीरा है। घूमो तटत्तट, बीनो शंख-सीपी, हीरा न मिलेगा। हीरा तो लगाओगे डुबकी, जाओगे गहरे अपने में, स्व के सागर में, तो पाओगे।
"अज्ञानी पुरुष अभ्यासरूपी कर्म से मोक्ष को नहीं प्राप्त होता...।" नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढ़ोऽभ्यासरूपिणा।
कितना ही करो अभ्यास--जपो, तपो, उपवास करो; कितना ही करो अभ्यास--छोड़ो संसार, त्याग करो, भाग जाओ हिमालय; कितना ही करो अभ्यास, मोक्ष न पाओगे। क्योंकि तुम्हारी मौलिक दृष्टि तो अभी खुली नहीं कि मोक्ष मेरा स्वभाव है। फिर कहां जाना हिमालय? जो यहां नहीं हो सकता, हिमालय पर भी नहीं होगा। और जो यहां हो सकता है, उसके लिए हिमालय जाने की क्या जरूरत है?
धन ने तुम्हें नहीं रोका है। धन क्या रोकेगा? चांदी के ठीकरे क्या रोक सकते हैं? न मकान ने तुम्हें रोका है, न दुकान ने तुम्हें रोका है, न बच्चे, न पत्नी, न पति ने तुम्हें रोका है। कोई दूसरा तुम्हें कैसे रोक सकता है? तुम रुके हो अपनी मूढ़ता से। मूढ़ता तोड़ो। और कहीं मत जाओ, और कुछ मत छोड़ो, सिर्फ मूढ़ता तोड़ो।

और जिस दिन मूढ़ता टूटेगी और तुम अपने भीतर देखोगे परमात्मा को विराजमान, परात्परब्रह्म को विराजमान, उस दिन तुम पाओगे पत्नी में भी वही विराजमान है। तुम्हारे बेटे में भी वही विराजमान है। उस दिन पत्नी पत्नी न रहेगी, यह सच है। पत्नी भी परमात्मा हो जायेगी। उस दिन बेटा, बेटा न रहेगा; वह भी परमात्मा हो जायेगा। उस दिन यह सारा जगत वही हो जाता है जो तुम हो। तुम्हारे रंग में रंग जाता है। और उस दिन जो उत्सव होता है, जो रास रचता है, उस दिन जो आनंद मंगल के गीत गाये जाते हैं, वही मोक्ष है।
मोक्ष का अर्थ है: स्वयं की पहचान।
नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढ़ोऽभ्यासरूपिणा।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्य विक्रियः।।
अष्टावक्र कहते हैं, धन्य हैं वे लोग--धन्यो विज्ञानमात्रेण--जो केवल बोध मात्र से, चैतन्य मात्र से मोक्ष को उपलब्ध हो जाते हैं। जरा भी क्रिया नहीं करते। क्रिया करने की बात ही नहीं है।
क्रिया से तो वही मिलता है जो बाहर है। अक्रिया से वही मिलता है जो भीतर है। अक्रिया आलस्य का नाम नहीं है, याद रखना। अक्रिया से मतलब अकर्मण्यता मत समझ लेना। अक्रिया का अर्थ है, क्रिया की शांत दशा। अक्रिया का अर्थ है, क्रिया की अनुद्विग्न दशा। अक्रिया का अर्थ है, जैसे झील शांत है और लहर नहीं उठती। झील है, लहर नहीं उठती। क्रिया में जो ऊर्जा लगती है, शक्ति लगती है वह तो है, लेकिन झील की तरह भरी, भरपूर, लेकिन तरंग नहीं उठती। वासना की तरंग नहीं है और वासना की दौड़ नहीं है। उस भरी हुई ऊर्जा में तुम्हें पहली बार दर्शन होते हैं।
धन्यो विज्ञानमात्रेण।
उस घड़ी को कहो धन्यता, जब तुम्हें बोधमात्र से परमात्मा से मिलन हो जाता है।
मुक्तस्तिष्ठत्य विक्रियंः।
और मुक्त...मोक्ष को खोजने से थोड़े ही कोई मुक्त होता है। मुक्त यह जान लेता है कि मैं मुक्त हूं। उसकी उदघोषणा हो जाती है।
उपनिषद कहते हैं, "अहं ब्रह्मास्मि": मैं ब्रह्म हूं। मंसूर ने कहा है, अनलहक: मैं सत्य हूं। यह कुछ पाने की बात थोड़े ही है। यह सत्य तो मंसूर था ही; आज पहचाना। यह उपनिषद के ऋषि ने कहा, "अहं ब्रह्मास्मि"--ऐसा थोड़े ही है कि आज हो गये ब्रह्म। जो नहीं थे तो कैसे हो जाते? जो तुम नहीं हो, कभी न हो सकोगे। जो तुम हो वही हो सकोगे। वही हो सकता है। इससे अन्यथा कुछ होता ही नहीं।
अगर तुम देखते हो कि एक दिन बीज फूटा, वृक्ष बना, आम के फल लगे, तो इसका केवल इतना ही अर्थ है कि आम बीज में छिपा ही था; और कुछ अर्थ नहीं है। जो प्रकट हुआ वह मौजूद था। ऐसा नहीं है कि कोई भी बीज बो दो और आम हो जायेगा। आम के ही बीज बोने पड़ेंगे। आम ही बोओगे तो आम मिलेगा।
अगर एक दिन उपनिषद के ऋषि को पता चला, "अहं ब्रह्मास्मि: मैं ब्रह्म हूं;" और एक दिन गौतम सिद्धार्थ को पता चला कि मैं बुद्ध हूं; और एक दिन वर्धमान महावीर को पता चला कि मैं जिन हूं, तो जो आज पता चला है, आज जो फल लगे हैं, वे सदा से मौजूद थे। पहचान हुई। बीज में छिपे थे, प्रकट हुए। गहरे अंधेरे में हीरा पड़ा था, प्रकाश में लाये। बस, इतनी ही बात है।
धन्यो विज्ञानमात्रेण।
"अज्ञानी जैसे ब्रह्म होने की इच्छा करता है, वैसे ही ब्रह्म नहीं हो पाता है।"
इस बात की इच्छा करना कि मैं ब्रह्म हो जाऊं, इस बात की खबर है कि तुम्हें अभी भी अपने ब्रह्म होने का पता नहीं चला। इच्छा ही सबूत है। जैसे कोई पुरुष इच्छा करे कि मैं पुरुष हो जाऊं, तो तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे, तू पागल है। तू पुरुष है। इसकी इच्छा क्या करनी! वह कहे कि मुझे कुछ रास्ता बताओ कि मैं कैसे पुरुष हो जाऊं? तो तुम क्या करोगे ज्यादा से ज्यादा? आईना दिखा सकते हो कि देख आईना।
सदगुरु इतना ही करता है, एक आईना सामने रख देता है।

पुरानी कथा है: एक सिंहनी छलांग लगाती थी। और छलांग के बीच में ही उसको बच्चा हो गया। वह तो छलांग लगाकर चली भी गई एक टीले से दूसरे टीले पर; बच्चा नीचे गिर गया। नीचे भेड़ों की एक कतार गुजरती थी। वह बच्चा भेड़ों में मिल गया। भेड़ों ने उसे पाला, पोसा; बड़ा हुआ। सिंह था तो सिंह ही हुआ, लेकिन अभ्यासवश अपने को भेड़ मानने लगा। अभ्यास तो भेड़ का हुआ। भेड़ों के साथ था। भेड़ों के बीच ही पाया पहले दिन से ही। अन्यथा तो कोई सवाल ही न था। भेड़ों का ही मिमियाना देखकर खुद भी मिमियाना सीख गया। भेड़ों जैसा ही घसर-पसर चलने लगा भीड़ में।
और सिंह तो अकेला चलता है। "सिंहों के नहीं लेहड़े।" कोई सिंहों की भीड़ थोड़े होती है। भेड़ों की भीड़ होती है। भीड़ में तो वही चलते हैं, जो डरपोक हैं। भीड़ में चलते ही इसलिए हैं कि कायर हैं। डर लगता है, अगर मैं हिंदुओं की भीड़ से निकला तो क्या होगा; मुसलमानों की भीड़ से निकला तो क्या होगा? रहे आओ भीड़ में। कम से कम इतने लोग तो साथ हैं। बीस करोड़ हिंदू साथ हैं। हिम्मत रहती है।
संन्यासी वही है, जो भीड़ के बाहर निकलता है। संन्यासी सिंह है। "सिंहों के नहीं लेहड़े।" इसलिए संन्यासी की कोई जात नहीं होती। कबीर ने कहा है, संतों की जात मत पूछना। जात होती ही नहीं संत की कोई। जात तो कायरों की होती। संत की क्या जात?
भेड़ों में गिरा, भेड़ों में बड़ा हुआ। भेड़ों की भाषा सीख ली। भेड़ों की भाषा यानी भय। जरा-सी घबड़ाहट हो जाये, भेड़ें कंप जायें तो वह भी कंपे। फिर एक दिन ऐसा हुआ कि एक सिंह ने भेड़ों पर हमला किया। वह सिंह तो देखकर चकित हो गया। वह तो हमला ही भूल गया, उसने जब भेड़ों के बीच में एक दूसरे सिंह को भागते देखा। और भेड़ें उसके साथ घसर-पसर जा रही हैं। वह सिंह तो भूल ही गया भेड़ों को। उसको तो यह समझ में ही नहीं आया कि यह चमत्कार क्या हो रहा है! वह तो भागा। उसने भेड़ों की तो फिक्र छोड़ दी। बामुश्किल पकड़ पाया इस सिंह को। पकड़ा, तो सिंह मिमियाया, रोने लगा, गिड़गिड़ाने लगा। कहने लगा, छोड़ दो मुझे। मुझे जाने दो। मेरे सब संगी-साथी जा रहे हैं। उसने कहा, नालायक, सुन! ये तेरे संगी-साथी नहीं हैं। तेरा दिमाग फिर गया? तू पागल हो गया? पर वह तो सुने ही नहीं। तो भी उस बूढ़े सिंह ने उसे घसीटा, जबर्दस्ती उसे ले गया नदी के किनारे।
दोनों ने नदी में झांका। और उस बूढ़े सिंह ने कहा कि देख दर्पण में। देख नदी में। अपना चेहरा देख, मेरा चेहरा देख। पहचान! फिर कुछ करना न पड़ा। बड़े डरते-डरते...वह मजबूरी थी। अब यह मानता ही नहीं बूढ़ा सिंह। और ज्यादा झंझट करनी भी ठीक नहीं। उसने देखा। देखा, पाया, हम दोनों तो एक जैसे हैं। तो मैं भेड़ नहीं हूं? एक क्षण में गर्जना हो गई। एक क्षण में ऐसी गर्जना उठी उसके भीतर से, जीवन भर की दबी हुई सिंह की गर्जना--सिंहनाद! पहाड़ कंप गये। बूढ़ा सिंह भी कंप गया। उसने कहा, अरे! इतने जोर से दहाड़ता है? उसने कहा कि जन्म से दहाड़ा ही नहीं। कैसे अभ्यास में पड़ गया! बड़ी कृपा तुम्हारी, जो मुझे जगा दिया।
सदगुरु का इतना ही अर्थ है कि तुम्हें पकड़ ले भेड़ों के झुंड से। तुम बहुत नाराज होओगे। तुम गिड़गिड़ाओगे। तुम कहोगे, यह क्या करते महाराज? छोड़ो मुझे, जाने दो। मैं हिंदू हूं, मैं मुसलमान हूं। मैं ईसाई हूं, मुझे चर्च जाना है--रविवार का दिन! आप कहां ले जाते हो? मुझे जाने दो।
मगर एक बार तुम सदगुरु के चक्कर में पड़ गये तो वह तुम्हें बिना नदी में झुकाये छोड़ेगा नहीं। और एक बार तुमने देख लिया कि जो बुद्ध में है, जो महावीर में है, जो सदगुरु में है, जो अष्टावक्र में है, कृष्ण में है, मोहम्मद में है, जीसस-जरथुस्त्र में है, वही तुममें है--गर्जना निकल जायेगी: "अहं ब्रह्मास्मि।" मैं ब्रह्म हूं। गूंज उठेंगे पहाड़। कंप जायेंगे पहाड़।
तुम भेड़ नहीं हो। भीड़ में हो इसलिए भेड़ मालूम पड़ रहे हो। भीड़ से उठो। भीड़ से जगो। भीड़ ने तुम्हें खूब अभ्यास करवा दिया है। स्वभावतः भीड़ वही अभ्यास करवा सकती है, जो जानती है। भेड़ों का कसूर भी क्या? भेड़ों ने कुछ

जानकर तो कुछ किया नहीं। जो जानती थीं वही सिंह के शावक को भी समझा दिया, करवा दिया।
जो तुम्हारे मां-बाप जानते थे वही तुम्हें सिखा दिया। न वे जानते थे,
न तुम जान पा रहे हो। जो उनके मां-बाप जानते थे, उन्हें सिखा गये थे कि पढ़ते रहना तोते की तरह राम-राम। तो वे भी पढ़ते रहे। वे तुम्हें सिखा गये हैं कि देख, कभी राम-राम मत चूकना; जरूर पढ़ लेना। रोज सुबह उठकर पढ़ लेना; कि सूरज को नमस्कार कर लेना; कि कुंभ मेला भरे तो हो आना। तो करोड़ भेड़ें इकट्ठी...। भीड़ वही तो सिखा सकती है, जो जानती है। भीड़ का कसूर भी क्या?
"अज्ञानी जैसे ब्रह्म होने की इच्छा करता है वैसे ही ब्रह्म नहीं हो पाता।"
इस बात को समझो। यह भी अज्ञान है कि मैं इच्छा करूं कि मुझे ब्रह्म होना है, कि मुझे मुक्त होना है। इस इच्छा में ही एक बात सम्मिलित है कि तुम सोचते हो, तुम मुक्त नहीं हो।
थोड़ा सोचो। वह सिंह जो भेड़ों में खो गया था, पूछने लगता उस बूढ़े सिंह
से कि मुझे भी सिंह होना है, रास्ता बताओ। और वह बता देता उसको रास्ता कि देख बेटा, सिर के बल खड़ा हुआ कर, शीर्षासन किया कर, इससे धीरे-धीरे सिंह हो जायेगा। या रोज बैठकर अभ्यास किया कर, सोचा कर कि मैं सिंह हूं, मैं सिंह हूं। ऐसे धीरे-धीरे सोचने से, अभ्यास करने से, चिंतन-मनन-निदिध्यासन से हो जायेगा।
तो बात चूक जाती। वह सिंह अगर बैठ-बैठकर अभ्यास करता रहता, आसान-व्यायाम इत्यादि करता, और बार-बार सोचता और शास्त्र पढ़ता और दोहराता कि मैं सिंह हूं, और हिम्मत बांधता, तो झूठ अभ्यास होता। सिंह होने की जरूरत नहीं है,
सिंह होने का बोध जगना चाहिए। अभ्यास नहीं, बोध।
धन्यो विज्ञानमात्रेण।
धन्य हैं वे, जो सुनकर जाग जाते हैं। जिन्होंने देखा चेहरा अपना दर्पण में और पहचाना।
मूढ़ो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
यह होने की आकांक्षा ही फिर न होने देगी। तुम जो हो--होना नहीं है, सिर्फ जागना है। इसलिए धार्मिक व्यक्ति मैं उसको नहीं कहता, जो धार्मिक होना चाहता है। पाखंडी हो जायेगा। धार्मिक व्यक्ति मैं उसको कहता हूं जो उसे देख लेता है, जो है। जो होना चाहता है, यह बात ही गलत है। बिकमिंग, भवितुमिच्छति, कुछ होना, यह धार्मिक आदमी का लक्षण नहीं है; बीइंग, जो है, उसे जान लेना। होने की दौड़ संसार है और जो है, उसके प्रति जागना धर्म है। मूढ़ो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्।।
"और धीर पुरुष नहीं चाहता हुआ भी निश्चित ही परब्रह्मस्वरूप को भजनेवाला होता है।"
और धीर पुरुष, बोध को उपलब्ध व्यक्ति, जिसका सिंहनाद हो गया, जिसने अपने वास्तविक चेहरे को पहचान लिया, वह न चाहता हुआ भी...।
बूढ़ा सिंह जब उस युवा सिंह को नदी के तट पर ले गया तो उस युवा सिंह के
मन में सिंह होने की कोई आकांक्षा भी न थी, कोई इच्छा भी न थी। वह तो बचना चाहता था। वह कहता था, बाबा मुझे छोड़ो। मुझे क्यों पकड़े हो? मैं भेड़ हूं। और मैं भेड़ रहना चाहता हूं। और मैं बड़े मजे में हूं। और मेरी कोई आकांक्षा इससे अन्यथा होने की नहीं है। मेरा संसार बड़े सुख से चल रहा है। आप यह क्या कर रहे हैं? मुझे कहां घसीटे ले जा रहे हो? मुझे मेरे परिवार में जाने दो। उसकी कोई इच्छा न थी। वह कुछ होना भी न चाहता था। लेकिन जब अपने वास्तविक चेहरे को देखा झील के दर्पण में, या नदी के पानी में तो क्या करोगे? जब दिखाई पड़ जायेगा सत्य तो कैसे बचोगे? तो उदघोषणा हो गई--"अहं ब्रह्मास्मि।"
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्।

न चाहते हुए भी। जो जाग्रत, थोड़ा-सा भी जाग्रत है, जरा-सी भी किरण जागने की जिसके भीतर उतरी है वह निश्चय ही परब्रह्मस्वरूप का भजनेवाला हो जाता है।
फिर स्वरूपभाक् शब्द को समझना चाहिए। परब्रह्मस्वरूप को भजनेवाला।
भजन शब्द बड़ा अनूठा है। भजन का अर्थ होता है, अविच्छिन्न जो बहे। अविच्छिन्न जो बहे, अखंड जो बहे।
तुम कभी-कभी सुनते हो; धार्मिक पगले कभी-कभी इकट्ठे हो जाते हैं, वे कहते हैं, अखंड भजन, अखंड कीर्तन। और चौबीस घंटे मोहल्ले भर को परेशान कर देते हैं, माइक इत्यादि लगा लेते हैं। न किसी को सोने देते, न खुद सोते। यह नहीं है अखंड।
अखंड भजन किया नहीं जा सकता। क्योंकि तुम जो भी करोगे वह तो खंडित ही होगा। कोई भी क्रिया अखंड नहीं हो सकती; विश्राम तो करना ही होगा।
अभी मैं बोल रहा हूं। तो हर दो शब्दों के बीच में खाली जगह है--खंडन हो गया। तुमने कहा, "राम-राम-राम", तो हर राम के बीच में खाली जगह खंडित हो गई। जब दो राम के बीच में खाली जगह न रह जाये तब भजन। यह तो बड़ा मुश्किल मामला है। फिर तो एक राम दूसरे राम पर चढ़ जायेंगे। यह तो मालगाड़ी के डब्बे जैसा एक्सिडेंट हो गया। यह तो तुम भूल भी न सकोगे, अगर तुम भूलना भी चाहो तो। कितने ही जोर से, कितनी ही त्वरा से बोलो "राम-राम-राम-राम-राम"। इतने जोर से जैसा वाल्मिकी ने बोला कि राम-राम मरा-मरा हो गया। इतने जोर से बोले कि मालगाड़ी के डब्बे सब एक-दूसरे पर चढ़ गये और अस्तव्यस्त हो गया मामला; सीधा- उलटा हो गया।
लेकिन फिर भी कितने ही जोर से बोलो, दो राम के बीच में जगह खाली रहेगी। अखंड तो भजन किया हुआ हो ही नहीं सकता। इसलिए स्वरूपभाक् शब्द का अर्थ समझ लेना।
परमात्मा का भजन तो अखंड तभी हो सकता है, जब तुम्हें यह याद आ जाये कि मैं परमात्मा हूं। बस, फिर अखंड हो गया। फिर सतत हो गया। फिर जागते-उठते- बैठते-सोते भी तुम जानते हो कि मैं परमात्मा हूं।
जब उस सिंह को दिखाई पड़ गया कि मैं सिंह हूं तो अब इसे दोहराना थोड़े ही पड़ेगा कि चौबीस घंटे वह दोहरायेगा कि मैं सिंह हूं। बात हो गई। खतम हो गई बात। उदघोषणा हो गई। अब दोहराने की कोई जरूरत ही नहीं। उसका व्यवहार सिंह का होगा। वही है स्वरूपभाक्। उठेगा-चलेगा सिंह की तरह, बैठेगा सिंह की तरह, सोयेगा सिंह की तरह, देखेगा सिंह की तरह। यह सब होगा अखंड भजन। श्वास लेगा सिंह की तरह। जो कुछ करेगा, सिंह की तरह करेगा। उसका व्यवहार होगा उसका भजन।
वास्तविक धार्मिक व्यक्ति शब्दों से नहीं होता, उसकी जीवन-धारा से। उसकी जीवन-धारा में एक सातत्य है, एक अनिर्वचनीय शांति है, आनंद की एक धारा है, प्रभु की मौजूदगी है। वह बोले तो प्रभु की बात बोलता; न बोले तो उसके मौन में भी प्रभु मौजूद होता। तुम उसे जागते भी पाओगे तो प्रभु को पाओगे।
तुम उसे सोते भी पाओगे तो भी प्रभु को पाओगे।
बुद्ध सोते हुए भी तो बुद्ध ही हैं। उनके सोने में भी बुद्धत्व होगा। आनंद बुद्ध के पास वर्षों रहा, चालीस साल रहा। वह उनका निकट सहचर था, छाया की तरह लगा रहा। रात जिस कमरे में बुद्ध सोते, आनंद वहीं सोता उनकी चिंता में--कभी जरूरत पड़ जाये। वह बड़ा हैरान हुआ। दो-चार वर्ष निरंतर देखने के बाद कभी-कभी...बुद्ध जैसे पुरुष के पास तुम रहो तो कभी ऐसा भी मन होता है, रात जागकर बुद्ध का चेहरा देखूं। तो कभी वह जागकर बैठ जाता, रात सोये बुद्ध को देखता। वैसी अनिर्वचनीय शांति!
तुम्हें तो कोई रात अगर सोते में भी देखे तो कहां शांति? अल्लबल्ल बकोगे, मुंह बिचकाओगे, करवटें लोगे, हाथ-पैर पटकोगे, शोरगुल मचाओगे, कुछ न कुछ करोगे। वह दिन भर की जो बेचैनी है, वह दिन भर की जो आपाधापी है, वह एकदम थोड़े ही छोड़ देगी। वह नींद में भी साथ रहेगी। भजन चलेगा। रात में रुपये गिनोगे। निन्यानबे का चक्कर जारी रहेगा। फेर ऐसे थोड़े ही छूटता है कि तुमने बस आंख बंद कर ली और सो गये तो फेर छूट गया। फिर दुकान पर बैठोगे रात में। फिर कपड़ा बेचोगे।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रात अपनी चादर फाड़ दिया। और जब पत्नी ने कहा कि
यह क्या कर रहे हो...यह क्या कर रहे हो? तो उसने कहा, तू बीच में मत बोल। अब दुकान पर भी आना शुरू कर दिया? तब उसकी नींद खुली। वह किसी ग्राहक को कपड़ा बेच रहा था।
दुकान दिन भर चलती है, रात भी चलेगी। भेड़ अगर दिन में हो तो रात में भी भेड़ रहोगे। संसार का भजन चलेगा। सिंह अगर दिन में हो तो रात भी सिंह ही रहोगे। तब सिंहत्व का भजन चलेगा। तुम जो हो वह तुम्हारे जागने में भी प्रकट होगा और नींद में भी।
आनंद कभी-कभी बैठ जाता और बुद्ध को सोया देखता और परम उल्लास से भर जाता। उनकी गहरी निद्रा! और फिर भी निद्रा में ऐसा शांत भाव कि कहीं भी मूर्च्छा नहीं। बुद्ध जैसे सोते वैसे ही सोये रहते रात भर--उसी करवट। जहां हाथ रख लेते वहीं हाथ रहता। रात भर बदलते न। जहां पैर रख लेते वहीं रखा रहता। आनंद बहुत हैरान हुआ कि क्या रात में भी खयाल रखते हैं कि पैर हिलाना नहीं है, हाथ हिलाना नहीं? दिन में खैर होश से बैठते हैं, रात...? आखिर उससे न रहा गया। उसने कहा, मुझे पूछना नहीं चाहिए। पहली तो बात यह, मुझे देखना ही नहीं चाहिए था, यह तो आपकी निजी बात है। लेकिन मुझसे भूल तो हो गई कि मैं कई रातें जागकर देखता रहा। और आपके उस सौंदर्य को देखना रात, बड़ा अदभुत था। एक प्रश्न मन में उठता बार-बार कि क्या आप रात भी होश रखते हैं?
तो बुद्ध ने कहा, सागर को कहीं से भी चखो, खारा पाओगे। बुद्ध को कहीं
से भी चखो, बुद्धत्व पाओगे। सोते में भी बुद्धत्व कहां जायेगा? होश कहां जायेगा? दीया जलता रहेगा।
यह हुआ स्वरूपभाक्। यह हुआ स्वरूप का भजन।
बुद्ध रात सपने में भी हिंसा नहीं करेंगे। तुम दिन में भी हिंसा करोगे। तुम रात में भी हिंसा करोगे। असल में दिन में जो-जो हिंसायें बच जायेंगी, न कर पाओगे, वह रात में करोगे। बचा-खुचा रात निपटाना पड़ेगा न! हिसाब-किताब तो पूरा करना पड़ता है। खाते-बही तो सब ठीक रखने पड़ते हैं। दिन में किसी को चांटा मारा, दिल तो गर्दन काट देने का था। चांटा मारा, क्योंकि समझौते करने पड़ते हैं। ऐसे गर्दन रोज काटोगे तो अपनी भी ज्यादा देर बचेगी नहीं। मगर रात सपने में तो कोई कानून नहीं है, कोई बाधा नहीं है। रात सपने में तो गर्दन काट सकते हो; तो काट दोगे।
तुम अपने सपनों को देखना। वह तुम्हारे दिन का ही बचा-खुचा है। जो दिन में नहीं कर पाये वह तुम रात में करोगे। बुद्ध को तो कुछ करने को बचा नहीं है। दिन में ही कुछ नहीं कर रहे हैं तो रात में करने को कुछ बचता नहीं। दिन में भी खाली, रात में भी खाली।
सागर को कहीं से भी चखोगे, खारा ही पाओगे, बुद्ध कहते हैं। मुझे कहीं
से चखोगे, बुद्धत्व ही पाओगे, बुद्ध कहते हैं।
रात बुद्ध को सपने नहीं आते। सपने तो उन्हीं को आते हैं जो वासना में जीते हैं। सपने तो उन्हीं को आते हैं जो भविष्य में जीते हैं। सपने तो उन्हीं को आते हैं जो बिकमिंग--भवितुमिच्छति। जो कहते हैं यह होना है, यह होना है, ऐसा होना है, वैसा होना है; जिनको होने का पागलपन सवार है; जिनको बुखार सवार है--कुछ होकर रहना है--दिल्ली पहुंचना, कि राष्ट्रपति होना, कि प्रधानमंत्री होना। दिन में नहीं हो पाते। दिन में सभी तो नहीं हो पाते। अच्छा ही है। एकाध ही प्रधानमंत्री के होने से काफी उपद्रव होता है; सभी हो जायें तो बड़ी मुश्किल हो जाये। बाकी नींद में हो जाते हैं। बड़ी कृपा है।
दो आदमी चुनाव में खड़े हुए थे। मैंने मुल्ला से पूछा, किसको वोट देने
के इरादे हैं? उसने कहा, बस एक ही सौभाग्य है कि दो में से एक ही जीत सकता है। और तो सब दुर्भाग्य ही है। मगर एक ही सौभाग्य की बात है कि दो में से एक ही जीत सकता है। दोनों जीत जाते तो दोहरी मुश्किल होती। दोनों शैतान हैं। अब कम जो शैतान है उसको वोट दे देंगे। मगर एक अच्छा लक्षण है चुनाव का कि एक ही जीतता है। अगर दोनों जीत जाते तो क्या होता?

बहुत सपनों में दिल्ली पहुंचते हैं। कुछ जागे-जागे पहुंच जाते हैं।
जागे-जागे पहुंचते हैं वे भी काफी उपद्रव करते हैं। तुम्हारी राजधानियों में जितने लोग हैं, ये सब पागलखानों में होने चाहिए।
अगर राजधानियों के आसपास दीवालें खड़ी करके पागलखाने का तख्ता लगा दिया जाये, दुनिया बेहतर हो।
ये पागल...! सभी होना चाहते हैं लेकिन। तो जो नहीं हो पाते वे सपनों में
हो जाते हैं। तुम सपनों में वही हो जाते हो जो दिन में नहीं हो पाते। दिन की बेचैनियां, दिन के अधूरे ख्वाब, अधूरी वासनायें, दमित कामनायें, सब सपनों में उभर आती हैं।
ज्ञानी को तो कुछ होना नहीं है। धन्यभागी है ज्ञानी। वह तो जान लिया,
जो है। "जो है" में इतना प्रसन्न है। कुछ और होना नहीं है, अन्यथा की कोई मांग नहीं है। जैसा है तृप्त है, परम तृप्त है। शुद्ध को जान लिया, बुद्ध को जान लिया, प्रिय को जान लिया, पूर्ण को जान लिया, अब और होने को क्या है? उसके सब सपने खो गये। उसकी रात स्वप्नशून्य है। उसके दिन कामनाशून्य हैं। उसके भीतर एक ही भजन चलता।
ऐसा भी नहीं है कि वह शब्द दोहराता है। बुद्धपुरुष कहीं दोहराते हैं "राम-राम राम-राम"? ये तो तोतों की बातें हैं। लेकिन जो अहर्निश नाद चल रहा है भीतर, वह जो ओंकार चल रहा है भीतर, वह दोहराना थोड़े ही पड़ता है! वह जो वीणा बज रही भीतर प्राणों की; वह जो प्रभु गीत गा रहा है भीतर, वह जो तुम्हारे प्राणों का प्राण है वह तो चलता है, अपने से चलता है।
इसीलिए तो उसको हम ओंकार नाद कहते हैं, अनाहत नाद कहते हैं। वह तुम्हारे पैदा किये नहीं पैदा होता, तुम जब कुछ भी पैदा नहीं करते, तब सुनाई पड़ता है। अहर्निश चल रहा है। स्वरूपभाक्!
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्।
"आधाररहित और दुराग्रही मूढ़ पुरुष संसार के पोषण करनेवाले हैं। इस अनर्थ के मूल संसार का मूलोच्छेद ज्ञानियों द्वारा किया गया है।"
ज्ञानी वही है जो स्वरूप को उपलब्ध हो गया; जिसने अपने भीतर की नैसर्गिक प्रकृति को पा लिया। जैसे कोयल प्राकृतिक है और गुलाब। और जैसे कमल प्राकृतिक है और यह पक्षियों की चहचहाहट। जिस दिन तुम भी अपने स्वरूप में हो जाते हो उस दिन ज्ञान।
शहरों के छोड़कर मुहावरे
आओ हम जंगल की भाषाएं बोलें
जिसमें हैं चिड़ियों के धारदार गीत
खरगोशों का भोलापन
कोंपल की सुर्ख पसलियों में
दुबका बैठा फूलों जैसा कोमल मन कम से कम एक बार और सही
हम आदिम गंधों के हो लें
पेड़ों से पेड़ों का गहरा भाईचारा उकडूं बैठे हुए पहाड़
जेठ की अगिनगाथा पर छा जानेवाला
पोर-पोर हरियल आषाढ़
बंद हो गई हैं जो छंदों की
जंग लगी खिड़की हम खोलें
शहरों के छोड़कर मुहावरे
आओ हम जंगल की भाषाएं बोलें
ज्ञानी अपने स्वभाव की भाषा बोलता है। वही उसका भजन है। वह फिर जंगल
का हुआ। वह फिर परमात्मा का हुआ, वह फिर प्रकृति का हुआ। अब अभ्यास गया सब। गये पाखंड, गये मुखौटे, गये समझौते। अब नहीं ओढ़ता ऊपर की बातें। अब तो भीतर को बहने देता।
निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढ़ाः संसारपोषकाः।
और जो दुराग्रही हैं, मूढ़ हैं, और जिनके पास कुछ आधार भी नहीं, फिर भी अपनी मान्यताओं को पकड़े रहते हैं अहंकार के कारण।

"आधाररहित और दुराग्रही मूढ़ पुरुष संसार के पोषण करनेवाले हैं।"
तुमने कभी खयाल किया, तुम जिन धारणाओं को पकड़े हो, सिवाय अहंकार के और क्या है? तुम्हें पता है? तुमने जाना है? तुमने अनुभव किया है? तुमसे कोई पूछता है, ईश्वर है? और तुम धड़ल्ले से कह देते हो, हां। तुमने कभी जाना? तुम्हारा ईश्वर से कुछ मिलना हुआ? कभी किसी सुबह ईश्वर के हाथ में हाथ डालकर बैठे हो? किन्हीं आंखों में ईश्वर दिखाई पड़ा? कहीं उसकी छाया भी तुम्हारे आसपास से गुजरी?
कुछ पता नहीं है। मगर लड़ने-मरने को तैयार हो जाओगे।
कोई कहता है, नहीं है। उसको भी कुछ पता नहीं है। सुनी-सुनी बातें मत दोहराओ। गुनो; अनुभव करो। आग्रह मत दोहराओ, निराग्रही बनो। आधाररहित बातें हैं ये। क्योंकि एक ही आधार है जीवन में--अनुभव; और कोई आधार नहीं। जो तुमने जाना, बस उतना ही कहो। जो तुमने नहीं जाना, कहो मुझे पता नहीं है। इतनी तो ईमानदारी बरतो। कम से कम इतने बड़े झूठ तो मत बोलो। छोटे-मोटे झूठ बोलो, चलेगा। छोटे-मोटे झूठों से कुछ बड़ा फर्क नहीं पड़ता। लेकिन तुम बड़े- बड़े झूठ बोल रहे हो।
और बड़ा मजा यह है, जो छोटे-छोटे झूठों को इंकार करवा रहे हैं, वे तुम्हें बड़े-बड? झूठ सिखला रहे हैं। मंदिर का पुजारी है, पंडित है, ज्ञानी है, मुनि है, साधु है, वे कहते हैं, झूठ छोड़ो; और तुमसे कहते हैं, ईश्वर को मानो। तुम्हारा अनुभव नहीं है। तो तुम कैसे मानो? तुमने जाना नहीं है तो तुम कैसे मानो? तुम इतना ही कहो कि जानूंगा तो मानूंगा। पहले कैसे मान लूं?
यह नहीं कह रहा हूं मैं, कि तुम कहो कि मैं नहीं मानता हूं। क्योंकि वह
भी मानना हो गया। विपरीत मानना हो गया। इतना ही कहो कि मुझे पता नहीं। खुले रहो। द्वार-दरवाजा खुला रखो। "नहीं" में भी दरवाजा बंद हो जाता है। नास्तिक भी बंद, आस्तिक भी बंद।
धार्मिक मैं उसको कहता हूं, जिसका दरवाजा खुला है। जो कहता है, मेरा कोई आग्रह नहीं, ईश्वर होगा। द्वार मैंने खुले रखे हैं, तुम आना। मैं पलक-पांवड़े बिछाये बैठा हूं। तुम नहीं होओगे तो मैं क्या कर सकता हूं? द्वार खुला रहेगा और तुम नहीं आओगे। मैं बाधा न दूंगा। तुम आओगे तो स्वागत करूंगा। तुम हो तो मैं राजी हूं तुम्हारे साथ नाचने को। तुम नहीं हो तो मैं क्या कर सकता हूं? पैदा तो नहीं कर सकता।
"आधाररहित और दुराग्रही मूढ़ पुरुष संसार के पोषण करनेवाले हैं। इस अनर्थ के मूल संसार का मूलोच्छेद ज्ञानियों द्वारा किया गया है।" जिन्होंने जाना है--ज्ञानी--उन्होंने ही समस्त निराधार मान्यताओं, आग्रहों, पक्षपातों का मूलोच्छेद कर दिया है। ये अनर्थ की जड़ें हैं।
काश, दुनिया में लोग अपने अज्ञान को स्वीकार करें और झूठे आग्रह न करें, तो खोज फिर शुरू हो, फिर झरना बहे, फिर हम यात्रा करें, फिर सत्य की...। लेकिन कोई हिंदू बनकर बैठा है, कोई मुसलमान बनकर बैठा है। कोई कुरान पकड़कर बैठा है, कोई गीता पकड़कर बैठा है। न तुम्हारा गीता से कुछ संबंध है, न कुरान से कुछ संबंध है। न तुम कृष्ण को पहचानते, न तुम मोहम्मद को; लेकिन तलवारें निकाल लेते हो।
बड़ा अनर्थ हुआ है। मंदिर-मस्जिद के नाम पर जितने पाप हुए हैं, किसी और चीज के नाम पर नहीं हुए। और पंडित-पुरोहितों ने तुम्हें जितना लड़वाया उतना और किसने लड़वाया? जमीन खून से भरी। और मजा यह है कि भाईचारे की बातें चलती हैं। प्रेम के उपदेश दिये जाते और प्रेम के नाम पर युद्ध पलते। अष्टावक्र बड़ी महत्वपूर्ण बात कहते हैं--
निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढ़ाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थ मूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः।।
वे जो बुद्धपुरुष हैं, जाग्रत, ज्ञानी, उन्होंने इस अनर्थ के मूल को काटा है। उन्होंने कहा है, अनाग्रह; आग्रह नहीं, हठ नहीं, पक्षपात नहीं। खोजी की दृष्टि, खुला मन, खुले द्वार, खुली खिड़कियां, खुले वातायान। आने दो हवाओं को, लाने दो खबर। आने दो सूरज की किरणों को, लाने दो खबर। परमात्मा है। तुम जरा द्वार तो खोलो!

तुम द्वार-दरवाजे बंद किये भीतर बैठे हिंदू-मुसलमान बने, आस्तिक-नास्तिक बने। दरवाजा खोलते ही नहीं। परमात्मा द्वार पर दस्तक देता है तो तुम कहते हो, होगा हवा का झोंका। हवा का झोंका नहीं है; क्योंकि सभी झोंके उसी के हैं। परमात्मा की पगध्वनि सुनाई पड़ती है तो तुम कहते हो, होंगे सूखे पत्ते। हवा खड़खड़ाती होगी।
कोई सूखी पत्तियां नहीं खड़खड़ा रही हैं, क्योंकि सभी पत्ते उसी के हैं--सूखे भी और हरे भी। ये उसके ढंग हैं आने के। कभी सूखे पत्तों की आवाज में आता, कभी हवा के झोंके में आता। कभी बादल की तरह घुमड़ता। कभी वर्षा की तरह बरसता। कभी चांद में, कभी सूरज में, हजार-हजार उपाय से आता। तुम जरा आंख खोलो।
आग्रह मत रखो। सिद्धांतों की आड़ में मत बैठो। सिद्धांतों को फेंको।
दो कौड़ी के हैं सिद्धांत। सत्य को चुनो। और सत्य को चुनने का एक ही उपाय है--अनुभव। अनुभव एकमात्र आधार है, और कोई आधार नहीं। तर्क सिद्ध नहीं कर सकता, सिर्फ अनुभव ही सिद्ध करता है। अनुभव स्वयंसिद्ध है।
"अज्ञानी जैसे शांत होने की इच्छा करता है, वैसे ही वह शांति को नहीं प्राप्त होता है। लेकिन धीरपुरुष तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सर्वदा शांत मनवाला है।"
न शांतिं लभते मूढ़ो यतः शमितुमिच्छति।
शांति की इच्छा से शांति नहीं मिलती। क्योंकि इच्छा मात्र अशांति का कारण है। तो शांति की इच्छा तो हो ही नहीं सकती। यह तो विरोधाभासी इच्छा हो गई।
मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, शांत होना है। मैं उनसे कहता हूं,
जब तक कुछ होना है, शांत न हो सकोगे। होने में ही तो अशांति है। जब कुछ होना है तो कैसे शांत होओगे? खिंचाव रहेगा--कुछ होना है। कल कुछ होना है, परसों कुछ होना है, शांति लानी है। अब तुम शांति के नाम पर अशांत होओगे। तुम बड़े अदभुत हो। अभी धन के नाम पर अशांत थे, बाजार के नाम पर अशांत थे, किसी तरह उससे छुटकारा मिला, अब तुम शांति के नाम पर अशांत होओगे। लेकिन दौड़ जारी है। अब शांति पानी है। पहले धन पाना था, पद पाना था, अब शांति पानी है। तुम महत्वाकांक्षा से कभी छूटोगे या नहीं?
शांत होने का अर्थ है: कुछ नहीं पाना। शांत हो गये। जहां पाना गया वहां शांति आयी। इस दरवाजे से पाना गया, उस दरवाजे से शांति आयी। दोनों साथ-साथ कभी नहीं होते। इस सूत्र पर ध्यान रखना। इस पर खूब ध्यान करना, मनन करना।
न शांतिं लभते मूढ़ो यतः शमितुमिच्छति।
मूढ़ व्यक्ति कभी शांत नहीं हो पाते, क्योंकि वे शांति की कामना करते हैं।
धीरस्तत्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः।
और जो ज्ञानी हैं, धीर हैं, वे तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सर्वदा शांत मनवाले हो जाते हैं।
इस बात को जान लिया कि मांगने में अशांति है। इस बात को जान लिया, दौड़ने में अशांति है। इस बात को जान लिया, होने में अशांति है। फिर अब क्या बचा करने को? इसके जानने में ही दौड़ गिर गई। इस बोध की प्रगाढ़ता में ही होना भस्मीभूत हो गया। अब तुम जो हो, परम तृप्त, शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण, प्रिय। बैठे, चलते, उठते, बैठते, प्रतिक्षण, प्रतिपल तुम जो हो, परम तृप्त। ऐसा घट सकता है मात्र बोध से। सुनना इस महाघोषणा को। ऐसा घटने के लिए कुछ भी करना जरूरी नहीं है, क्योंकि ऐसा घटा ही हुआ है। ऐसा तुम्हारे भीतर का स्वभाव है।
धन्यो विज्ञानमात्रेण।
धन्यभागी बनो। इसी क्षण चाहो...एक पल भी गंवाना आवश्यक नहीं है। अगर तुम पतंजलि को समझो तो जन्मों-जन्मों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अभ्यास बड़ा है। अष्टांगिक योग। फिर एक-एक अंग के बड़े भेद हैं। यम हैं, नियम हैं, आसन हैं, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, फिर समाधि। फिर समाधि में भी सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि, सबीज समाधि, निर्बीज समाधि, तब

कहीं...इस जन्म में तो तुम सोच लो पक्का कि होने वाला नहीं। यम ही न सधेंगे; समाधि-वमाधि तो बहुत दूर है। नियम ही न सधेंगे। इसीलिए तो तुम्हारे तथाकथित योगी ज्यादा से ज्यादा आसनों में अटके रह जाते हैं। उससे आगे नहीं जाते। उससे आगे जायें कैसे? आसान ही नहीं सध पाते पूरे। आसन ही इतने हैं। आसन ही साधते-साधते जिंदगी बीत जाती है। प्राणायाम साधते-साधते जिंदगी बीत जाती है।
फिर यम-नियम कुछ छोटी-मोटी बातें नहीं हैं। अहिंसा साधो, सत्य साधो, अपरिग्रह साधो, अचौर्य साधो, ब्रह्मचर्य साधो--गये! कभी कुछ होनेवाला नहीं है। यह ब्रह्मचर्य ही ले डूबेगा। यह सत्य ही ले डूबेगा। इससे पार तुम निकल ही न पाओगे। यह फैलाव बड़ा है।
अष्टावक्र कहते हैं, इसी क्षण हो सकता। एक क्षण भी प्रतीक्षा अगर करनी पड़ती है तो किसी को दोष मत देना, तुम्हारे कारण ही करनी पड़ती है। जन्मों तक तो प्रतीक्षा का सवाल ही नहीं है; तुम्हें करना हो तो तुम्हारी मौज। हो अभी सकता है।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः।
क्योंकि मुक्ति में जो प्रतिष्ठा है, उसके लिए किसी क्रिया की कोई जरूरत नहीं; सिर्फ समझ, सिर्फ बोध, सिर्फ प्रज्ञान।
इन सूत्रों पर खूब मनन करना, सोचना, उथलना-पुथलना, चबाना, चूसना, पचाना। ये तुम्हारे रक्त-मांस-मज्जा बन जायें तो इससे अदभुत कोई शास्त्र पृथ्वी पर दूसरा नहीं है।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच छियासठवां प्रवचन

अपनी बानी प्रेम की बानी

पहला प्रश्न: चार-पांच वर्षों से आपको सुन रहा हूं। कभी-कभी संन्यास लेने की इच्छा प्रगाढ़ हो जाती है, इसलिए इस बार आपके पास संन्यास लेने के लिए आया हूं। लेकिन जब से घर से निकला हूं तब से शरीर में कंपन और मन में कुछ घबड़ाहट का अनुभव हो रहा है। और मन संन्यास के लिए राजी नहीं मालूम होता। यह क्या है और अब क्या करूं?

मन कैसे राजी होगा संन्यास के लिए? संन्यास तो मन की मृत्यु है। संन्यास तो मन का आत्मघात है। तो मन तो बेचैन हो, यह स्वाभाविक है। मन तो डरे, कंपे, यह स्वाभाविक है। मन तो हजार बाधायें खड़ी करे, यह स्वाभाविक है। मन चुपचाप राजी हो जाये तो चमत्कार है। मन तो छोटी-मोटी बातों में भी राजी नहीं होता, दुविधा-द्वंद्व खड़ा करता है। छोटी-मोटी बातों में, जहां कुछ भी दांव पर नहीं है--यह कपड़ा पहनूं या यह पहनूं; मन वहां भी द्वंद्वग्रस्त हो जाता है। यह करूं या वह करूं, वहां मन डांवाडोल होने लगता है।
मन का स्वभाव दुविधा है। मन की प्रक्रिया दुई को पैदा करना है, द्वैत
को पैदा करना है। जहां मन है वहां द्वंद्व है। मन गया, निर्द्वंद्व हुए। मन गया तब स्वच्छंद हुए।
संन्यास तो पूरा प्रयोग ही है मन को धीरे-धीरे मिटा देने का, पोंछ डालने का, अ-मनी दशा में प्रवेश करने का। तो मन डरता है, कंपता है। मन अपना काम कर रहा है।
पूछते हो, "अब मैं क्या करूं?"
मन की तो बहुत मानकर चले, पहुंचे कहां? मन की ही मानकर तो यह दुर्गति हुई। ये जन्मों-जन्मों के फेरे, यह चक्र जीवन-मरण का, यह फिर-फिर आना और फिर-फिर जाना, यह झूले से लेकर मरघट तक की अंतहीन दौड़, अर्थहीन दौड़, यह सब तो बहुत हुआ। मन को ही मानकर हुआ। अब कब तक मन की मानते रहोगे?
कभी तो जागो। कभी तो मन से कहो कि ठीक, तू अपनी कहता, कह; मैं अपनी करूंगा। अब तो अपनी करो। अब तो थोड़ा मन के पार से कुछ होने दो। थोड़े मन के ऊपर उठो। नहीं तो जीवन ऐसे ही बीत जायेगा। हाथ खाली के खाली रह जायेंगे। स्वप्न झरे फूल से मीत चुभे शूल से
लुट गये सिंगार सभी बाग के बबूल से
और हम खड़े-खड़े बहार देखते रहे
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे
नींद भी खुली न थी कि हाय धूप ढल गई
पांव जब तलक उठे कि जिंदगी फिसल गई पात-पात झर गये कि शाख-शाख जल गई
चाह तो निकल सकी न पर उमर निकल गई
गीत अश्क बन गये छंद हो दफन गये
साथ के सभी दिये धुआं-धुआं पहन गये
और हम झुके-झुके मोड़ पर रुके-रुके
उम्र के चढ़ाव का उतार देखते रहे
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे
जल्दी ही वक्त आ जायेगा। कारवां तो गुजर ही गया है, गुजर ही रहा है, गुबार ही हाथ रह जायेगी। कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे। इसके पहले कि हाथ में सिर्फ गुबार रह जाये, गुजरे हुए कारवां की धूल रह जाये, जागो।

और जागने का एक ही अर्थ होता है: मन की न मानो। मन से लड़ने की भी जरूरत नहीं है, यह भी खयाल रखना। मैं तुमसे कह नहीं रहा कि मन से लड़ो। मैं तो कह रहा हूं सिर्फ मन की न मानो। फर्क है दोनों बातों में; बड़ा गहरा फर्क है। चूके अगर फर्क को समझने में तो भूल हो जायेगी। लड़े मन से तो मन से बाहर कभी

भी न जा सकोगे। मानो मन की, या लड़ो मन से, हर हालत में मन के भीतर रहोगे।
क्योंकि जिससे हम लड़ते हैं उससे दूर नहीं जा सकते।
मित्र से भी पास होते हैं हम शत्रु के। मित्र को तो भूल भी जायें, शत्रु भूलता नहीं। और जिससे तुम लड़ोगे, और जिसकी छाती पर बैठ जाओगे, छोड़कर हटोगे कैसे फिर? हटे तो डर लगेगा, दुश्मन मुक्त हुआ, फिर पछाड़ न दे।
तो जिसने दबाया, जो लड़ा, वह हारा।
लड़ने की नहीं कह रहा हूं। लड़ने की कोई जरूरत भी नहीं है। मालिक अपने गुलाम से लड़ता थोड़े ही! कह देता, "नहीं मानते"; बात खतम हो गई। अब मालिक कुश्तमकुश्ती करे गुलाम से, तो गये! तो तुम मालिक ही न रहे। लड़ने में ही तुमने जाहिर कर दिया कि तुम मालिक नहीं हो। मालिक सुन लेता गुलाम की। कह देता, ठीक, तूने सहायता दी, सुझाव दिया, धन्यवाद। करता अपनी।
तो मन से लड़ना भी मत। नहीं तो शुरू से ही संन्यास विकृत हो जायेगा। मन
से लड़कर लिया तो चूक गये, ले ही न पाये। आये-आये करीब-करीब, चूक गये। किनारे-किनारे आते थे कि फिर किनारा छूट गया। तीर लगते-लगते ही लग नहीं पाया; ठीक जगह पहुंच नहीं पाया।
न तो मन की मानो, न तो मन से हारो और न मन के ऊपर जीतने की कोई चेष्टा करो। मालिक तुम हो। इसकी घोषणा करनी है। लड़कर सिद्ध थोड़े ही करना है! लड़ने में तो तुम जाहिर कर रहे हो कि तुम मालिक नहीं हो, तुम्हें शक है; लड़कर सिद्ध करना पड़ेगा। मालिक तुम हो। स्वभाव से तुम मालिक हो। मन से कह दो, ठीक, पुराना चाकर है तू, तेरी बात सुन लेते हैं। तेरी अब तक सुनी भी, सार कुछ पाया नहीं। अब अपनी करेंगे बिना लड़े, बिना झगड़े।
उतर जाओ संन्यास में। सरक जाओ। अगर न लड़े तो मन ऐसे विदा हो जाता है जैसे था ही नहीं।
चार-पांच वर्षों से सोच रहे हो! और कहते हो, कभी-कभी संन्यास लेने की इच्छा बड़ी प्रगाढ़ भी हो जाती है। तो जब इच्छा प्रगाढ़ भी हो जाती है तब भी चूक-चूक जाते हो? तो जरा उनकी सोचो, जिनकी इच्छा प्रगाढ़ भी नहीं है। अब और क्या करोगे? अब और इससे ज्यादा क्या होगा? इच्छा प्रगाढ़ हो गई, अब इससे ज्यादा और क्या होगा? अगर इच्छा के प्रगाढ़ होने पर भी मन जीत-जीत जाता है तब तो तुम्हारी मुक्ति की कोई संभावना नहीं। अब और ज्यादा क्या होगा?
और अब तो यहां आ भी गये हो यह निर्णय करके कि संन्यास ले लेना है। अब कहते हो कि यहां आ भी गया हूं इस बार तो संन्यास लेने; पर जब से घर से निकला हूं, शरीर कंपता है और मन में कुछ घबड़ाहट अनुभव होती है।
स्वाभाविक। बिलकुल स्वाभाविक। ऐसा न होता तो कुछ गलत होता। इससे चिंता मत बनाओ। शरीर कंपता है, अनजानी बात होने जा रही है। पता नहीं क्या होगा फिर? परिचित-प्रियजन कैसे लेंगे? वही गांव, वे ही लोग! स्वीकार करेंगे, अस्वीकार करेंगे? लोग हंसेंगे कि पागल समझेंगे? लोग विरोध करेंगे, अपमान करेंगे? पत्नी कैसे लेगी? बच्चे कैसे लेंगे? सारी चिंतायें उठती हैं।
नये पर जाते समय चिंतायें स्वाभाविक हैं। पुराना तो परिचित है, उस पर तुम सदा चले हो। उस पर तो तुम रेलगाड़ी के डब्बे की तरह पटरी पर दौड़ते रहे हो यहां से वहां। आज तुम लीक से उतरकर चल रहे, लकीर की फकीरी छोड़ रहे। चिंता उठती है। राजपथ से हटकर पगडंडी पर जा रहे। राजपथ पर भीड़ है। आगे भी, पीछे भी लोग हैं, किनारे-बगल में भी लोग हैं। सब तरफ भीड़ जा रही है; वहां भरोसा है। इतने लोग गलत थोड़े ही जा रहे होंगे।
और मजा यह है कि सभी यही सोच रहे हैं कि इतने लोग गलत थोड़े ही जा रहे होंगे। तुम जिनकी वजह से जा रहे हो वे तुम्हारी वजह से जा रहे हैं। तुम बगलवाले की वजह से चल रहे हो, बगलवाला तुम्हारी वजह से चल रहा है। भीड़ एक-दूसरे को थामे है, और चलती जाती है। जो पीछे हैं वे सोचते हैं, आगेवाले जानते होंगे। जो आगे हैं वे सोचते हैं, इतने लोग पीछे आ रहे हैं, न जानते होते तो आते क्यों? नेता सोचता है अनुयायी जानते होंगे; नहीं तो क्यों आते? अनुयायी सोचते हैं कि नेता जानता होगा, नहीं तो आगे क्यों चलता?
ऐसे एक-दूसरे पर निर्भर भीड़ सरकती जा रही है। कहां जा रही है? क्यों
जा रही है? कुछ भी पता नहीं है।

आज तुम अगर संन्यास लेते हो तो उतरे भीड़ से। भीड़ छोड़ी। भेड़ होना छोड़ा। चले पगडंडी पर। अब न कोई आगे है, अब न कोई पीछे। अब तुम अकेले हो। अकेले में भय लगता। रात होगी, अंधेरी होगी, भटकोगे, क्या होगा? पहुंचोगे, क्या पक्का? इससे कंपन होता। कंपन स्वाभाविक है। कंपन इस बात का लक्षण है कि जीवन में पहली बार नयी दिशा में कदम उठाया है तो कदम थर्राता है। और मन कहता है, यह तो कभी किया न था। यह क्या कर रहे हो?
मन की...ध्यान रखना, मन बड़ा रूढ़िवादी है: आर्थोडाक्स। वह वही करना चाहता है, जो कल भी किया था, परसों भी किया था, पहले भी किया था। मन तो यंत्र है। तुम यंत्र से नया काम करने को कहो तो यंत्र कहेगा, यह क्या कहते हो? मन तो कुशल है उसी को करने में, जो सदा करता रहा है। उसकी लकीर बन गई। उसी लकीर पर चलता रहता है। जरा तुम लकीर से हटे तो मन कहता है, इसमें मैं कुशल नहीं हूं। यह मैंने कभी किया नहीं है, अभ्यास नहीं है। यह तुम क्या करते हो? और अब इतनी उम्र तो गुजर गई, थोड़े दिन और गुजार लो पुराने में ही रहकर, निश्चिंतता से। कहां असुरक्षा में जाते हो? इसलिए मन भी डरता है।
मगर न सुनो तन की, न सुनो मन की। क्योंकि न तुम तन हो और न तुम मन हो। तुम चैतन्य हो। तुम साक्षी हो। यह जिसको पता चल रहा है कि शरीर कंप रहा है, वही हो तुम। शरीर का कंपन नहीं, जिसको बोध हो रहा है कि शरीर कंप रहा है, उस बोध में ही तुम्हारा होना है। जिसे पता चल रहा है कि मन चिंतित हो रहा है, दुविधा में पड़ रहा है: करूं न करूं?
मन नहीं हो तुम। जो इन सबके पीछे खड़ा देख रहा है। तन का कंपना, मन की दुविधा, इन दोनों का जहां अंकन हो रहा है, उस साक्षीभाव में तुम्हारा होना है। और साक्षी बन गये, संन्यासी बन गये।
संन्यासी बनकर करोगे क्या? साक्षी ही तो बनोगे। संन्यास का अर्थ ही इतना है कि अब हम तोड़ते नाता तन से, मन से। जोड़ते नाता उससे, जो दोनों के पार है।
डरो मत। हिम्मत करो। जिन्होंने हिम्मत की उन्होंने पाया है। जो डरे रहे वे किनारे पर ही अटके रहे। वे कभी गहरे सागर में न उतरे। और अगर मोतियों से वंचित रह गये तो कोई और जिम्मेवार नहीं।

दूसरा प्रश्न:
किसी ने माला जपी किसी ने जाम लिया
सहारा जो मिला जिसको उसी को थाम लिया
और अजब हाल था हरसूं नकाब उठने पर
किसी ने दिल को किसी ने जिगर को थाम लिया
भगवान, कृपा कर इस पर कुछ प्रकाश डालें।

सत्य कैसा है, इसकी कोई कल्पना नहीं हो सकती। सत्य कैसा है, अनुभव के पूर्व इसकी कोई धारणा नहीं हो सकती। सत्य कैसा है? किसी शब्द में कभी समाया नहीं और किसी चित्र में कभी आंका नहीं गया। सत्य कैसा है? अपरिभाष्य है, अनिर्वचनीय है।
इसलिए जब सत्य पर पर्दा उठता है तो हिंदू भी रोयेगा, मुसलमान भी रोयेगा। कोई हृदय थाम लेगा, कोई जिगर थाम लेगा। जब सत्य पर पर्दा उठेगा तो जिन्होंने भी मान्यताएं कर रखी थीं, वे सब चौंककर अवाक खड़े रह जायेंगे। क्योंकि वे सभी पायेंगे कि सत्य उनकी किसी की भी मान्यता जैसा नहीं है।
जिन्होंने सोचा था त्रिमुखी है, त्रिमूर्ति है, वे भी खड़े रह जायेंगे। जिन्होंने कोई और रंग-ढंग सोचे थे, वे भी खड़े रह जायेंगे। क्योंकि सत्य जैसा है वैसा कभी कहा ही नहीं गया; कहा नहीं जा सकता। सत्य जैसा है वैसा किसी भी शास्त्र में लिखा नहीं है; लिखा नहीं जा सकता।
सत्य जैसा है वैसा तो जाना ही जाता है बस। गूंगे का गुड़ है। जो जान लेता है वह गूंगे की तरह रह जाता है। कहने की कोशिश भी करता है लेकिन फिर भी कह नहीं पाता। और जो-जो कहता है वह सभी कहने के कारण असत्य हो जाता है। सत्य को कहा नहीं कि असत्य हुआ नहीं। सत्य इतना विराट है, किन्हीं

मुट्ठियों में नहीं बांधा जा सकता। और हमारी धारणाएं मुट्ठियां हैं। और हमारे शब्दजाल, सिद्धांत, शास्त्र मुट्ठियां हैं।
तो हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, ईश्वर को माननेवाले, ईश्वर को न माननेवाले, सभी जिगर थामकर रह जायेंगे, जब पर्दा उठेगा। तब पता चलेगा कि अरे, हम जो मानते रहे, वैसा तो कुछ भी नहीं है। और जैसा है वैसा तो हमारे स्वप्न में भी कभी नहीं उतरा था। जैसा है इसका तो हमें कभी भी अनुमान भी न हुआ था।
और तब वे रोयेंगे भी। क्योंकि अब उन्हें पता चलेगा कि हमारी मान्यताओं ने हमें भटकाया, पहुंचाया नहीं। संप्रदायों ने भटकाया है तुम्हें सत्य से; पहुंचाया नहीं। लेकिन पता तो तभी चलेगा जब सत्य पर से पर्दा उठे। इसके पहले तो तुम एक नींद में हो, एक बेहोशी में चले जा रहे हो। इसके पहले तो तुम जो मानते हो, लगता है ठीक है। जब सत्य से तुम्हारी मान्यता की टकराहट होगी और तुम्हारी मान्यता कांच के टुकड़ों की तरह चूर-चूर हो जायेगी, तब तुम रोओगे कि कितने-कितने जन्मों तक मान्यतायें बांधकर रखीं, संजोकर रखीं। कितनी पूजा, कितनी अर्चना की, कितनी मालायें जपीं, सब व्यर्थ गईं। कितने चिल्लाये "राम-राम," कितना नहीं पुकारा "अल्लाह-अल्लाह!" और अब जो सामने खड़ा है, न अल्लाह है न राम।
महात्मा गांधी के आश्रम में वे भजन गाते थे: अल्लाह-ईश्वर तेरा नाम। न उसका अल्लाह नाम है और न ईश्वर उसका नाम है। उसका कोई नाम नहीं। जब पर्दा उठेगा तब तुम देखोगे, अनाम खड़ा है। न अल्लाह जैसा, न ईश्वर जैसा। न अरबी में लिखा है उसका नाम, न संस्कृत में; अनाम है। न शंकराचार्य की मान्यता जैसा है, न पोप की मान्यता जैसा। किसी की मान्यता जैसा नहीं है। आंख पर जब तक पर्दा पड़ा है तब तक माने रहो, जो मानना है। पर्दा उठते से ही सारी मान्यतायें टूट जायेंगी। सत्य जब नग्न प्रकट होता है तो तुम्हारी सारी धारणाओं को बिखेर जाता है।
ऐसा ही समझो...तुमने जो कहानी सुनी है, पांच अंधे एक हाथी को देखने गये थे। हाथी को छुआ भी; अंधे थे, देख तो सकते न थे, छू-छूकर पहचाना। जिसने पैर छुआ, उसने कहा कि अरे, खंभे की तरह मालूम होता है। उसने एक धारणा बनाई--अंधे की धारणा: खंभे की तरह मालूम होता। जिसने कान छुआ उसने कहा, सूपे की तरह मालूम होता। उसने भी एक धारणा बनाई।
ऐसे वे सभी धारणाएं बनाकर लौट आये। और उनमें बड़ा विवाद हुआ। वे पांचों अंधे बड़े दार्शनिक थे। सभी दार्शनिक अंधे हैं। उन्होंने बड़ा विवाद किया, अपनी-अपनी धारणा के लिए बड़े तर्क जुटाये। और बेचारे गलत भी न कहते थे, क्योंकि जैसा अंधा जान सकता था वैसा उन्होंने जाना था। और एक-दूसरे पर खूब हंसे भी। उन्होंने कहा, यह भी हद मजाक हो गई। मैं खुद देखकर आ रहा हूं। छुआ, सब तरह टटोला, खंभे की तरह है। तू पागल हो गया है? तू कहता है सूप की तरह है? जिसने सूप की तरह अनुभव किया था वह भी हंसा। उसने कहा, तुम्हारा दिमाग फिर गया है या मजाक कर रहे हो?
और उनमें गलत कोई भी न था और सब गलत थे। और उनमें सही कोई भी न था और सब सही थे। यही तो मुश्किल है। सही थे थोड़े-थोड़े।
ध्यान रखना, असत्य से भी ज्यादा खतरनाक होता है थोड़ा-सा सच। थोड़ा सच बड़ा खतरनाक होता है; असत्य से ज्यादा खतरनाक होता है। क्योंकि असत्य पर तो तुम्हें भरोसा भी नहीं आता। तुम खुद भी भीतर जानते हो कि है नहीं ठीक। लेकिन थोड़े सच पर तुम्हें भरोसा होता है। भरोसे की वजह से तुम जोर से पकड़ते हो, तुम लड़ने को तैयार होते हो।
अब कोई इन पांचों की आंख खोल दे। कोई डाक्टर मोदी इनका आपरेशन कर दे,
और ये पांचों आंख खोलकर हाथी को देखें तो क्या होगा? पांचों अपने जिगर को थाम लेंगे। वे कहेंगे, क्षमा करो भाई। बड़ी भूल हो गई। जो जाना था वैसा नहीं है। जो जाना था वह अंश था। और अब जो पूरा जान रहे हैं उसमें अंश तो है, लेकिन पूरा अंश जैसा नहीं है।
इसलिए जितनों ने भी मानकर रखा है उनकी मान्यता में एक छवि का प्रतिफलन हुआ है, छाया पड़ी है, प्रतिध्वनि हुई है। लेकिन जब तुम मूल ध्वनि सुनोगे तब तुम पाओगे, तुमने जो जाना था वह कहीं थोड़े से अंश की तरह मौजूद

है--पर अंश की तरह। और तुम्हारा दावा था कि यही सत्य है, यही पूरा सत्य है। वहीं भूल हो गई।
"किसी ने माला जपी किसी ने जाम लिया
सहारा जो मिला जिसको उसी को थाम लिया
और अजब हाल था हरसूं नकाब उठने पर
किसी ने दिल को, किसी ने जिगर को थाम लिया"
अंधेरे में तुमने जो पकड़ लिया--किसी ने माला और किसी ने जाम; और किसी
ने राम और किसी ने रहीम; और किसी ने कुरान और किसी ने पुराण। तुमने जो पकड़ लिया है अंधेरे में, जब रोशनी होगी तो तुम बड़े तड़फोगे, बड़े रोओगे। और तब तुम्हें बड़ी बेचैनी भी होगी।
इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, कोई धारणा न पकड़ना। कोई धारणा ही न पकड़ना। क्योंकि अगर धारणा पकड़ ली तो पर्दा उठने में कठिनाई हो जायेगी। धारणाएं पर्दे को उठने नहीं देतीं, क्योंकि तुम्हारा न्यस्त स्वार्थ हो जाता है। तुमने जो मान्यता मान रखी है जन्मों से, उसको छोड़ने में बड़ी कठिनाई होती है। इसका अर्थ हुआ कि अब तक तुम मूढ़ थे? यह मानने का मन नहीं होता। अहंकार इसके विपरीत खड़ा होता। मैं और मूढ़? असंभव। इससे बेहतर है अंधा होना। आदमी अंधा होने में बुरा नहीं मानता। एक आदमी अंधा है तो उसे हम कहते हैं, सूरदास। और कोई मूर्ख, कोई मूढ़, उसको तो हम कोई सुंदर नाम नहीं देते। अंधे को सूरदास कहते हैं। मूढ़ को? मूढ़ के लिए हमने कोई सुंदर नाम नहीं चुना। मूढ़ के लिए तो सिर्फ गाली है। ये अहंकार के हिसाब हैं।
आदमी अंधा होना पसंद करेगा बजाय गलत होने के। इसको खयाल रखना। आंख न खोलेगा। क्योंकि आंख खोलने से कहीं ऐसा न हो, जो दिखाई पड़े वह मेरे अब तक के दर्शनशास्त्र को गलत कर जाये। तो फिर मैं मूढ़ सिद्ध हो जाऊंगा। इससे तो सूरदास होना अच्छा है। कम से कम लोग सूरदासजी तो कहते हैं।
तुममें से अधिक ने आंखें बंद कर रखी हैं, मींच रखी हैं। खोलने से डरते हो। शुतुरमुर्गी न्याय! शुतुरमुर्ग दुश्मन को देखकर रेत में अपने मुंह को छिपा लेता है। और जब रेत में उसका मुंह छिप जाता, आंख बंद हो जाती तो वह शांत खड़ा हो जाता है। जब दुश्मन दिखाई नहीं पड़ता तो शुतुरमुर्ग का तर्क है कि होगा नहीं, इसलिए दिखाई नहीं पड़ता।
यही तो बहुत लोगों का तर्क है। वे कहते हैं, ईश्वर अगर है तो दिखाई क्यों नहीं पड़ता? जब दिखाई नहीं पड़ता तो नहीं है। जो दिखाई पड़ता है, वही है। और जो दिखाई नहीं पड़ता वह नहीं है। यही तो शुतुरमुर्ग का तर्क है। शुतुरमुर्ग बड़ा नास्तिक मालूम होता है। सिर छिपाकर खड़ा हो जाता है रेत में। दुश्मन सामने खड़ा है लेकिन अब उसे दिखाई नहीं पड़ता। डर खतम हो गया। जब दुश्मन दिखाई नहीं पड़ता तो नहीं होगा। जो दिखाई नहीं पड़ता वह हो कैसे सकता है?
और इस भांति शुतुरमुर्ग दुश्मन के हाथ में पड़ जाता है। आंख खुली रहती
तो बचाव भी हो सकता था। भाग भी सकता था, लड़ भी सकता था, छिप भी सकता था। कुछ किया जा सकता था। आंख बंद करके रेत में सिर गड़ाकर खड़े हो गये, अब तो कुछ भी नहीं किया जा सकता। अब तो दुश्मन के हाथ में पूरी तरह पड़ गये। अब तो कमजोर दुश्मन भी हरा देगा। अब तो छोटा-मोटा दुश्मन भी नष्ट कर देगा।
आंख खोलो। और आंख खोलनी हो तो धारणाओं में अपना रस मत लगाओ। धारणाओं
से मत चिपटो। हिंदू, मुसलमान, ईसाई मत बनो। ईश्वर को माननेवाले, ईश्वर को न माननेवाले मत बनो। सत्य ऐसा है, सत्य वैसा है ऐसी बकवास में मत पड़ो। इतना ही कहो कि मुझे कुछ पता नहीं। मैं अज्ञानी हूं और चित्त मेरा हजार-हजार विचारों से भरा है। तो इतना ही करो कि मैं चित्त का उपाय कर लूं कि विचार शांत हो जायें, निर्विचार हो जाऊं। तो शायद मेरी आंखों पर विचारों का धुआं न होगा तो मैं देख सकूं, जो है। उसे वैसा ही देख सकूं जैसा है। जस का तस, जैसे का तैसा देख सकूं। अभी तो विचार बीच-बीच में आकर सब गड़बड़ कर जाते हैं। विचार का ही तो पर्दा है। और कौन-सा पर्दा है आंख पर?
इस बात को दोहरा दूं। पर्दा परमात्मा पर नहीं पड़ा है, और न सत्य पर पड़ा है। परमात्मा नग्न खड़ा है। परमात्मा दिगंबर है। पर्दा तुम्हारी आंख पर पड़ा है। आंख पर पर्दा है, परमात्मा पर पर्दा नहीं है। इसीलिए तो ऐसा होता

है, एक की आंख का पर्दा हटता है तो सबको थोड़े ही परमात्मा दिखाई पड़ता है।
अगर परमात्मा पर पर्दा होता तो उठा दिया एक ने पर्दा, सबको दिखाई पड़ जाता।
बुद्ध आये, उठा दिया पर्दा; तो बुद्धुओं को भी दिखाई पड़ गया। पर्दा अगर परमात्मा पर होता तो एक के उठाने से सबके लिए उठ जाता। सीधी बात है।
लेकिन पर्दा हरेक की आंख पर पड़ा है। इसलिए बुद्ध जब पर्दा उठाते हैं तो उनकी ही आंख खुलती है, किसी और की नहीं खुलती। मैं पर्दा उठाऊंगा मेरी आंख खुलती है, तुम्हारी नहीं खुलती। तुम पर्दा उठाओगे, तुम्हारी आंख खुलेगी किसी और की नहीं खुलेगी।
आंख पर पर्दा है। और पर्दा किस बात का है? पर्दे का तानाबाना किससे बना है? धारणाएं, पक्षपात, शास्त्र, सिद्धांत, जो तुमने मान रखी हैं बातें, उनसे पर्दा बना है। पर्दा तुम्हारी मान्यता से बुना गया है। रंग-बिरंगी मान्यतायें तुमने इकट्ठी कर लीं बिना जाने।
सोवियत रूस में कोई आस्तिक नहीं, क्योंकि सरकार नास्तिक है। स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय नास्तिकता पढ़ाते हैं। नास्तिक होने में लाभ है। आस्तिक होने में नुकसान ही नुकसान है रूस में। आस्तिक हुए कि कहीं न कहीं जेल में पड़े। आस्तिक हुए कि झंझट में पड़े। नास्तिक होने में लाभ ही लाभ है।
जैसे यहां भारत में आस्तिक होने में लाभ ही लाभ है, नास्तिक होने में हानि ही हानि है, ऐसी ही हालत वहां है। कुछ फर्क नहीं है। यहां बैठे हैं दूकान पर माला लिये, लाभ ही लाभ है। जेब काट लो ग्राहक की, उसको पता ही नहीं चलता। वह माला देखता रहता है। वह कहता है, ऐसा भला आदमी! तो मुंह में राम-राम, बगल में छुरी चलती। और राम-राम से छुरी पर खूब धार रख जाती। ऐसी चलती कि पता भी नहीं चलता। जिसकी गर्दन कट जाती है वह भी राम-राम सुनता रहता। उसको पता ही नहीं चलता। वह राम-राम जो है, अनेस्थेशिया का काम करता है। गर्दन काट दो, पता ही नहीं चलता।
यहां तो आस्तिक होने में लाभ है। यहां नास्तिक होने में हानि ही हानि है, इसलिए लोग आस्तिक हैं। यह धंधा है। यह सीधे लाभ की बात है। रूस में लोग नास्तिक हैं। तुम पक्का समझना, अगर तुम रूस में होते, तुम नास्तिक होते।
तुम आस्तिक नहीं हो सकते थे। क्योंकि जिस बात में लाभ है यहां, वही तुम हो। वहां जिस बात में लाभ होता वही तुम होते।
रूस बड़ा आस्तिक देश था उन्नीस सौ सत्रह के पहले। जमीन पर थोड़े-से आस्तिक देशों में एक आस्तिक देश था। लोग बड़े धार्मिक थे। पंडा, पुजारी, पुरोहित, चर्च...। अचानक उन्नीस सौ सत्रह में क्रांति हुई और पांच-सात साल के भीतर सारा मुल्क बदल गया। छोटे बच्चे से लेकर बूढ़े तक सब नास्तिक हो गये। यह भी खूब हुआ! जैसे यह भी सरकार के हाथ में है। यह भी जिसके हाथ में ताकत है वह तुम्हारी धारणा बदल देता है।
ये धारणाएं दो कौड़ी की हैं। ये तुम्हारे अनुभव पर निर्भर नहीं हैं। इनके पीछे चालबाजी है। दूसरों की चालबाजी, तुम्हारी चालबाजी। इनके पीछे चालाकी है। इनके पीछे कोई अनुभव नहीं है।
धारणाएं छोड़ो। मैं तुमसे न नास्तिक बनने को कहता, न आस्तिक। मैं कहता हूं, धारणाएं छोड़ो। यह तानाबाना धारणाओं का अलग करो। खुली आंख! कहो कि मुझे पता नहीं। घबड़ाते क्यों हो? यह बात कहने में बड़ा डर लगता है आदमी को कि मुझे पता नहीं। इस बात से बचने के लिए वह कुछ भी मानने को तैयार है। किसी से पूछो, ईश्वर है? तुम शायद ही ऐसा हिम्मतवर आदमी पाओ, जो कहे कि नहीं, मैं अज्ञानी हूं, मुझे कुछ पता नहीं। मैं इसी आदमी को धार्मिक कहता हूं। यह ईमानदार है। दूसरे तुम्हें मिलेंगे। कोई कहेगा कि हां, मुझे पता है ईश्वर है। पूछो, कैसे पता है? तो वह कहता है, मेरे पिताजी ने कहा है। पिताजी का पता लगाओ, उनके पिताजी कह गये हैं। ऐसे तुम पता लगाते जाओ, तुम बड़े हैरान होओगे। तुम कभी उस आदमी को न खोज पाओगे जिसने कहा है, जिसको अनुभव हुआ है। सुनी बात है।
इसलिए तो शास्त्रों को हिंदुओं ने अच्छे नाम दिये हैं। शास्त्रों के
दो नाम हैं: श्रुति, स्मृति। श्रुति का अर्थ है सुना गया। तुम्हारे सब शास्त्र या तो श्रुति हैं--सुने गये। किसी ने कहा, तुमने सुना। या स्मृति--

याद किये गये, कंठस्थ कर लिये। बैठ गये तोता बनकर। श्रुति-स्मृति बड़े अच्छे शब्द हैं।
यही तुम्हारी सब धारणाएं हैं--श्रुतियां और स्मृतियां। छोड़ो दोनों।
न तो कोई श्रुति से सत्य को पाता है, न कोई स्मृति से सत्य को पाता है। छोड़ो दोनों। उनके दोनों के छोड़ते ही पर्दा गिर जाता है। सत्य सामने खड़ा है। सत्य सदा सामने खड़ा है। सत्य तुम्हें घेरे हुए खड़ा है। सत्य इन वृक्षों में, सत्य इन हवाओं में, सत्य इन मनुष्यों में, पशु-पक्षियों में खड़ा है। परमात्मा हजार-हजार रूपों में प्रगट हो रहा है। और तुम बैठे अपनी सड़ी-गली किताब खोले। तुम बैठे अपना कुरान-बाइबिल लिये। तुम उसमें देख रहे हो कि सत्य कहां है। और सत्य यहां सूरज की किरणों में नाच रहा। और सत्य तुम्हारे द्वार पर हवाओं में दस्तक दे रहा। और सत्य हजार-हजार नूपुर बांधकर मदमस्त है।
सत्य चारों तरफ खड़ा है; आंख पर पर्दा है। पर्दा शब्दों, सिद्धांतों, शास्त्रों का है; श्रुति-स्मृति का है। हटा दो। कह दो, मैं नहीं जानता। जिस दिन तुम यह कहने में समर्थ हो जाओगे...ध्यान रखना, बड़े साहस की बात है। थोड़े ही लोग समर्थ हो पाते हैं जो कहते हैं, मैं नहीं जानता। जिस दिन तुम यह कहने में समर्थ हो पाओगे कि मैं नहीं जानता, तुम तैयार हुए जानने के लिए। पहला कदम उठाया। तुमने कम से कम व्यर्थ को तो छोड़ा। अंधेपन में जो मान्यतायें मानी थीं, वे तो छोड़ीं।
तो कम से कम ऐसे अंधे तो बनो, जो कहता है कि मैंने हाथ तो फेरा लेकिन क्या था, मैं ठीक से नहीं जानता। खंभे जैसा मालूम पड़ता था। लेकिन अंधे के मालूम पड़ने का क्या भरोसा! मैं अंधा हूं। स्वीकार कर लो कि मैं अज्ञानी हूं और ज्ञान की पहली किरण उतरेगी। सिर्फ उनके ही जीवन में ज्ञान की किरण उतरती है, जो इतने विनम्र हैं; जो कह देते हैं कि मुझे पता नहीं। परमात्मा उन्हीं के हृदय को खटखटाता है।
पंडितों पर यह किरण कभी नहीं उतरती। पापियों पर उतर जाये, पंडितों पर नहीं उतरती। पंडित होना इस जगत में सबसे बड़ा पाप है।

तीसरा प्रश्न:
मैं तुम्हारी रहमत का उम्मीदवार आया हूं
मुंह ढांपे कफन से शर्मसार आया हूं
आने न दिया बारे-गुनाह ने पैदल
ताबूत में कंधे पर सवार आया हूं

ऐसी ही हालत है। परमात्मा के सामने कौन-सा मुंह लेकर खड़े होओगे? दिखाने के लिए कौन-सा चेहरा है तुम्हारे पास? तुम्हारे सब चेहरे तो मुखौटे हैं। ये तो छोड़ देने होंगे। तुम्हारे पास क्या है परमात्मा को अर्पण करने को? जिसको तुम जीवन कहते हो वह तो बड़ा बेसार मालूम पड़ता। तुम्हारे पास फूल कहां हैं जो तुम चढ़ाओगे?
वृक्षों के फूलों को चढ़ाकर तुम सोचते हो, तुमने पूजा कर ली? पूजा हो रही थी, उसमें तुमने बाधा डाल दी। वृक्ष के ऊपर फूल पूजा में लीन थे। परमात्मा के चरणों में चढ़े थे जीवंत रूप से, सुगंधित हो रहे थे, हवाओं में नाच रहे थे। बिखेर रहे थे अपनी सुवास। तुम तोड़कर उनको मार डाले। गंध बिखर गई, फूल के प्राण खो गये। इस मुर्दा फूल को तुम जाकर चढ़ा आये परमात्मा के चरणों में। तुम्हारे परमात्मा मिट्टी-पत्थर के हैं, मुर्दा; और जहां तुम जीवन देखते हो उसको भी तत्क्षण मुर्दा कर देते हो।
फूल चढ़ाना अपने चैतन्य का, सहस्रार का। तुम्हारा कमल जब खिले भीतर, खिलें उसकी हजारों पंखुड़ियां, तब चढ़ाना। बुद्ध ने ऐसा कमल चढ़ाया, अष्टावक्र ने ऐसा कमल चढ़ाया, कबीर-नानक ने ऐसा कमल चढ़ाया। जिस दिन ऐसा कमल चढ़ाओगे, उस दिन चढ़ाया। और उसे तोड़कर नहीं चढ़ाना पड़ेगा। तुम चढ़ जाओगे। तुम प्रभु के हो जाओगे। तुम प्रभुमय हो जाओगे।
अभी तो हालत बुरी है। अभी तो बड़ी लज्जा की स्थिति है। ठीक है यह पद किसी कवि का:

"मैं तुम्हारी रहमत का उम्मीदवार आया हूं।"
अभी तो परमात्मा से तुम सिर्फ करुणा मांग सकते हो, दया। अभी तो तुम भिखारी की तरह आ सकते हो। और ध्यान रखना, मैं तुमसे कहता हूं कि परमात्मा के द्वार पर जो भिखारी की तरह जायेगा वह कभी जा ही नहीं पाता। सम्राट की तरह जाना होता है। जो मांगने गया है वह परमात्मा तक पहुंचता ही नहीं। जो परमात्मा को देने गया है वही पहुंचता है।
कुछ लेकर जाओ। कुछ पैदा करके जाओ। कुछ सृजन हो तुम्हारे जीवन में। कुछ फूल खिलें। कुछ सुगंध बिखरे। कुछ होकर जाओ। उत्सव, संगीत, नृत्य, समाधि, प्रेम, ध्यान, कुछ लेकर जाओ। खाली हाथ परमात्मा के दरबार में मत पहुंच जाना। झोली लेकर तो मत जाओ भिखारी की। यह झोली ही तो तुम्हारी वासना है। इस झोली के कारण ही तो तुम भटके हो जन्मों-जन्मों। मांग रहे, मांग रहे, मांग रहे। कुछ मिलता भी नहीं, मांगे चले जाते। अभ्यस्त हो गये हो भीख के। "मैं तुम्हारी रहमत का उम्मीदवार आया हूं।"
नहीं, परमात्मा के द्वार पर करुणा मांगने मत जाना; दया के पात्र होकर
मत जाना। मगर ऐसा ही आदमी जाता है।
"मुंह ढांपे कफन से शर्मसार आया हूं।"
और अपना मुंह ढांके हूं कफन से। शर्म और लज्जा में दबा हुआ आया हूं।
"आने न दिया बारे-गुनाह ने पैदल।"
और इतने गुनाह किये हैं कि पैदल आने की हिम्मत न जुटा सका। और इतने गुनाह किये कि उनका बोझ इतना है मेरे सिर पर कि पैदल आता भी तो कैसे आता? गठरी गुनाहों की बड़ी है, बोझिल है।
"ताबूत में कंधे पर सवार आया हूं"
इसलिए ताबूत में, अरथी में, दूसरों के कंधे पर सवार होकर आ गया हूं।
यही तुम्हारी जिंदगी की कथा है। तुम यहां चल थोड़े ही रहे हो, ताबूत में जी रहे हो। तुम यहां अपने पैरों से थोड़े ही चल रहे हो, दूसरों के कंधों पर सवार हो। और जरा अपने चेहरे को गौर से देखना आईने में, तुम पाओगे कफन तुमने डाल रखा है चेहरे पर। मुर्दगी है। मौत का चिह्न है तुम्हारे चेहरे पर। जीवन का अभिसार नहीं, जीवन का आनंद-उल्लास नहीं, मौत की मातमी छाया है; मौत का अंधेरापन है।
तुम कर क्या रहे हो यहां सिवाय मरने के? रोज-रोज मर रहे हो, इसी को जीवन कहते हो। जबसे पैदा हुए, एक ही काम कर रहे हो: मरने का। रोज-रोज मर रहे हो, प्रतिपल मर रहे हो, और इसको जीना कहते हो। इससे ज्यादा और जीने से दूर क्या होगा? यह जीने के बिलकुल विपरीत है। नाचे? गुनगुनाये? गीत प्रगट हुआ? प्रसन्न हुए?
नहीं, अभी जीवन से अभिसार नहीं हुआ। अभी जीवन से संबंध ही नहीं जुड़ा। अभी जीवन से संभोग नहीं हुआ। बस, ऐसे ही धक्के-मुक्के खा रहे हो। ठीक है।
ऐसी स्थिति है आदमी की। होनी नहीं चाहिए। बदली जा सकती है।
बदलने के लिए कुछ करना पड़े। और बदलने के लिए सिर्फ प्रार्थना करने से कुछ भी न होगा। क्योंकि प्रार्थना में फिर वही मांग, फिर वही भिखमंगापन।
बदलने के लिए तुम्हें अपने जीवन की आमूल-दृष्टि बदलनी होगी।
परमात्मा के सहारे जीने की फिक्र मत करो, अपने को रूपांतरित करो, अपने
को अपने हाथ में लो। और तुम यह कर सकते हो। कोई कारण नहीं है, कोई बाधा नहीं है। जो नर्क की यात्रा कर सकता है वह स्वर्ग की यात्रा क्यों नहीं कर सकता? जो पाप निर्मित कर सकता है वह पुण्य को जन्म क्यों नहीं दे सकता? क्योंकि वही ऊर्जा पाप बनती है और वही ऊर्जा पुण्य बनती है। जिस ऊर्जा के दुरुपयोग से तुम आज अपना चेहरा प्रकट करने में डर रहे हो, उसी ऊर्जा का सदुपयोग, सृजनात्मक उपयोग-- और तुम्हारे चेहरे पर एक आभा आ जायेगी। एक सूरज प्रगट होगा। एक चांद खिलेगा, एक चांदनी बिखरेगी।
ऊर्जा वही है। जरा भी फर्क नहीं करना है। क्रोध करुणा बन जाता है, जरा समझदारी और जागरूकता की जरूरत है। काम राम बन जाता है, जरा-सी समझ की जरूरत है। और संभोग समाधि बन जाती है।
जीवन को अपने हाथ में लो। कहीं ऐसा न हो कि प्रार्थना भी तुम्हारा बचने का ही उपाय हो। कर ली प्रार्थना, कह दिया प्रभु, बदलो; फिर नहीं बदला

तो अब हम क्या करें? तुमने प्रभु पर जिम्मा छोड़ दिया। तुमने कहा बदलो, अब नहीं बदलते तो तुम्हीं जिम्मेवार हो। अब तुमने अपना दायित्व भी हटा लिया। अब तुम अपराधी भी अनुभव न करोगे अपने को। तुम कहोगे, अब मैं क्या करूं? इतना कर सकता था कि तुमसे कह तो दिया कि बदलो। और तुम अपने पुराने ढर्रे को जारी रखे हो। और तुम बदलना जरा भी नहीं चाहते।
तुम्हारी प्रार्थनायें अक्सर तुम्हारी बदलाहट की आकांक्षा की सूचक नहीं होतीं। तुम्हारी प्रार्थनायें केवल इस बात की सूचक होती हैं कि हम तो यह करने को तैयार नहीं हैं, अब तुझे करना हो तो देखें कैसे करता! दिखा दे चमत्कार। तुम चमत्कार के आकांक्षी हो। ऐसे चमत्कार होते नहीं, हुए नहीं कभी; होंगे भी नहीं। तुम्हें परम स्वतंत्रता मिली है। तुम्हें अपने जीवन का गीत गुनगुनाने की पूरी आजादी मिली है।
यही शब्द गालियां बन जाते हैं और यही शब्द मधुर गीत। तुमने खयाल किया? वर्णमाला वही की वही है। गाली दो कि गीत बना लो, वर्णमाला वही की वही है। पूजा करो कि पाप कर लो, वर्णमाला वही की वही है। संभोग में उतर जाओ कि समाधि में उठ जाओ, वर्णमाला वही की वही है। सिर्फ संयोजन बदलता है, सिर्फ आयोजन बदलता है, सिर्फ व्यवस्था बदलती है।
संन्यास व्यवस्था को बदलने का प्रयोग है।
संसारी की तरह रहकर देख लिया, अब थोड़े संन्यासी की तरह रहकर देखो। बदलो आयोजन को। और मैं तुमसे यह कहता हूं कि तुम्हारे पास जो भी है उसमें गलत कुछ भी नहीं है; भला तुमने गलत उपयोग किया हो। जो भी तुम्हारे पास है, गलत कुछ भी नहीं है; सिर्फ व्यवस्थित करना है।
ऐसा ही समझो कि एक हार्मोनियम रखा है और एक आदमी जो संगीत नहीं जानता, हार्मोनियम बजा रहा है। अंगुलियां भी ठीक हैं, हार्मोनियम भी ठीक है, हार्मोनियम की चाबियों पर अंगुलियां चलाना भी ठीक है, स्वर भी पैदा हो रहे हैं, लेकिन मुहल्ले-पड़ोस के लोग पुलिस में रिपोर्ट कर देंगे कि यह आदमी पागल किये दे रहा है।
मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक रात ऐसा ही हार्मोनियम बजा रहा था। आखिर पड़ोसी के बर्दाश्त के बाहर हो गया तो पड़ोसी ने खिड़की खोली और उसने कहा कि नसरुद्दीन, अब बंद करो नहीं तो मैं पागल हो जाऊंगा। मुल्ला ने कहा, भाई, अब व्यर्थ है बकवास करना। घंटा भर हुआ मुझे बंद किये। पागल तुम हो चुके!
हार्मोनियम ठीक, अंगुलियां स्वस्थ, बजानेवाला ठीक, सब ठीक है, जरा सीख चाहिए। जरा स्वरों का बोध, ज्ञान चाहिए। जरा स्वरों में मेल बिठाने की कला चाहिए। वही हामर्ोनियम, वही अंगुलियां, वही आदमी, और पागल भी सुनकर स्वस्थ हो सकते हैं।
संगीत पर प्रयोग चल रहे हैं पश्चिम में। और इस बात के आसार हैं कि आनेवाली सदी में संगीत पागलों के इलाज का अनिवार्य उपाय हो जायेगा। क्योंकि संगीत को सुनकर तुम्हारे भीतर के स्वर भी शांत हो जाते हैं। उनमें भी तालमेल हो जाता है। बाहर के संगीत की छाया तुम्हारे भीतर भी पड़ने लगती है। बड़े प्रयोग चल रहे हैं। संगीत मनुष्य के स्वास्थ्य का उपाय हो सकता है। विक्षिप्त जो हो गया है, उसे वापिस स्वस्थ करने में खींच ला सकता है। और अगर नहीं जानते तो वही स्वर उन्माद पैदा कर सकते हैं। बस इतना ही फर्क है।
संसारी और संन्यासी में इतना ही फर्क है। जीवन की वीणा को जिसने बजाना सीख लिया उसे मैं संन्यासी कहता हूं। और जो संन्यासी है, जीवन की वीणा को बजाने में कुशल हो गया--ध्यान करो, उसे परमात्मा के पास नहीं जाना पड़ेगा, परमात्मा उसके पास आता है। ताबूत में चढ़कर तो जाने की बात छोड़ो, जाना ही नहीं पड़ेगा। परमात्मा खुद उसकी तरफ बहता है। आना ही पड़ता परमात्मा को। जब तुमने पूरी की पूरी व्यवस्था जुटा दी, जैसा होना चाहिए वैसे तुम हो गये, ध्यान की सुरभि फैलने लगी, तुम्हारे रोएं-रोएं में संगीत आपूरित हो गया, तुममें एक बाढ़ आ गई आनंद की, उल्लास की, तो परमात्मा रुकेगा कैसे?

जब फूल खिलता है तो भौंरे चले आते हैं। जब तुम खिलोगे, परमात्मा चला आयेगा। तुम्हें जाने की भी जरूरत नहीं है। और जिस दिन परमात्मा तुम्हें चुनता है...तुम्हारे चुनने से कुछ भी नहीं होता। तुम तो चुनते रहते हो। तुम्हारे चुनने से कुछ भी नहीं होता, जिस दिन परमात्मा तुम्हें चुनता है उस दिन, बस उस दिन क्रांति घटती है। उस दिन तुम्हारा साधारण-सा लोहा उसके पारस-स्पर्श से स्वर्ण हो जाता है।
तुम कुछ ऐसा करो कि वह चला आये; उसे आना ही पड़े; वह रुक ना सके। तुम्हारा बुलावा शब्दों में न हो, तुम्हारा बुलावा अस्तित्व में हो जाये। मेरा जीवन बिखर गया है
तुम चुन लो, कंचन बन जाऊं

तुम पारस मैं अयस अपावन
तुम अमृत मैं विष की बेली
तृप्ति तुम्हारी चरणन चेरी
तृष्णा मेरी निपट सहेली
तन-मन भूखा जीवन भूखा
सारा खेत पड़ा है सूखा
तुम बरसो घनश्याम तनिक तो मैं आषाढ़ सावन बन जाऊं
मेरा जीवन बिखर गया है

यश की बनी अनुचरी प्रतिभा बिकी अर्थ के हाथ भावना
काम-क्रोध का द्वारपाल मन लालच के घर रहन कामना
अपना ज्ञान न जग का परिचय बिना मंच का सारा अभिनय
सूत्रधार तुम बनो अगर तो मैं अदृश्य दर्शन बन जाऊं मेरा जीवन बिखर गया है
तुम चुन लो, कंचन बन जाऊं

बिन धागे की सुई जिंदगी
सिये न कुछ बस चुभ-चुभ जाये कटी पतंग समान सृष्टि यह ललचाये पर हाथ न आये
रीती झोली जर्जर कंथा
अटपट मौसम दुस्तर पंथा
तुम यदि साथ रहो तो फिर मैं मुक्तक रामायण बन जाऊं
मेरा जीवन बिखर गया है
तुम चुन लो, कंचन बन जाऊं

बुदबुद तक मिटकर हिलोर इक उठ गया सागर अकूल में
पर मैं ऐसा मिटा कि अब तक फूल न बना न मिला धूल में कब तक और सहूं यह पीड़ा
अब तो खतम करो प्रभु क्रीड़ा इतनी दो न थकान कि जब तुम आओ, मैं दृग खोल न पाऊं
मेरा जीवन बिखर गया है
तुम चुन लो, कंचन बन जाऊं

प्रभु चुनता है, योग्यता अर्जित करो। प्रभु चुनता है, संगीत को जन्माओ। प्रभु चुनता है, तुम समाधिस्थ बनो। प्रार्थना छोड़ो। मांगना छोड़ो। योग्य बनो। पात्र बनो। तुम जिस दिन पात्र बन जाओगे, अमृत बरसेगा। और अपात्र रहकर तुम कितनी ही प्रार्थना करते रहो, अमृत बरसनेवाला नहीं। क्योंकि अपात्र में अमृत भी पड़ जाये तो जहर हो जाता है।

चौथा प्रश्न: मुझे मेरे घर-गांव के लोग पागल कहते हैं तब से, जब से मैंने ध्यान करना शुरू किया। और मैं कभी-कभी द्वंद्व में पड़ जाता हूं, बहुत असमंजस में; क्योंकि लोगों की बात पर चलने से मेरी शांति भंग हो जाती है। प्रभु, मेरा पथप्रदर्शन कर मेरा जीवन सफल करें।

पूछा है स्वामी अरविंद योगी ने।
अब तो और मुश्किल होगी। अब तुम संन्यासी भी हो गये। लोग पागल कहते हैं इससे तुम्हारे मन में चोट क्यों लगती है? तुम्हारी भी धारणा लोगों के ही जैसी है। तुम्हें भी लगता है कि पागल होना कुछ गलत है। लोग जब कहते हैं, पागल हो गये तो तुम्हारी शांति भंग होती है। तुम्हारे मन में चिंता जागती है। तुम्हारे मूल्य में और लोगों के मूल्य में फर्क नहीं है।
मैं तुमसे कहता हूं, धन्यभागी हो कि तुम पागल हो। जब लोग पागल कहें तो उन्हें धन्यवाद देना, उनका अनुग्रह मानना। तुम धन्यभागी हो कि तुम पागल हो, क्योंकि तुम परमात्मा के लिए पागल हुए हो। वे भी पागल हैं। उनका पागलपन पद के लिए है, धन के लिए है। उनका पागलपन सामान्य व्यर्थ की चीजों के लिए है। तुम सार्थक के लिए पागल हुए हो।
तुम घबड़ाओ मत। और तुम इससे परेशान भी मत होओ। और अगर तुम्हारी शांति खंडित हो जाती है तो इसका इतना ही अर्थ हुआ कि शांति अभी बहुत गहरी नहीं, छिछली है। किसी के पागल कहने से तुम्हारी शांति खंडित हो जाये? तो इसका अर्थ हुआ, शांति बड़ी ऊपर-ऊपर है।
और शांत बनो, कि सारा जगत तुम्हें पागल कहे तो भी तुम्हारे भीतर लहर पैदा न हो। ऐसे पागल बनो कि कोई तुम्हारी शांति खंडित न कर पाये, कोई तुम्हारी मुसकान न छीन सके। सारी दुनिया भी विपरीत खड़ी हो जाये तो भी तुम्हारा आनंद अखंडित हो और तुम्हारी धारा, अंतर्धारा निर्बाध बहे। ऐसे पागल बनो।
अपने गांव के लोगों से कहना, आपकी बड़ी कृपा है, मुझे याद दिलाते हैं। अभी हूं तो नहीं, होने के मार्ग पर हूं। धीरे-धीरे हो जाऊंगा। सब मिलकर आशीर्वाद दो कि हो जाऊं। चल पड़ा हूं, तुम सबके आशीर्वाद साथ रहे तो मंजिल पूरी हो जायेगी।
और तुम चकित होओगे, अगर तुम अशांत न होओ, व्यग्र न होओ, उद्विग्न न होओ
तो गांव के लोग जो तुम्हें पागल कहते हैं, वही तुम्हें पूजेंगे भी। उन्होंने सदा पागलों को पूजा।
पहले पागल कहते हैं, पत्थर मारते हैं, नाराज होते हैं। अगर तुम उतने में ही डगमगा गये तो फिर बात खतम हो गई। तुम अगर डटे ही रहे, तुम अपना गीत गुनगुनाये ही गये, उनके पत्थर भी बरसते रहें, उनके अपमान भी बरसते रहें, और तुम फूल बरसाये ही गये तो आज नहीं कल उनको भी लगने लगता है। आखिर उनके भीतर भी प्राण हैं, उनके भीतर भी चैतन्य सोया है। कितनी देर ऐसा करेंगे? उनको भी लगने लगता है कि कहीं हम कुछ भूल तो नहीं कर रहे? यह पागल कोई साधारण पागल नहीं मालूम होता। तुम्हारी प्रतिभा, तुम्हारी आभा, तुम्हारा वातावरण धीरे-धीरे उन्हें छुएगा। तुम संक्रामक बन जाओगे। उनमें से कुछ छुपे अंधेरे इधर-उधर आकर तुम्हारे पास बैठने लगेंगे। उनमें से कुछ, जब कोई न होगा, तुम्हारे पैर छूने लगेंगे। फिर धीरे-धीरे उनकी भी हिम्मत बढ़ेगी, फिर तुम्हारे पास पागलों का एक समूह इकट्ठा होने लगेगा।
वे जो तुम्हारे विरोध में थे, अब धीरे-धीरे तुम्हारी उपेक्षा करने लगेंगे। वे जो तुम्हारी उपेक्षा करते थे, अब धीरे-धीरे तुममें उत्सुक होने लगेंगे। वे जो तुममें उत्सुक थे, धीरे-धीरे तुम्हारी पूजा में संलग्न होने लगेंगे।

ऐसा ही सदा हुआ है। तुम घबड़ाओ मत।
और अगर तुम मुझसे पूछते हो तो गांववालों का ऐसा कहना तुम्हारे लिए एक अवसर है। वे तुम्हारे लिए एक मौका जुटा रहे हैं, एक कसौटी खड़ी कर रहे हैं, जिस पर तुम अगर खरे उतरे तो तुम धन्यभागी हो जाओगे।
रोम-रोम में खिले चमेली
सांस-सांस में महके बेला
पोर-पोर से झरे मालती
अंग-अंग जुड़े जूही का मेला
पग-पग लहरे मान सरोवर
डगर-डगर छाया कदंब की
तुमने क्या कर दिया? उमर का खंडहर राजभवन लगता है
जाने क्या हो गया कि हर दम बिना दीये के रहे उजाला
चमके टाट बिछावन जैसे
तारों वाला नील दुशाला
हस्तामलक हुए सुख सारे
दुख के ऐसे ढहे कगारे
व्यंग-वचन लगता था कल तक
वह अब अभिनंदन लगता है
तुम ऐसे जीयो कि तुम्हारे पोर-पोर से महके बेला। सांस-सांस में खिले चमेली। अंग-अंग में जूही का मेला। तुम ऐसे जीयो। तुम फिक्र छोड़ो वे क्या कहते हैं। वे तुम्हारे हित में ही कहते हैं। अनजाने तुम्हारे हित का ही आयोजन कर रहे हैं। तुम उनकी परीक्षा में खरे उतरो। अगर उतर सके तो किसी दिन तुम कहोगे:
जाने क्या हो गया कि हर दम
बिना दीये के रहे उजाला!
पत्थर फूल बन जाते हैं अगर तुम सच में पागल हो गये हो। सच में पागल हो जाओ। कदम पहले उठा लिये हैं, अब लौट मत पड़ना। कायर होते हैं, लौट जाते हैं; साहसी डटे रहते हैं।
और संन्यास से बड़ा साहस संसार में दूसरा नहीं है। क्योंकि भीड़ सांसारिकों की है। उसमें संन्यासी हो जाना अचानक भीड़ से अलग हो जाना है। भीड़ राजी नहीं होती किसी को अलग होने से। भीड़ चाहती है तुम वैसा ही वर्तन करो जैसा वे करते हैं। वैसे ही कपड़े पहनो, वैसे ही उठो-बैठो, वैसी ही चलो, वही रीति-रिवाज। भीड़ बर्दाश्त नहीं करती कि तुम उनसे अन्य हो जाओ। क्योंकि अन्य होने का यह अर्थ होता है: तो तुम भीड़ को गलत कह रहे हो? अन्य होने का यह मतलब होता है: तो हम सब गलत हैं, तुम सही हो?
जब जीसस को लोगों ने देखा तो सवाल उठा कि अगर जीसस सही हैं तो हमारा क्या? हम सब गलत? तो जीसस को उन्होंने सूली दे दी--मजबूरी में; अपने को बचाने में। कोई जीसस को सूली देने में उनका रस न था। रस इस बात में था कि अगर जीसस सही हैं तो हम सब गलत होते हैं। और यह जरा महंगा सौदा है कि हम सब गलत हों। इतनी बड़ी भीड़! यह जरा लोकतंत्र के विपरीत है। तो जीसस को सूली दे दो, झंझट मिटाओ। इस आदमी की मौजूदगी उपद्रव लाती है।
मगर जीसस सूली पर भी खरे उतरे। जीसस ने सूली पर से भी प्रभु से कहा, हे प्रभु! इन्हें क्षमा कर देना क्योंकि ये जानते नहीं कि ये क्या कर रहे हैं। और जब लोगों ने सूली पर से ये वचन सुने तब उन्हें याद आयी कि हम चूक गये। हमने उसे मार डाला जो हमें जिलाने आया था। फिर पूजा, फिर अर्चना के दीप जले। आज जमीन पर जीसस को पूजनेवालों की संख्या सबसे बड़ी है। कारण? पश्चात्ताप!
महावीर को पूजनेवालों की संख्या बहुत बड़ी नहीं है, क्योंकि महावीर के साथ हमने कोई बहुत दुराचार किया नहीं, पश्चात्ताप का कारण नहीं है। इसे तुम समझना। महावीर को हमने कोई सूली नहीं दी। तो जब सूली नहीं दी तो पश्चात्ताप क्या खाक करें! जीसस को सूली लगी। तो जिन्होंने सूली दी, अपराध

का भाव गहरा हो गया। अपराध इतना गहरा हो गया कि कुछ करना ही होगा। अपराध से बचने के लिए अब उन्होंने पूजा की, चर्च खड़े किये। जीसस की पूजा सबसे बड़ी पूजा है जगत में, क्योंकि जीसस के साथ सबसे बड़ा दर्ुव्यवहार हुआ।
ठीक है, हम महावीर को भी पूज लेते हैं, राम और कृष्ण को भी पूज लेते हैं; लेकिन जीसस जैसी पूजा हमारी नहीं है; हो नहीं सकती। हमने इतना दर्ुव्यवहार ही कभी नहीं किया। जीसस की ईसाइयत दुनिया में जीतती चली गई उसका कुल कारण क्रास पर लगी सूली है। अपराध इतना घना हो गया लोगों के चित्त में कि अब कुछ करना ही पड़ेगा इसके विपरीत, ताकि अपराध के भाव से छुटकारा हो जाये। पश्चात्ताप करना होगा।
घबड़ाओ मत। लोग पत्थर मारें, अहोभाव से स्वीकार कर लेना। वही प्रार्थना मन में रखना कि ये जानते नहीं, क्या कर रहे हैं। या शायद परमात्मा इनके माध्यम से मेरे लिए कसौटियां जुटा रहा है।
तुम पूरे पागल हो जाओ। तुम इतने पागल हो जाओ कि कौन क्या कहता है इससे तुम्हारे मन में कोई क्षोभ और कोई अशांति पैदा न हो। ऐसे मतवाले ही प्रभु की मधुशाला में प्रवेश करते हैं।

पांचवां प्रश्न: शास्त्रों और संतों का कहना है कि परस्त्रीगमन करने
से साधक का पतन होता है और साधना में उसकी गति नहीं होती। इस मूलभूत विषय पर प्रकाश डालने की अनुकंपा करें।

पूछा है फिर दौलतराम खोजी ने। वे बड़ी गहरी बात खोजकर लाते हैं! खोजी हैं! इसको मूलभूत विषय बता रहे हैं! अब इससे ज्यादा कूड़ा-करकट का और कोई विषय नहीं। जिस शास्त्र में लिखा हो वह भी किसी बड़े ज्ञानी ने न लिखा होगा, किसी टुटपुंजे ने लिखा होगा। ज्ञानी, और इसका हिसाब रखे कि कौन किसकी स्त्री के साथ गमन कर रहा है! तो ये ज्ञानी न हुए, पुलिस के दरोगा!
और तुम कहते हो, संतों का कहना है? संत ऐसी बात बोलें तो सिर्फ इससे इतना ही पता चलता है, अभी संतत्व का जन्म नहीं हुआ। अभी दूर है; अभी बहुत दूर है मंजिल।
पहली तो बात यह कि परस्त्री कौन? तुमने सात चक्कर लगा लिये, बस स्त्री तुम्हारी हो गई? इतना सस्ता मामला! मगर इस देश में इस तरह की मूढ़ता रही है। स्त्री को स्त्री-धन कहते हैं; उस पर मालकियत कर लेते हैं। कौन किसका है यहां? कौन अपना, कौन पराया? ज्ञानी तो यही कहते हैं, न कोई अपना न कोई पराया। संत तो यही कहते हैं, अपना-पराया छोड़ो।
तो जिन्होंने यह कहा होगा वे संत के वेश में कोई और रहे होंगे--पंडित, पुजारी, राजनीतिज्ञ, समाज के कर्ता-धर्ता; लेकिन संत नहीं। संत तो यही कहते हैं कि अपनी स्त्री भी अपनी नहीं है, परायी की तो बात ही छोड़ो। यह तो तुमने खूब होशियारी की बात बताई: कि परस्त्री-गमन से साधक का पतन होता है। और अपनी स्त्री के गमन से नहीं होता? और अपना कौन है? जिसको कुछ मूढ़ जनों ने खड़े होकर और ताली बजाकर और तुम्हें चक्कर लगवा दिये वह अपना है?
एक सज्जन मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं, बड़ी उलझन में पड़ गया हूं इस पत्नी से विवाह करके। मैंने उनसे कहा कि फिर छुटकारा कर लो। जब इतना...बार-बार तुम आते हो और एक ही झंझट; तुम्हारी पत्नी भी दुखी, तुम भी दुखी। तो उन्होंने कहा, अब कैसे छुटकारा करें? सात चक्कर पड़ गये। तो मैंने कहा, उल्टे चक्कर लगा लो। अब इससे ज्यादा और क्या करना है? खुल जायेंगे चक्कर। जैसे बंध गये वैसे खोल लो। हर गांठ खुल सकती है। यह गांठ भी खुल सकती है। अगर गांठ बहुत दुख दे रही है तो खोल ही लो। जो चीज बंध सकती है, खुल सकती है। जो बांधी है वह कृत्रिम है।
संत तो तुमसे कहते हैं, कोई अपना नहीं। बस तुम ही अपने हो। तो अगर संतों से तुम पूछो तो वे कहेंगे, पर-गमन से पतन होता है। स्त्री इत्यादि का कोई सवाल नहीं; पर-गमन, दूसरे में जाने से, दूसरे के साथ संबंध जोड़ने से, दूसरे को अपना-पराया मानने से, दूसरे को महत्वपूर्ण मानने से पतन होता है। स्व महत्वपूर्ण है, पर पतन है। तो स्वात्माराम बनो। अपनी आत्मा में लीन हो जाओ।

संत तो ऐसा कहेंगे। और जिन्होंने परस्त्री इत्यादि का हिसाब लगाया हो
वे संत नहीं हैं। संत तो इतना ही कहेंगे, पर-गमन से पतन होता है इसलिए स्व-गमन करो। बाहर जाने से पतन होता है, भीतर आओ। दूसरे के साथ संबंध जोड़ने से तुम अपने से टूटते हो तो संबंध मत जोड़ो। रहो सबके बीच, अकेले रहो, बिना जुड़े रहो। रहो भीड़ में लेकिन एकांत खंडित न हो पाये। दूसरा मौजूद हो, दूसरा पास भी हो तो भी तुम्हारे स्व पर उसकी छाया न पड़ पाये, उसका रंग न पड़ पाये। तुम्हारा स्व मुक्त रहे।
मगर न मालूम कितने लोग, जिनका संतत्व से कोई संबंध नहीं है, संतों के नाम से चलते हैं। मूढ़ों की बड़ी भीड़ है। तो मूढ़ों के भी महात्मा होते हैं। होंगे ही। जिनकी इतनी बड़ी भीड़ है उनके महात्मा भी होंगे। उनके महात्मा भी उन जैसे होते हैं।
मैंने सुना, एक बार एक महात्मा मस्त होकर भजन गाते हुए एक रास्ते से गुजर रहे थे। थोड़ी दूर चलकर उन्होंने देखा, तो देखा कि पीछे एक सांड़ उनके लगा चला आ रहा है। शायद उनकी मस्ती से प्रभावित हो गया, या उनके डोलने से। महात्मा घबड़ाये। मस्ती ऊपरी-ऊपरी थी, कोई दिल की तो बात न थी। वे तो ऐसे ही भक्तों की तलाश में मस्त हो रहे थे कि कोई मिल जाये। मिल गया सांड़! उन्होंने डर के मारे रफ्तार बढ़ा दी। थोड़ी दूर पहुंचने पर फिर पलटकर देखा-- अब तो उनकी मस्ती वगैरह सब खो गई--सांड़ बड़ी तेजी से पीछे चला आ रहा है। अब तो उन्होंने भागना शुरू कर दिया। सांड़ भी पीछे भागने लगा। सांड़ भी खूब था, बड़ा भक्त! शायद महात्मा की तलाश में था, कि गुरु की खोज कर रहा था। खोजी था। अब तो महात्मा बहुत भयभीत हो गये और अपनी जान बचाने के उद्देश्य से एक ऊंचे चबूतरे पर चढ़ गये। सांड़ भी चढ़ गया। भक्त जब पीछे लग जायें तो ऐसे आसानी से नहीं छोड़ देते, आखिर तक पीछा करते हैं। घबड़ाकर महात्मा झाड़ पर चढ़ गये तो देखा, सांड़ नीचे खड़ा होकर फुफकार रहा है। अब वे महात्मा झाड़ से उतर न सकें। थोड़ी देर में तमाशा देखने के लिए खासी भीड़ इकट्ठी हो गई। बड़ा शोरगुल मचने लगा। कई व्यक्तियों ने प्रयास भी किया कि सांड़ को किसी तरह हटा दें, किंतु सांड़ वहां से टस से मस न हो।
अंत में खोजबीन कर सांड़ के मालिक को बुलाया गया। उसने भी सांड़ को मनाने की बहुत कोशिश की, किंतु सांड़ अपनी जगह वैसा का वैसा खड़ा रहा। महात्मा अटके झाड़ पर, कंप रहे और सांड़ नीचे फुफकार रहा है। अब सांड़ का मालिक भी चिंता में पड़ गया कि मामला क्या है? ऐसा तो कभी न हुआ था।
एकाएक उसकी बुद्धि के फाटक खुले और भीड़ को संबोधित करके वह कहने लगा, भाइयो! असल बात यह है कि यह सांड़ बड़ा समझदार जानवर होता है। इसे इस बात का पता लग गया है कि इन महात्मा के दिमाग में भूसा भरा है, और जब तक यह इस भूसे को खा न लेगा, यहां से जायेगा नहीं।
तुम जिनको महात्मा कहते हो उनमें से अधिक के दिमाग में भूसा भरा है।
और वह भूसा तुम्हारे ही जैसा है। तुम्हें जंचता भी बहुत है। तुम्हारी जो मान्यतायें हैं उनको जो भी स्वीकार कर ले और उनको जो सही कहे, उसको तुम कहते हो महात्मा।
संत तो विद्रोही होते हैं। संत कुछ ऐसे लीक के अनुयायी नहीं होते; लकीर के फकीर नहीं होते। संत तो कुछ निश्चित ही मूलभूत बात कहते हैं। यह कोई मूलभूत बात है?
मैं तुमसे इतना ही कहना चाहता हूं: पर-गमन पतन है। स्त्री-पुरुष का कोई सवाल नहीं है। अपने से हटना पतन है। स्व से च्युत होना पतन है। स्व में लीन होना, स्वात्माराम होना, स्व में ऐसे तल्लीन होना कि स्व ही सब संसार हो गया तुम्हारा; स्व के बाहर कुछ भी नहीं। वही तुम्हारा संगीत, वही तुम्हारा सुख। स्व तुम्हारा सर्वस्व हो गया, फिर कोई पतन नहीं है।
लेकिन लोग हिसाब-किताब में पड़े हैं। तुम धन के पागल हो, कोई महात्मा कहता है कि धन पाप है। तुम्हें जंचता है। तुम्हारी और महात्मा की भाषा एक है। यद्यपि विपरीत बात कहता लगता है, लेकिन तुम्हें भी जंचती है बात कि पाप है। जानते तो तुम भी हो कि धन इकट्ठा ही पाप से होगा। चूसोगे तो ही इकट्ठा होगा। इकट्ठा कैसे होगा? और धन चिंता लाता है यह भी तुम्हें पता

है। और धन की दौड़ में तुम न मालूम कितने अमानवीय हो जाते हो यह भी तुम्हें पता है। और धन पाकर भी कुछ मिलता नहीं यह भी तुम्हें पता है।
तो जब कोई महात्मा कहता है धन व्यर्थ, धन में कुछ सार नहीं; तुम्हें भी लगता है कि बड़ी ठीक बात कह रहा है। तब महात्मा समझाता है कि अब दान कर दो। दान महात्मा को कर दो। धन में कुछ सार नहीं है, धन असार है। और जब तुम महात्मा को दान कर देते हो तो महात्मा कहता है, तुम दानवीर हो, पुण्यात्मा हो--उसी धन के कारण, जो असार है। और जब तुम दुबारा आओगे तो तुम्हें आगे बैठने का मौका होगा। तुम्हें विशेष मौका होगा।
मैं एक महात्मा को सुनने गया--बचपन की बात है--तो वे ब्रह्मज्ञान की बातें कर रहे हैं और बीच में एक सेठ आ गये, सेठ कालूराम, तो ब्रह्मज्ञान छोड़ दिया: "आइये सेठजी।" मैं बड़ा हैरान हुआ कि ये ब्रह्मज्ञान में सेठजी कैसे आ गये? तो जैसी मेरी आदत थी, मैं बीच में खड़ा हो गया। मैंने कहा, अब ब्रह्मज्ञान छोड़ें। पहले यह सेठजी का क्या अध्यात्म है? सेठ शब्द का अध्यात्म पहले समझा दें।
उन्होंने कहा, "मतलब?"
मैंने कहा, "मतलब यह कि आप ब्रह्मज्ञान में डूबे थे, सेठजी आये कि नहीं आये, कि अमीर आया कि गरीब आया, यह हिसाब आपने क्यों रखा? इतने लोग आकर बैठे, किसी को आपने नहीं कहा कि आकर बैठ जाओ। एकदम ब्रह्मज्ञान रुक गया। और ब्रह्मज्ञान में यही आप समझा रहे थे कि धन में क्या रखा है। अरे, मिट्टी है। अरे, सोना मिट्टी है। इन सेठ के पास सिवाय उसी मिट्टी के और कुछ भी नहीं है। और वैसी मिट्टी सभी के पास है। तो इन सेठ में आपने क्या देखा, मुझे साफ-साफ समझा दें, जिसकी वजह से बीच में आप रुके और कहा, आयें सेठजी; और सामने बिठाया।"
नाराज हो गये महात्मा बहुत; बड़े क्रोधित हो गये। इतने नाराज हो गये कि आगबबूला हो गये। कहा कि हटाओ इस बच्चे को यहां से। तो मैंने कहा, महाराज, अभी आप समझा रहे थे कि क्रोध पाप है।
धीरे-धीरे ऐसी हालत हो गई कि जब भी गांव में कोई महात्मा आयें तो मुझे
घर में लोग बंद कर दें: "तुम जाना ही मत।" हालत ऐसी हो गई कि मेरी नानी, जिनके पास मैं बचपन से रहा, वे तो इतनी परेशान रहने लगीं कि जब मैं बड़ा भी हो गया और युनिवर्सिटी में प्रोफेसर भी हो गया तब भी जब मैं घर जाऊं और जाने लगूं घर से तो वे कहें, बेटा, किसी महात्मा से झगड़ा-फसाद मत करना। क्योंकि अब तू घर में रहता भी नहीं। अब वहां तू क्या करता है, पता भी नहीं हमें।
जब मैं गया आखिरी वक्त, उनकी आखिरी सांस टूट रही थी, उनको मिलने गया तो उन्होंने जो आखिरी बात कही, वह यही कही। आंख खोलकर उन्होंने कहा कि देख, अब मैं तो चली। तू एक बात का वचन दे दे कि महात्माओं से मत उलझना। आखिरी मरते वक्त! उनको एक ही फिकर लगी रही। क्योंकि बचपन में उनके पास था तो उनके पास बड़ी शिकायतें आतीं कि मैंने महात्मा से विवाद किया, महात्मा नाराज हो गये, कि उन्होंने डंडा उठा लिया, कि सब सभा गड़बड़ हो गई। और इस बच्चे को घर में रखो। और मैंने कभी कोई गलत सवाल नहीं पूछा। सीधी बात थी कि ब्रह्मज्ञान में सेठजी कैसे आते हैं?
लेकिन तुम्हारे गणित एक जैसे हैं। तुम्हारा महात्मा और तुम मौसेरे- चचेरे भाई हैं।
एक गणित के अध्यापक नाई के पास पहुंचे और पूछा नाई से, क्या हमारी हजामत कर सकते हो? नाई ने कहा, महाराज, क्यों नहीं? दूसरों की हजामत करना ही मेरा धंधा है। करूंगा। गणित के शिक्षक ने पूछा, हजामत का कितना लेते हो? नाई ने कहा, इसकी कुछ न पूछिये महाराज। जैसा काम वैसा दाम। एक रुपये से लेकर दस रुपये तक की बनाता हूं। गणित के शिक्षक! उन्होंने कहा, अच्छा तो एक रुपयेवाली बनाओ। नाई ने बाल काटे, हजामत बना दी एक रुपयेवाली। और उसने कहा, लीजिये बन गई। निकालिये रुपया।
गणित के शिक्षक ने कहा, एक रुपयेवाली बन गई तो अब दो रुपयेवाली बनाओ।
अब जरा नाई घबड़ाया। अब तो हजामत बन चुकी। अब वह दो रुपयेवाली कैसे बनाये? और गणित के शिक्षक! उन्हें तो गणित का हिसाब। यह सुनकर जब नाई घबड़ा गया तो

गणित के शिक्षक ने कहा, अरे घबड़ाता क्यों है, अबे घबड़ाता क्यों है? अभी तो दस रुपयेवाली तक बनवाऊंगा।
आदमी के गणित होते हैं।
मेरे स्कूल में जो ड्राइंग के शिक्षक थे वे किसी अपराध में पकड़ लिये गये। छह महीने की सजा हो गई। जब वे छूटने को थे तो मैं भी उनको जेल के द्वार पर लेने गया। प्यारे आदमी थे और ड्राइंग में बड़े कुशल थे। मैंने उनसे पहली ही जो बात पूछी निकलते ही उनके जेल से कि कैसा रहा जेल में? सब ठीक-ठाक तो रहा? उन्होंने कहा, और सब तो ठीक था लेकिन जेल का कमरा--नब्बे डिग्री के कोने नहीं थे।
नब्बे डिग्री के कोने! वे बड़े पक्के थे उस मामले में। कुल बात जो उनकी खोपड़ी में आयी जेल में छह महीने रहने के बाद, वह यह आयी कि जो जेल की कोठरी के कोने थे वे नब्बे डिग्री के नहीं थे। ड्राइंग के शिक्षक! वह नब्बे डिग्री का कोना होना ही चाहिए। वह उनको बहुत अखरा। अब मैं जानता हूं कि छह महीने उनको जो सबसे बड़ा कष्ट रहा होगा वह यही रहा कि ये जो कोने हैं, नब्बे डिग्री के नहीं हैं। जेल की तकलीफ न थी। जेल तो सह लिया, मगर नब्बे डिग्री के कोने न हों यह उनको बर्दाश्त के बाहर रहा होगा। चौबीस घंटे यही बात उनको सताती रही होगी।
आदमी अपने ढंग से चलता, अपने ढंग से सोचता। साधारण आदमी की भाषा यही है। साधारण आदमी परस्त्री में उत्सुक है। साधारण आदमी अपनी स्त्री में तो उत्सुक है ही नहीं। अपनी स्त्री से तो ऊबा हुआ है। अपनी स्त्री का तो सोचता है, किस तरह इससे छुटकारा हो। दूसरे की स्त्री में रस है। दूसरे की स्त्री बड़ी मनमोहक मालूम होती है। जो अपने पास है वह व्यर्थ मालूम पड़ता है, जो दूसरे के पास है वह मनमोहक मालूम पड़ता है।
ऐसी मनोदशा के व्यक्तियों को महात्मा भी मिल जाते हैं उनकी मनोदशा के। वे कहते हैं परस्त्री का ध्यान किया कि पाप हुआ। वह उनको बात जंचती है, क्योंकि वे परस्त्री का ही ध्यान कर रहे हैं। इस महात्मा में और उनकी भाषा में कोई भी भेद नहीं है। गणित एक है।
अब जो महात्मा परस्त्री इत्यादि की बातें कर रहा है यह कोई महात्मा है? महात्मा मौलिक बात कहेगा, आधारभूत बात कहेगा। वास्तविक संत वही कहेगा जो बहुत सारभूत है। इतनी बात जरूर संत कहेगा: स्वगमन, स्वसंभोग, स्वयं में डूब जाना, स्व-स्मृति, स्वास्थ्य मार्ग है। पररुचि, पर पर दृष्टि अस्वास्थ्य है। क्योंकि पर में जैसे ही तुम उत्सुक हुए कि तुम अपने केंद्र से च्युत होते हो। तुम्हारा केंद्र छूटने लगता है। तुम अपने से दूर जाने लगते हो।

आखिरी प्रश्न: आपकी बातें अनेकों को अप्रिय क्यों लगती हैं?

सुननेवाले पर निर्भर है। तुम अगर सच में ही सत्य की खोज में मेरे पास आये हो तो मेरी बातें तुम्हें प्रिय लगेंगी। और तुम अगर अपने मताग्रहों को सिद्ध करने आये हो कि मैं वही कहूं जो तुम मानते हो, तो अप्रिय लगेंगी। तुम अगर पक्षपात से भरे आये हो तो अप्रिय लगेंगी। तुम अगर खाली मन से सुनने आये हो, सहानुभूति से, प्रेम से तो बहुत प्रिय लगेंगी।
तुम पर निर्भर है। तुम्हारे मन में क्या चल रहा है इस पर निर्भर है। अगर तुम्हारे मन में कुछ भी नहीं चल रहा है, तुम परम तल्लीनता से सुन रहे हो, तो ये बातें तुम्हारे भीतर अमृत घोल देंगी। और अगर तुम उद्विग्नता से सुन रहे हो, हिंदू, मुसलमान, ईसाई होकर सुन रहे हो कि अरे, यह बात कह दी! हमारे महात्मा के खिलाफ यह बात कह दी। तो फिर तुम बेचैन हो जाओगे, तुम नाराज हो जाओगे। अप्रिय लगने लगेंगी। तुम पर निर्भर है।
अब जैसे, अभी मैंने दौलतराम खोजी की बात कही; तुम सब हंसे, सिर्फ दौलतराम खोजी को छोड़कर। मैं उनको जानता नहीं, लेकिन अब पहचानने लगा। क्योंकि इतने लोगों में सिर्फ एक आदमी नहीं हंसता है। अब दौलतराम खोजी को अप्रिय लग सकती है बात। क्योंकि नाम से मोह होगा कि मेरे खिलाफ कह दी। मैं उनके खिलाफ कुछ भी नहीं कह रहा हूं।

मैं तुमसे यह कहता हूं कि तुम न दौलतराम हो, न खोजी हो। नाम से तुम्हारा क्या लेना-देना! यह नाम तो सब दिया हुआ है। तुम अनाम हो।
अब अगर दौलतराम खोजी इस तरह सुनें कि अनाम हूं मैं, तो वे भी हंसेंगे। मगर वे पकड़कर सुन रहे हैं कि अच्छा, तो अब मेरे नाम के खिलाफ फिर कह दिया कुछ! तो उनको लग रहा होगा, जैसे मैं उनका दुश्मन हूं। आखिर उनके नाम के खिलाफ क्यों हूं? खिलाफ होने का मेरा कारण है; क्योंकि न तुम्हारे पास दौलत है न तुम्हारे पास राम है।
एक ही तो दौलत है दुनिया में: वह राम है। राम हो तो दौलत है। राम न हो
तो कुछ दौलत नहीं। और राम मिल जाये तो फिर खोज क्या करोगे? फिर खोजी नहीं हो सकते। राम जब तक नहीं मिला तब तक खोजी हो।
उनका नाम मुझे प्यारा लग गया इसलिए इतनी चर्चा कर रहा हूं। मगर वे नाराज हो सकते हैं, और बात अप्रिय लग सकती है। मगर देखने की बात है।
अपनी बानी प्रेम की बानी घर समझे न गली समझे
लगे किसी को मिश्री सी मीठी कोई नमक की डली समझे

इसकी अदा पर मर गई मीरा मोहे दास कबीर
अंधरे सूर को आंखें मिल गईं खाकर इसका तीर
चोट लगे तो कली समझे इसे सूली चढ़े तो अलि समझे
अपनी बानी प्रेम की बानी...।

बोली यही तो बोले पपीहा घुमड़े जब घनश्याम
जल जाये दीपक पे पतंगा लेकर इसी का नाम
पंछी इसे असली समझे पर पिंजरा इसे नकली समझे
अपनी बानी प्रेम की बानी...।

जिसने इसे ओठों पे बिठाया वह हो गया बेदीन
तड़पा उमर भर ऐसे कि जैसे तड़पे बिन जल मीन
बुद्धि इसे पगली समझे पर मन रस की बदली समझे
अपनी बानी प्रेम की बानी...।

मस्ती के बन की है यह हिरनिया घूमे सदा निर्द्वंद्व
रस्सी से इसको बांधो न साधो घर में करो न बंद
हम जो अरथ समझे इसका वह फूंकके बाती जली समझे
अपनी बानी प्रेम की बानी...।
समझो।
हम जो अरथ समझे इसका वह फूंकके बाती जली समझे
जो अपने अहंकार की बाती को फूंक देगा वही समझेगा। तुमने अगर अपने अहंकार से समझना चाहा तो तुम्हें चोट लगेगी।
हम जो अरथ समझे इसका वह फूंकके बाती जली समझे
अहंकार को जब बुझा दोगे फूंककर, तब तुम्हारे भीतर जो ज्योति जलेगी वही इसे समझेगी।
बुद्धि इसे पगली समझे पर मन रस की बदली समझे
बुद्धि से मत सुनना, हृदय से सुनना। विचार और विवाद से मत सुनना। तर्क
और सिद्धांत से मत सुनना, प्रेम और लगाव से सुनना।
...मन रस की बदली समझे
पंछी इसे असली समझे पर पिंजरा इसे नकली समझे
अगर तुम अपने पिंजरे से बहुत-बहुत मोहग्रस्त हो, अगर तुमने अपने कारागृह को अपना मंदिर समझा है तो फिर तुम मुझसे नाराज हो जाओगे। तुम्हें बड़ी चोट लगेगी।
पंछी इसे असली समझे पर पिंजरा इसे नकली समझे
लेकिन अगर तुमने मेरी बात सुनी और पिंजरे से अपना मोह न बांधा, और अपने पंछी को पहचाना जो पीछे छिपा है, पिंजरे के भीतर छिपा है, तो मेरी

बातें तुम्हारे लिए फिर से पंख देनेवाली हो जायेंगी; आकाश बन जायेंगी।
तुम्हारा पंछी फिर उड़ सकता है खुले आकाश में।
तुम पर निर्भर है।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
सड़सठवां प्रवचन

दृश्य से द्रष्टा में छलांग

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलंबते।
धीरास्तं तं न पश्यंति पश्यंत्यात्मानमव्ययम्।। २१६।।
क्व निरोधो विमूढ़स्य यो निर्बंधं करोति वै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः।। २१७।।
भावस्य भावकः कश्चिन्न किंचिद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः।। २१८।।
शुद्धमद्वयमात्मानं भावयंति कुबुद्धयः।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः।। २१९।।
मुमुक्षोर्बुद्धिरालंबमंतरेण न विद्यते।
निरालंबैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा।। २२०।।

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलंबते।
धीरास्तं तं न पश्यंति पश्यंत्यात्मानमव्ययम्।।

"उसको आत्मा का दर्शन कहां है, जो दृश्य का अवलंबन करता है? धीरपुरुष दृश्य को नहीं देखते हैं और अविनाशी आत्मा को देखते हैं।"
इस एक सूत्र में पूरब के समस्त दर्शन का सार है। दर्शन शब्द का भी यही अर्थ है। यह सूत्र दर्शन की व्याख्या है।
दर्शन का अर्थ सोच-विचार नहीं होता। दर्शन का वैसा अर्थ नहीं है, जैसा फिलासफी का। दर्शन का अर्थ है: उसे देख लेना जो सब देख रहा है। दृश्य को देखना दर्शन नहीं है, द्रष्टा को देख लेना दर्शन है।
मनुष्य को हम दो विभागों में बांट सकते हैं। एक तो वे, जो दृश्य में उलझे हैं। कहो उन्हें, अधार्मिक। फिर चाहे वे परमात्मा की मूर्ति सामने रखकर उस मूर्ति में ही क्यों न मोहित हो रहे हों, दृश्य में ही उलझे हैं। चाहे आकाश में परमात्मा की धारणा कर रसलीन हो रहे हों तो भी दृश्य में ही उलझे हैं। परमात्मा भी उनके लिए एक दृश्य मात्र है।
दूसरा वर्ग है, जो द्रष्टा की खोज करता है। मैं तुम्हें देख रहा हूं, तुम दृश्य हो। जो मेरे भीतर से तुम्हें देख रहा है, द्रष्टा है। तुम मुझे देख रहे हो, मैं तुम्हारे लिए दृश्य हूं। जो तुम्हारे भीतर छिपा मुझे देख रहा है, आंख की खिड़कियों से, कान की खिड़कियों से जो मुझे सुन रहा है, देख रहा है, वह कौन है? उसकी तलाश में जो निकल जाता है वही धार्मिक है। परमात्मा को अगर दृश्य की भांति सोचा तो तुम मंदिर-मस्जिद बनाओगे, गुरुद्वारे बनाओगे, पूजा करोगे, प्रार्थना करोगे, लेकिन वास्तविक धर्म से तुम्हारा संबंध न हो पायेगा। वास्तविक धर्म की तो शुरुआत ही तब होती है जब तुम द्रष्टा की खोज में निकल पड़े; तुम पूछने लगे मौलिक प्रश्न कि मैं कौन हूं! यह जाननेवाला कौन है? जानना है जाननेवाले को। देखना है देखनेवाले को। पकड़ना है इस मूल को, इस स्रोत को। इसके पकड़ते ही सब पकड़ में आ जाता है। उपनिषद कहते हैं, जिसने जाननेवाले को जान लिया उसने सब जान लिया। महावीर कहते हैं, एक को जान लेने से सब जान लिया जाता है। और वह एक प्रत्येक के भीतर बैठा है।
परमात्मा को दृश्य की तरह सोचना बंद करो। परमात्मा को द्रष्टा की तरह देखना शुरू करो। इसीलिए तो कहते हैं, आत्मा ही परमात्मा है। पहचान ली तो परमात्मा हो गई, न पहचानी तो आत्मा बनी रही। अगर तुम अपने ही भीतर गहरे उतर जाओ और अपनी ही गहराई का आखिरी केंद्र छू लो तो कहीं खोजने नहीं जाना। तुम मंदिर हो। परमात्मा तुम्हारे भीतर विराजमान है।
लेकिन यात्रा की दिशा बदलनी पड़ेगी। दृश्य है बाहर, द्रष्टा है भीतर। दृश्य है पर, द्रष्टा है स्व। दृश्य को देखना हो तो आंख खोलकर देखना पड़ता है। द्रष्टा को देखना हो तो आंख बंद कर लेनी पड़ती है। दृश्य को देखना हो तो विचार की तरंगें सहयोगी होती हैं। और द्रष्टा को देखना हो तो निर्विचार,

अकंप दशा चाहिए। दृश्य को देखना हो तो मन उपाय है, और द्रष्टा को देखना हो तो ध्यान।
ध्यान का अर्थ है, मन से मुक्ति। मन का अर्थ है, ध्यान से मुक्ति।
जिसने ध्यान खोया वह मन बना और जिसने मन खोया वह ध्यान बना। जरा-सी ही बात है: बाहर न देखकर भीतर देखना।
सूफी फकीर औरत हुई राबिया। अनूठी औरत हुई राबिया। जमीन पर बहुत कम वैसी औरतें हुई हैं। बैठी है अपनी झोपड़ी में, सुबह का ध्यान कर रही है। उसके घर एक मुसलमान फकीर ठहरा हुआ था, हसन। वह भी बड़ा प्रसिद्ध फकीर था। तुम्हें फर्क समझ में आ जायेगा, जो फर्क मैं समझा रहा हूं। सुबह हुआ था, सूरज निकला था, पक्षी गीत गाने लगे। सुंदर सुबह थी। आकाश में शुभ्र बदलियां तैरती थीं। ठंडी हवा चलती थी। हसन बाहर आया, उसने देखा यह सौंदर्य। उसने जोर से पुकारा, राबिया, तू भीतर क्या करती? अरे बाहर आ! परमात्मा ने बड़ी सुंदर सुबह को जन्म दिया है। पक्षियों के प्यारे गीत हैं, सूरज का सुंदर जाल है, ठंडी हवा है। तू बाहर आ, भीतर क्या करती है?
और राबिया खिलखिलाकर हंसी। और कहा, हसन, बाहर कब तक रहोगे? तुम ही भीतर
आ जाओ। क्योंकि बाहर परमात्मा की बनी हुई सुबह को तुम देख रहे, भीतर मैं स्वयं उसे देख रही जिसने सुबह बनाई। सुबह सुंदर है, लेकिन सुबह के मालिक के मुकाबले क्या? सूरज सुंदर है, रोशन है, लेकिन जिसके हाथ के इशारे से रोशनी सूरज में पैदा हुई उसके मुकाबले क्या! और पक्षियों के गीत बड़े प्यारे हैं, लेकिन मैं उस मालिक का गीत सुन रही हूं जिसने सारे गीत रचे; जो सभी पक्षियों के कंठों से गुनगुनाया है। हसन, तुम्हीं भीतर आ जाओ।
हसन तो चौंककर रह गया। हसन ने न सोचा था कि बात ऐसा मोड़ ले लेगी। लेकिन राबिया ने ठीक कहा।
ये हसन और राबिया, ये आदमियत के दो प्रतीक हैं। हसन बाहर की तरफ खोज रहा है, राबिया भीतर की तरफ खोज रही है। हसन दृश्य में खोज रहा है। दृश्य भी सुंदर है; नहीं कि दृश्य सुंदर नहीं है। पर दृश्य का सौंदर्य ऐसे ही है जैसे चांद को किसी ने झील में झलकते देखा हो। छाया है झील में तो। प्रतिबिंब है झील में तो। वास्तविक चांद झील में नहीं है।
जिसने चांद को देख लिया। वह झील में देखनेवाले को कहेगा पागल, तू कहां उलझा है दृश्य में! मूल को खोज। यह तो छाया है। यह तो प्रतिबिंब है।
जो हम बाहर देखते हैं वह हमारा ही प्रतिबिंब है। संसार दर्पण से ज्यादा नहीं है। जब तुम्हारा मन रस से भरा होता है तो बाहर भी रस दिखाई पड़ता है। जब तुम गीत से भरे होते हो तो बाहर भी गीत सुनाई पड़ते हैं। जब तुम आनंदित होते हो तो लगता है, सारा जगत महोत्सव है। जब तुम दुखी हो जाते हो, सारा जगत दुखी हो जाता है। जब तुम पीड़ा से भर जाते हो तो फूल दिखाई नहीं पड़ते, कांटे ही कांटे हाथ आते हैं।
जो तुम्हारे भीतर हो रहा है वही बाहर झलकता है। तुम बाहर की व्याख्या
तो भीतर से ही करोगे न! व्याख्या तो भीतर से आयेगी। व्याख्या तो द्रष्टा से आयेगी। दृश्य में तुम्हें जो दिखाई पड़ रहा है वह भी द्रष्टा की ही छाया है।
एक कवि इस बगीचे में आ जाये और एक संगीतज्ञ इस बगीचे में आ जाये और एक चित्रकार इस बगीचे में आ जाये और दूकानदार इस बगीचे में आ जाये और एक लकड़हारा इस बगीचे में आ जाये; सभी एक ही बगीचे में दिखाई पड़ते हैं लेकिन एक ही बगीचे में होंगे नहीं।
लकड़हारा सोचता होगा कौन-कौन से वृक्ष काट डाले जायें। कौन-सी लकड़ी बिक सकेगी। कौन-सी लकड़ी फर्नीचर बन सकेगी, कौन-सी लकड़ी जलाऊ हो सकेगी। शायद दूकानदार को वृक्ष दिखाई ही न पड़ें। या इतना ही दिखाई पड़े कि इनके फल बिक जायें तो कितने दाम हाथ आ सकेंगे। दूकानदार रुपये ही गिनते रहे।
कवि को कुछ और दिखाई पड़ेगा। फूल दिखाई पड़ेंगे, फूलों में छाई हुई आभा दिखाई पड़ेगी। कवि के भीतर, जैसे बाहर फूल खिले हैं वैसे भीतर गीत फूटने लगेंगे।

चित्रकार को रंगों का दर्शन होगा। उसे ऐसे रंग दिखाई पड़ेंगे जो तुम्हें साधारणतः दिखाई नहीं पड़ते। तुम तो जब देखते हो, तो सभी वृक्ष हरे मालूम होते हैं। चित्रकार जब देखता है तो एक-एक वृक्ष अलग-अलग ढंग से हरा मालूम होता है। हरे में भी कितने भेद हैं। हरे में भी कितने हरेपन छिपे हैं। हरे में भी कितने ढंग हैं। सब हरा हरा नहीं है, हरे और हरे में बड़ा फर्क है। व?ह तो चित्रकार को दिखाई पड़ेगा।
जो तुम्हारे भीतर है उसकी छाया तुम्हें बाहर दिखाई पड़ती है। और अगर कोई एक संत आ जाये, राबिया आ जाये उस बगीचे में तो फूल के सौंदर्य को देखकर उसकी आंखें बंद हो जायेंगी। फूल का सौंदर्य उसकी आंखों को झपका देगा, क्योंकि फूल के सौंदर्य से उसे परमात्मा के सौंदर्य की याद आ जायेगी। बाहर का सौंदर्य उसे भीतर फेंक देगा। वह आंख बंद कर लेगी। बाहर का फूल तो भूल जायेगा, निमित्त हो गया, भीतर का फूल दिखाई पड़ने लगेगा। बाहर के गीत सुनकर राबिया किसी अंतर्यात्रा पर निकल जायेगी। बाहर का गीत तो बहुत दूर रह जायेगा।
दृश्य, हर दृश्य द्रष्टा की खबर लायेगा--लाता ही है, हम अंधे हैं। भीतर
की तरफ अंधे हैं इसलिए हम वस्तुओं में उलझे रह जाते हैं।
पहला सूत्र आज का है:
क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलंबते।
उसको आत्मा का दर्शन कहां, कैसे--असंभव है--जो दृश्य का अवलंबन करता है। जो दृश्य के पीछे भागा चल रहा है, वह अपने से दूर निकलता जायेगा। जैसे- जैसे दृश्य के पीछे भागेगा वैसे-वैसे अपने केंद्र से च्युत हो जायेगा। दृश्य तो मिलेगा नहीं, क्योंकि दृश्य तो मृग-मरीचिका है। वह जो झील में दिखाई पड़ता है चांद, तुम अगर डुबकी लगा लिये झील में चांद को पकड़ने को तो क्या तुम पा सकोगे? छाया भी खो जायेगी तुम्हारे डुबकी लगाने से। पानी की सतह हिल जायेगी। वह जो प्रतिबिंब बनता था वह भी खंड-खंड होकर पूरी झील पर बिखर जायेगा। पूरी झील पर चांदी फैल जायेगी, लेकिन तुम पकड़ न पाओगे। तुम पगला जाओगे।
ऐसे ही तो सारा जगत पागल है। दिखाई पड़ता है दूर क्षितिज पर सौंदर्य, दौड़ते हो तुम; जब तक मुट्ठी में आता है, तब तक सब बिखर जाता है। सुंदर से सुंदर स्त्री तुम्हारे मुट्ठी में आते ही कुरूप हो जाती है। सुंदर से सुंदर पुरुष तुम्हारे हाथ में आते ही कुरूप हो जाता है। इसलिए तो अपनी स्त्री किसको सुंदर दिखाई पड़ती है? सदा दूसरे की स्त्री सुंदर दिखाई पड़ती है। इसीलिए तो अपना घर किसको महल मालूम पड़ता है? सदा दूसरे का घर महल मालूम पड़ता है। जो नहीं है मुट्ठी में वही सुंदर लगता है; मुट्ठी में आते ही सब बिखर जाता है।
छायायें हैं इस जगत में। प्रतिबिंब हैं इस जगत में। दूर से बड़े लुभावने। दूर के ढोल बड़े सुहावने। पास आते-आते सब खो जाता है। सत्य की परिभाषा है: जो पास आने पर और सत्य हो जाये। असत्य की परिभाषा है: जो दूर से सत्य मालूम पड़े, पास आने पर खो जाये। महापुरुष की परिभाषा है: जिसके पास आओ तो और बड़ा होने लगे। महापुरुष के नाम से जो धोखा देता है उसके पास आओगे, छोटा होने लगेगा। जैसे-जैसे पास आओगे वैसे-वैसे छोटा हो जायेगा। जब बिलकुल पास जाओगे, तुम्हारे ही कद का हो जायेगा। शायद तुमसे भी छोटे कद का साबित हो। दूर से दिखाई पड़ता है बड़ा।
इसीलिए तो राजनेता किसी को बहुत पास नहीं आने देते। कहते हैं अडोल्फ हिटलर ने किसी से कभी मैत्री नहीं बनाई। एक भी आदमी ऐसा न था जो उसके कंधे पर हाथ रखकर मित्र की तरह व्यवहार कर सके। अडोल्फ हिटलर ने कभी किसी स्त्री को इस तरह से प्रेम नहीं किया कि वह करीब आ जाये। अडोल्फ हिटलर के कमरे में कभी कोई नहीं सोया। कोई स्त्री भी नहीं सोयी। कारण? अडोल्फ हिटलर बरदाश्त नहीं करता था किसी का पास आना। उसका बड़प्पन दूर के ढोल का सुहावनापन था। वह बड़ा था दूर होकर; पास आकर छोटा हो जाता। जानता था। सभी राजनेता जानते हैं।
तुम जब राजपदों की आकांक्षा करते हो तो तुम क्या आकांक्षा कर रहे हो? तुम यही आकांक्षा कर रहे हो, तुम तो छोटे हो, कुर्सियों पर खड़े होकर बड़े हो

जाओगे। तुम बचकाने हो। कभी-कभी छोटे बच्चे करते हैं। बाप के पास मूढ़े पर खड़े हो जाते हैं और कहते हैं, देखो पिताजी, तुमसे बड़ा हो गया। राजनीति बस इसी तरह का बचकानापन है। कुर्सी पर बैठकर लोग बड़े हो जाते हैं। राष्ट्रपति के पद पर बैठकर आदमी राष्ट्रपति मालूम होने लगता है, पद से उतरते ही खो जाता है। फिर कोई फिकर नहीं लेता, कोई जयरामजी करने नहीं आता। इसीलिए तो जो आदमी पद पर पहुंच जाता है, पद से हटता नहीं। लाख सरकाओ, लाख उपाय करो, वह टस से मस नहीं होता। वह चाहता है उसी पद पर रहते-रहते मर जाये। अब पद से नीचे न उतरे। क्योंकि वह जानता है, वह जो बड़प्पन अनुभव हो रहा है वह झूठ है। वह पद के कारण है; वह कुर्सी से मिला है। अपना नहीं है, आत्मगौरव नहीं है, पदगौरव है।
जिस व्यक्ति को आत्मा का थोड़ा रस आने लगता है वह पदों में उत्सुक न रह जायेगा।
फिर पद का एक फायदा है कि तुम जैसे ही पद पर होते हो, दूसरे पास नहीं आ सकते। यही धन का भी फायदा है। जितनी बड़ी धन की ढेरी पर तुम खड़े होते हो, लोग उतने दूर छूट जाते हैं। कोई पास नहीं आ सकता।
ये छोटे आदमियों की दौड़ें हैं। हीन ग्रंथियों से पीड़ित आदमियों की दौड़ें हैं। लेकिन अधिक लोग इसमें व्यस्त होते हैं।
दृश्य की तलाश में आत्मा का दर्शन कहां? अष्टावक्र कहते हैं, दृश्य का
जो अवलंबन करता है वह कभी अपने को न पा सकेगा। और जिसने अपने को न पाया वह सब भी पा ले तो उस पाने का सार क्या है? जीसस ने कहा है, तुम सारी दुनिया भी पा लो और स्वयं को खो दो, यह कोई सौदा हुआ? इसको जीत समझते हो? यह तो महाऱ्हार हो गई। इससे बड़ी और पराजय क्या होगी? अपने को गंवा दिया, सब कमा लिया।
कमाने योग्य तो एक ही बात है: वह, जो तुम्हारे भीतर छिपा बैठा है। वही
है परम धन, वही है परम पद। उसे नहीं पाया तो समझना, तुम भिखमंगे रहे और भिखमंगे मरे। फिर तुम कितनी ही बड़ी कुर्सियों पर चढ़ जाओ; तुम कितनी ही सीढ़ियां चढ़ जाओ, और तुम कितने ही धन के ढेर लगा लो, और तुम सारी पृथ्वी के मालिक हो जाओ, अगर तुम अपने मालिक नहीं हो तो तुम दीन हो, तुम दरिद्र हो। और अगर तुम अपने मालिक हो और तुम्हारे पास कुछ भी न हो तो भी तुम्हारी समृद्धि अपूर्व है; तुम सम्राट हो।
स्वामी राम अपने को बादशाह कहते थे। था तो नहीं उनके पास कुछ भी। बोलते थे तो भी वे अपने को राम बादशाह ही कहते थे। कि आज सुबह राम बादशाह घूमने गया तो वृक्ष झुक-झुककर सलाम बजाने लगे। आज रात राम बादशाह जा रहा था तो चांदत्तारे परिक्रमा करने लगे।
इस देश में तो ऐसी बात चलती है। इस देश में कोई इसमें अड़चन नहीं लेता;
हम इसके आदी हैं। लेकिन जब वे अमरीका गये तो लोगों को यह बात न जंची। लोगों ने कहा, आप कह क्या रहे हैं? क्योंकि अमरीका में तो यह पागलपन का लक्षण हो जाये। चांदत्तारे और आपका चक्कर लगाने लगे? और वृक्ष झुक-झुककर सलाम बजाने लगे? होश में हैं? और आप अपने को राम बादशाह कहते हैं, और दो लंगोटी आपके पास हैं।
और राम बादशाह ने कहा, इसीलिए तो कहता हूं कि मैं बादशाह हूं, क्योंकि मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है, जो छीना जा सके। और मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है जो मौत मेरे हाथों से छुड़ा लेगी। मेरी मालकियत ऐसी है कि मौत भी हार जायेगी। और मेरी मालकियत ऐसी है कि कोई छीन न सकेगा। इसलिए तो बादशाह कहता हूं अपने को। मेरी हंसी देखो, मेरी आंखों में झांको। मेरी बादशाहत भीतरी है। मेरी बादशाहत वही है जिसको जीसस ने किंगडम आफ गाड: प्रभु का राज्य कहा है। मेरी आंखों में आंखें डालो और देखो, मेरी बादशाहत भीतर है। मैंने अपने को पा लिया है इसलिए कहता हूं कि मैं बादशाह हूं। और तुम सब गरीब हो, दीन-दरिद्र हो। होंगे करोड़ों रुपये तुम्हारे पास, धन-वैभव होगा, फिर भी मैं तुमसे कहता हूं, तुम दीन-दरिद्र हो।
इन्हीं अमीरों के लिए, जिनके पास बाहर का सब कुछ है और भीतर का कुछ नहीं है, जीसस का प्रसिद्ध वचन है: सुई के छेद से भी ऊंट निकल सकता है लेकिन ऐ अमीर लोगो! तुम प्रभु के राज्य में प्रवेश न पा सकोगे।

सुई के छेद से ऊंट भी निकल सकता है--यह असंभव है। सुई के छेद से कैसे ऊंट निकलेगा? लेकिन जीसस कहते हैं, यह असंभव भी शायद किसी तरकीब से संभव हो जाये। सुई के छेद से भी ऊंट निकल जाये, लेकिन ऐ अमीर लोगो! तुम प्रभु के राज्य में प्रवेश न पा सकोगे। कारण? कारण कि तुम अमीर ही नहीं हो। कारण कि तुम तो अत्यंत दीन हो, अत्यंत दरिद्र हो। तुम्हारे भीतर तो कुछ भी नहीं, खालीपन, सूखा-सूखा मरुस्थल। एक भी मरूद्यान नहीं तुम्हारे भीतर। तुम भीतर तो कोरे-कोरे। तुमने तो भीतर की संपदा जगाई ही नहीं।
दृश्य के पीछे जो भागता रहेगा, दृश्य तो मिलेंगे ही नहीं और द्रष्टा
खो जायेगा। यह दौड़ बड़ी महंगी है। और अधिकतर लोग इसी दौड़ में हैं। बहुत बार अनुभव में भी आता है कि जिसकी तलाश करते थे, जब मिलता है तो कुछ भी मिलता नहीं। लेकिन फिर मन के जाल बड़े गहरे हैं। मन कहता है: शायद इस बार चूक गये, अगली बार हो जाये। फिर वासनायें आ जाती हैं, फिर नये प्रलोभन आ जाते हैं। फिर आ गये राजाधिराज चाबुक घुमाते
सफेद घोड़े दौड़ाते, सूरज का मुकुट झिलमिलाते
फिर बच्चे फूल बीनने लगे
क्या मैं कभी जाड़े की सुगंध से छूटूंगी नहीं?
बंधी ही रहूंगी गरमाहट की इच्छा से?
हर बार हर साल धूप की भाप बर मोम-सी घुलूंगी?
खोदूंगी स्पर्श-निरपेक्ष स्व?
इस असहायता से मुक्त हो जाऊं,
विदेह हो आऊं
फिर आ गये राजाधिराज चाबुक घुमाते
सफेद घोड़े दौड़ाते, सूरज का मुकुट झिलमिलाते?
वासना पीछा नहीं छोड़ती। कई बार लगता है, कई बार गहन अभीप्सा उठती है,
कब मुक्त हो जाऊं? कब छूटे यह जाल? कब छूटे यह जंजाल? कब होगी मुक्ति? कब होगा खुला आकाश? जहां कोई मांग परिधि न बनेगी, और जहां कोई वासना दूषित न करेगी, जहां चैतन्य का दीया निर्धूम जलेगा, जहां भिखमंगापन जरा भी न होगा, जहां अपने में तृप्ति परिपूर्ण होगी और उससे बाहर जाने की कोई कल्पना भी न उठेगी, जहां स्वप्न थरथरायेंगे नहीं, जहां अकंप होगी चैतन्य की शिखा--कब आयेगा वैसा क्षण?
ऐसा बहुत बार बोध भी आता, लेकिन फिर आ जाते वासना के घोड़े दौड़ाते।
फिर आ गये राजाधिराज चाबुक घुमाते?
फिर पकड़ लेता मन। फिर कोई कहता है, एक बार और। थोड़ा और दौड़ लो।
टालस्टाय की बड़ी प्रसिद्ध कहानी है: कितनी जमीन एक आदमी को जरूरी है?
एक संन्यासी, एक घुमक्कड़, एक साधारण सुखी परिवार में ठहरा। साधारण सुखी परिवार, खाता-पीता, मस्त था। सीधे-सादे लोग थे। लेकिन इस घुमक्कड़ ने रात को कहा, तुम क्या कर रहे हो यहां? तुम जिंदगी भर इसी छोटी-सी जमीन में खेती- बाड़ी करते रहोगे, कभी अमीर न हो पाओगे।
यह आदमी, जिसके घर यह घुमक्कड़ मेहमान था, गरीब था ही नहीं, क्योंकि इसे कभी अमीर होने का खयाल ही न उठा था। उस रात गरीब हो गया। उस घुमक्कड़ ने कहा, इसमें ही पड़े रहोगे, कभी अमीर न हो पाओगे। अमीरी का खयाल उठा कि गरीब हो गया। रात सो न सका। रोज निश्चिंत सोता था, उस रात बड़ी उधेड़बुन रही। सुबह उठकर घुमक्कड़ से पूछा कि तुम तो सारी जमीन पर घूमते हो, कोई ऐसी जगह है जहां मैं अमीर हो जाऊं? उसने कहा, ऐसी जगह है साइबेरिया में। वहां अजीब लोग हैं, अभी भी जंगली। उनको अभी भी कुछ अक्ल नहीं है। वहां तुम चले जाओ। इतनी जमीन बेच दो यहां। इतने पैसे में तो वहां तुम जितनी जमीन चाहो, ले लो। फिर तो क्या था, वासना जाग गई। उस आदमी ने जमीन-मकान सब बेच दिया। बच्चे-पत्नी बहुत रोये। उसने कहा, तुम घबड़ाओ मत, जल्दी ही हम अमीर हो जायेंगे। अमीर वे थे ही, क्योंकि कभी गरीबी का खयाल ही न उठा था। मस्त थे, लेकिन बड़ी बुरी तरह से गरीब हो गये।
वह सब बेच-बाचकर पहुंचा दूर साइबेरिया में। वहां जाकर पता चला कि घुमक्कड़ ने ठीक कहा था। अजीब लोग थे। घुमक्कड़ ने कहा था, तुम बस किसी भी कबीले के प्रमुख को प्रसन्न कर लेना। और प्रसन्न वे छोटी-छोटी बातों से हो

जाते हैं। हुक्का ले जाना, तमाखू ले जाना, शराब ले जाना, बस भेंट कर देना। वह खुश हो जाये तो तुम कहना, थोड़ी जमीन चाहिए। उसने खुश कर लिया एक प्रमुख को। प्रमुख ने कहा, तो ले लो जितनी जमीन...कितनी चाहिए? तो वह कुछ सोच न पाया। तो उसने कहा, ऐसा करो, प्रमुख ने कहा, कल सुबह सूरज उगते तुम निकल पड़ना। और जितनी जमीन तुम घेर लो सांझ सूरज डूबने तक, सब तुम्हारी। जितने का चक्कर लगा लो।
वह आदमी तो दीवाना हो गया कि इतनी जमीन, जितने का दिन भर में मैं चक्कर लगा लूं? फिर रात भर सो न सका। रात भर चक्कर लगाता रहा। रात भर सपने में दौड़ता रहा, दौड़ता रहा। सुबह उठा तो बड़ा थका-मांदा था। नींद ही न हुई थी और रात भर दौड़ा था। एक दुखस्वप्न था। लेकिन उसने कहा, कोई हर्जा नहीं। उसने सुबह नाश्ता भी न किया, क्योंकि पेट भारी होगा तो शायद ज्यादा चक्कर न लगा पाये। सिर्फ उसने पानी की एक थर्मस लटका ली।
और वह तो भागा। इतनी तेजी से भागा, जीवन में कभी भागा नहीं था। एकदम तीर की तरह भागा। एक क्षण खोना खतरनाक था। उसने तय कर रखा था मन में कि ठीक बारह बजते-बजते जब सूरज सिर पर होगा तो लौटना शुरू कर दूंगा, क्योंकि फिर लौटना भी है। लेकिन जब सूरज सिर पर था तो मन मोहने लगा कि थोड़ा और। कई मील चल चुका था। इतना विराट घेर लिया था और इतनी सुंदर जमीन थी। जब सूरज सिर पर आया तो उसने कहा, थोड़ा और घेर लूं। जरा जोर से दौड़ना पड़ेगा, और क्या! एक दिन की ही बात है, और दौड़ लूंगा।
उसने रुककर पानी भी न पीया, क्योंकि प्यास तो लगी थी लेकिन रुककर पानी पीये, उतना समय खो जाये। उतनी देर में तो एकड़-दो एकड़ घेर ले। सूरज ढलने लगा लेकिन मन लौटने का न हो। सोचा उसने, जीवन दांव पर लगा लूं। एक ही दिन की तो बात है।
फिर लौटा; अब बड़ी मुश्किल हो गई। अब वह भाग रहा है, भाग रहा है, दिन भर
का थका-मांदा। सूरज ढलने-ढलने को होने लगा; वह भाग रहा है, वह भाग रहा है। सारा गांव खड़ा है देखने के लिए। और लोग उसे उत्साहित कर रहे कि दौड़, क्योंकि सूरज डूब रहा है। अगर सूरज डूबते तक न लौटा तो सब गया। डूबते तक लौट आना चाहिए, यह शर्त थी। उसने सारा जीवन दांव पर लगा दिया। अब तो बहुत ही करीब रह गया है और सूरज बिलकुल क्षितिज छू रहा है। उसने सारी शक्ति आखिरी बार इकट्ठी की; बची भी नहीं थी शक्ति, सब दांव पर लगा दी। भागा। लेकिन जो रेखा खींची गई थी उस पर पहुंचते-पहुंचते गिर पड़ा। सूरज ढल ही रहा था। पहुंच गया ठीक वक्त पर, लेकिन गिरते ही मर गया।
और गांव भर के लोग खूब हंसे। और उन्होंने उसकी कब्र बना दी और कब्र पर लिख दिया: एक आदमी को कितनी जमीन चाहिए। छह फीट! छह फीट कब्र बनी। मीलों घेर ली थी, वह सब व्यर्थ चली गई।
यह टालस्टाय की बड़ी प्रसिद्ध कहानी है: "हाऊ मच लैंड डज ए मैन रिक्वायर।" कितनी जमीन? छह फीट काफी हो जाती है। वासना बढ़ती चली जाती। वासना कोई छोर नहीं मानती। तुम दौड़ते ही चले जाते।
मेरे एक मित्र हैं, मुझसे उन्होंने कहा कि आप कहते हैं कि आदमी को अंतिम समय में प्रभु में ध्यान लगा देना चाहिए। तो उनकी उम्र है कोई साठ साल। तो मैंने कहा, अब अंतिम समय तो आ ही गया। अब और क्या राह देख रहे? उन्होंने कहा, बस ऐसा करें, पांच साल का मुझे और वक्त दें। मैंने कहा, तुम्हारी मर्जी। क्योंकि वक्त तुम्हारा, उम्र तुम्हारी, ध्यान तुम्हारा; मेरी तो कुछ इसमें जबर्दस्ती चल नहीं सकती। तुम्हारी मौज। लेकिन पांच साल का पक्का है कि बचोगे? वे हंसने लगे। कहने लगे कि आप भी कैसी बात करते हैं। अरे आपके आशीर्वाद से बचेंगे। क्यों नहीं बचेंगे! मैंने कहा, मेरे आशीर्वाद से तुम्हारा क्या लेना-देना! न मेरे आशीर्वाद से तुम पैदा हुए, न मेरे आशीर्वाद से तुम जी रहे हो, न मेरे आशीर्वाद से बचोगे। इन धोखों में मत पड़ो।
वे जरा दुखी भी हो गये। कहने लगे, ऐसी बात तो नहीं कहनी चाहिए। आप तो
कम से कम आशीर्वाद दें। मैंने कहा कि मुझे आशीर्वाद देने में कुछ खर्च नहीं लगता। इसीलिए तो साधु-महात्मा आशीर्वाद देते हैं। कुछ हर्जा ही नहीं है। आशीर्वाद देने में मेरा क्या बिगड़ता है? आशीर्वाद लो। लेकिन पांच साल

में पक्का है, अगर बच गये तो फिर? उन्होंने कहा, फिर तो संन्यास ले लेना है। सब बंद कर दूंगा। हो गया!
पांच साल भी पूरे हो गये। जब मैं दुबारा उनके घर मेहमान हुआ तो वे बड़े बेचैन थे। वे अकेले में मेरे पास न बैठें, इधर-उधर घूमें। मैंने कहा कि घूमने से क्या होगा? पांच साल पूरे हो गये। कहा, आप कहते तो ठीक हैं। पांच साल का और वक्त दे दें। तो मैंने उन्हें टालस्टाय की यह कहानी सुनाई: "हाऊ मच लैंड डज ए मैन रिक्वायर।" तो तुम कहे थे पैंसठ साल, अब बदलते हो? नहीं, वे कहने लगे बदलता नहीं हूं। अपनी बात पर रहूंगा लेकिन कई काम उलझे पड़े हैं, धंधे अधूरे पड़े हैं, बच्चे युनिवर्सिटी में हैं, आते हैं, उलझनें हैं, सब इनको निपटा लूं।
पांच साल में मैंने कहा, उलझनें निपट जायेंगी? क्योंकि उलझनें किसी
की कभी नहीं निपटीं। पांच साल तो क्या, पचास साल और जीयो तो भी नहीं निपटेंगी। क्योंकि पांच साल में उलझनें निपटाओगे तो जरूर, लेकिन उलझनें खड़ी भी तो करोगे।
उन्होंने कहा कि नहीं, इस बार बिलकुल पक्का कहता हूं। कहो तो लिखकर दे दूं। मैंने कहा, आप लिखकर ही दे दो। तो डरने लगे। कहा, नहीं आप भी क्या बात करते हैं। बात कह दी, लिखना क्या? मैंने कहा, तुम लिख ही दो। शायद पांच साल बाद तुम फिर बदल जाओ। लिखकर उन्होंने मुझे दिया। जब पांच साल फिर निकल गये तो मैंने उन्हें तार किया कि पांच साल पूरे हो गये। वे आये और कहने लगे, क्षमा करें। यह मुझसे न हो सकेगा। और अब आपसे दुबारा पांच साल मांगूं इसकी भी हिम्मत नहीं पड़ती। लेकिन यह मुझसे हो न सकेगा।
मैंने कहा, मरोगे या नहीं मरोगे? मरते वक्त क्या करोगे? मौत द्वार पर खड़ी हो जायेगी...मुझे तो तुम कहते हो कि नहीं हो सकेगा; मौत से क्या कहोगे? वे कहने लगे, कौन आज मरा जाता हूं। जब आयेगी मौत तब देख लेंगे।
ऐसे आदमी सरकाता चलता। ऐसे आदमी हटाता चलता। जीवन ऐसे रत्ती-रत्ती हाथ से रिक्त होता जाता। एक-एक बूंद टपकती है इस गागर से और गागर खाली होती जा रही है। और तुम कहते हो कल, और तुम कहते हो परसों। दृश्य के पीछे दौड़ते रहो, कभी कोई सुख संभव नहीं है।
जागते में जागता भागता हूं
अंधेरी गुफा में खोजता हुआ दरार
चौड़ाने को
झांकने को पार
जागने को
यह तुम जिसको जागरण कहते हो यह जागरण नहीं है।
जागते में जागता भागता हूं
अंधेरी गुफा में खोजता हुआ दरार
चौड़ाने को
झांकने को पार
जागने को
तुम अभी जागे कहां? अभी तो अंधेरी गुफा में दौड़ रहे। अभी तो तुम दरार
ही खोज रहे हो कि कहीं से दरार मिल जाये, थोड़ी रोशनी मिल जाये, थोड़ा सुख मिल जाये। अभी तो तुम चेष्टा कर रहे हो कि थोड़ा कहीं से द्वार मिल जाये तो जाग जाऊं।
यह तुम्हारा जागरण वास्तविक जागरण नहीं है। जागता तो वही है जो भीतर
की तरफ चलता है। बाहर की तरफ चलनेवाला आदमी तो सोता ही चला जाता है। दरार मिलेगी नहीं, दरार होगी तो भी खो जायेगी। और यह अंधेरी गुफा और बड़ी हो जायेगी। ऐसे तो कभी सूरज मिला ही नहीं। बाहर चलकर तो आदमी अंधेरे और अंधेरे में चला गया है। बाहर अंधेरा है, भीतर रोशनी है। भीतर है ज्योतिपुंज। भीतर अहर्निश जल रहा है दीया। और तुम कहां भटक रहे?
जो देखा, सपना था
अनदेखा अपना था
जो-जो तुमने देखा है, सब सपना है। दृश्यमात्र सपना है। यही तो पूरब की अपूर्व धारणा है माया की। माया का अर्थ है:

जो देखा, सपना था
अनदेखा अपना था
बस एक चीज अनदेखी है, वह तुम स्वयं हो। उसको तुमने कभी नहीं देखा। और
तो तुमने सब देख डाला, सारा संसार देख डाला। दूसरे तो तुमने खूब देख लिये। एक चीज अनदेखी रह गई है: तुम्हारा स्वयं का स्वरूप।
अष्टावक्र कहते हैं:
धीरास्तं तं न पश्यंति पश्यंत्यात्मानमव्ययम्।
"धीरपुरुष दृश्य को नहीं देखते हैं, अविनाशी आत्मा को देखते हैं।"
और जिसने इस अविनाशी, अव्यय आत्मा को देख लिया उसने दृश्यों का दृश्य देख लिया। जो पाने योग्य था, पा लिया। जो सार था, उसके हाथ आ गया; जो असार था, उसने छोड़ दिया।
तुम्हारे भीतर अमृत विराजमान है। जिसके लिए तुम तरस रहे हो वह तुम्हारे भीतर छिपा पड़ा है। जिस धन को तुम खोजने निकले हो उस धन का अंबार तुम्हारे भीतर लगा है। संपत्ति भीतर है, बाहर तो विपत्ति है। संपदा भीतर है, बाहर तो विपदा है। उलझन बढ़ती है, घटती नहीं। समस्यायें गहरी होती हैं, हल नहीं होतीं।
समाधि और समाधान तो भीतर हैं। बाहर तो सिर्फ समस्याओं का जाल फैलता चला जाता है। एक समस्या में से दस समस्याओं के अंकुर निकल आते हैं। एक उलझन को सुलझाने चलो, दस उलझनें खड़ी हो जाती हैं। फिर इनको ही सुलझाते- उलझाते जीवन बीतता। एक दिन मौत द्वार पर खड़ी आ जाती। और तब एक क्षण का भी समय नहीं मिलता। तुम फिर लाख सिर पटको कि थोड़ा और समय मुझे मिल जाये, जरा- सा भी समय मिल जाये, चौबीस घंटे का समय मिल जाये, जरा ध्यान कर लूं, सदा टालता रहा, लेकिन फिर एक क्षण भी नहीं मिलता।
और आश्चर्य की बात तो यही है कि इतनी अपूर्व राशि को तुम लिये चलते हो। बुद्ध कहते हैं, कृष्ण कहते हैं, क्राइस्ट कहते हैं, नानक-कबीर-दादू कहते हैं; सारे जगत के रहस्यमय पुरुष, सारे जगत के संत एक ही बात कहते हैं कि तुम्हारे भीतर अपरंपार संपदा पड़ी है। प्रभु का राज्य तुम्हारे भीतर है, फिर भी तुम सुनते नहीं। और बाहर तुम देखते हो अनेकों को तड़फते। सारा संसार तड़फता। जिनके पास बहुत है वे भी वैसे ही उदास; फिर भी तुम जागते नहीं।
निरपवाद रूप से अगर कोई बात कही जा सकती है तो एक है--जिन्होंने बाहर खोजा, कभी नहीं पाया। एक भी अपवाद नहीं हुआ इसका। आज तक मनुष्य-जाति में एक आदमी ने ऐसा नहीं कहा कि मैंने बाहर खोजा और पा लिया। और अब तक जिसने भी पाया उसने भीतर खोजकर पाया। वह भी निरपवाद। जिसने भी कहा, मुझे मिला, उसने कहा भीतर मिला।
ये सत्य के दो पहलू हैं; एक ही सत्य के। बाहर कभी किसी को नहीं मिला। अनंत-अनंत लोगों ने खोजा। और जिन थोड़े-से लोगों को मिला उन्हें भीतर खोजकर मिला। और क्या प्रमाण चाहते हो? धर्म निरपवाद विज्ञान है--इस अर्थ में। एक भी बार इसमें चूक नहीं हुई। फिर भी हम बाहर भागते हैं। फिर भी हम भीतर नहीं जाते।
हम वे लोग हैं जो घोल दें खुशबू हवा में
जो काल के निष्ठुर हृदय पर
उंगलियों से लिख दें अमिट लेख
हम वे लोग हैं जो मौत की ठंडी उंगलियों में
भर दें जिंदगी के गीत
हम हवाओं में तैरते
इस पार से उस पार तक अनिर्बंध
हम वे लोग हैं जिन्हें छांट दो तो अमरबेल-सा उग आयें
जिन्हें बांध दो तो गंध-सा बस जायें जिन्हें जला दो तो आकाश में छा जायें
हम तुम्हारी आत्माओं की प्रज्वलित शिखाएं तुम्हारी आवाज के आधार का मूलतत्व

तुम्हारी मुट्ठियों में रची-बसी आस्थायें हम वे लोग हैं जो हवा में भर जाते हैं अवाम में छा जाते हैं
होठों पर भा जाते हैं
चेहरों पर आ जाते हैं
हम वे लोग हैं जो घोल दें खुशबू हवा में
जो काल के निष्ठुर हृदय पर
उंगलियों से लिख दें अमिट लेख
शाश्वत तुम्हारे भीतर पड़ा है। तुम अमरबेल हो। कितने बार जन्मे, कितने बार मरे, फिर भी मिटे नहीं। मिटना तुम्हारा स्वभाव नहीं। अव्यय! तुम कभी व्यतीत नहीं होते। तुम्हारा कभी व्यय नहीं होता। अमृत! तुम कितने ही भागते रहे हो जन्मों-जन्मों में, फिर भी तुम्हारी संपदा अक्षुण्ण तुम्हारे भीतर पड़ी है। जिस दिन जागोगे उसी दिन स्वामी हो जाओगे। जागते ही स्वामी और सम्राट हो जाओगे। घोषणा भर करनी है।
अष्टावक्र की महिमा यही है कि वे तुमसे यही कह रहे हैं कि कुछ करना नहीं है, सिर्फ जरा आंख का कोण बदलना है। देखना है और घोषणा करनी है। तुम्हारे भीतर से सिंहनाद हो जायेगा।
"जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करता है उस अज्ञानी को कहां चित्त का निरोध है? स्वयं में रमण करनेवाले धीरपुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है।"
यह सूत्र अत्यंत आधारभूत है। ध्यानपूर्वक समझना।
क्व निरोधो विमूढ़स्य यो निर्बंधं करोति वै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः।।
जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करता है, जो जबर्दस्ती चित्त का निरोध करता है, उस अज्ञानी का चित्त कभी भी निरोध को उपलब्ध नहीं होता।
समझो। हठपूर्वक अगर तुम चित्त का निरोध करोगे तो निरोध करेगा कौन? वही चित्त। मन ही तो मन से लड़ता, और चित्त ही तो चित्त का निरोध करता। चित्त के ही द्वारा तो तुम चित्त से लड़ोगे।
तुम वेश्या के घर जा रहे, तुम जबर्दस्ती अपने को मंदिर ले जाते। यह कौन है जो जबर्दस्ती तुम्हें मंदिर ले जा रहा है? यह भी मन है। वेश्या के घर जो जा रहा था वह भी मन था। मन भीड़ है बहुत-सी वासनाओं की। मन कोई एक नहीं है, मन अनेक है। उसी मन में यह भी वासना है कि वेश्या के घर जाऊं, उसी मन में यह भी वासना है कि मंदिर जाऊं। तुम जब मंदिर जाते हो तो तुम सोचते हो मन को जीता। नहीं, यह भी मन का ही एक अंग है। तुम जब वेश्या के घर जाते हो तो सोचते हो मन से हार गये। नहीं, यह भी मन की जीत है। मंदिर जाना भी मन की जीत है। दोनों में तुम्हारी हार है।
तुम जो भी करोगे--कृत्य मात्र मन से होता है। सिर्फ अगर तुम्हें अपने में जाना हो तो एक ही उपाय है: कृत्य का अभाव। करो मत। करना न हो। न वेश्या की तरफ जाना हो और न मंदिर जाना हो; जाना ही न हो तो मन हार जाता है। मन को कृत्य चाहिए। कृत्य मन का भोजन है। कुछ करने को हो तो मन जीता है।
फिल्मी गीत गाओ, मन को कोई अड़चन नहीं। भजन गुनगुनाओ, मन को कोई अड़चन नहीं। वह कहता है, चलो यही कर लेंगे। लेकिन कुछ कर लेंगे। तुम बैठकर "राम-राम-राम-राम" जपो, चलेगा। गाली बको कि भजन, मन दोनों से अपने को भर लेगा। मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, आप कहते हैं, बस चुपचाप बैठ जाओ। कुछ आलंबन तो दें। कुछ सहारा तो चाहिए। ऐसे कैसे चुप बैठ जाओ? माला फेरें कि राम-राम जपें। गुरुमंत्र दे दें। कान फूंक दें, वे कहते हैं। कुछ लोग मुझसे संन्यास लेते हैं। वे संन्यास के बाद कहते हैं, और गुरुमंत्र? सहारा तो चाहिए।
जब तक सहारा है तब तक मन रहेगा। सहारा मन को ही चाहिए। आत्मा को किसी सहारे की जरूरत नहीं है। मन लंगड़ा है; इसको बैसाखियां चाहिए। तुम बैसाखी किस रंग की चुनते हो इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। मन को कुछ उपद्रव चाहिए, व्यस्तता चाहिए, आक्युपेशन चाहिए। किसी बात में उलझा रहे। माला ही फेरता रहे तो भी चलेगा। रुपयों की गिनती करता रहे तो भी चलेगा। काम से घिरा रहे

तो भी चलेगा। रामनाम की चदरिया ओढ़ ले, राम-राम बैठकर गुनगुनाता रहे तो भी चलेगा। लेकिन कुछ काम चाहिए। कुछ कृत्य चाहिए। कोई भी कृत्य दे दो, हर कृत्य की नाव पर मन यात्रा करेगा और संसार में प्रवेश कर जायेगा।
कृत्य की नाव मत दो; बस, मन गया। बैठे रहो। मन बहुत मांग करेगा, बहुत छीना-झपटी करेगा। सदा तुमने दिया है, आज अचानक न दोगे तो मन एकदम से नहीं चुप हो जायेगा। लेकिन तुम बैठे रहो। तुम कहो कि अब तय ही कर लिया। अब कृत्य नहीं करेंगे। कुछ भी नहीं करेंगे। एक घड़ी बैठे ही रहेंगे, लेटे ही रहेंगे, खाली रहेंगे। सो मत जाना, क्योंकि मन वही सुझाव देगा। वह कहता है तो फिर क्या पड़े खाली-खाली? सो ही जाओ। कम से कम इतना ही करो।
सोना भी कृत्य है। सोना भी क्रिया है। तो अगर कुछ नहीं कर रहे हो तो मन कहता है, अब ऐसे बैठे-बैठे क्या फायदा? चलो झपकी ले लो। इतना तो करो। झपकी ले लोगे तो मन सपना देखने लगेगा। फिर काम शुरू हो गया। मन को काम चाहिए। तुमने कहानियां सुनी होंगी, बच्चों की किताबों में लिखी हैं कि किसी आदमी ने एक भूत को प्रसन्न कर लिया। उस भूत ने कहा कि प्रसन्न तो हो गया तुम पर, अब तुम जो कहोगे करूंगा, लेकिन एक खराबी है मेरी कि मैं बिना काम के नहीं रह सकता। मुझे काम देते रहना। अगर एक क्षण भी काम नहीं हुआ तो मैं मुश्किल में पड़ जाता हूं। फिर मैं तुम्हारी गर्दन दबा दूंगा। मुझे तो काम चाहिए ही। वह आदमी बोला, अरे यही तो...इससे अच्छा क्या होगा? नौकर-चाकर रखते हैं, उल्टी झंझट है। उनके पीछे लगे रहो तो भी काम नहीं करते। तू तो बड़ा भला है, यही तो चाहिए।
उस आदमी को पता नहीं था कि वह किस झंझट में पड़ रहा है। भूत को घर जाकर...उसके जिंदगी में कई काम थे जो हो नहीं रहे थे। उसने भूत से कहा, चल एक महल बना दे। सोचा कि चलो दो-चार साल तो निपटे। वह घड़ी भर बाहर गया, भीतर आया, उसने कहा महल बन गया। महल खड़ा था। भूत का काम था। "एक सुंदर स्त्री ले आ।" वह बाहर गया और ले आया। तब तो वह आदमी घबड़ाया। तिजोड़ी भर दे। उसने कहा, भर दी।
थोड़ी देर में, मिनट दो मिनट में सब काम चुक गये। तब वह आदमी अपनी गर्दन
के लिए घबड़ाया कि मुश्किल हो गई। अब उसे कुछ सूझे नहीं कि क्या करना। वह बोला कि ठहर, मैं अभी आता हूं। वह आदमी भागा घर के बाहर।
एक फकीर गांव के बाहर था, उसके पास गया और कहा कि एक झंझट में पड़ गया हूं, एक भूत को जगा लिया। अब मेरी गर्दन मुश्किल में है। अब मुझे कुछ सूझता नहीं, क्योंकि जो-जो मैं सोचता था, वह क्षण में कर लाता है। अगर ऐसे ही रहा तो जीना मुश्किल है।
फकीर ने कहा, तू एक काम कर, यह नसैनी पड़ी है, ले जा। भूत से कहना, इस पर चढ़-उतर। उसने कहा, इससे क्या होगा? उसने कहा, इसमें होगा क्या? कुछ करने की जरूरत ही नहीं। जब तेरे पास कोई दूसरा काम हो, बता देना, नहीं तो कहना चढ़-उतर। वह आदमी बोला, बात तो ठीक है लेकिन आप कैसे समझे? उसने कहा, यही तो मन की सारी प्रक्रिया है। यह मन के भूत को समझकर ही मैं समझ गया। फकीर ने कहा, मन के भूत को समझकर...।
अब एक आदमी बैठा माला जप रहा है; वह क्या कर रहा है? सीढ़ी चढ़-उतर रहा है। एक आदमी राम-राम जप रहा है, वह सीढ़ी चढ़-उतर रहा है।
लगा दी सीढ़ी उसने जाकर। भूत से उसने कहा, तू चढ़-उतर। जब चढ़ जाये तो उतर,
जब उतर जाये तो चढ़। तब से भूत चढ़-उतर रहा है, आदमी निश्चिंत है।
मन काम चाहता है। मन भूत है। जब भी मन खाली होता है तभी मुश्किल खड़ी हो जाती है; तत्क्षण मन कहता है, कुछ करो। छुट्टी के दिन भी छुट्टी कहां? तुमने देखा, छुट्टी के दिन और झंझट हो जाती है। रोज का काम होता नहीं, दफ्तर गये नहीं, दूकान गये नहीं, अब छुट्टी है, अब क्या करना? तो कोई अपनी कार खोलकर बैठ जाता है, उसी की सफाई करने लगता है। लगा ली नसैनी! कोई रेडिओ खोलकर बैठ जाता है, उसी को सुधारने लगता है। वह सुधरा ही हुआ था। कुछ न कुछ करो। या चले, पिकनिक को चले। सौ-पचास मील कार दौड़ाई, पहुंचे, भागे, फिर वापिस लौटे।
कहते हैं कि लोग छुट्टी के दिन इतने थक जाते हैं जितने काम के दिन नहीं थकते। खाली बैठ नहीं सकते। छुट्टी का मतलब है खाली बैठो, लेकिन खाली

बैठना संभव कहां है? खाली बैठना तो केवल ध्यानी को संभव है। और जिसको ध्यान आता है वह तो काम करते भी खाली होता है; इस बात को समझ लेना। और जिसको ध्यान नहीं आता वह खाली बैठा भी सीढ़ियां चढ़ता-उतरता है। और जिसको ध्यान आता है वह काम करते हुए भी खाली होता है।
खाली होना चैतन्य का स्वभाव है। मन को सहारा चाहिए।
"जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करता है उस अज्ञानी को चित्त का निरोध कहां?"
हठ कौन करेगा? आग्रह कौन करेगा? जबर्दस्ती कौन करेगा? हिंसा कौन करेगा अपने ही ऊपर? ये उपवास करनेवाले, जपत्तप करनेवाले, शीर्षासन करनेवाले, धूनी लगाये बैठे हुए लोग-- यह कौन कर रहा है सब? यह मन ही कर रहा है।
अष्टावक्र के आधारभूत इस सूत्र को खयाल में लेना:
क्व निरोधो विमूढ़स्य यो निर्बंधं करोति वै।
कितना ही करो, कुछ भी करो, मूढ़ व्यक्ति चित्त के निरोध को उपलब्ध नहीं होता। इसलिए नहीं कि वह चित्त का निरोध नहीं करता, चित्त का निरोध करता है इसीलिए मुक्त नहीं होता। फिर मुक्ति का उपाय क्या है?
"स्वयं में रमण करनेवाले धीरपुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है।"
चित्त का निरोध करना नहीं होता। आत्मरमण, आत्मरस में विभोरता--चित्त निरुद्ध हो जाता है। चित्त का निरोध सहज हो जाता है; अपने से हो जाता है। चित्त का निरोध परिणाम है।
तुमने भी खयाल किया होगा, जब भी तुम आनंदित होते हो--क्षण भर को ही सही--उसी क्षण चित्त का निरोध हो जाता है। रात देखा, आकाश में निकला चांद और क्षण भर को तुम आनंदित हो गये। उस क्षण में चित्त निरुद्ध हो जाता है।
विचार बंद हो जाते हैं। आनंद में कहां विचार को सुविधा? जहां आनंद है वहां विचार कैसे बचेगा? विचार तो दुख में ही होता है।
संगीत सुन रहे थे, डोल गये, मस्त हो गये, एक भीतरी शराब पैदा हो गई; तब कहां मन? तब क्षण भर को मन अपने आप अवरुद्ध हो गया।
इधर तुम मुझे सुन रहे हो...मुझसे अनेक लोग आते हैं, मैं उनसे पूछता हूं
कि कौन-सा ध्यान सबसे ज्यादा ठीक लगता है? वे कहते हैं, सुबह आपका बोलना।
मैं कहता, बोलना! क्यों? वे कहते, बोलते-बोलते चित्त निरुद्ध हो जाता है। आपको सुनते-सुनते। आप बोलते उधर, इधर हम सुनते; मन ठहर जाता।
ठीक कहते हैं। अगर शांति से सुना, अगर मुझसे विवाद न रखा, संवाद किया, मेरे साथ चले, मेरे हाथ में हाथ ले लिया, बाधा न डाली, सहयोग किया, जिस दिशा में ले चला उस दिशा में चलने लगे, बहने लगे--चित्त निरुद्ध हो जाता है। एक क्षण को जब सुनना प्रगाढ़ होता है, तब कहां चित्त? कहां मन? सब खो गया। उस क्षण तुम आत्मा में होते हो।
इसलिए महावीर ने तो यहां तक कहा है कि अगर कोई सम्यक श्रवण को जान ले, ठीक-ठीक श्रावक हो जाये तो वहीं से मोक्ष का द्वार खुल जाता है। महावीर ने कहा है, चार तीर्थ हैं: श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी; जिनसे आदमी मोक्ष जाता है। लेकिन तुम खयाल रखना, साधुओं ने बड़े उल्टे अर्थ किये हैं इसके। अब महावीर कहते हैं, चार तीर्थ हैं। तीर्थ का अर्थ होता है, जिस घाट से उतरा जा सकता है। लेकिन साधुओं से पूछो, साधु यह नहीं कहते कि श्रावक मोक्ष जा सकता है। वे तो कहते हैं, साधु हुए बिना कैसे जाओगे? और महावीर ने चार तीर्थों का निर्माण किया। और श्रावक को साधु नमस्कार नहीं करता है, क्योंकि श्रावक को कैसे नमस्कार करे? साधु श्रावक का नमस्कार लेता है और आशीर्वाद देता है। लेकिन नमस्कार नहीं करता। साधु अपने को ऊपर मानता है। असलियत उल्टी है। मेरे देखे--और अगर कहीं तुम्हें महावीर मिल जायें
तो उनसे भी पूछ लेना, वे भी तुमसे यही कहेंगे--साधु दोयम है, नंबर दो है; श्रावक प्रथम है। असल में अगर श्रावक पूरी तरह से सुनने में समर्थ हो गया तो साधु होने की जरूरत ही नहीं, श्रवण काफी है। अगर श्रवण पूरा न हो पाया तो फिर साधना की जरूरत है; इस बात को खयाल में लेना।

साधु यानी साधना। कुछ करना पड़ेगा, सुनने से नहीं हो सका। इतनी बुद्धि
न थी कि सुनने मात्र से हो जाता। सुनने के लिए प्रगाढ़ प्रतिभा चाहिए। जिनका सुनने से ही नहीं हो पाता उनको फिर कुछ कृत्य करना पड़ता है। उपवास करो, जप करो, तप करो, कुछ करो। जो कमी रह गई है बुद्धि की, वह कृत्य से पूरी करो। साधु नंबर दो है। परम अवस्था तो सुनकर ही पैदा हो जाती है। हां, जिसकी न हो पाये उसको फिर साधना भी करनी होती है।
महावीर उस पर भी दया करते हैं जिसको सुनकर न हो पाये। तो वे कहते हैं,
तू कुछ कर। खयाल करना, अगर प्रगाढ़ प्रतिभा हो, बुद्धि निखार में हो, मलिन न हो, धूल-धवांस से भरी न हो, होशपूर्वक हो तो केवल सुनकर ही मोक्ष मिल जाता है। तुमने किसी सदगुरु को सुन लिया, हृदय भरकर सुन लिया, सब तरह से अपने को हटाकर सुन लिया, उस सुनने के क्षण में ही मुक्त हो गये तुम। कुछ और करना न पड़ेगा। हां, अगर सुन न पाये, सुनने तो गये लेकिन बुद्धि में तुम्हारा जो कूड़ा-कचरा है वह भरा रहा; उसकी वजह से सुन न पाये तो फिर कुछ करना पड़ेगा। श्रावक प्रथम, साधु दोयम।
होना भी ऐसा ही चाहिए। अगर तीस विद्यार्थियों की कक्षा में शिक्षक बोलता है तो तुम सबसे ज्यादा प्रतिभाशाली किसे कहते हो? जो सुनकर ही समझ गया। जो सुनकर नहीं समझा, फिर उसको तख्ते पर लिख-लिखकर, कर-करके समझाना पड़ता है। जो उससे भी नहीं समझा उसको घर पर टयूटर भी लगाना पड़ता है। जो उससे भी नहीं समझा वह परीक्षा में उत्तर चोरी करके ले जाता है। मगर प्रतिभा न हो तो कुछ भी काम नहीं आता। सब गड़बड़ हो जाता है।
मैं विश्वविद्यालय में शिक्षक था; एक परीक्षा चल रही थी, मैं निरीक्षक था। तो मैंने देखा, सब तो लिख रहे हैं, एक विद्यार्थी बैठा है, बड़ा बेचैन है, कुछ नहीं लिख रहा। तो मैं उसके पास गया, मैं चिंतित हो गया। मैंने पूछा कि क्या बात है, कुछ समझ में नहीं आता? उत्तर पकड़ में नहीं आ रहे? प्रश्न समझ में नहीं आ रहे? क्या अड़चन है? तू पसीना-पसीना हुआ जा रहा है, कुछ लिख भी नहीं रहा। उसने कहा, अब आपसे क्या छिपाना! उत्तर तो मैं रखे हूं, मगर किस खीसे में किस प्रश्न का उत्तर है यह भूल गया। दोनों खीसे में रखे हैं उत्तर। प्रतिभा न हो तो खीसे में उत्तर हों तो भी क्या काम आता है! रूस में उन्होंने बड़ा ठीक किया है, चोरी का उपाय खतम कर दिया है। विद्यार्थी किताबें ला सकते हैं। चोरी का कोई उपाय न रहा। विद्यार्थी परीक्षा में अपनी सारी किताबें ला सकते हैं। या बीच परीक्षा में उठकर कालेज की लायब्रेरी में जा सकते हैं और अपना उत्तर खोज सकते हैं। चोरी का कोई उपाय नहीं रहा।
और बड़ी हैरानी की बात है, फिर भी बुद्धिमान बुद्धिमान सिद्ध होते हैं, मूढ़ मूढ़ सिद्ध होते हैं। क्योंकि उत्तर भी तो खोजना पड़ेगा। किताबें ले आकर क्या करोगे? लायब्रेरी में भी जाओगे तो आखिर किताब तो खोजनी पड़ेगी, उसमें से उत्तर तो निकालना पड़ेगा। प्रश्न तो समझना पड़ेगा कम से कम पहले, फिर उसका ठीक-ठीक उत्तर खोजना होगा। चोरी का उपाय भी खतम कर दिया उन्होंने और फर्क कुछ भी नहीं पड़ा है। अब भी पता चल जाता है कौन प्रथम कोटि का, कौन द्वितीय कोटि का, कौन तृतीय कोटि का। आज नहीं कल सारी दुनिया में यही होगा। किताबें लाने की आज्ञा दे देनी चाहिए, कोई अड़चन नहीं है। आखिर वह अपनी बुद्धि से ही खोजेगा न उत्तर! उससे ही पता चल जायेगा कि कैसा उत्तर उसने खोजा है। उसकी बुद्धि का ही पता लगाना है।
जो सुनकर ही समझ ले...। बुद्ध कहते थे, कुछ घोड़े होते हैं, जिनको मारो
तब चलते हैं। कुछ घोड़े होते हैं जिनको कोड़ा फटकारो, चलते हैं। कुछ घोड़े होते हैं जो कोड़ा हाथ में देख लेते हैं तो चलते हैं; फटकारने की जरूरत नहीं होती। और कुछ घोड़े होते हैं कुलीन, वस्तुतः जिनको हम घोड़े कहें, वे कोड़े की छाया देखकर भी काफी अपमानित हो जाते हैं। कोड़ा तो दूर, कोड़े की छाया काफी होती है। इशारा बहुत होता है।
एक आदमी बुद्ध के पास आया, उसने बुद्ध के चरण छुए और बुद्ध से उसने कहा, शब्द में मुझे न कहें। शब्द मैं बहुत सुन चुका। और चुप रहकर भी मुझे मत कहें, क्योंकि चुप को मैं समझ पाऊं ऐसी मेरी अभी सामर्थ्य नहीं। अब तुम कहोगे, बड़ी उलझन में डाल दिया होगा बुद्ध को। शब्द में मत कहें, क्योंकि

शब्द मैं बहुत सुन चुका, कुछ पकड़ में आता नहीं। और चुप रहकर भी न कहें, क्योंकि चुप मैं समझ पाऊं ऐसी मेरी सामर्थ्य कहां?
बुद्ध मुस्कुराये। बुद्ध ने आंखें बंद कर लीं। वह आदमी भी आंख बंद करके बैठा रहा। घड़ी आधा-घड़ी बीती, वह आदमी उठा, उसने बुद्ध के चरण छुए और कहा, धन्यवाद। आपने मार्ग दिखा दिया। वह आदमी चला गया।
बुद्ध के पास जो शिष्य बैठे थे वे तो बड़े हैरान हुए, यह हुआ क्या? इन दोनों के बीच घटा क्या? चालीस साल से साथ रहनेवाला आनंद भी बैठा था, उसने कहा, यह तो हद हो गई। चालीस साल से मैं आपके साथ हूं, न तो सुनकर समझ आया कि आप जो कहते हैं वह क्या कह रहे हैं; और आपको चुप भी बैठे देखता हूं तो भी समझ में नहीं आता। और इस आदमी को क्या हुआ? यह धन्यवाद देकर चला गया।
तो बुद्ध ने कहा, घोड़े कुछ होते हैं, मारो तो मुश्किल से चलते हैं। कुछ होते हैं, कोड़ा फटकारो, चल जाते हैं। कुछ होते हैं, कोड़ा देखकर ही चल जाते हैं और कुछ होते हैं जो कोड़े की छाया से ही चल जाते हैं। यह आखिरी किस्म का घोड़ा है। कोड़े की छाया काफी है। यह चल पड़ा। इसकी यात्रा शुरू हो गई। यह पहुंचकर रहेगा आनंद।
महावीर कहते हैं, अगर सम्यक श्रवण हो तो बस काफी है। कृत्य की तो जरूरत तब पड़ती है जब श्रवण से न हो सके। तो फिर कोड़े मारने पड़ते हैं। उपवास से मारो, आग जलाकर मारो, ठंड में, धूप में खड़े होकर मारो, कांटों पर लेटकर मारो। कैसे मारते हो यह अलग बात, लेकिन फिर कोड़े मारने पड़ते हैं।
महावीर तो कहते हैं, साधु जा सकता है। अष्टावक्र और भी ज्यादा शुद्ध हैं। वे तो कहते हैं, साधु जा ही नहीं सकता। तुम इसे समझना। इसीलिए तो मैं कहता हूं, अष्टावक्र जैसा क्रांतिकारी द्रष्टा नहीं हुआ। अष्टावक्र कह रहे हैं:
क्व निरोधो विमूढ़स्य यो निर्बंधं करोति वै।
कितना ही करो निरोध, निरोध से निरोध नहीं होता। कितना ही साधो, साधने
से कुछ नहीं सधता। चेष्टा से कुछ हाथ नहीं आता।
"स्वयं में रमण करनेवाले धीरपुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है।"
यह तो उसी को होता है जो केवल समझ, इशारे से रूपांतरित हो जाता है-- बोधमात्र से; प्रज्ञामात्र से; और अपने में रमण करने लगता है।
तो बैठ जाओ कभी-कभी; निरोध की कोई जरूरत नहीं है। मन आयेगा, मन पुराने जाल फैलायेगा। फिर आ गये राजाधिराज चाबुक घुमाते? वह आयेगा। तुम देखते रहना। लड़ना मत, लड़ने में निरोध है। हटाना मत, हटाने में निरोध है। विरोध मत करना, विरोध ही तो निरोध है। तुम देखना। घुमाने दो चाबुक। आने दो मन को, लाने दो सब जाल। फैलाने दो पुरानी सब व्यवस्थायें, करने दो अपना इंतजाम। तुम शांत बैठे रहना। तुम सिर्फ साक्षी रहना। तुम कहना, हम देखेंगे। बस देखेंगे और कुछ न करेंगे। तू खड़ी कर अप्सरायें सुंदर, हम देखेंगे। तू फैला लोभ-काम के जाल, हम देखेंगे। हम कुछ करेंगे नहीं। हम अडिग देखते रहेंगे। हम नजर पैनी रखेंगे। हम नजर साफ रखेंगे। न तो तेरे साथ चलेंगे, न तुझसे लड़ेंगे।
ऐसी दशा में धीरे-धीरे मन अपने आप हार जाता है, अपने आप सो जाता है, अपने आप खो जाता है। और ऐसी ही साक्षी दशा में तुम्हारा स्वयं में पदार्पण होता है, आत्मरमण शुरू होता है।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः।
और तब एक निरोध पैदा होता है जो अकृत्रिम है, जो स्वाभाविक है, जो सहज है; जो तुम्हारी छाया की तरह तुम्हारे पीछे आता।
ऐसा समझो, निरोध करनेवाला निषेधात्मक है, वह लड़ता है। स्वभाव का अर्थ है, बिना लड़े अपने भीतर के सुख में डूब जाना। वह सुख ऐसा प्रीतिकर है कि उस सुख को जान लेने के बाद मन का कोई प्रलोभन काम नहीं करता। अब जिसके हाथ में हीरे-जवाहरात आ गये वह कंकड़-पत्थर के लोभ में थोड़े ही पड़ेगा। और जिसने अमृत चख लिया, अब वह विष के धोखे में थोड़े ही आयेगा। और जिसने परम सौंदर्य जान लिया, अब वह हड्डी, मांस, मज्जा के सौंदर्य में थोड़े ही उलझेगा। और जो अपने परम पद पर विराजमान हो गया, अब तुम्हारी छोटी-मोटी कुर्सियों के लिए

थोड़े ही लड़ेगा। और जिसने राज्यों का राज्य पा लिया, साम्राज्य पा लिया स्वयं का, अब वह तुम्हारे पदों के लिए थोड़े ही आकांक्षा करेगा, तुम्हारे धन की थोड़े ही चाह करेगा। बात खतम हो गई।
निरोध होगा, लेकिन सहज, अकृत्रिम।
"कोई भाव को माननेवाला है और कोई कुछ भी नहीं है ऐसा माननेवाला है; वैसे ही कोई दोनों को नहीं माननेवाला है। और वही स्वस्थचित्त है।" भावस्य भावकः कश्चिन्न किंचिद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः।।
कोई है, जो कहता है, ईश्वर है। कोई है, जो कहता है, ईश्वर नहीं है। अष्टावक्र कहते हैं, दोनों अज्ञानी हैं। क्योंकि जो है, न तो "है" में समाता है, और न "नहीं है" में समाता है; न भाव में न अभाव में; न ऐसा कहने में न वैसा कहने में; न स्वीकार में न अस्वीकार में। जो है वह इतना विराट है कि सिर्फ शून्य में समाता है, सिर्फ मौन में समाता है। बोले कि चूके। कहा कि गया। सत्य अभिव्यक्त किया कि विकृत हुआ।
लाओत्सु ने कहा है, सत्य को कहा कि फिर सत्य न रहा। कहते ही असत्य हो गया।
तुमने कहा हां, तुमने कहा ना, विभाजन शुरू हो गया। नहीं हां नहीं ना; न आस्तिकता न नास्तिकता। ऐसा भी कोई है, अष्टावक्र कहते हैं, जो न हां में पड़ता, न ना में पड़ता, दोनों के पार खड़ा है, वही स्वस्थचित्त है।
हां कहा, चल पड़े। उपद्रव शुरू हुआ। तुमने कहा, ईश्वर है तो अब तुम लड़ने लगे उससे, जो कहता है ईश्वर नहीं है। लड़ाई शुरू हो गई। और तुमने कहा, ईश्वर है तो तुमने मन का एक वक्तव्य दिया। क्योंकि हां और ना मन की घोषणायें हैं। और इससे विवाद पैदा होगा। सिद्धांत, संप्रदाय, शास्त्र पैदा होगा। उलझन शुरू हुई। तुम्हें तर्क जुटाने पड़ेंगे कि ईश्वर है। और अब तक कोई तर्क नहीं जुटा पाया; एक बात ध्यान रखना। न तो ईश्वरवादी तर्क जुटा पाये कि ईश्वर है, और न अनीश्वरवादी तर्क जुटा पाये कि ईश्वर नहीं है। कोई सिद्ध नहीं कर पाया। न नास्तिक सिद्ध कर पाया न आस्तिक।
एक गांव में ऐसा हुआ कि एक महाआस्तिक में और एक महानास्तिक में विवाद
हो गया। आस्तिक और नास्तिक दोनों महान थे और बड़े प्रकांड विवादी थे। सारा गांव विवाद देखने इकट्ठा हुआ और सारा गांव खुश भी था कि किसी तरह निपटारा हो जाये। क्योंकि उन दोनों की वजह से गांव भी परेशान था। दोनों के बीच जो कशमकश थी उसमें गांव के लोग भी पिसे जाते थे, क्योंकि इधर खींचे जाते, उधर खींचे जाते। आस्तिक अपनी तरफ खींच लेता तो नास्तिक अपनी तरफ खींचने की कोशिश करता। ऐसे गांव में दलबदली होती रहती। और गांव में बड़ा विवाद था और झगड़ा-फसाद था।
गांव पूरा खुश हुआ, उसने कहा, ये दोनों निपट लें। कुछ भी तय हो जाये तो हमारी झंझट मिटे। तुम सोचो न! अगर मुसलमान और हिंदुओं के पंडित-पुरोहित निपट लें तो तुम्हारी तो झंझट मिटे। यह मंदिर-मस्जिद का झगड़ा तो मिटे। एक बार सारे धर्मगुरु इकट्ठे हो जायें और फैसला कर लें, विवाद कर लें, जो जीत जाये सो ठीक; तो बाकी दुनिया भर की परेशानी तो कटे।
तो गांव के लोग बड़े खुश थे, वे सब इकट्ठे हुए। मगर खुशी ज्यादा देर न टिकी। सुबह होतेऱ्होते सब गड़बड़ हो गई। गड़बड़ यह हुई, आस्तिक ने ऐसे तर्क दिये कि नास्तिक राजी हो गया और नास्तिक ने ऐसे तर्क दिये कि आस्तिक राजी हो गया। फिर वही झंझट! आस्तिक नास्तिक हो गया, नास्तिक आस्तिक हो गया, मगर झंझट जारी रही। गांव ने सिर पीट लिया। उसने कहा, यह इसका कोई हल नहीं है। इतनी बड़ी बदलाहट हो गई कि नास्तिक आस्तिक हो गया, आस्तिक नास्तिक हो गया, मगर गांव की मुसीबत वही की वही रही।
आज तक दुनिया में न तो कोई ईश्वर को सिद्ध कर पाया है और न असिद्ध कर पाया है। जो लड़ते हैं, मूढ़ हैं। आस्तिक भी और नास्तिक भी, दोनों मंदबुद्धि हैं।
अष्टावक्र कहते हैं, "वैसे ही कोई दोनों को नहीं माननेवाला है। वही स्वस्थचित्त है।"

जो कहता है, इन झंझटों में मुझे कुछ रस नहीं है। हां और ना में मेरा कोई विवाद नहीं। पक्ष और विपक्ष में मैं पड़ता नहीं। मैं अपने में रमा हूं और मेरा रस वहां बह रहा है; बस काफी है। मैं अपने में डूबा हूं और मस्त हूं अपनी मस्ती में। मेरा गीत मुझे मिल गया। मेरा नृत्य मुझे मिल गया। मेरी रसधार बह पड़ी। अब कौन पड़ता है इस फिजूल की बकवास में कि ईश्वर है या नहीं! यह नासमझ तय करते रहें।
"दुर्बुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं लेकिन मोहवश उसे नहीं जानते हैं, इसलिए जीवन भर सुखरहित हैं।" शुद्धमद्वयमात्मानं भावयंति कुबुद्धयः।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः।।
"दुर्बुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं लेकिन मोहवश उसे नहीं जानते, और जीवन भर सुखरहित रहते हैं।"
बुद्धि की तीन संभावनायें हैं: बुद्धि, अबुद्धि, कुबुद्धि। जो अबुद्धि में है वह बड़े खतरे में नहीं है। उसकी बुद्धि सोयी हुई है, जगायी जा सकती है। जो अज्ञानी है वह खतरे में नहीं है। कम से कम विनम्र होगा कि मुझे पता नहीं है। खोज करेगा।
कुबुद्धि कौन है? कुबुद्धि वह है, जिसे पता नहीं है और जो मानता है कि मुझे पता है। पंडित कुबुद्धि है। शास्त्र का जाननेवाला, सूचनाओं को इकट्ठा कर लेनेवाला कुबुद्धि है। अबुद्धि इतनी बुरी बात नहीं है। अबुद्धि से बुद्धि तक जाने में अड़चन नहीं है। कुबुद्धि बड़ी अड़चन में है। वह अबुद्धि में है अभी, और सोचता है कि बुद्धि में पहुंच गया--यह उसकी कुबुद्धि है। अज्ञानी है और मान लेता है कि ज्ञानी हो गया हूं। बीमार है और सोचता है कि स्वस्थ हूं, इसलिए औषधि भी नहीं लेता। और चिकित्सक के पास भी नहीं जाता। जाये क्यों? किसलिए जाये? इसलिए सबसे ज्यादा खतरनाक स्थिति कुबुद्धि की है। और तुम ध्यान रखना, अधिक लोग कुबुद्धि की स्थिति में हैं। इसलिए परमात्मा से मिलन नहीं हो पाता, सत्य की खोज नहीं हो पाती।
पहले तो कुबुद्धि को लौटना पड़ता है अबुद्धि में। अबुद्धि से रास्ता जाता है। इसलिए मेरी चेष्टा यहां है कि तुम्हें जो भी आता है वह विस्मरण हो जाये। तुमने जो-जो पाठ सीख लिये हैं वे भूल जायें। तुम्हारा ज्ञान का चोगा उतर जाये। तुम्हारी यह ज्ञान की झूठी पर्त टूट जाये। तुम्हें स्मरण आ जाये कि तुम्हें पता नहीं है। फिर यात्रा शुरू होती है; फिर तुम साफ हुए; फिर तुम बच्चे की भांति हो।
कुछ बुरा नहीं है अबुद्धि में। अबुद्धि का इतना ही मतलब है कि मुझे पता नहीं और मैं तैयार हूं यात्रा पर जाने को। कुबुद्धि का अर्थ है कि पता तो नहीं है, भीतर तो मालूम है पता नहीं है, क्योंकि खुद को कैसे धोखा दोगे? लेकिन ऊपर से अहंकार स्वीकार नहीं करने देता कि मुझे पता नहीं है। अहंकार कहता है, पता है। मुझे और पता न हो? यह हो कैसे सकता है? अगर मुझे पता नहीं तो फिर किसी को पता नहीं।
इस कुबुद्धि की स्थिति को उतारना। इस कुबुद्धि को हटाना। घबड़ाहट लगेगी। क्योंकि कुबुद्धि को हटाओगे तो अबुद्धि मालूम पड़ेगी, मगर अबुद्धि में कुछ भी बुरा नहीं है। अबुद्धि में तो तुम सिर्फ अबोध अवस्था में आ गये, जो कि स्वाभाविक है। अबोध से बोध की तरफ जाना बिलकुल सुगम है, एक ही छलांग में हो सकता है। लेकिन कुबोध से तो बोध की तरफ जाने का कोई उपाय ही नहीं। रास्ता जाता ही नहीं। वहां से कोई मार्ग ही नहीं है।
"दुर्बुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं"--कल्पना करते हैं, विचार करते हैं, चिंतन-मनन करते हैं, चर्चा करते हैं--"लेकिन मोहवश उसे जानते नहीं।"
वह जो मोह है अहंकार का, अपना, मेरे का वह छोड़ने नहीं देता। मोह का अर्थ होता है: ममत्व, मेरा, मैं। वह जो मैं के आसपास परिधि खिंची है, वही मोह।
"मोह के कारण उसे जानते नहीं और जीवन भर सुखरहित रहते हैं।"
दुख को बहुत सहेजकर रखना पड़ा हमें
सुख तो किसी कपूर की टिकिया-सा उड़ गया

अब सबसे पूछता हूं बताओ तो कौन था
वह बदनसीब शख्स जो मेरी जगह जीया!
तुम जीवन के अंत में एक दिन पूछोगे। जीवन के अंत में एक दिन तुम कहोगे। ये पंक्तियां तुम्हारे जीवन का अंतिम सार-निचोड़ हो जायेंगी, अगर चौंके नहीं, समय पर जागे नहीं।
दुख को बहुत सहेजकर रखना पड़ा हमें
और कुछ है ही नहीं तो रखोगे भी क्या सहेजकर? जो है उसी को तो रखोगे। दुख ही दुख है, उसी को सहेजकर रखते हो। किसी ने गाली दी थी बीस साल पहले, अभी भी सहेजकर रखे हुए हो। पागलपन की भी कोई सीमा होती! गाली भी कोई सहेजकर रखने की बात है? कोई दुख हो गया था, भूलते ही नहीं। घाव को कुरेदते रहते हो ताकि घाव हरा बना रहे। और कुछ है भी नहीं, सहेजकर क्या रखोगे?
कुछ न हो तो आदमी तिजोड़ी में कंकड़-पत्थर ही रख लेता है। कम से कम अहसास
तो होता है कि कुछ है। बजता तो रहता। आवाज तो होती रहती। खोलकर देखता है तो भरापन तो मालूम होता।
दुख को बहुत सहेजकर रखना पड़ा हमें
सुख तो किसी कपूर की टिकिया-सा उड़ गया
सुख तो है ही इतना क्षणभंगुर। झलक दिखती है और चला जाता है। कपूर की टिकिया-सा उड़ गया।
अब सबसे पूछता हूं बताओ तो कौन था
वह बदनसीब शख्स जो मेरी जगह जीया
जीवन के अंत में तुम पूछोगे कि वह कौन था जो मेरी जगह जीया? क्योंकि तुम तो कभी जीये भी नहीं। तुम तो कभी वस्तुतः प्रगट ही न हुए। तुम तो धोखे में रहे। तुम तो जो नहीं थे वह तुम मान लिये और जो तुम थे उसको छिपाकर रखा। अब सबसे पूछता हूं बताओ तो कौन था
वह बदनसीब शख्स जो मेरी जगह जीया
ऐसा दुर्भाग्य का क्षण न आये इसके लिए अभी से सजग हो जाओ। जो-जो झूठ है, काट दो। जो-जो तुमने नहीं जाना है, अपने अनुभव से नहीं जाना है, उसे उतार दो। बासे को, उधार को हटा दो। जो किसी और से आया है और तुम्हारे अनुभव से नहीं जन्मा है, उससे मोह छोड़ दो। तुम जैसे हो वैसे ही अपने को जानो; चाहे यह कितना ही कष्टकर हो। और चाहे कितने ही कांटे चुभें, लेकिन सत्य, प्रामाणिक ईमानदारी से तुम जो हो वही अपने को स्वीकार कर लो। अज्ञानी हो अज्ञानी, क्रोधी हो क्रोधी, बेईमान हो बेईमान, झूठे हो झूठे, चोर हो चोर--जो हो उसे स्वीकार कर लो।
हो तो चोर, और अचौर्य का व्रत लिये हो। हो तो कामी, और ब्रह्मचर्य की बातें कर रहे हो। हो तो लोभी, और छोटा-मोटा दान करके अपने को धोखा दे रहे हो। लाख तो कमा लेते हो, दो-चार हजार दान कर देते हो और महादानी और दानवीर बन जाते हो। हो तो अज्ञानी लेकिन तोते की तरह किताबें रट ली हैं और सोचते हो, ज्ञानी हो गये। कभी झुके नहीं परमात्मा के चरणों में, झुकना आता ही नहीं। एक पुजारी रख लिया उधार, वह रोज आकर तुम्हारी तरफ से परमात्मा के चरणों में झुक जाता है।
किसको धोखा दे रहे हो? यह धोखा महंगा पड़ेगा। एक दिन जब मौत द्वार पर खड़ी होगी तब तुम चौंककर पूछोगे, वह कौन था शख्स जो मेरी जगह जीया? क्योंकि तुम तो कभी जीये नहीं।
मैं तुमसे कहता हूं, अगर तुम अपने सत्य की उदघोषणा कर दो--दुखद हो, कष्टपूर्ण हो, अपमानजनक हो, फिर भी घोषणा कर दो, बदलाहट शुरू हो जायेगी। जो चोर यह कहने की हिम्मत जुटा ले कि मैं चोर हूं, ज्यादा देर चोर न रह सकेगा। चोर रहने के लिए अचौर्य का व्रत लेना अनिवार्य रूप से जरूरी है। इसीलिए तो अणुव्रत लेते हैं। चोर हैं, छटे चोर हैं, अचौर्य का व्रत ले लेते हैं। झूठे हैं, मंदिर में कसम खा लेते हैं समाज के सामने कि सच बोलने की कसम लेता हूं। इससे झूठ बोलने में बड़ी सुविधा हो जाती है। क्योंकि जब लोग जान लेते हैं कि इस आदमी ने कसम खाई, सच बोलता है तो लोग मानते हैं कि सच बोलता होगा। झूठे को इस बात की बड़ी जरूरत है कि लोग मानें कि मैं सच बोलता हूं। इसीलिए तो झूठ चलता है। झूठ सच के सहारे चलता है। झूठ के अपने पैर नहीं; सच के

कंधों पर चढ़कर चलता है। अगर तुम्हें झूठ बोलना हो तो समाज में प्रचार करो कि तुम सच्चे हो। तो ही तो लोग धोखे में पड़ेंगे; नहीं तो धोखे में पड़ेगा कौन?
मुल्ला नसरुद्दीन ने गांव के एक सीधे-सादे आदमी को धोखा दे दिया। मजिस्ट्रेट को भी बड़ी हैरानी हुई। मजिस्ट्रेट ने उससे कहा, नसरुद्दीन, तुम्हें और कोई नहीं मिला धोखा देने को? यह बेचारा इस गांव का सबसे सीधा सरलचित्त आदमी, इसको तुम धोखा देने गये? नसरुद्दीन ने कहा, हुजूर और किसको देता? यही मेरी मान सकता था। और तो गांव में सब लफंगे हैं, वे तो मुझे धोखा दे जायें। यही है एक बेचारा, जिसको मैं धोखा दे सकता था। अब और किसको देता? आप ही कहिये।
बात तो ठीक है। बेईमान को खबर फैलानी पड़ती है कि मैं ईमानदार हूं; प्रचार करना पड़ता है कि मैं ईमानदार हूं। उसकी ईमानदारी की हवा जितनी फैलती है उतनी ही बेईमानी की सुविधा हो जाती है। तुम्हें पता चल जाये कि आदमी बेईमान है, फिर बेईमानी करनी बहुत मुश्किल हो जाती है; असंभव हो जाता है।
"मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि आलंबन के बिना नहीं रहती। मुक्त पुरुष की बुद्धि सदा निष्काम और निरालंब रहती है।"
मुमुक्षोर्बुद्धिरालंबमंतरेण न विद्यते।
"मुमुक्षु की बुद्धि आलंबन के बिना नहीं रहती।"
मन बिना आलंबन के नहीं रहता। मन को कोई सहारा चाहिए। मन अपने बल खड़ा नहीं हो सकता। मन को उधार शक्ति चाहिए--किसी और की शक्ति। मन शोषक है। इसलिए जब तक तुम सहारे से जीयोगे, मन से जीयोगे। जिस दिन तुम बेसहारा जीयोगे उसी दिन तुम मन के बाहर हो जाओगे। और इस बात को खयाल में लेना कि मन इतना कुशल है, उसने मंदिर के भी सहारे बना लिये हैं। पूजा, पाठ, यज्ञ-हवन, पंडित, पुरोहित, शास्त्र। परमात्मा भी तुम्हारे लिए एक आलंबन है। उसके सहारे भी तुम मन को ही चलाते हो। तुम मन की कामनाओं के लिए परमात्मा का भी सहारा मांगते हो कि हे प्रभु! अब इस नये धंधे में काम लगा रहे हैं, खयाल रखना। शुभ मुहूर्त में लगाते हो, ज्योतिषी से पूछकर चलते हो कि प्रभु किस क्षण में सबसे ज्यादा आशीर्वाद बरसायेगा, उसी क्षण शुरू करें। मुहूर्त में करें।
तुम परमात्मा का भी सहारा अपने ही लिए ले रहे हो। खयाल करो, जब तक तुम परमात्मा को सहारा बनाने की कोशिश कर रहे हो, तुम परमात्मा से दूर रहोगे। जिस दिन तुमने सब सहारे छोड़ दिये उस दिन परमात्मा तुम्हारा सहारा है। बेसहारा जो हो गया, परमात्मा उसका सहारा है। निर्बल के बल राम। जिसने सारी बल की दौड़ छोड़ दी, जिसने स्वीकार कर लिया कि मैं निर्बल हूं, असहाय हूं और कहीं कोई सहारा नहीं है। सब सहारे झूठे हैं और सब सहारे मन की कल्पनायें हैं। ऐसी असहाय अवस्था में जो खड़ा हो जाता है उसे इस अस्तित्व का सहारा मिल जाता है।
"मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि आलंबन के बिना नहीं रहती।" मुमुक्षोर्बुद्धिरालंबमंतरेण न विद्यते।
निरालंबैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा।।
"लेकिन मुक्त पुरुष की बुद्धि सदा निष्काम और निरालंब है।"
मुक्ति का अर्थ ही है, निरालंब हो जाना, निराधार हो जाना। मुक्ति का अर्थ ही है, अब मैं कोई सहारा न खोजूंगा।
और जैसे ही सहारे हटने लगते हैं वैसे ही मन गिरने लगता है। इधर सहारे गये, उधर मन गया। मन सभी सहारों का जोड़ है, संचित रूप है। सारे सहारे हट जाते हैं, बस मन का तंबू गिर जाता है। मन के तंबू के गिर जाने पर जो शेष रह जाता है, बिना किसी सहारे के जो शेष रह जाता है, वही है शाश्वत; वही है अमृत; वही है तुम्हारा सच्चिदानंद। वही है तुम्हारे भीतर छिपा हुआ परमात्मा, विराट। परात्पर ब्रह्म तुम्हारे भीतर मौजूद है।
ऐसा समझो कि तुम्हारा आंगन है, दीवाल उठा रखी है। दीवाल के कारण आकाश बड़ा छोटा हो गया आंगन में। दीवाल गिरा दो, आकाश विराट हो जाता है। सारा आकाश तुम्हारा हो जाता है।

मन तो आंगन है। छोटी-छोटी दीवालें चुन ली हैं, उसके कारण आकाश बड़ा छोटा हो गया है। गिरा दो दीवालें। हटा दो दीवालें। तोड़ दो परिधि। गिरा दो परिभाषायें। तत्क्षण तुम्हारा आकाश विराट हो जाता है। तत्क्षण सारा आकाश तुम्हारा है।
इस आकाश के उपलब्ध हो जाने का नाम ही मोक्ष है।
ये सारे सूत्र मुक्ति के सूत्र हैं। एक-एक सूत्र मुक्ति की एक-एक अपूर्व कुंजी है। इन पर खूब ध्यान करना। इनको बार-बार सोचना, विचारना, ध्यान करना। इन पर बार-बार मनन करना। किसी दिन, किसी क्षण में इनका प्रकाश तुम्हारे भीतर प्रवेश हो जायेगा। उसी क्षण खुल जाते हैं द्वार अनंत के, अज्ञात के। उसी क्षण तुम मेजबान हो जाते, प्रभु तुम्हारा मेहमान हो जाता है।
बनो आतिथेय। अतिथि आने को तैयार है।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
अड़सठवां प्रवचन

मन तो मौसम-सा चंचल

पहला प्रश्न: आपने कहा कि ज्ञानी स्पंदरहित हो जाता है और आपने यह भी कहा कि जिस में स्पंदन नहीं है वह चीज मृत है। कृपापूर्वक समझायें कि स्पंदनरहित होकर ज्ञानी पुरुष कैसे जीवित रहते हैं।

एक और भी स्पंदन है, और एक और भी जीवन है, जहां अस्मिता तो नहीं है लेकिन अस्तित्व है; जहां मैं तो नहीं हूं, परमात्मा है। जहां अहंकार तो मर गया, जा चुका, अतीत हो गया, लेकिन अहंकार के पार भी एक जीवन है, एक स्पंदन है। वस्तुतः तो वही जीवन है।
तो ज्ञानी एक अर्थ में तो मृत हो जाता है, और एक अर्थ में परम रूप से जीवित हो जाता है। इस अर्थ में मृत हो जाता है कि अब अपने ही माध्यम से परमात्मा को जीता है, स्वयं को नहीं। इस अर्थ में मृत हो जाता है कि अब अहंकार की तो कब्र बन गई। अब खुदी तो न रही, खुदा है। और खुदा भरपूर है। अब परमात्मा बहता है।
ज्ञानी तो बांस की पोंगरी हो गया। प्रभु गाता है तो गीत पैदा होता है। बांसुरी खुद नहीं गाती, लेकिन बांसुरी का भी गीत है। बांसुरी से गीत पैदा होता है। बांसुरी माध्यम बनती है, बाधा नहीं डालती।
जीसस के जीवन में इस बात की ठीक-ठीक व्याख्या है। इस तरफ सूली लगी, उस तरफ नवजीवन मिला। एक हाथ सूली लगी, एक हाथ मृत्यु लगी, दूसरे हाथ महाजीवन मिला, पुनरुज्जीवन मिला। यही समस्त ज्ञानियों की कथा है।
प्रश्न स्वाभाविक है। अष्टावक्र कहते हैं, स्पंदनशून्य हो जाता है ज्ञानी। अपनी कोई स्पंदना नहीं रह जाती। अपनी कोई कामना न रही तो स्पंदन कैसे होगा? अपनी कोई वासना न रही तो अब बुलबुले कैसे उठेंगे? अपना कोई भाव ही न रहा, कोई दौड़ न रही, कोई आपाधापी न रही, कहीं पहुंचना न रहा, कहीं जाना न रहा तो अब कैसा स्पंदन! लेकिन परमात्मा जा रहा है। परमात्मा गतिमान है, परमात्मा गति है, गत्यात्मकता है।
ज्ञानी तो मिट गया अपने तईं, अब परमात्मा हुआ। जब बीज टूट जाता है तभी
तो अंकुर पैदा होता है। तो बीज की मृत्यु पौधे का जीवन है। अगर बीज बचा रहे तो पौधा नहीं पैदा हो सकेगा। ज्ञानी मिटता है, पिघलता है, खो जाता है तो परमात्मा के लिए मार्ग बनता है।
साधो, हम चौसर की गोटी!
कोई गोरी कोई काली
कोई बड़ी कोई छोटी!

इस खाने से उस खाने तक
चमराने से ठकुराने तक
खेले काल खिलाड़ी
सबकी गहे हाथ में चोटी!
साधो, हम चौसर की गोटी!

कोई पिटकर कोई बसकर
कोई रोकर कोई हंसकर
सभी खेलें ढीठ खेल यह
चाहे मिले न रोटी!

कभी पट हर कौड़ी आवे

कभी अचानक पौ पड़ जावे
नीड़ बनाये एक फेंक
तो दूजी हरे लंगोटी!

एकेक दांव कि एकेक फंदा
एकेक घर है गोरखधंधा
हर तकदीर यहां है जैसे
कूकर के मुंह बोटी!

बिछी बिछात जमा जब तक फड़
तब तक ही यह सारी भगदड़
फिर तो एक खलीता
सबकी बांधे गठरी मोटी!
साधो, हम चौसर की गोटी!
जैसे ही दिखाई पड़ना शुरू होता है, जो भीतर छिपा है, जिसका असली स्पंदन है, जो वस्तुतः हमारे माध्यम से जी रहा है, तो हम चौसर की गोटी हो जाते हैं। कोई छोटी, कोई बड़ी, कोई गरीब, कोई अमीर, कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी; लेकिन हम चौसर की गोटी हो जाते हैं। खेल किसी और का चल रहा है, बिछात किसी और ने बिछायी है। हारेगा कोई, जीतेगा कोई। हम तो चौसर की गोटी हैं। न हमारी कोई हार है, न हमारी कोई जीत है।
ज्ञानी ऐसे जीने लगता है जैसे सूखा पत्ता हवा में। जहां ले जाये हवा। पूरब तो पूरब, पश्चिम तो पश्चिम। साधो, हम चौसर की गोटी! अब अपनी कोई आकांक्षा नहीं है। कहीं जाने का अपना कोई मंतव्य नहीं है, कोई योजना नहीं है। इसलिए न कोई विषाद है, न कोई हर्ष का उन्माद है। एक परम शांति है। स्पंदन कहां? अपना स्पंदन गया। अपने ही साथ गया।
अब वे दिन गये, जब अहंकार सपने बुनता था। और अहंकार हार-जीत की बड़ी योजनायें बनाता था। और अहंकार डरता था, घबड़ाता था, सुरक्षा के आयोजन करता था। वे दिन गये। वहां तो मौत हो गई। अहंकार तो अब राख है। वह ज्योति तो हमने फूंक दी और बुझा दी।
अब तो एक ऐसी ज्योति का अवतरण हुआ जो न बुझती, न कभी जन्मती। शाश्वत का अवतरण हुआ। अब शाश्वत का स्पंदन है।
तो ज्ञानी एक अर्थ में मर जाता और एक अर्थ में केवल ज्ञानी ही जीता है, तुम सब मरे हो। कबीर ने कहा है, "साधो ई मुर्दन के गांव।" ये सब मुर्दे हैं यहां। इनमें कोई जिंदा नहीं है।
जीसस ने एक सुबह झील पर एक मछुए के कंधे पर हाथ रखा और कहा कि कब तक मछलियां पकड़ता रहेगा? अरे, कुछ और भी पकड़ना है कि मछलियां ही पकड़ते रहना है? मेरे पास आ, मेरे साथ चल। मैं तुझे कुछ बड़े फंदे फेंकना सिखा दूं जिनमें मछलियां तो क्या, आदमी फंस जाये। आदमी तो क्या, परमात्मा फंस जाये। मछुआ भोला-भाला आदमी था; न पढ़ा न लिखा। उसने जीसस की आंखों में देखा, भरोसा आ गया। पढ़ा-लिखा होता तो संदेह उठता। सोच-विचार का आदमी होता तो कहता विचारूंगा, यह क्या बात है, कंधे से हाथ हटाओ! ऐसे कहीं कोई किसी के पीछे चलता? लेकिन जीसस की आंखों में झांका सरलता से; भरोसा आ गया। ये आंखें झूठ बोल नहीं सकतीं। यह चेहरा प्रमाण था। जाल फेंक दिया वहीं। जीसस के पीछे हो लिया।
वे गांव के बाहर भी न निकले थे कि एक आदमी भागा हुआ आया और उसने मछुए
से कहा, पागल! कहां जा रहा है? तेरे पिता की मृत्यु हो गई। पिता बीमार थे, कभी भी जा सकते थे। उस आदमी ने जीसस से कहा, क्षमा करें, मैं तो आता था लेकिन भाग्य ने अड़चन डाल दी। मुझे थोड़े दिन की आज्ञा दे दें--एक सप्ताह, आधा सप्ताह। पिता का अंतिम संस्कार कर आऊं और आ जाऊं। जीसस ने कहा, छोड़। गांव में काफी मुर्दे हैं, वे मुर्दे को जला लेंगे। तू मेरे पीछे आ।
साधो ई मुर्दन के गांव! एक अर्थ में तुम बिलकुल मरे हुए हो। तुम्हारा जीवन भी क्या जीवन! है क्या वहां? मुट्ठी जब तक बांधे हो तब तक लगता है, है कुछ। जरा खोलकर तो देखो। लोग कहते हैं, बंधी लाख की, खुली खाक की। ठीक ही कहते हैं। बांधे रहो तो भरोसा रहता है, कुछ है। तिजोड़ी खोलकर मत देखना। और कभी इधर-उधर झांकना मत अपने जीवन में, अन्यथा घबड़ाहट होगी। है तो कुछ भी नहीं। व्यर्थ ही शोरगुल मचाये हो: गौर से देखोगे तो पाओगे, क्या है जीवन?

यह रोज उठ आना, रोज भोजन कर लेना, रोज कपड़े बदल लेना, रोज दफ्तर हो आना, दूकान हो आना, कारखाने हो आना; फिर सांझ लौट आना, फिर सो जाना, फिर सुबह वही।
इस चके में घूमने का नाम जीवन है? यह भी कोई जीवन है? ऐसा जीवन तो पशु
भी जी रहा है। और तुमसे बेहतर जी रहा है। और ऐसा जीवन तो वृक्ष भी जी रहे हैं। वे भी भोजन कर लेते हैं, पानी पी लेते हैं, रात सो जाते हैं, सुबह फिर जाग आते हैं। और तुमसे बेहतर जी रहे हैं--निश्चिंत। तुमसे ज्यादा हरे-भरे हैं। कभी-कभी उनमें फूल लगते हैं, तुममें तो कभी फूल भी नहीं लगते। कभी-कभी उनसे अपूर्व सुगंध उठती है, तुमसे तो सिवाय दुर्गंध के और कुछ भी नहीं उठता। क्रोध उठता है, घृणा उठती है, हिंसा उठती है। प्रेम की तो तुम बातें करते हो, उठता कहां है? करुणा तो शास्त्रों में लिखी है, अनुभव कहां है? परमात्मा तो सुना हुआ कोरा शब्द है, पहचान कहां? मुलाकात कहां है? जीवन तुम्हारा जीवन कहां है?
यह जो जीवन जैसा दिखाई पड़ता और जीवन नहीं है, यही मिट जाता है। फिर एक
और जीवन पैदा होता है जो अभी दिखाई भी नहीं पड़ता, अभी अदृश्य है। वही जीवन जीवन है।
ठीक पूछते हो। एक भांति तो साधु मर जाता है, एक भांति साधु जी जाता। तुम्हारी तरह मर जाता, और एक नये, बिलकुल अभिनव रूप में जीवन का पदार्पण होता है। कहो उसे परमात्मा, मोक्ष, निर्वाण--जो मर्जी हो।

दूसरा प्रश्न: अनेक बुद्धपुरुष हुये, जैसे बुद्ध, महावीर, नानक, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि और स्वयं आप, इन सबके कोई गुरु नहीं थे। ऐसा क्यों? इस पर कुछ समझाने की कृपा करें।

इनके गुरु नहीं थे, ऐसा कहना शायद ठीक नहीं। यही कहना उचित है कि सारा अस्तित्व इनका गुरु था। जिनकी हिम्मत इतनी नहीं है कि सारे अस्तित्व को गुरु बना सकें, उनको फिर एकाध आदमी को गुरु बनाना पड़ेगा; वह कंजूसी के कारण। न सबको बना सको, कम से कम एक को बना लो। शायद एक से ही झरोखा खुले। फिर धीरे-धीरे हिम्मत बढ़े, स्वाद लग जाये, साहस बढ़े तो तुम औरों को भी बना लो।
ऊपर से देखने में ऐसा लगता है कि बुद्ध का कोई गुरु नहीं था। लेकिन अगर गहरे से देखोगे तो ऐसा पता चलेगा, बुद्ध ने किसी को गुरु नहीं बनाया क्योंकि जब सारा अस्तित्व ही गुरु हो तब किसको गुरु बनाना! नदी-पहाड़, चांदत्तारे, पौधे, पशु-पक्षी सभी गुरु हैं।
सूफी फकीर हुआ हसन; मरते वक्त किसी ने पूछा कि तेरे गुरु कौन थे? उसने कहा, मत पूछो। वह बात मत छेड़ो। तुम समझ न पाओगे। अब मेरे पास ज्यादा समय भी नहीं है। मैं मरने के करीब हूं, ज्यादा समझा भी न सकूंगा। उत्सुक हो गये लोग। उन्होंने कहा, अब जा ही रहे हो, यह उलझन मत छोड़ जाओ, वरना हम सदा पछतायेंगे। जरा-से में कह दो। अभी तो कुछ सांसें बाकी हैं।
उसने कहा, इतना ही समझो कि एक नदी के किनारे बैठा था और एक कुत्ता आया। बड़ा प्यासा था, हांफ रहा था। नदी में झांककर देखा, वहां उसे दूसरा कुत्ता दिखाई पड़ा। घबड़ा गया। भौंका, तो दूसरा कुत्ता भौंका। लेकिन प्यास बड़ी थी। प्यास ऐसी थी कि भय के बावजूद भी उसे नदी में कूदना ही पड़ा। वह हिम्मत करके...कई बार रुका, कंपा, और फिर कूद ही गया। कूदते ही नदी में जो कुत्ता दिखाई पड़ता था वह विलीन हो गया। वह तो था तो नहीं, वह तो केवल उसकी ही छाया थी।
नदी के किनारे बैठे देख रहा था, मैंने उसे नमस्कार किया। वह मेरा पहला गुरु था। फिर तो बहुत गुरु हुए। उस दिन मैंने जान लिया कि जीवन में जहां- जहां भय है, अपनी ही छाया है। और प्यास ऐसी होनी चाहिए कि भय के बावजूद उतर जाओ।
मेरे पास लोग आते हैं; वे कहते हैं, संन्यास तो लेना है लेकिन भय लगता है। जब भय न लगेगा तब लेंगे। फिर कभी न लेंगे। ऐसी कभी घड़ी आयेगी, जब भय न लगेगा? भय के बावजूद लेंगे तो ही लेंगे। तुम सोचते हो, जिन्होंने लिया

उनको भय नहीं लगता? वे भी तुम जैसे आदमी हैं, उन्हें भी भय लगता है। लेकिन इतना ही फर्क है कि उन्होंने कहा, ठीक है, भय लगता रहे, लेंगे; लेकर रहेंगे। उनकी प्यास गहरी है। डर तो लगता है, लेकिन प्यास इतनी गहरी है कि करो भी क्या? डरो या प्यासे मरो; दो में चुनाव करना है। प्यास इतनी गहरी है कि भय को एक तरफ रख देना पड़ता है। और जो भय को एक तरफ रख देता है उसका ही भय मिटता है। भय अनुभव से मिटेगा। और तुम कहते हो, अनुभव हम तभी लेंगे जब भय मिट जाये। तब बड़ी मुश्किल हो गई। तुमने एक ऐसी शर्त लगा दी जो कि कभी पूरी नहीं हो सकती।
मुल्ला नसरुद्दीन तैरना सीखना चाहता था। तो किसी पड़ोसी ने कहा, यह कोई बड़ी बात नहीं। इतना शोरगुल क्यों मचाते हो? आओ मेरे साथ, मैं सिखा देता हूं। गये नदी के किनारे। सीढ़ी पर ही काई जमी थी, मुल्ला का पैर फिसल गया और धड़ाम से गिरा। गिरते ही उठा और भागा घर की तरफ। वह जो सिखाने ले गया था--जो उस्ताद--उसने कहा, अरे, कहां भागे जा रहे हो? सीखना नहीं है? मुल्ला ने कहा, अब जब तैरना सीख लूंगा तभी नदी के पास आऊंगा। यह तो झंझट है। पैर फिसल गया, चारों खाने चित्त हो गये, और कहीं नदी में गिर जाते तो जान से हाथ धो बैठते। तेरा क्या भरोसा! वक्त पर काम आये, न आये। अब आऊंगा नदी के पास, लेकिन तैरना सीखकर।
अब तैरना कोई गद्देत्तकियों पर थोड़े ही सीखता है। कितना ही हाथ-पैर पटको अपने गद्दे पर लेटकर--सुविधा तो है, खतरा कोई भी नहीं है, लेकिन जहां खतरा नहीं वहां सीख कहां? खतरे में ही सीख है। खतरे में ही अनुभव है। जितना बड़ा खतरा है, जितनी बड़ी चुनौती है उतनी ही बड़ी संपदा छिपी है।
अब तुमने अगर यह कसम ले ली कि जब तक तैरना न सीख लेंगे, नदी न आयेंगे, तुम तैरना कभी सीखोगे ही नहीं। तैरना सीखना हो तो बिना तैरना जाने नदी में उतरने की हिम्मत रखनी पड़ती है। और किसी पर भरोसा करना पड़ता है। जो भी तुम्हें सिखाने जायेगा उस पर भरोसा करना पड़ेगा। भरोसे का कोई कारण नहीं है; क्योंकि क्या पता, जब तुम डूबने लगो, यह आदमी बचाये कि भाग जाये। जब तुम डूबने लगो तो यह आदमी काम आये कि न आये! यह तो तुम जब तक डूबो न, तब तक पता कैसे चलेगा? हो सकता है दूसरों को भी इसने बचाया हो लेकिन तुमको बचायेगा इसकी क्या कसौटी है? दूसरे ठीक ही कहते हैं इसका क्या सबूत है? और दूसरे इसके ही नौकर-चाकर नहीं हैं इसका क्या पक्का प्रमाण है? यह तुम्हें ही फंसाने को सारा जाल फैलाया हो, तुम्हें ही डुबाने को, इसके संबंध में तुम कैसे निश्चित हो सकते हो?
भय तो रहेगा। और फिर नदी तो दिखाई पड़ती है, नदी में तैरना सिखानेवाला
जो उस्ताद है, तुम उसके संबंध में प्रमाणपत्र भी इकट्ठे कर सकते हो। तुम नदी के किनारे जाकर भी देख सकते हो, औरों को सिखा रहा है, और भी सीख गये हैं। लेकिन जीवन की जो नदी है वह तो बड़ी अदृश्य है। और परमात्मा का जो सागर है वह तो दिखाई नहीं पड़ता। उस अनदेखे, अनजाने में, अपरिचित में तो कोई प्रमाण भी काम नहीं आनेवाला। वहां तो कोई अकेला-अकेला जाता है। तुम किसी जाते हुए को देख तो न पाओगे।
मेरे पास इतने लोग हैं, उनमें से जो जा रहे हैं उन्हें तुम पहचान तो न पाओगे। उनमें से जो नहीं जा रहे हैं उन्हें भी तुम न पहचान पाओगे। वह तो तुम जाओगे तभी पहचान होगी। तुम जाओगे तो ही पहली दफा तुम किसी को जाते हुए देखोगे। हां, खुद के जाने के बाद तुम दूसरों को भी पहचानने लगोगे कि कौन-कौन गये। क्योंकि जो सुवास तुम्हारे भीतर उठेगी वही सुवास तुम्हें उनमें भी दिखाई पड़ने लगेगी। जो आभा तुम्हारी आंखों में आ जायेगी, जो गुंजन तुम्हारे प्राणों में होने लगेगा, एक दफा वहां सुन लिया तो फिर किसी के भी हृदय के पास से सुनाई पड़ने लगेगा। जो हमने अपने भीतर नहीं जाना है वह हम कभी भी न जान सकेंगे।
हसन ने कहा, कुत्ते को देखकर मैं यह समझ गया कि भय को एक तरफ रखना होगा। एक बात समझ में आ गई कि अगर परमात्मा मुझे नहीं मिल रहा है तो एक ही बात है, मेरी प्यास काफी नहीं है। मेरी प्यास अधूरी है। और कुत्ता भी हिम्मत कर गया तो हसन ने कहा, मैंने कहा, उठ हसन, अब हिम्मत कर। इस कुत्ते से कुछ सीख।

किसी ने बायजीद को पूछा--एक दूसरे सूफी फकीर को--कि तुम्हारा गुरु? तो बायजीद ने कहा, एक गांव से गुजरता था। एक छोटा-सा बच्चा एक दीये को जलाकर ले जा रहा था मजार पर चढ़ाने। दिन भर से मुझे कोई मिला नहीं था जिसको मैं कुछ समझाता, जिसको मैं कुछ ज्ञान देता। ज्ञान मेरे पास भी नहीं था।
जिनके पास नहीं होता उनको देने की बड़ी आकांक्षा पैदा होती है। क्योंकि देने में उनको थोड़ा-सा भरोसा आता है कि है; और तो कुछ पक्का नहीं है। जब वे किसी दूसरे को सलाह देते हैं तभी बुद्धिमान होते हैं, बाकी समय तो बुद्धू होते हैं। उस सलाह को देते वक्त ही थोड़ी-सी झलक मिलती है कि हां, मैं भी कुछ जानता हूं।
तो पकड़ लिया सूफी फकीर ने उस लड़के को और फूंक मारकर उसका दीया बुझा दिया। और बायजीद ने कहा, मैंने पूछा उस लड़के को कि बेटे, बता, अभी-अभी दीया जलता था, ज्योति कहां गई अब? उस लड़के ने कहा, जलायें दीया; जलाकर देखें। वह भागा और माचिस ले आया और उसने दीया जलाया और कहा, मुझे बतायें, ज्योति अब कहां से आ गई? जहां से आती वहीं चली जाती। न तो आते वक्त पता चलता कि कहां से आती, न जाते वक्त पता चलता कि कहां जाती।
बायजीद ने कहा कि उस छोटे-से बच्चे ने मुझे बोध दे दिया कि मुझे अभी कुछ भी पता नहीं। इस छोटे बच्चे को भी सिखाने की मेरी कोई योग्यता नहीं। हार गया इससे। उस दिन से सिखाना बंद कर दिया। अब तो जान लूंगा तभी सिखाऊंगा। वह छोटा बच्चा मेरा गुरु हो गया।
जिनमें इतना साहस है कि सारे अस्तित्व को गुरु बना लें, उनके लिए फिर
एक गुरु बनाने की जरूरत नहीं। लेकिन तुममें तो इतना भी साहस नहीं है कि तुम एक को गुरु बना सको, सबको तो तुम कैसे गुरु बना सकोगे?
और धोखा मत देना अपने को। क्योंकि धोखा बड़ा आसान है और मन बड़ा चालाक है। मन कह सकता है, हम एक को गुरु इसीलिए नहीं बनाते क्योंकि हम तो सबको गुरु मानते हैं। यह कहीं एक गुरु से बचने की तरकीब न हो, बस इतना तुम खयाल रखना। जिंदगी तुम्हारी है; गंवाओ या पाओ, तुम जिम्मेवार हो। धोखा दो या बचो, तुम्हारा काम है, किसी और का इसमें कुछ लेना-देना नहीं है। इतना ही खयाल रखना कि यह एक को गुरु न बनाने के पीछे कहीं ऐसा न हो कि बचना चाह रहे हो। बहाना अच्छा खोज लिया कि हमारे तो सब गुरु हैं। अगर हों, तो इससे शुभ कुछ भी नहीं। अगर न हों तो यह धारणा बड़ी खतरनाक हो जायेगी।
साहस हो तो हर जगह से शिक्षण मिल जाता है। सीखने की कला आती हो तो हर द्वार से मंदिर मिल जाता है और हर मार्ग से मंजिल मिल जाती है। सीखना न आता हो, शिष्य होने की कला न आती हो, सीखने लायक मन मुक्त न हो, पक्षपात से घिरा हो, सिद्धांतों से दबा हो तो फिर तो तुम्हें सदगुरु मिल जाये बुद्ध और अष्टावक्र जैसा भी, तो भी तुम बच जाओगे। तो भी तुम रास्ता काटकर निकल जाओगे। कोई न कोई तरकीब तुम खोज लोगे।
शायद इसीलिए प्रश्न मन में उठा है कि बुद्ध के कोई गुरु नहीं, महावीर
के कोई गुरु नहीं, नानक के कोई गुरु नहीं तो हम ही क्यों गुरु बनायें? हां, अगर नानक और बुद्ध और महावीर जैसे गुरु बना सको, फिर कोई जरूरत नहीं। यह सारा विराट अस्तित्व--क्षुद्र से लेकर विराट तक सब तुम्हारे लिए गुरु हो जाये, सब चरण तुम्हारे लिए प्रभु के चरण हो जायें, फिर कोई अड़चन नहीं।
यह न हो सके तो कम से कम एक झरोखा खोलो। कम से कम एक खिड़की खोलो। खिड़की
से कोई बहुत बड़ा आकाश दिखाई नहीं पड़ेगा, छोटा-सा आकाश दिखाई पड़ेगा। लेकिन छोटा-सा आकाश स्वाद बनेगा। खिड़की खोली तो आकाश का निमंत्रण मिलेगा। आकाश का विराट फैलाव खिड़की के चौखटे में कसा हुआ दिखाई पड़ेगा। वह चौखटा खिड़की का है, आकाश का नहीं। आकाश पर कोई फ्रेम नहीं है। कोई चौखटा नहीं जड़ा है। आकाश तो बिना चौखटे के है। थोड़ी-सी झलक तो आयेगी आकाश की खिड़की से। सूरज की किरणें उतरेंगी, हवा के नये झोंके आयेंगे, फूलों की गंध आयेगी, आकाश में उड़ते पक्षियों का दर्शन होगा, शायद तुम भी अपने पिंजड़े को छोड़कर उड़ने के लिए आतुर हो जाओ। प्यास जागे।
बस, गुरु के पास इतना ही तो होना है। गुरु यानी परमात्मा में एक झरोखा। गुरु के माध्यम से तुम परमात्मा को देखने में कुशल हो जाओगे। एक

बार कुशल हो गये तो सारा अस्तित्व तुम्हारा गुरु हो जायेगा। फिर तुम एक ही खिड़की से क्यों देखोगे? फिर कंजूसी क्या? फिर तुम सब खिड़कियां खोलोगे, फिर तुम सब द्वार खोलोगे। फिर तुम पूरब में ही क्यों अटके रहोगे? फिर पश्चिम की खिड़की भी खोलोगे। फिर तुम पश्चिम में ही क्यों उलझे रहोगे? फिर तुम दक्षिण की भी खिड़की खोलोगे। क्योंकि जब पूरब इतना सुंदर है तो पश्चिम भी होगा, तो दक्षिण भी होगा, तो उत्तर भी होगा।
तब सब आयाम तुम खोलोगे। फिर एक दिन तो तुम कहोगे, इस घर के बाहर चलें। खिड़कियों से काम नहीं चलता। जब घर के भीतर से आकाश इतना सुंदर है तो ठीक आकाश के नीचे जब खड़े होंगे तब अपूर्व सौंदर्य की वर्षा होगी। उस दिन पूरा अस्तित्व तुम्हारा गुरु हो गया। मगर सौ में निन्यानबे मौकों पर तुम्हें पहले एक खिड़की खोलनी पड़ेगी।

तीसरा प्रश्न: आप कहते हैं कि जिस चीज में भी रस हो उसे पूरा भोग लेना चाहिए। लेकिन रस तो अंधा बनाता है।

रस कैसे अंधा बनायेगा?
उपनिषद कहते हैं, परमात्मा का रूप रस: "रसो वै सः।" वह तो रसरूप है। रस कैसे अंधा बनायेगा?
नहीं, कुछ और बात होगी। तुम अंधे हो। तुम कहीं भी बहाना खोजते हो, किसने अंधा बना दिया। कोई अंधा नहीं बना रहा तुम्हें। तुम आंख बंद किये बैठे हो। न रस अंधा बना रहा है, न धन अंधा बना रहा है, न संसार अंधा बना रहा है। कोई अंधा नहीं बना रहा। कोई कैसे अंधा बनायेगा? अंधे तुम हो, आंख बंद किये बैठे हो।
लेकिन यह मानने की हिम्मत भी तुममें नहीं है कि मैं आंख बंद किये बैठा हूं। तो तुम बहाने खोज रहे हो। तुम कहते हो क्या करें, कामवासना ने अंधा कर दिया है। क्या करें, धन की वासना ने अंधा कर दिया। क्या करें, यह संसार में उलझे हैं, इससे अंधे हुए जा रहे हैं। बात उल्टी है, तुम अंधे हो इसलिए संसार में उलझे हो। धन अंधा नहीं कर रहा है, तुम अंधे हो इसलिए धन को पकड़े बैठे हो। रस अंधा नहीं कर रहा है, रस तो तुम्हें अभी मिला ही कहां? जरा पूछो फिर से अपने से, रस पाया है? हां ऐसा दूर-दूर झलक दिखाई पड़ी है। कभी किसी सुंदर स्त्री में--दूर से; पास आकर तो विरस हो जाता है सब।
एक आदमी अकेला था। ऊब गया अकेलेपन से तो उसने प्रभु से प्रार्थना की
कि एक सुंदर स्त्री भेज दो। सच में सुंदर हो, साधारण स्त्री नहीं चाहिए। क्लियोपैट्रा हो कि मरलिन मनरो हो, सच में सुंदर हो। कि सोफिया लॉरेन हो, सच में सुंदर हो। लेकिन प्रभु ने भी खूब मजाक की। प्रभु ने कहा, फांसी का फंदा न भेज दूं? आदमी नाराज हो गया, उसने कहा यह भी कोई बात हुई? हम मांगते हैं सुंदर स्त्री, तुम कहते हो, फांसी का फंदा। ऐसा न शास्त्रों में लिखा, न कभी तुमने ऐसा किसी भक्त को कहा। यह तुम बात क्या कहते हो? मैं तो कहता हूं सिर्फ सुंदर स्त्री भेज दो। फांसी का फंदा क्या करना? कोई मुझे फांसी लगानी!
खैर, सुंदर स्त्री आ गई। लेकिन तीन दिन के भीतर ही उस आदमी को पता चला
कि यह तो फांसी का फंदा हो गया। प्रभु ठीक ही कहते थे। मैं मांग तो स्त्री रहा था, लेकिन मांग फांसी का फंदा ही रहा था। समझा नहीं। बात उन्होंने बड़ी सधुक्कड़ी भाषा में कही थी, उलटबांसी कही थी। घबड़ाने लगा। सात दिन में ही परेशान हो गया। सात दिन बाद तो याद आने लगे वे दिन, जब अकेला था, कितने सुंदर थे! कितने सुखद थे!
आदमी अदभुत है। जो खो जाता है वह सुंदर मालूम पड़ता है। जो नहीं मिलता
वह सुंदर मालूम पड़ता है। जो मिल जाता है वह तो कांटे की तरह गड़ता है। आखिर उसने प्रभु से कहा क्षमा करें, भूल हो गई। अज्ञानी हूं, माफ कर दें। एक तलवार भेज दें। सोचा मन में, इस स्त्री का खातमा कर दूं तो फिर पुराने दिनों की शांति, वही एकांत, वही मौज, वही मस्ती। फिर निश्चिंत होकर रहेंगे।

लेकिन फिर प्रभु ने कहा, तलवार? अरे तो फांसी का फंदा ही न भेज दूं? वह आदमी फिर नाराज हो गया। उसने कहा, यह एक भेज दिया फांसी का फंदा, अभी भी तुम्हारा मन नहीं भरा? मैं कहता हूं सिर्फ एक अच्छी तलवार भेज दो धारवाली। खैर नहीं माना, तलवार आ गई। उसने पत्नी को मार डाला। सोचता था वह तो, पत्नी को मारकर आनंद से रहेगा लेकिन पकड़ा गया। फांसी की सजा हुई। जब फांसी के तख्ते पर उसे ले जाने लगे तब वह हंसने लगा खिलखिलाकर। जल्लादों ने पूछा, बात क्या है? दिमाग खराब हो गया? फांसी के तख्ते पर कोई हंसता? उसने कहा, अरे हंस रहा हूं इसलिए कि यह भी खूब मजा रहा। परमात्मा तो पहले ही से कह रहा था बार-बार: फांसी का फंदा भेज दूं? फांसी का फंदा भेज दूं? मैंने समझा नहीं। मान लेता पहले ही तो इतनी झंझटों से तो बच जाता।
जो मिल जाये वही फांसी का फंदा हो जाता है। आस्कर वाइल्ड ने कहा है, धन्यभागी हैं वे जिन्हें उनकी चाहत की स्त्री नहीं मिलती। मिल गई कि मुश्किल हो गई। मजनू अभी भी चिल्ला रहे हैं, "लैला, लैला।" चिल्लाते रहेंगे। और बड़ी मस्ती में हैं। मिल जाती तो पता चलता। जिनको लैला मिल गई उनसे पूछो।
जो तुम्हें मिल जाता है वहीं से रस खो जाता है। धनी से पूछो, धन में रस है? गरीब को है रस यह बात सच है। गरीब को एक ही रस है: धन। नहीं मिला; दूर है। अमीर से पूछो जिसको मिल गया है। वह बड़ा हैरान होता है कि लोग इतने पागल क्यों हैं? आखिर बुद्ध और महावीर अपने राजमहल छोड़कर चले क्यों गये? रस नहीं था, नहीं मिला। जो पद पर नहीं है, उसे बड़ा रस होता है कि किसी तरह पद पर हो जाऊं। जो पद पर हैं उनसे पूछो, फांसी लग गई है। लौट भी नहीं सकते। किस मुंह से लौटें? बड़ी जद्दोजहद करके तो चढ़े, अब उतरने में भी दिक्कत मालूम होती है कि लोग कहेंगे, अरे! इतनी मेहनत से गये थे, अब क्या मामला है? यह भी स्वीकार करने का मन नहीं होता कि हम मूढ़ थे, अज्ञानी थे, इसलिए पद की आकांक्षा की।
रस है कहां? रस तुमने जाना? उपनिषद कहते हैं: "रसो वै सः।" प्रभु का स्वभाव रसपूर्ण है। रस ही वह है। रस उसका दूसरा नाम है। और तुम कहते हो, रस तो अंधा बनाता है। नहीं, रस तो हृदय की भी आंखें खोल देता है। रस हो तब!
रस तो मिलता ही तब है जब मन चला जाता है। मन कहां रस पैदा होने देगा?
मन तो हर चीज को विरस कर रहा है। रस तो मिलता ही तब है जब ध्यान का पात्र तैयार हो जाता है। रस तो आंखवालों को ही मिलता है। रस अंधा नहीं बनाता, तुम अंधे हो इसलिए रस नहीं मिलता। आंख खोलो, रस ही रस है। रस का सागर भरा है। सब तरफ रस ही लहरें ले रहा है। इन वृक्षों की हरियाली में, चांदत्तारों की रोशनी में, इन पक्षियों के कलरव में रस ही लहरें ले रहा है। रसो वै सः। नहीं, तुमने कुछ गलत बातें पकड़ रखी हैं। और जिनने तुम्हें समझाया है
वे तुम जैसे ही अंधे हैं। न उन्हें रस मिला है, न तुम्हें रस मिला है। अंधे अंधों का नेतृत्व कर रहे हैं। "अंधा अंधा ठेलिया, दोनों कूप पड़ंत।" मगर अंधे भी क्या करें? किसी न किसी का हाथ पकड़ लेते हैं।
मैंने सुना, एक अंधी स्त्री न्यूयॉर्क के एक रास्ते पर रास्ता पार करने के लिए खड़ी थी। प्रतीक्षा कर रही थी कि कोई आ जाये और राह पार करवा दे। तभी किसी ने उसके कंधे पर हाथ रखा। और जिसने कंधे पर हाथ रखा उसने कहा, क्या हम दोनों साथ-साथ रास्ता पार कर सकते हैं? उस स्त्री ने कहा, मैं प्रतीक्षा ही कर रही थी। आओ।
दोनों ने हाथ में हाथ डाला और पार हुए। जब उस तरफ पहुंच गये तो स्त्री
ने कहा, बहुत-बहुत धन्यवाद कि आपने मुझे रास्ता पार करवाया। वह आदमी घबड़ाया। उसने कहा, क्या मतलब? धन्यवाद तो मुझे देना चाहिए। मैं अंधा हूं, रास्ता तो तुमने मुझे पार करवाया। तब तो दोनों घबड़ा गये, पसीना आ गया। रास्ता तो पार हो गये थे, लेकिन तब पता चला, दोनों अंधे थे।
अंधों को पता भी कैसे चले कि हम किसी अंधे के पीछे चल रहे हैं? कतारें लगी हैं। क्यू लगे हुए हैं। तुम अपने आगेवाले को पकड़े हो, आगेवाला अपने आगेवाले को पकड़े हुए है। सबसे आगे कोई महाअंधा महात्मा की तरह चल रहा है।
चले जा रहे हैं। न तुम्हें पता है, न तुम्हारे आगेवाले को पता है।

मुल्ला नसरुद्दीन नमाज पढ़ने गया था। होगा ईद का उत्सव या कोई धार्मिक त्यौहार। हजारों लोग नमाज पढ़ रहे थे। उसकी कमीज उसके पाजामा में उलझी थी। तो पीछेवाले आदमी को जरा अच्छा नहीं लगा तो उसने झटका देकर कमीज को ठीक कर दिया। उसने सोचा कि मामला कुछ है। उसने सामनेवाले आदमी को ...। उसकी कमीज में झटका दिया। उस आदमी ने पूछा, क्या बात है? झटका क्यों देते हो? उसने कहा, भाई मेरे पीछेवाले से पूछो। मैं तो समझा कि रिवाज होगा। इस मस्जिद में पहले कभी आया नहीं।

हम कर रहे हैं एक-दूसरे का अनुकरण। रस तो पाया कहां है? रस से तो तुम्हारी पहचान कहां हुई है? रस मिले तो प्रभु मिले। रस पा लिया तो सब पा लिया।

नहीं, आखें खोलो। और कोई तुम्हें अंधा नहीं बना रहा है। कोई तुम्हें अंधा बना नहीं सकता है। किसी की सामर्थ्य नहीं तुम्हें अंधा बनाने की। सिर्फ तुम्हारी सामर्थ्य है। तुम चाहो तो अनंतकाल तक अंधे रह सकते हो। यह तुम्हारा निर्णय है। तुमने तय कर रखा है आंख न खोलने का, तुम्हारी मर्जी। लेकिन दोष किसी और को मत दो। ये तरकीबें छोड़ो।

तुम क्रोधी हो, दूसरे को दोष देते हो कि इस आदमी ने क्रोध करवा दिया। इसने एक ऐसी बात कही कि हमको क्रोध आ गया। अगर तुम अक्रोधी होते, यह कितनी ही बात कहता तो भी क्रोध न आता। तुम जरा खाली कुएं में डालो रस्सी बांधकर बालटी, और खूब खड़खड़ाओ, और खूब खींचो जितनी मर्जी हो, पानी भरकर न आयेगा। बालटी खाली जायेगी, खाली लौट आयेगी। जिसके भीतर क्रोध नहीं उसे गाली दो, डालो बालटी, खूब खड़खड़ाओ गाली को, खाली लौट आयेगी। जिसके भीतर क्रोध भरा है उसमें से ही क्रोध आता। गाली ज्यादा से ज्यादा निमित्त हो जाती।

और अगर तुम मनोवैज्ञानिकों से पूछो तो वे तो कुछ और बड़ी बात कहते हैं। वे तो यह कहते हैं कि अगर तुम्हें कोई क्रोध न दिलवाये और क्रोध तुम्हारे भीतर भरा हो तो तुम कुछ न कुछ बहाना खोजकर उसे बाहर निकाल कर रहोगे। बालटी भी कोई न डाले तो भी कुआं जो भरा है वह उछल रहा है। वह तरकीब खोजेगा कोई न कोई। किसी बहाने चढ़कर पानी बाहर आयेगा।

तुमने भी कई दफा देखा होगा, खुजलाहट उठती है कि हो जाये किसी से टक्कर। अब यह भी कोई...! कुछ भीतर से उमगने लगता है, लड़ने को फिरने लगते हो। वही घड़ी तुम्हें पता होगी, जब तुम चाहते हो कि कहो, आ बैल सींग मार। कोई बैल सींग न मारे तो नाराजगी होती है।

मुल्ला नसरुद्दीन शांत बैठा था अपने घर में। और पत्नी एकदम उस पर टूट पड़ी और कहा कि अब तुम मुझे और न भड़काओ। अरे, नसरुद्दीन ने कहा, हद हो गई। मैं अपना शांत बैठा अपना हुक्का गुड़गुड़ा रहा हूं, एक शब्द नहीं बोला। शब्द न निकले इसलिए हुक्के को मुंह में डाले बैठा हूं, और तू कहती है और न भड़काओ। बात क्या है? उसने कहा, इसीलिये तो! इसीलिये कि तुम इतने चुप बैठे हो कि इससे भड़कावा पैदा होता है। बोलो कुछ। चुप बैठने का मतलब? बैठे-बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे हो और मैं यहां मौजूद हूं!

आदमी न बोले तो फंसता, बोले तो फंसता। लोग तैयार हैं। लोग उबले बैठे हैं, कोई भी बहाना चाहिए। बहाना न मिले तो बहाने की तलाश में निकलते हैं। अगर बिलकुल भी बहाना न मिले, कोई बहाने का उपाय भी न हो, अगर तुम उन्हें एक कमरे में बिठा दो तो तुम भी चकित हो जाओगे...।

मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग किये हैं। किसी आदमी को सात दिन के लिए एकांत में रख दिया। भोजन सरका देते हैं दरवाजे से, कोई बोलता नहीं, कोई चालता नहीं। सब इंतजाम है। शांति से रहे, स्नान करे, भोजन करे, विश्राम करे। मगर उस आदमी से कहा है कि वह रोज लिखता रहे कि कब उसे क्रोध आया। अब क्रोध का कोई कारण ही नहीं है, लेकिन आदमी डायरी में लिखता है कि क्रोध आया आज शाम को। कोई कारण न था तो अतीत में से कोई कारण खोज लिया, कि तीस साल पहले फलां आदमी ने गाली दी थी। वह अभी भी जल उठता है।

तुम बहाने खोज रहे हो। अंधे तुम हो। अंधे तुम होना चाहते हो। अंधे होने में तुम्हारा स्वार्थ तुमने समझ रखा है। तुमने न्यस्त स्वार्थ बना रखा है। तुम सोचते हो यही एक होने का ढंग है। फिर तुम कभी कहते, रस ने अंधा

बना दिया। क्या करें, इस स्त्री ने अंधा बना दिया। क्या करें, इस पुरुष ने अंधा बना दिया। क्या करें, रास्ते पर धन पड़ा था इसलिए चोरी का मन हो गया। क्या बातें कर रहे हो? चोरी का मन था इसलिए रास्ते पर पड़ा धन दिखाई पड़ा, अन्यथा दिखाई भी न पड़ता। पड़ा रहता। चोर न होते तो दिखाई भी न पड़ता। चोर हो। रास्ते पर पड़े धन ने तो भीतर जो पड़ा था उसको उभार दिया। और जरा देखो, रास्ते पर पड़ा हुआ धन निर्जीव है। निर्जीव ने तुम्हें चलायमान कर दिया? तो तुम निर्जीव से भी गये-बीते हो गये।
एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन मेरे साथ राह पर चल रहा था। एकदम दौड़ा, किनारे पर जाकर झुका, कुछ उठाया और फिर बड़ा गुस्सा होकर उसे फेंका और गालियां देने लगा। मैंने पूछा, बात क्या हुई बड़े मियां? तो उसने कहा, अगर यह आदमी मुझे मिल जाये जो अठन्नी की तरह थूकता है तो इसकी गर्दन काट दूं। किसी ने खखारकर थूका है, वह उनको अठन्नी मालूम पड़ रही है। अब वह उसकी गर्दन काटने को तैयार है!
तुम अंधे हो। कोई तुम्हें अंधा नहीं बना रहा है। रस प्रभु का स्वभाव है, परमात्मा का जीवन है। रस अभी तुम्हें मिला नहीं।
खोलो आंख, रस मिलेगा। और जब रस मिलता है तो जीवन धन्य होता है।

चौथा प्रश्न: न तो कोई प्रश्न निर्धारित कर पाता हूं और न कोई उत्तर पाने की ही लालसा है। आपको सुन-सुनकर तथा कुछ अपने अनुभव से मुझे लगता है कि सारे प्रश्नोत्तर, अध्यात्म, संन्यास, बौद्धिकता, गुरुडम, सब व्यर्थ की बकवास है क्योंकि सब कुछ उसी की इच्छा से होता है। फिर भी मन में एक अजीब-सी बेचैनी बनी रहती है। कृपया मार्गदर्शन करें।

अब यह बेचैनी भी उसी की इच्छा से हो रही होगी! इतनी-सी बात समझ में नहीं आती? बड़ी-बड़ी बातें समझ में आ गईं: संन्यास, अध्यात्म, ध्यान, सब बकवास है। इतने बड़े ज्ञानी हो गये, और यह जो मन में बेचैनी बनी है, यह समझ में नहीं आती!
यह सब उसी की इच्छा से हो रहा है तो यह बेचैनी भी उसी की इच्छा से हो रही होगी, इसको स्वीकार कर लो। इस बेचैनी से बेचैन होने का क्या कारण है? कहते हो, सब उसी की इच्छा से हो रहा है। तो फिर क्या बचा? अब जो करवाये वह करो। जो हो उसे देखो।
नहीं, लेकिन तुम हो चालबाज। ध्यान तो करना नहीं चाहते, तो कहते, जब उसकी इच्छा से होगा, होगा। संन्यास तो तुम लेने में डरते हो, कायर हो। तो कहते हो, यह सब तो बकवास। लेकिन यह मन की बेचैनी कैसे मिटे इसकी तरकीब खोज रहे हो। इन बेईमानियों का ठीक-ठीक साक्षात्कार करो।
मन की बेचैनी मिटाने को ही संन्यास है। मन की बेचैनी मिटाने का ही उपाय ध्यान है। मन मिटे इसी का नाम तो अध्यात्म है। और इनको तुम बकवास कह रहे हो। अब तुम्हारी मर्जी। तो फिर मन की बेचैनी को हटाने का कोई उपाय नहीं। औषधि को तो बकवास कह रहे हो, फिर कहते हो बीमारी है, अब इसका क्या करें? अब बीमारी को सम्हालो। पूजा करो इसकी। मंदिर बनाओ; उसमें रखकर मन की बेचैनी, घंटे बजाओ, आरती उतारो। क्या करोगे और? "औषधि तो बकवास है! और औषधि का प्रयोग किया? प्रयोग करके कह रहे हो? ध्यान करके कह रहे हो? अध्यात्म में उतर कर कह रहे हो? संन्यास का कोई अनुभव है?
बच्चों जैसी बातें न करो। बिना अनुभव के तो कुछ मत कहो। जिसका अनुभव नहीं उस संबंध में तो वक्तव्य मत दो। जिसका अनुभव नहीं है उस संबंध में चुप रहो। अपने अनुभव की सीमा के बाहर जाकर कोई बात मत कहो, अन्यथा वही बात तुम्हारी गर्दन पर फांसी बन जायेगी।
अब तुम पूछते हो, "फिर भी मन में एक अजीब-सी बेचैनी बनी रहती है। कृपया मार्गदर्शन करें।"
अब क्या खाक! मार्गदर्शन का उपाय नहीं छोड़ा तुमने कोई। क्योंकि जो भी मैं कहूंगा वह सब बकवास है। क्योंकि वह या तो अध्यात्म की कोटि में आयेगा, या ध्यान की कोटि में, या संन्यास की कोटि में। जो भी मैं कहूंगा...।

जरा प्रश्न करनेवाले का प्रश्न ठीक से समझें, क्योंकि ऐसी स्थिति बहुत लोगों की है।
"न तो कोई प्रश्न निर्धारित कर पाता हूं और न कोई उत्तर पाने की लालसा है। फिर भी मार्गदर्शन...।"
तुम्हें अगर कोई उत्तर भी दे तो भी तुम धन्यवाद देने को भी तैयार नहीं हो, इसलिए कह रहे हो यह बात: कि न कोई उत्तर पाने की लालसा है। तो जब उत्तर पाने की लालसा ही न रही तो तुम मार्गदर्शन कैसे लोगे? उत्तर पाने की लालसा हो, अभीप्सा हो, मुमुक्षा हो, गहरी प्यास हो, तो ही उत्तर लोगे; नहीं तो उत्तर कैसे लोगे? मेरा दिया उत्तर व्यर्थ जायेगा। तुमसे कहीं संबंध न बनेगा।
और तुम कहते हो, "आपको सुन-सुनकर तथा कुछ अपने अनुभव से...।"
मुझे तो तुमने सुना ही नहीं है। यहां बैठे भला होओ तुम, मगर अगर मुझे सुना होता तो जीवन रूपांतरित हो जाता। यह मन की बेचैनी अपने आप चली गई होती। मुझे सुना होता तो ध्यान लग जाता। मुझे सुना होता तो अध्यात्म का रस आ जाता। मुझे सुना होता तो संन्यास उतर आता। मुझे तो तुमने सुना नहीं है। हां, तुमने कुछ सुन लिया होगा, जो तुम सुनना चाहते हो।
मन बड़ा चालबाज है। और उसकी चालबाजियां बड़ी सूक्ष्म हैं। वह वही सुन लेता है जो सुनना चाहता है। मतलब की बात सुन लेता है। जो नहीं सुनना है, नहीं सुनता।
मुल्ला नसरुद्दीन से मैंने एक दिन पूछा कि नसरुद्दीन, तू कुरान रोज पढ़ता है फिर भी तू शराब पीये चला जाता है? कुरान में तो साफ लिखा है शराब के खिलाफ। उसने कहा, बिलकुल लिखा है। लेकिन अपनी-अपनी सामर्थ्य से जितना कर सकता हूं, करता हूं। मैंने कहा, मैं कुछ समझा नहीं। तो उसने कहा कि देखें, कुरान में लिखा है: "शराब पीयोगे यदि तो दोजख में पड़ोगे।" तो अभी मैं आधे ही वचन तक पहुंचा हूं--"शराब पीयोगे...।" इससे आगे अभी मेरी सामर्थ्य नहीं है। धीरे-धीरे जाऊंगा। आगे भी जाऊंगा मगर अभी तो "शराब पीयोगे" इतने तक...इतने तक रस आ रहा है। यह भी कुरान की ही आज्ञा है। मैं कोई कुरान के विपरीत नहीं चल रहा हूं।
आदमी बड़ा चालबाज है। तुम यहां सुन रहे हो अष्टावक्र को। अष्टावक्र कहते हैं, न संन्यास की जरूरत, न ध्यान की जरूरत, न अध्यात्म की जरूरत, न शास्त्र की, न गुरु की। तुम बड़े प्रसन्न हो रहे होओगे। तुम कह रहे होओगे, वाह! यह तो हम सदा ही कहते थे कि किसी चीज की कोई जरूरत नहीं। लेकिन तुम अष्टावक्र को नहीं समझ रहे।
अष्टावक्र की बात बड़ी ऊंची है। अष्टावक्र कह रहे हैं, सीढ़ी की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि छत पर पहुंच गये हैं। और तुम खड़े हो नीचे, तलघरे में। और तुम सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे हो कि सीढ़ी की कोई जरूरत नहीं है। तुम्हें तो सीढ़ी की जरूरत है। हां, एक दिन सीढ़ी की जरूरत नहीं रह जायेगी। वह सौभाग्य का दिन भी आयेगा कभी, लेकिन सीढ़ी से गुजर कर ही आयेगा; और कोई उपाय नहीं है।
तुम तो अभी वहां पड़े हो जहां ध्यान भी दुस्तर है। ध्यान के अतीत जाना
तो अभी कल्पना के बाहर है। अभी तो तुम विचार में पड़े हो, विकृत विचार में पड़े हो। अष्टावक्र निर्विचार की अवस्था से बोल रहे हैं कि विचार की कोई जरूरत नहीं। विचार की कोई जरूरत नहीं इसलिए ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं। समझने की कोशिश करना। वे कह रहे हैं कि विचार जब होता है तो ध्यान की जरूरत होती है। विचार बीमारी है, ध्यान औषधि। जब विचार की ही कोई जरूरत नहीं है ऐसा समझ गये तो फिर ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं। लेकिन तुम क्या करोगे? विचार में तो रहे आओगे और ध्यान की जरूरत नहीं है उतना समझ लोगे। विचार इससे मिटेगा नहीं।
अगर ध्यान की जरूरत नहीं है, ऐसा तुम्हारी समझ में पूरा-पूरा उतर गया
तो इसका अर्थ है, इसके पहले यह तुम्हारी समझ में उतर चुका होगा कि विचार की कोई जरूरत नहीं। जब विचार की कोई जरूरत नहीं तो फिर ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं। इतना खयाल रखना। इसको कसौटी मानकर रखना। इसलिए झंझट आ रही है।

"ध्यान, अध्यात्म, संन्यास, सब व्यर्थ की बकवास हैं, और मन में फिर भी
एक अजीब-सी बेचैनी बनी रहती है।"
वह बनी ही रहेगी। क्योंकि तुम बड़ी ऊंची बात ले उड़े। जमीन पर सरक रहे हो। आकाश का सपना देख लिया। कह दिया, पंखों की कोई जरूरत नहीं। उड़ न पाओगे, फिर घसिटते ही रहोगे।
इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, विचार की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन विचार
से कैसे छूटोगे? अगर समझ इतनी गहरी हो, इतनी प्रगाढ़ हो, ऐसी धारवान हो कि इतनी बात सुनकर ही तुम विचार को छोड़ दो, तब तो फिर ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं, बात खतम हो गई। लेकिन तब मन में बेचैनी न रहेगी। बात ही समाप्त हो गई। मन ही समाप्त हो गया, बेचैनी कहां होगी? न रहा बांस, न बजेगी बांसुरी। लेकिन अगर इतनी बात सुनकर हल न हो और मन में बेचैनी बनी रहे तो तुम्हारे लिए ध्यान की जरूरत है। तुम ध्यान के माध्यम से ही एक दिन मन की बेचैनी के पार होओगे। और मन के जब पार होओगे तब ध्यान की बोतल और विचार की बीमारी, दोनों कचरेघर में फेंक देना। फिर दवाइयां अपने साथ लिये मत फिरना। फिर इनकी कोई जरूरत न रह जायेगी। तब तुम्हारे लिए अष्टावक्र का अर्थ प्रकट होगा।
कल मैंने तुमसे कहा कि दो तरह की संभावनायें हैं: श्रावक और साधु। जो सुनकर ही पहुंच जाये, सुनते ही पहुंच जाये, सुनने में और पहुंचने में क्षण भर का जिसे फर्क न रहे, इधर बात समझी कि हो गई--जिसके पास ऐसी प्रगाढ़ मेधा हो उसके लिए तो साधु बनने की कोई जरूरत नहीं। वह तो साधु हो ही गया। लेकिन ऐसा न हो पाये, मन में बेचैनी बनी रहे तो फिर साधु की प्रक्रिया से गुजरना पड़ेगा। फिर धीरे-धीरे काटना पड़ेगा। जो एक ही तलवार की चोट में नहीं कटता है, वह फिर धीरे-धीरे काटना पड़ेगा। उस धीरे-धीरे काटने का नाम ही साधना है। तुम अपने को समझ लेना। तुम्हारी मन की बेचैनी ही खबर देती है कि तुम्हें धीरे-धीरे काटना पड़ेगा। अध्यात्म, संन्यास, ध्यान, गुरु, सबसे तुम्हें गुजरना पड़ेगा।
और देर मत करो। क्योंकि कुछ पक्का नहीं है, आज हो, कल न हो जाओ। देर मत करो, समय का कुछ भरोसा नहीं है। और जो गया समय वह तो लौटता नहीं। और जो आ रहा है आगे वह आयेगा, नहीं आयेगा, इसकी कोई सुनिश्चितता नहीं है। यही क्षण तुम्हारे हाथ में है। चाहे बेचैन हो लो, चाहे ध्यान में उतर जाओ। चाहे संसार में भटक लो, चाहे संन्यास में उठ जाओ। यही क्षण तुम्हारे हाथ में है; या तो अभी या कभी नहीं। कल के लिए मत सोचना कि सोचेंगे, कल कर लेंगे।
क्या शबाब था कि फूल-फूल प्यार कर उठा
क्या सुरूप था कि देख आईना सिहर उठा
इस तरफ जमीन और आसमां उधर उठा
थामकर जिगर उठा कि जो मिला नजर उठा
एक दिन मगर यहां ऐसी कुछ हवा चली
लुट गई कली-कली कि घुट गई गली-गली
और हम लुटे-लुटे वक्त से पिटे-पिटे
सांस की शराब का खुमार देखते रहे
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे
जल्दी ही पिट जाओगे। वक्त सभी को पीटकर रख देता है। जल्दी ही लुट जाओगे। वक्त का लुटेरा किसी की चिंता नहीं करता, सभी को लूट लेता है। वक्त का लुटेरा न कोई कानून मानता, न कोई राज्य मानता, न कोई सरकार मानता। वक्त का लुटेरा लूट ही रहा है, काट ही रहा है तुम्हारे जीवन की जड़ों को।
और हम लुटे-लुटे वक्त से पिटे-पिटे
सांस की शराब का खुमार देखते रहे
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे
जल्दी ही यह जीवन का कारवां जा चुका होगा। राह पर केवल धूल के गुबार
रह जायेंगे। अर्थी उठेगी जल्दी। और तब तुम यह न कह सकोगे कि अर्थी इत्यादि बकवास, खयाल रखना। तब तुम यह न कह सकोगे कि अर्थी इत्यादि बकवास। तब तुम यह न कह सकोगे, यह मौत इत्यादि बकवास। तब तुम्हारी बड़ी दुर्गति हो जायेगी।

इसके पहले कि समय चुक जाये, इसके पहले कि अवसर चुक जाये, कुछ कर लो, कुछ
भर लो। यह झोली खाली की खाली न रह जाये।
और मैं तुमसे कहता हूं कि अगर तुम ध्यान में उतर सको--ज्ञान में उतर जाओ सीधे, बड़ा शुभ। सौ में कोई एकाध उतर पाता है सीधा, निन्यानबे को ध्यान से ही जाना पड़ता। इसलिए तो अष्टावक्र का इतना महिमावान शास्त्र कभी भी बहुत लोगों के काम नहीं आ सका; आ नहीं सकता। वह बहुत चुनिंदा लोगों के लिए है। वह सामान्य रूप से किसी काम का नहीं है। कोई अलबर्ट आइंस्टीन, कोई गौतम बुद्ध, कोई कृष्ण, कोई मोहम्मद, कोई जीसस, बस ऐसे लोगों के काम का है। इने-गिने उंगलियों पर गिने जा सकें जो, ऐसे थोड़े-से लोगों के काम का है। इसलिए शास्त्र अनूठा है लेकिन बहुत लोग इस शास्त्र का शस्त्र न बना पाये कि जिससे जीवन का जाल कट जाता। जीवन का जाल काटने के लिए तुम्हें अपनी सामर्थ्य से ही चलना पड़ेगा। तुम्हें अपने को ही देखकर चलना पड़ेगा। अष्टावक्र को सुनते-सुनते तुम ज्ञान को उपलब्ध हो जाओ, तुम्हारे मन की बेचैनी मिट जाये, शुभ हुआ। फिर किसी संन्यास की कोई जरूरत नहीं। मगर कसौटी समझना मन की बेचैनी को। अगर बेचैनी न कटे तो समझ लेना कि अकेले ज्ञान से कुछ तुम्हारे लिए होनेवाला नहीं है। तुम्हें ध्यान से जाना पड़ेगा। फिर बचाव मत करना; फिर ध्यान में उतरना।
अगर ध्यान में उतर सके तो एक दिन विचार कट जायेंगे। जिस दिन विचार कट गये उस दिन ध्यान भी व्यर्थ हुआ। पैर में कांटा लग जाता है, दूसरे कांटे से हम उसे निकाल लेते हैं। फिर दोनों कांटों को फेंक देते हैं। फिर दूसरे कांटे से जो हमने निकाला है उसे सम्हालकर थोड़े ही खीसे में रख लेते हैं। उसकी पूजा थोड़े ही करते हैं कि यह कांटा बड़ा उपकारी है। त्राता! तारणहार! फिर उसको भी फेंक देते हैं। कांटा तो कांटा ही है। इसको भी पास रखने में खतरा है। यह भी गड़ सकता है। और खीसे में रखा तो छाती में गड़ेगा। दोनों को फेंक देते हैं।
विचार कांटा है, ध्यान भी कांटा है। ध्यान के कांटे से विचार के कांटे
को निकाल लेते हैं, फिर दोनों को विदा कर देते हैं--नमस्कार। अगर ध्यान घट सका तो विचार और ध्यान दोनों चले जायेंगे। फिर उस दिन तुम जानोगे कि संन्यास क्या है, अध्यात्म क्या है।
जहां मन नहीं वहां अध्यात्म के फूल खिलते हैं, कमल खिलते हैं। जहां मन नहीं वहां संन्यास की सुवास बिखरती है। अभी तुम ऐसी बातें न कहो। ये बातें छोटे मुंह बड़ी बातें हो जाती हैं। अष्टावक्र कहते हैं ठीक; तुम मत कहो। तुम्हें अगर कहनी हैं तो अपने मन को जांचकर कहो। फिर बेचैनी बीच में मत लाओ; और फिर मार्गदर्शन मत पूछो।

पांचवां प्रश्न: कल आपने कहा, "निर्बल के बल राम। हारे को हरिनाम।" परंतु कुछ दिन पूर्व आपने कहा था कि परमात्मा के सामने भिखारी की तरह नहीं, वरन सम्राट की तरह ही जाया जा सकता है। कृपया विरोधाभास को स्पष्ट करें।

विरोधाभास तुम्हें दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि तुम्हारे पास अविरोध को देखने की समझ नहीं है। तुम्हारे पास वैसी आंख नहीं है जो अविरोध को देख ले। तो तत्क्षण हर चीज विरोधाभासी हो जाती है। तुमने देखी नहीं कि चीज विरोधाभासी हुई नहीं।
समझने की कोशिश करो: निर्बल के बल राम। लेकिन निर्बल का मतलब भिखारी नहीं होता। और निर्बल के बल राम--जिस निर्बलता में राम मिल जाते हों वह निर्बलता भिखमंगापन नहीं हो सकती। वह निर्बलता तो साम्राज्य का द्वार हुई। निर्बल के बल राम का अर्थ है, जिसने अपने अहंकार के बल को छोड़ दिया। जिसने कहा, अब मेरा कोई बल नहीं।
इससे कुछ बल थोड़े ही मिट जाता है। इससे ही पहली दफा बल पैदा होता है। तुम्हारा अहंकार ही तो तुम्हें मारे डाल रहा है। वही तो तुम्हारी छाती पर बंधा हुआ पत्थर है, गर्दन में बंधी फांसी है। बल कहां है तुम्हारे अहंकार में? सिर्फ बल का दंभ है। बल कहां है? क्या कर लोगे तुम्हारे

अहंकार से? सिकंदर और नेपोलियन और चंगीज और तैमूर क्या कर पाते हैं? सारा बल धरा रह जाता है। सारा बल पड़ा रह जाता है। मौत का झोंका आता है और सब हवा निकल जाती है। गुब्बारा फूट जाता है।
जितना बड़ा अहंकार उतने ही जल्दी गुब्बारा फूट जाता है। देखा, छोटे बच्चे फुग्गे को हवा भरते जाते, भरते जाते। गुब्बारा बड़ा होता जाता। जैसे- जैसे गुब्बारा बड़ा होता है वैसे-वैसे फूटने के करीब आ रहा है। जब गुब्बारा पूरा बड़ा हो जाता है तो फूट जाता है। नेपोलियन और सिकंदर फूले हुए गुब्बारे हैं।
तुम्हारा अहंकार है क्या? बल क्या है तुम्हारे अहंकार में? तुम्हारे अहंकार से होता क्या है? कुछ भी तो नहीं होता।
निर्बल के बल राम का अर्थ है, जिस व्यक्ति ने अपनी अस्मिता का दंभ छोड़ा, अहंकार का भाव छोड़ा। इस तरफ से निर्बल हुआ। क्योंकि अब तक जिसको बल माना था वह बल गया। लेकिन वस्तुतः थोड़े ही निर्बल हुआ। यही तो अर्थ है निर्बल के बल राम। जैसे ही अपना बल गया कि राम का बल पैदा हुआ। राम का बल तुम्हारे भीतर छिपा है, तुम्हारे प्राणों में दबा है। इधर ऊपर से तुमने अहंकार का गुब्बारा छोड़ा कि बस आया।
रवींद्रनाथ ने एक कविता लिखी है, प्यारी है। लिखा है अपनी कविता में
कि एक रात बजरे पर था। पूर्णिमा की रात, पूरा चांद आकाश में। बड़ी लुभावनी रात। चांद की बरसती रात। और वे अपनी नाव पर अपने बजरे में अंदर बैठे हैं। कोई किताब पढ़ रहे हैं। सौंदर्य के संबंध में सौंदर्यशास्त्र की कोई किताब पढ़ रहे हैं। एक छोटी-सी मोमबत्ती जला रखी है, उसका पीला टिमटिमाता प्रकाश-- उसी में वे पढ़ रहे हैं। आधी रात गये किताब पूरी हुई। फूंक मारकर मोमबत्ती बुझा दी। मोमबत्ती बुझाते ही चकित खड़े रह गये। द्वार से, खिड़की से, रंध्र-रंध्र से बजरे की, चांद की रोशनी भीतर आ गई। अपूर्व! नाच उठे। फिर रोने लगे। क्योंकि तब याद आया कि सौंदर्य बाहर बरस रहा है। चांद द्वार पर खड़ा है। और मैं इस मोमबत्ती को जलाये, इसके गंदे-से प्रकाश में सौंदर्यशास्त्र पढ़ रहा हूं। सौंदर्य द्वार पर खड़ा है और मैं किताब में सौंदर्य खोज रहा हूं। और इस मोमबत्ती के धीमे-से प्रकाश ने चांद की रोशनी को भीतर आने से रोक दिया है।
तुमने कभी देखा? छोटा-सा प्रकाश मोमबत्ती का, चांद भीतर नहीं आता। मोमबत्ती बुझ गई, भर गया चांद भीतर, सब तरफ से दौड़ आया। रवींद्रनाथ ने लिखा है, वह घड़ी मेरे जीवन में बड़ी शुभ घड़ी हो गई। उस दिन मैंने जाना, ऐसी ही अहंकार की मोमबत्ती है। जब तक जलती रहती है तब तक प्रभु का प्रकाश द्वार पर खड़ा रहता है, भीतर नहीं आ पाता। फूंक मारकर बुझा दो यह मोमबत्ती, दौड़ा चला आता प्रभु। निर्बल के बल राम।
इसका मतलब यह नहीं है कि जब तुम निर्बल हो जाते हो तो तुम भिखारी हो जाते हो। निर्बल होते ही तुम सम्राट हो जाते हो। जीसस के वचन हैं: "ब्लेसेड आर द मीक, फॉर दे शैल इनहेरिट द अर्थ; फॉर देअर्स इज द किंगडम ऑफ गॉड।" धन्यभागी हैं निर्बल। उन्हीं का है सारा जगत और वे ही हैं प्रभु के राज्य के मालिक। सम्राट हो जाता है आदमी निर्बल होकर।
तो मैं तुमसे फिर कहता हूं, भिखारी की तरह परमात्मा के द्वार पर मत जाना। भिखारी का मतलब है, अहंकारी की तरह परमात्मा के द्वार पर मत जाना। अहंकार भिखमंगा है। मांग ही मांग तो है अहंकार के पास; और क्या है? धन दो, पद दो, प्रतिष्ठा दो, कुर्सी दो। अहंकार के पास और क्या है? दो, दो, दो! मांगता ही चला जाता। और मिले, और मिले, और मिले। मांगता ही चला जाता। मंगना है, भिखमंगा है।
सम्राट कौन? जिसकी मांग चली गई, जो मांगता नहीं, वही सम्राट है। और मांगेगा कौन नहीं? जिसको राम मिल जायें वही नहीं मांगेगा; बाकी तो मांगते ही रहेंगे। राम को पाकर फिर क्या मांगने को बचा? और राम मिलते केवल उसी को, जो निर्बल है। धन्यभागी हैं निर्बल। सम्राट हो जाते हैं वे। उनकी निर्बलता बल है--निर्बल के बल राम।
लेकिन तुम जरूर विरोधाभास देख लिये होओगे। क्योंकि जब मैंने कहा, सम्राट की तरह जाओ तो तुम्हारे अहंकार ने कहा कि सुनो! सुनते हो? अकड़कर

चलना है अब। कोई भिखमंगे की तरह नहीं जाना है। झंडा ऊंचा रहे हमारा! अब अकड़कर जाना है। अब परमात्मा पर हमला बोलना है, कोई ऐसे भिखारी की तरह नहीं जाना। बैंड-बाजे लेकर जाना है। उसको भी बता देना है कि कोई आ रहा है।
तुम यह समझे होओगे, जब मैंने कहा कि सम्राट की तरह जाओ। सम्राट की तरह जाने का अर्थ है, कोई मांग लेकर मत जाओ। मांग छोड़कर जाओ। और मांग अगर सब छूट जाये तो अहंकार नहीं बचेगा। क्योंकि अहंकार मांग पर ही जीता है। अहंकार मंगना है, भिखारी है।
लेकिन तुम कुछ का कुछ समझ लेते हो यह मैं जानता हूं। तुम कुछ का कुछ समझने के लिए मजबूर हो। जैसे ही मैंने कहा, सम्राट की तरह जाओ, तुम्हारी रीढ़ सीधी हो गई होगी। तुम अकड़कर बैठ गये होओगे। तुमने कहा कि बात कही पते की। अरे, मैं और भिखमंगे की तरह जाऊं? अब रास्ता मिल गया।
तुम तबसे ही अकड़कर चल रहे हो। कृपा करके रीढ़ जरा ठीक करो। यह मैंने कहा नहीं है। तुम जो सुन लेते हो, जरूरी नहीं है कि मैंने कहा हो। जो मैंने कहा है, जरूरी नहीं है कि तुमने सुना हो। इसलिए जल्दी मत करना निष्कर्ष लेने की। बहुत सोच-विचार कर लेना। बार-बार सुन लेना। सब तरह से जांच-परख कर लेना। अन्यथा तुम धोखा खा जाओगे।
निर्बल के बल राम, हारे को हरिनाम। जो हार गया है, उसका ही हरिनाम। अब हारे से तुम क्या अर्थ लेते हो? हारे से यह मतलब नहीं है कि लोमड़ी उछली और अंगूरों का गुच्छा न पा सकी। उसने चारों तरफ देखा, कोई नहीं देख रहा है, चल पड़ी। एक खरगोश छिपा देख रहा था एक झाड़ी में। उसने कहा, मौसी, क्या मामला है? उछलीं, पहुंच नहीं पाईं? अब यह तो अहंकार को चोट लगती थी लोमड़ी को। लोमड़ी ने कहा, अरे कुछ भी नहीं। कुछ मामला नहीं। अंगूर खट्टे हैं, पहुंचने योग्य ही नहीं हैं।
एक तो यह हार है। इस हार की बात नहीं कर रहा हूं। कि तुमने धन पाना चाहा और पहुंच नहीं सके तो तुमने कहा, मार दी लात। था ही नहीं धन तो लात क्या खाक मारी! लात मारने का हकदार तो वही है जिसके पास हो।
इस विफलता को नहीं कह रहा हूं हारना कि होना तो चाहते थे राष्ट्रपति,
न हो पाये म्युनिसिपल के मेंबर, सोचा कि अरे, कुछ नहीं रखा पद इत्यादि में। एकदम शास्त्र पढ़ने लगे, सत्संग करने लगे। कहने लगे कि इसमें कुछ नहीं रखा। यह सब दौड़-धाप व्यर्थ की बकवास है। मैं तो आध्यात्मिक हो गया। दौड़ते थे स्त्री के पीछे, नहीं पा सके स्त्री को क्योंकि और भी प्रतियोगी थे तो सोच लिया कि कुछ रखा नहीं। स्त्रियां हैं क्या? हड्डी-मांस-मज्जा का ढेर है; खून-कफ इत्यादि भरा पड़ा है; ऐसी-ऐसी बातें सोचने लगे। ऐसा सोचकर मन को समझा लिया, अंगूर खट्टे हैं। शास्त्रों में लिखी हैं ऐसी बातें।
ये पहले तरह के, इन हारे लोगों ने लिखी होंगी। इनके लिए नहीं कह रहा हूं हारे को हरिनाम। ये तो हार ही गये। ये तो हरिनाम भी क्या खाक लेंगे! इनको तो जीवन का स्वाद ही नहीं मिला। यह जो लोमड़ी चली गई है उचककर और नहीं पहुंच सकी अंगूरों तक, क्या तुम सोचते हो इसके मन में अंगूरों की याद न आयेगी? खरगोश को धोखा दे दे। शायद खरगोश ने मान भी लिया हो। खरगोश भोले- भाले धार्मिक लोग! मान लिया हो। श्रद्धालु जन! स्वीकार कर लिया हो कि ठीक कहती है, अंगूर खट्टे हैं। लेकिन खुद को कैसे धोखा देगी? खुद तो जानती है उछली थी, पहुंच न सकी। स्वाद ही नहीं लिया तो खट्टे होने का पक्का कैसे हो सकता है? रात सपने में फिर उछलेगी। ये अंगूर इसके मन में चक्कर काटेंगे। वही तो तुम्हारे साधु-संन्यासियों का होता है। स्त्री छोड़कर भाग गये, स्त्री चक्कर काट रही है। जितने सपने तुम्हारे साधु-संन्यासी स्त्रियों के देखते हैं उतना कोई नहीं देखता। गृहस्थ तो देखते ही नहीं। गृहस्थों को कहां फुरसत स्त्री का सपना देखने की! दिन भर सताती है, रात तो छुटकारा मिले।
जिनके पास धन है वह धन का सपना नहीं देखते, भिखमंगे देखते हैं। जिनके पास पद है वे पद का सपना नहीं देखते, पदहीन देखते हैं। जो नहीं है उसका सपना देखा जाता है। जिसका स्वाद नहीं लिया उसकी आकांक्षा बनी रहती है। नहीं, इस तरह के हारे हुए लोगों के लिए नहीं कह रहा हूं। फिर किस तरह
के हारे हुए लोग? एक और तरह की हार है। एक तो विफलता है जो विफलता से मिलती

है। और एक ऐसी विफलता है जो सफलता से मिलती है। जब एक आदमी सफल हो जाता है; और अचानक पाता है सफलता तो मिल गई और हाथ में राख है। अंगूर पहुंच गये हाथ, तोड़ लिये, चख भी लिये, और कुछ भी न पाया। प्लास्टिक के अंगूर थे। अंगूर थे ही नहीं, धोखा था। धन पा लिया, ढेर लगा लिया और अचानक पाया, कुछ भी नहीं है। भीतर तो हम निर्धन के निर्धन रह गये हैं। बड़े पद पर बैठ गये और पाया कि क्या हुआ? हम तो वही के वही हैं। जमीन पर बैठे थे तो वही थे, कुर्सी पर बैठ गये तो वही हैं। कुछ फर्क तो हुआ नहीं। सारी दुनिया में नाम फैल गया, सब लोग जानने लगे, क्या हुआ? कुछ भी तो न मिला। यह वाहवाही मिली, लेकिन न इससे पेट भरता, न आत्मा भरती। यह सब ऊपर-ऊपर हो गया, भीतर तो हम खाली के खाली रह गये।
एक विफलता है जो विफलता से मिलती है, उसकी मैं बात नहीं कर रहा। वह भी कोई विफलता है? वैसा विफल आदमी जब संन्यास ले लेता है तो वह नपुंसक का ब्रह्मचर्य है। नपुंसक कसम खा ले कि ब्रह्मचर्य ले लिया। वह ऐसा नपुंसक का ब्रह्मचर्य है। नहीं, उसकी मैं बात नहीं कर रहा। मैं कोई और ही बात कर रहा हूं।
ऐसी विफलता जो सफलता से मिलती है। ऐसी निर्धनता जो धन के पाने पर पता चलती है। सब पा लिया और अचानक लगता है, सब असार। स्वाद ले लिया और पाया कि अंगूर खट्टे हैं। और खट्टे ही रहते हैं, पकते ही नहीं। इस संसार का कोई अंगूर कभी नहीं पकता, खट्टा ही रहता है।
इस स्वाद के बाद फिर सपना नहीं आता; फिर वासना नहीं जागती। इस स्वाद
के बाद संसार छोड़ना नहीं पड़ता, छूट जाता है। पहले हारेपन में छोड़ना पड़ता है, चेष्टा करनी पड़ती है। दूसरे हार में छूट जाता है बिना चेष्टा के, बिना प्रयत्न के, अकृत्रिम रूप से, सहज रूप से छूट जाता है। जान लिया, छूट गया। जानना ही क्रांति बन जाती है।
ऐसे व्यक्ति को मैं कहता हूं: हारे को हरिनाम। और तब हरिनाम उठता है।
इस हार में हरिनाम उठता है। अहंकार तो गिर गया हार में, संसार तो गिर गया हार में, अब उठता हरिनाम। ऐसा आदमी विषाद में नहीं लेता हरि का नाम। ऐसा आदमी संसार व्यर्थ हो गया इस आनंदभाव से डोलकर हरि का नाम लेता है। ऐसे आदमी का हरिनाम रसविमुग्धता से उठता है। देख लिया, बाहर कुछ भी नहीं है, अब भीतर लौटता है। और रस ही रस की धार बहती है।
इसी को मैं सम्राट कहता हूं। लेकिन तुम्हारी कठिनाई भी मैं समझता हूं। तुम्हें विरोधाभास दिखाई पड़ता है क्योंकि तुम बुद्धि से सुनते हो। बुद्धि हर चीज में विरोधाभास देखती है। क्योंकि बुद्धि का उपाय ही हर चीज को टुकड़ों में तोड़ देना है। जैसे कांच के टुकड़े के प्रिज्म से गुजरकर किरण सात रंगों में टूट जाती है, ऐसे ही बुद्धि से हर चीज गुजरकर दो में टूट जाती है, द्वैत हो जाता है, दुई पैदा हो जाती है। बुद्धि से कोई भी चीज निकली तो दो पैदा हुए, तत्क्षण पैदा हुए। है तो एक, बुद्धि हर चीज को दो कर देती है।
जीवन को देखने-समझने का एक और ढंग है बुद्धि से अतिरिक्त--हृदय का; विचार के अतिरिक्त प्रेम का।
प्यार अगर थामता न पथ में
उंगली इस बीमार उमर की
हर पीड़ा वेश्या बन जाती
हर आंसू आवारा होता

मन तो मौसम-सा चंचल है
सबका होकर भी न किसी का
अभी सुबह का अभी शाम का
अभी रुदन का अभी हंसी का

जीवन क्या है? एक बात जो
इतनी सिर्फ समझ में आये
कहे इसे वह भी पछताये

सुने इसे वह भी पछताये

मगर यही अनबूझ पहेली
शिशु-सी सरल-सहज बन जाती
अगर तर्क को छोड़, भावना
के संग किया गुजारा होता

हर घर आंगन रंगमंच है
और हरेक सांस कठपुतली
प्यार सिर्फ वह डोर कि जिस पर नाचे बादल नाचे बिजली

तुम चाहे विश्वास न लाओ
लेकिन मैं तो यही कहूंगा प्यार न होता धरती पर तो
सारा जग बंजारा होता

प्यार अगर थामता न पथ में
उंगली इस बीमार उमर की
हर पीड़ा वेश्या बन जाती
हर आंसू आवारा होता
खयाल करो, बुद्धि वेश्या है। उसका कोई भरोसा नहीं। कभी यह कहती, कभी
वह कहती है। बुद्धि से कभी कोई निश्चय होता ही नहीं। बुद्धि आवारा है। बुद्धि पतिव्रता नहीं है। कभी सुबह के साथ, कभी शाम के साथ। कभी एक, कभी दो--बुद्धि डोलती ही रहती है। बुद्धि डांवांडोलपन है। बुद्धि कभी थिर नहीं होती। तो बुद्धि एक में से भी दो अर्थ निकाल लेती है, तभी तो डोल सकती है; नहीं तो डोल न सकेगी।
एक और भी ढंग है जीवन को देखने का, वह है प्रेम; वह है हृदय। तुम मुझे सुनते हो, तुम बुद्धि से सुनोगे तो तुम्हें रोज-रोज विरोधाभास मिलेंगे। तुम्हें पंक्ति-पंक्ति पर विरोधाभास मिलेंगे। तुम्हें कदम-कदम पर, पग-पग पर विरोधाभास मिलेंगे। अगर तुमने बुद्धि से सुना तो तुम विक्षिप्त हो जाओगे। एक और ढंग है प्रेम से सुनने का। प्रेम का अर्थ है, जहां दो एक हो जाते हैं। जहां सब विरोधाभास खो जाते हैं। जहां एक स्वर बजता, एक नाद रह जाता। जहां एक ही अर्थ गूंजता।
और मैं एक ही बात कह रहा हूं--कितने ही ढंग से कहूं और कितने ही शब्दों में कहूं। कभी भक्ति के नाम से कहूं, कभी ज्ञान के नाम से कहूं, कभी ध्यान के नाम से, कभी योग के नाम से, लेकिन मैं एक ही बात कह रहा हूं। तुमने अगर प्रेम से सुना तो तुम उस एक को ही सुन पाओगे। और तब तुम्हारे सामने अर्थ जैसे होने चाहिए वैसे प्रकट होंगे।
अब सीधी-सीधी बात है कि मैं हर बार कहता हूं, हारे को हरिनाम। और कितनी बार तुमसे मैंने कहा है, निर्बल के बल राम। और कितनी बार तुमसे मैंने कहा है, भिखारी की तरह मत जाना, सम्राट की तरह जाना। तुमने काश, इसे हृदय से सुना होता तो तुम्हारे सामने अर्थ प्रगट हो जाता। जो अर्थ मैंने तुमसे अभी कहा वह तुम भी खोज ले सकते थे अगर प्रेम से सुना होता। लेकिन तुम सुनते हो खोपड़ी से। तुम तैयार ही रहते हो कि कोई चीज ऐसी दिखाई पड़ जाये जिसमें विरोध है। तो फिर तुम जरा भी चेष्टा नहीं करते सेतु बनाने का, कि दोनों के बीच कोई सेतु जरूर होगा। जब मैंने कहा है तो जरूर कोई सेतु होगा।
सेतु को खोजें। सेतु को खोजने में लगो। पहले अपने भीतर सेतु को खोजो।
जब न खोज सको तब पूछो। और मैं तुमसे कहता हूं, सेतु तुम धीरे-धीरे खोजने लगोगे और तुम्हें विरोध समाप्त होने लगेंगे। तुम्हें मेरी असंगतियों में संगति का स्वर सुनाई पड़ने लगेगा। क्योंकि असंगति हो नहीं सकती। मैं जहां से बोल रहा हूं वहां एक का ही वास है। कभी एक रंग में ढालता, कभी दूसरे रंग में ढालता। कभी एक गीत में गुनगुनाता, कभी दूसरे गीत में गुनगुनाता।

ये भेद शब्दों के होते हैं। मेरे भीतर एक का ही निवास है। वही एक अनेक शब्दों में प्रगट हो रहा है। इसे तुम स्मरण रखो। इसे बार-बार भूल मत जाओ।
और हर विरोध के बीच जब तुम्हें विरोध दिखाई पड़े तो बड़े ध्यान को पुकारो। शांत होकर बैठो, खोजो, कहीं सेतु होगा। और तुम सेतु को पा लोगे। और उस सेतु को पा लेने से तुम्हारे भीतर एक और तरह की समझ का दीया जलेगा, जिसको हम प्रेम कहते हैं।

आखिरी प्रश्न:
हे री सखि बतलाओ मुझे
पी की मनभावन की बतिया
गुणहीन मलिन शरीर मेरा
कुछ हार-सिंगार किया ही नहीं
नहीं जानूं मैं प्रेम की बात कोई मेरी कांपत है डर से छतिया पिया अंदर महल विराज रहे घर-काजन मैं अटकाय रही
नहीं एक घड़ी-पल संग किया
बिरथा सब बीत गई रतिया
पिया सोवत ऊंची अटारिन में
जहां जीव परीत की गम ही नहीं
किस मारग होय के जाय मिलूं
किस भांति बनाये लिखूं पतिया
मैं इस भजन के साथ खो जाता हूं। कृपा कर मुझे इसका भावार्थ समझायें।

खोजाने में ही भावार्थ है। समझने की बात नहीं है, खो जाने की ही बात है। समझोगे तो अर्थ खो जायेगा। समझो ही मत। डूबो।
जिसने पूछा है, विचार की जगह भावपूर्ण व्यक्ति हैं। जिसने पूछा है, ध्यान की जगह भजन उनके लिए मार्ग होगा। डुबकी लगाओ। समझ इत्यादि की बकवास छोड़ो। जिसको डूबना आता हो वह फिक्र छोड़ सकता है समझने की। जिसको डूबना न आता हो वह समझे। क्योंकि फिर वह समझ-समझकर ही डूब सकेगा; वह इंच-इंच बढ़ेगा। इसका अर्थ मत पूछो। लेकिन इसका सार समझने जैसा है।
"हे री सखि बतलाओ मुझे
पी की मनभावन की बतिया।"
प्रेमी सदा यही पूछ रहा है; एक ही बात पूछ रहा है कि उस प्रिय की कुछ खबर दो, कहां है? कहां छिपा है? कहां खोजें? उसका पता क्या है? उसके संबंध में कुछ बात करो।
सत्संग का यही अर्थ होता है: जहां उस परमप्रिय की बात चलती हो। जहां बैठकर चार दीवाने उस परमप्रिय के गीत गाते हों, स्तुति करते हों। जहां चार दीवाने मिल बैठते हों वहीं मंदिर बन जाता है। जहां चार दीवाने परमात्मा की चर्चा करते हों वहीं शास्त्र जन्मने लगते हैं। मंदिर ईंट-पत्थर के मकानों में नहीं है, मंदिर तो वहां है जहां चार पागल बैठकर प्रभु की चर्चा करते हैं, आंसू बहाते हैं।
"हे री सखि बतलाओ मुझे
पी की मनभावन की बतिया
गुणहीन मलिन शरीर मेरा
कुछ हार-सिंगार किया ही नहीं"
और प्रेमी को तो सदा ऐसा लगता है कि मैं अपात्र हूं। क्या तो गुण है मेरा? स्वच्छ भी नहीं हूं, बड़ा मलिन हूं। प्रेमी का कोई अहंकार तो नहीं होता। अहंकार तो पंडित का, ज्ञानी का होता है। वह कहता है इतने शास्त्र जानता हूं, इतनी पूजा की, इतना पाठ किया, इतने मंत्रजाप किये, इतनी माला फेरी, वह हिसाब रखता है। भक्त तो कहता है, मैंने कुछ भी नहीं किया। "गुणहीन मलिन शरीर मेरा
कुछ हार-सिंगार किया ही नहीं

नहीं जानूं मैं प्रेम की बात कोई
मेरी कांपत है डर से छतिया"
और भक्त तो कहता है कि अगर प्रभु मुझे मिल जायेगा तो मैं घबड़ाता हूं। क्या कहूंगा? क्योंकि मुझे प्रेम का तो कुछ पता ही नहीं। प्रेमी सदा ही यही कहता है कि मुझे प्रेम का पता नहीं। और ज्ञानी सदा कहता है कि मुझे प्रेम का पता है। जिसको पता नहीं है वह कहता है पता है, और जिसको पता है वह कहता है पता नहीं।
उपनिषद कहते हैं, जो कहे कि मैं ईश्वर को जानता हूं, जानना कि नहीं जानता। सुकरात ने कहा है, जब मैंने जाना तो जाना कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं। प्रेम सदा अनुभव करता है कि मैं कुछ भी नहीं जानता।
"नहीं जानूं मैं प्रेम की बात कोई
मेरी कांपत है डर से छतिया
पिया अंदर महल विराज रहे
घर-काजन मैं अटकाय रही"
और यह भी प्रेमी जानता है कि परमात्मा दूर नहीं है।
"पिया अंदर महल विराज रहे।"
यहीं छिपा है। भीतर ही छिपा है। दूर हो कैसे सकता है? प्राणों के प्राण में बसा है, रचा है, पचा है। दूर हो कैसे सकता है? श्वास-श्वास में वही है। फिर उलझन क्या है? उलझन इतनी ही है--
"घर-काजन मैं अटकाय रही"
मैं बाहर अटका हूं, प्रभु भीतर बसा है। प्रभु अपने ही घर में बैठा है
और मैं घर के बाहर के कामों में उलझा हूं। हजार व्यस्ततायें हैं, उनमें उलझा हूं।
"पिया अंदर महल विराज रहे
घर-काजन मैं अटकाय रही
नहीं एक घड़ी-पल संग किया
बिरथा सब बीत गई रतिया"
जीसस के जीवन में एक उल्लेख है, वे एक घर में मेहमान हुए, मैरी और मार्था के घर--दो बहनें। मार्था तो काम में लग गई। घर की सफाई करनी, भोजन बनाना, जीसस घर में मेहमान हैं। और मैरी जीसस के चरणों में बैठ रही, उनके पैर दबाने लगी। मार्था बार-बार उसे बुलाने लगी कि मैरी, तैयारी करो, मेहमान घर में हैं। इतना बड़ा मेहमान आया, भोजन बनाओ। और भी मेहमान आते होंगे, जीसस के शिष्य आते होंगे, तैयारी करो। लेकिन वह तो विमुग्ध बैठी। वह तो जीसस के पैर दबा रही है।
आखिर जब बार-बार मार्था ने कहा तो जीसस ने कहा, मार्था सुन। तू तैयारी कर, मैरी तैयारी न कर सकेगी। तू उलझ, मैरी न उलझ सकेगी। जब मेहमान घर में है तो मैरी और कहीं नहीं हो सकती। वह भी घर में है, वह भी भीतर है। मैं उसकी आंखों में देख रहा हूं। अब उसकी सुध-बुध नहीं है उसे। अब ये सारी बातें कि घर की तैयारी करनी, भोजन बनाना, लोग आते होंगे, यह करना, सब्जी काटनी, बिस्तर लगाने, ये सब बातें उससे न हो सकेंगी।
यह जो जीसस के जीवन में उल्लेख है...और जीसस ने कहा, तू उसे छोड़। तू तैयारी कर। जो तुझे ठीक लगता है, तू कर। जो उसे ठीक लग रहा है उसे करने दे। तुम अपने-अपने हिसाब से जीयो।
ये मैरी और मार्था परमात्मा की तरफ दो दृष्टिकोण हैं। एक तो है, हम बाहर उलझे हैं, तैयारी कर रहे हैं, कामधाम में लगे हैं। वह तैयारी भी परमात्मा से ही मिलने की तैयारी है। वह भी मेहमान के लिए ही हो रही है। लेकिन तैयारी में इतने व्यस्त हो गये हैं कि मेहमान ही भूल गया। वह मार्था आकर बैठी ही नहीं जीसस के पास। वह काम में ही उलझी रही। वह मेहमान का स्वागत तो करती रही लेकिन मेहमान से वंचित रही। जीसस घर में आये और चले गये, और मार्था सूखी की सूखी रही। मैरी भर गई। उसने पी लिया। उसने पूरा रस पी लिया।
"पिया अंदर महल विराज रहे
घर-काजन मैं अटकाय रही

नहीं एक घड़ी-पल संग किया
बिरथा सब बीत गई रतिया"
और भक्त कहता है कि मैं जानता हूं कि तुम भीतर ही बैठे हो और मैं बाहर उलझा हूं। व्यर्थ है मेरा यह सारा उलझना। तुमसे संग-साथ कर लिया होता तो यह रात सुहागरात हो गई होती। लेकिन यह रात अंधकारपूर्ण हो गई, विषाद की हो गई, संताप की हो गई। इस रात में केवल दुखस्वप्न देखे। और तुम घर में ही विराजे थे।
एक दिन पछताता है भक्त। प्रेमी पछताता है। इस पछतावे का ही उल्लेख है।
"पिया सोवत ऊंची अटारिन में
जहां जीव परीत की गम ही नहीं
किस मारग होय के जाय मिलूं
किस भांति बनाय लिखूं पतिया"
भक्त पूछता है, ऊंची अटारी पर प्रभु का वास है, बड़े ऊंचे आयाम में।
"जहां जीव परीत की गम ही नहीं"
जहां जाने का जीव को कोई रास्ता नहीं सूझता। जीव जा भी नहीं सकता उस ऊंचाई पर। जीव रहता ही नीचाई पर है। उस ऊंचाई पर जाना हो तो जीव को छोड़ देना पड़ता। वह त्याग जरूरी है।
जीव यानी मैं-भाव। मैं-भाव में बंध गया परमात्मा ही जीव कहलाता। परिभाषित परमात्मा जीव। आंगन में बंध गया आकाश जीव। दीवाल में घिर गया सूरज का प्रकाश जीव।
नहीं, जीव तो जा नहीं सकता। परिधि तोड़नी पड़ेगी। घड़े को फोड़ना पड़ेगा ताकि घड़े के भीतर का आकाश बाहर के आकाश से मिल जाये। जीव ही बाधा है। इसलिए कहा कि जीव परीत की गम ही नहीं। कोई रास्ता नहीं मिलता जीव को, कोई उपाय नहीं।
"किस मारग होय के जाय मिलूं
किस भांति बनाय लिखूं पतिया"
मिलने का एक ही मार्ग है और वह है, मिटना। कभी मनुष्य परमात्मा से मिलता नहीं। इसे ठीक से सुन लेना। कभी मनुष्य परमात्मा से मिलता नहीं। जब परमात्मा होता है तो मनुष्य नहीं होता, जब मनुष्य होता है तो परमात्मा नहीं होता। दोनों कभी आमने-सामने खड़े नहीं होते।
कबीर ने कहा है, "जब तक मैं था, तू नहीं, अब तू है, मैं नाहिं।" यह भी खूब मजा हुआ, कबीर ने कहा, मैं खोजने निकला था तुझे, जब तक मैं था, तू न मिला। और अब तू मिला है तो मैं नहीं हूं। यह मिलन कैसा हुआ? यह मिलन तो हुआ ही नहीं। मिलन हुआ लेकिन दो का नहीं, एक का ही।
"प्रेम गली अति सांकरी", कबीर ने कहा है, "ता में दो न समाय।" यह परमात्मा से जो मिलन है, यह ऐसा मिलन नहीं है जैसे कि तुम एक आदमी से मिल लिये, मित्र से मिल लिये। पत्नी पति से मिल गई, पति पत्नी से मिल गया, मां बेटे से मिल गई। ऐसा मिलन नहीं है परमात्मा से। यह परमात्मा से मिलन ऐसा है जैसे नदी सागर से मिल गई। नदी मिटती तो मिलती।
"किस मारग होय के जाय मिलूं"
नहीं, तुम तो न मिल सकोगे। इसलिए मैंने तुमसे कहा कि अगर तुम भजन करते- करते खो जाते हो तो बस अर्थ मिल जायेगा वहीं। तुम फिक्र छोड़ो। अब कुछ और जानना जरूरी नहीं है। खो जाओ। इतने भी मत बचो। अर्थ जानने को भी मत बचो। बिलकुल खो जाओ। डुबकी लगा लो।
एक दिन ऐसा होगा कि भजन करने के पहले तुम थे, भजन करने में खो गये, कई बार भजन होगा, फिर तुम वापिस लौटकर हो जाओगे। फिर-फिर खोओगे, फिर-फिर हो जाओगे। एक दिन ऐसा भी होगा, खोओगे, भजन तो समाप्त हो जायेगा, तुम खोये ही रहोगे। तुम लौट न सकोगे। बस, उस दिन मिलना हो जाता है। उस दिन लिख दी पाती। उस दिन पता मिल गया।
डूबते रहो। डूबने का अभ्यास करते रहो, डुबकी लगाते रहो। आज नहीं कल,
कल नहीं परसों, किसी न किसी दिन वह सौभाग्य की घड़ी आ जायेगी, जब तुम डूबोगे

एक बार और फिर उबरोगे नहीं। तुम जहां बिलकुल न बचोगे, वहीं तुम पाओगे, जो बच रहा है वही परमात्मा है।
तन से तो सब भांति बिलग तुम
लेकिन मन से दूर नहीं हो
हाथ न परसे चरण सलोने
पांव न जानी गैल तुम्हारी
दृगन न देखी बांकी चितवन
अधर न चूमी लट कजरारी
चिकने खुदरे गोरे काले
छलकन ओ बेछलकनवाले
घट को तो तुम निपट निगुण पर
पनिहारिन से दूर नहीं हो
तन से तो सब भांति बिलग तुम
लेकिन मन से दूर नहीं हो
प्रभु बहुत पास है, जरा भी दूर नहीं। प्रेम में ही छिपा है। तुम प्रेम
को उघाड़ लो और प्रभु को पा लोगे। और जिस दिन तुमने अपने भीतर प्रभु को पा लिया उस दिन तुम आंख खोलकर पाओगे कि सब जगह वही है। सब जगह, जगह-जगह वही है। कोई और दूसरा नहीं है।
हर दर्पण तेरा दर्पण है
हर चितवन तेरी चितवन है
मैं किसी नयन का नीर बनूं
तुझको ही अर्ध्य चढ़ाता हूं
काले तन या गोरे तन की
मैले मन या उजले मन की
चांदी सोने या चंदन की
औगुन गुन की या निर्गुन की पावन हो या कि अपावन हो
भावन हो या कि अभावन हो
पूरब की हो या पश्चिम की
उत्तर की हो या दक्षिण की हर मूरत तेरी मूरत है
हर सूरत तेरी सूरत है
मैं चाहे जिसकी मांग भरूं तेरा ही ब्याह रचाता हूं हर दर्पण तेरा दर्पण है
हर चितवन तेरी चितवन है
मैं किसी नयन का नीर बनूं तुझको ही अर्ध्य चढ़ाता हूं

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
उन्हत्तरवां प्रवचन

स्वातंत्र्यात् परमं पदम्

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
विशंति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्ऱ्यसिद्धये।। २२१।।
निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदंतिनः।
पलायंते न शक्तास्ते सेवंते कृतचाटवः।। २२२।।
न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः।

पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।। २२३।।
वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति।। २२४।।
यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्।। २२५।।
स्वातंत्र्यात् सुखमाप्नोति स्वातंत्र्याल्लभते परम्।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम्।।
२२६।।

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
विशंति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्ऱ्यसिद्धये।।

"विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त-निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है।"
जीवन कठिन है। जीवन सरल नहीं है। बड़ी समस्यायें हैं; हल होती मालूम नहीं पड़तीं। जल्दी ही आदमी थक जाता और हार जाता। और हारे को पलायन है। हारा हुआ भागने लगता है। समस्याएं भागने से भी हल नहीं होतीं। लेकिन भगोड़े को एक आश्वासन, एक सांत्वना मिलती है कि कम से कम समस्याओं से दूर हो गया। लेकिन जो व्यक्ति समस्याओं से दूर हो गया, यह व्यक्ति, समस्याओं के मध्य में जो विकास हो सकता था उससे भी वंचित हो जाता है।
इस सत्य को खूब मनःपूर्वक समझ लेना। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मन में भगोड़ापन छिपा बैठा है। भय छिपा है तो भगोड़ापन छिपा है। भय है तो भीतर हम कायर हैं। जहां देखते हैं कि जीत होना मुश्किल है वहीं से भागने का मन होने लगता है। भागने को हम खूब सुंदर बनाने की कोशिश करते हैं। भागने को हम संन्यास कहते हैं। भागने को हम बड़ा समादर देते हैं। भगोड़ों की हम पूजा करते हैं, उनके चरण छूते हैं। भगोड़ों को हम महात्मा कहते हैं। हमारे भीतर जो भगोड़ा बैठा है, यह सब उसी भगोड़े के लिए ऊपर साज-शृंगार बिठाना है। हमारे भीतर जो भय बैठा है, कायर बैठा है उस कायर के लिए आभूषण पहनाने हैं।
ये तरकीबें हैं हमारे मन की। लेकिन एक बात खयाल रखना, भगोड़ों ने कभी कुछ पाया नहीं। मिलेगा जो भी, वह मिलेगा चुनौतियों के स्वीकार से। जीवन में कठिनाइयां हैं जरूर, लेकिन कठिनाइयां सप्रयोजन हैं। समस्यायें हैं जरूर, जटिल जाल है समस्याओं का, लेकिन वहीं तो चुनौती है। उसी जाल को सुलझाने में तो तुम्हारी प्रज्ञा का जन्म होगा। भाग गये तो प्रज्ञा से वंचित रह जाओगे।
इसलिए तो तुम्हारे भगोड़े संन्यासी गुफाओं में भला बैठ जायें, लेकिन उनके जीवन में तुम प्रतिभा, मेधा, सृजनात्मकता, तेजस्विता नहीं पाओगे। उनको देखना हो तो तुम अभी कुंभ मेले जा सकते हो, वहां तुम्हें सब तरह के मूढ़ों की जमात मिल जायेगी। प्रकार-प्रकार के मूढ़ प्रकार-प्रकार की वेशभूषा में मिल जायेंगे। उनकी पूजा करनेवालों की भी लाखों की भीड़ मिल जायेगी। पूजा करनेवालों के पास भी कोई प्रतिभा नहीं है और जिनकी पूजा की जा रही है उनकी भी कोई क्षमता नहीं है।

हम सबके भीतर यह संभावना है इसलिए अष्टावक्र सावधान करते हैं। यह सूत्र तुम्हें सावधान बनाने को है। मन बहुत बार करता है कि जहां जीत न होती हो वहां से हट जाना अच्छा।
तुमने देखा, लोग ताश खेलते हैं; अगर हारने की नौबत आ जाये तो बाजी उलट देते हैं। क्रोध में आ जाते, तख्ता उलट देते हैं। खेलना ही नहीं है, धोखा हो गया। कुछ भी अनर्गल बोलने लगते हैं। ताश के पत्ते खेल रहे थे, कोई बहुत बड़ा काम भी न कर रहे थे, लेकिन वहां भी हारने की सामर्थ्य नहीं है।
और जो हारने को तैयार नहीं है वह कभी जीत भी न सकेगा। हार से गुजरने की जिसकी तैयारी है वही जीत के सूत्र सीख पाता है। हार के रास्ते पर ही जीत के सूत्र बिखरे पड़े हैं। ये जो हार के कांटे हैं इन्हीं के बीच विजय के फूल भी खिले हैं। तुम गुलाब के कांटों से भाग गये तो तुम गुलाब के फूलों से भी वंचित रह जाओगे। एक बात पक्की है कि कांटों से भाग गये तो कांटों से जो पीड़ा होती थी वह तुम्हारे जीवन में न होगी, लेकिन फूलों से जो सुख की वर्षा होती थी उससे भी वंचित रह जाओगे।
चूंकि इस जगत में अधिक लोग दुखी हैं इसलिए जब किसी आदमी को देखते हैं दुखी नहीं है, इसके जीवन में कांटे नहीं चुभे, तो पूजा करने लगते हैं। लेकिन यह भी कोई उपलब्धि हुई? कांटों का न होना कोई उपलब्धि है? फूल खिलते तो उपलब्धि थी। कांटों का न होना तो केवल नकारात्मक है, विधायक कहां है? परमात्मा की उपस्थिति नहीं है यहां। संसार अनुपस्थित हो गया है लेकिन परमात्मा की उपस्थिति नहीं है।
परमात्मा की उपस्थिति तो उसी को उपलब्ध होती है जो संसार की सीढ़ियां चढ़ता है। वे सीढ़ियां जटिल हैं, अंगारों से पटी हैं, जलाती हैं, लेकिन उसी जलने में से तो निखार आता है। आग से गुजरकर ही तो सोना कुंदन बनता है। आग से भाग जाये जो सोना, उसको तुम संन्यासी कहोगे?
भगोड़ा संन्यासी हो ही नहीं सकता। पलायनवादी संन्यासी हो ही नहीं सकता। संन्यासी तो वही है जो संसार में हो और संसार का न हो। यही अष्टावक्र की मूल धारणा है, यही मेरी मूल धारणा है।
मुझसे लोग आकर कहते हैं, आप संन्यास दे देते हैं और लोगों को संसार छोड़ने को नहीं कहते? मैं कहता हूं, संसारी थे तब, संन्यास नहीं लिया था तब अगर संसार छोड़ भी देते तो क्षमा योग्य थे। अब तो छोड़ने का उपाय न रहा। संन्यास का अर्थ ही है भगोड़ेपन का त्याग। अब तो जूझेंगे। अब तो गहरी डुबकी लगायेंगे संसार में। क्योंकि यह संसार के सागर में डुबकी लगाकर ही मिलते हैं हीरे-मोती। जो इस सागर से भागा डरकर कि कहीं डूब न जायें, वह रेत में पड़ी हुई शंखियां और सीप बीन ले भला, हीरे-मोती नहीं पायेगा। उतने सस्ते में मिलते ही नहीं हीरे-मोती। मूल्य तो चुकाओगे न! मूल्य तो चुकाना ही पड़ेगा।
यह संसार परमात्मा को पाने के लिए चुकाया गया मूल्य है। इसकी हर समस्या समाधि के लिए चुकाई गई व्यवस्था है। समस्या से गुजरकर समाधान उपलब्ध होगा। समस्या तो केवल अवसर है, परीक्षा है, कसौटी है। कोई विद्यार्थी परीक्षा से भाग जाये तो तुम उसकी पूजा तो नहीं करते।
यह जीवन तो परीक्षा है। इससे जो भाग गये हैं, छोड़ो, उन भगोड़ों का आदर छोड़ो। क्योंकि उस आदर के कारण तुम्हारे भीतर का भगोड़ा भी मरता नहीं। वह आदर तुम्हारे भीतर के भगोड़े को भी जगाये रखता है, जिंदा रखता है। तुम आदर उसी का करते हो जैसे तुम होना चाहते हो, इस पर खयाल रखना। आदर ऐसे ही थोड़े ही करता है कोई किसी का! जैसे तुम होना चाहते हो उसी का तुम आदर करते हो। अगर तुम भगोड़ों का आदर करते हो तो भगोड़ा तुम्हारे भीतर बैठा है, प्रतीक्षा में है ठीक अवसर की। मौका पाकर भाग खड़ा होगा।
लेकिन यह भागना भय पर आधारित है। भय यानी कायरता।
सूत्र है:
विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शरणार्थी हो जाता।

शरणार्थी होना कोई सुखद बात नहीं है। ये जो गुफाओं में बैठे हैं, रिफ्यूजी हैं। भाग गये। शरणार्थी हैं। दया के पात्र हैं। पूजा के पात्र जरा भी नहीं। इनकी चिकित्सा की जरूरत है। इन्हें फिर कोई हिम्मत दे। इनकी बुझती ज्योति को फिर कोई जलाये। इनके चुकते स्नेह को फिर कोई भरे। इनका दीया फिर जगमगाये। इन्हें फिर कोई खींचकर लाये कि आओ, जहां परीक्षा है वहीं कसौटी है। भागो मत। जूझो। उतरो जीवन के संग्राम में। डर क्या है? खोने को क्या है? तुम्हारे भीतर जो छिपा है वह खोया नहीं जा सकता।
तुम हो क्या मूलतः? चैतन्य। तो चैतन्य को तो खोया नहीं जा सकता। और चैतन्य को जगाना हो तो असुविधा में ही जगाया जा सकता है, सुविधा में तो सो जाता है। जंगल में चले गये जहां कोई अशांति नहीं है, बैठ गये गुफा में। जहां कोई विषय तुम्हारी वासना को प्रज्वलित नहीं करते, प्रलोभित नहीं करते, उत्तेजित नहीं करते। धीरे-धीरे वासना सो जायेगी; मिटेगी नहीं। जिस दिन लौटोगे उसी दिन तुम पाओगे वासना फिर जाग गई। बीज पड़े रहेंगे, समय पाकर फिर, मौसम पाकर फिर अंकुरित हो जायेंगे।
तो जो एक दफे भाग गया वह फिर लौटने में घबड़ाता है। उसे कोलाहल परेशान करता है। यह कोई ध्यान हुआ कि कोलाहल परेशान करने लगे? ध्यान तो वही है कि कोलाहल में भी अखंडित रहे। ध्यान तो वही है कि बीच बाजार में भी अखंडित रहे। चले शोरगुल, चले संसार, और तुम्हारे भीतर कुछ भी न चले। सब चुप और मौन रहे।
शरणार्थी मत बनना।
"विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ...।"
अब यह जो विषयरूपी बाघ है, यह जो कामना, वासना का बाघ है, यह तुम्हारे बाहर होता तो भाग भी जाते; इसे थोड़ा समझना। यह तुम्हारे भीतर है, भागोगे कहां? अपने से कैसे भागोगे?
यह तो ऐसे ही हुआ जैसे कोई अपनी ही छाया से भाग रहा हो। वह जहां जायेगा, छाया वहां रहेगी; कितनी ही तेजी से भागो। ऐसा हो सकता है कि तुम किसी वृक्ष की छाया में बैठ जाओ तो छाया दिखाई न पड़े। यह हो सकता है, लेकिन जब धूप में उतरोगे तब छाया दिखाई पड़ने लगेगी। जब तुम वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहे हो तब छाया भी विश्राम कर रही है। धूप में आते ही फिर प्रकट हो जायेगी। छाया तो तुम्हारे साथ लगी है।
छाया भी लेकिन बाहर है, यह विषय का जो ज्वर है, यह तो तुम्हारे भीतर है। इससे तुम भागोगे कहां? तुम स्त्री से भाग सकते हो, पुरुष से भाग सकते हो। लेकिन कामवासना से कैसे भागोगे? कामवासना तो तुम्हारे अंतस्तल में बैठी है। हां, यह हो सकता है, स्त्री से भाग जाओ तो कामवासना को उठने का अवसर न मिले; सोयी पड़ी रहे, बीजरूप में पड़ी रहे। जब भी कभी स्त्री से मिलन होगा तभी फिर जाग जायेगी। इसीलिए तो तुम्हारे साधु-संन्यासी स्त्रियों से इतने घबड़ाते हैं। घबड़ाने का कारण है। अभी भी बीज दग्ध नहीं हुआ।
धन से हट जाओ तो वासना पड़ी रह जायेगी। उपकरण चाहिए वासना के प्रगट होने के लिए। खूंटी चाहिए जहां वासना टंग सके। खूंटी तोड़ दी तो वासना को टंगने को जगह न रही। लेकिन जब भी कहीं खूंटी मिलेगी वहीं घबड़ाहट आ जायेगी; वहीं मन डांवाडोल होने लगेगा। इसलिए तुम्हारे साधु-संत रुपये-पैसे से डरते हैं। अब यह मूढ़ता देखते हो? रुपये-पैसे से डरना! रुपये-पैसे में कुछ भी नहीं है यह भी कहते, और डरते भी। अगर कुछ भी नहीं तो डर कैसा?
एक तरफ कहते हैं, कि स्त्री में क्या रखा! और डरते भी। अगर कुछ भी नहीं रखा है तो डर कैसा? डर तो बताता है कि कुछ होगा। डर तो बताता है, भीतर प्रलोभन है, भीतर वासना है।
यह जो विषयरूपी शत्रु है, यह तुम्हारे बाहर होता तो बड़े उपाय थे। भाग जाते दूर। छोड़ जाते इसे यहीं। यह तुम्हारे बाहर नहीं, पहली बात। यह तुम्हारे भीतर है। अपने से कैसे भागोगे? अपने को बदलो; भागने से कुछ भी न होगा। जागो; भागने से कुछ भी न होगा।
इसलिए मैं कहता हूं भागो मत, जागो। जागने से मिटेगा। भीतर की ज्योति
जब जलेगी प्रगाढ़ता से तो तुम अचानक पाओगे, वह जो विषयरूपी बाघ था, बाघ था ही नहीं। भय थे। व्यर्थ के भय थे। कल्पना के जाल थे। कहीं कुछ था ही नहीं।

सच में जो ज्ञान को उपलब्ध होता है वह ऐसा नहीं कहता, स्त्री में कुछ नहीं; वह ऐसा कहता है, वासना में कुछ नहीं। फर्क को खयाल में रखना। इसको कसौटी समझ लेना। जब कोई कहे, स्त्री में कुछ नहीं, तो समझ लेना अभी स्त्री में कुछ है। जब कोई कहे, पुरुष में क्या रखा है? तो समझ लेना, पुरुष में कुछ रखा है। जब कोई कहे, धन में क्या रखा है? तो समझ लेना कि धन में अभी भी कुछ बचा है। यह समझा रहा है अपने को। लेकिन जब कोई कहे, वासना में क्या रखा है? तब मुक्त हुआ।
वासना भीतर है, स्त्री बाहर है। पुरुष बाहर है, कामना भीतर है। जब कोई कहे, कामना में क्या रखा है? देख लिया, कुछ भी न पाया। दीया जलाकर देख लिया। खोज लिया कोना-कोना मन का। एक-एक कातर में, कोने में रोशनी ले जाकर देख ली, कुछ भी न पाया। तब...।
मैंने सुना है, एक गुफा एक पहाड़ की कंदरा में छिपी थी--सदियों से, सदियों-सदियों से; अनंतकाल से। गुफाओं की आदत छिपा होना होता है। अंधेरे में ही रही थी। कुछ ऐसी आड़ में छिपी थी पत्थरों और चट्टानों के, कि सूरज की एक किरण भी कभी भीतर प्रवेश न कर पाई थी। सूरज रोज द्वार पर दस्तक देता लेकिन गुफा सुनती न।
सूरज को भी दया आने लगी कि बेचारी गुफा जन्मों-जन्मों से बस अंधेरे में रही है। इसे रोशनी का कुछ पता ही नहीं। एक दिन सूरज ने जोर से आवाज दी। ऐसी सूरज की आदत नहीं कि जोर से आवाज दे। लेकिन बहुत दया आ गई होगी। जन्मों-जन्मों से गुफा अंधेरे में पड़ी है। तो सूरज ने कहा, बाहर निकल पागल! देख, बाहर कैसी रोशनी है। फूल खिले, पक्षी गीत गाते, किरणों का जाल फैला है। और मैं तेरे द्वार पर खड़ा हूं और बार-बार दस्तक देता हूं। तू बहरी है? बाहर आ।
गुफा ने कहा, मुझे विश्वास नहीं आता। किस गुफा को कब विश्वास आया सूरज
की आवाज पर? जब मैं तुम्हारे द्वार पर दस्तक देता हूं, तुम भी कहते हो विश्वास नहीं आता। कौन जाने कोई धोखा देने आया हो, कोई लूटने आया हो। गुफा के पास कुछ है भी नहीं और लूटे जाने का डर है!
लेकिन सूरज रोज दस्तक देता रहा। आखिर एक दिन गुफा को आना ही पड़ा। सोचा, एक दिन चलकर जरा झांककर देख लें। न तो फूलों का भरोसा था कि फूल हो सकते हैं; क्योंकि जो देखा न हो उसका भरोसा कैसे? न रोशनी का भरोसा था; क्योंकि रोशनी जानी ही न थी। तो रोशनी का अनुभव न हो, आभास भी न हुआ हो तो प्रत्यभिज्ञा कैसे हो? पहचान कैसे हो? आकांक्षा कैसे जगे? उसी को तो हम चाहते हैं जिसका थोड़ा स्वाद लिया हो। न भरोसा था कि पक्षियों के गीत होते हैं। पक्षियों का ही पता न था। गुफा तो बस अपने अंधेरे...अपने अंधेरे...अपने अंधेरे में डूबी रही थी। उस दिन बाहर आयी डरती-डरती, सकुचाती।
तुम्हें जब मैं देखता हूं संन्यास में उतरते तो मुझे उस गुफा की याद आती है--डरते-डरते, सकुचाते। ऐसे आते हो कि अगर जरा लगे कि बात गड़बड़ है तो खिसक जाओ। सम्हाल-सम्हालकर कदम रखते हो। लौटने का उपाय तोड़ते नहीं। लौटने की पूरी व्यवस्था रखते हो कि अगर कुछ धोखा- धड़ी हो तो लौट जायें।
ऐसी गुफा आयी, आयी तो चौंक गई। आयी तो रोने लगी। आयी तो आंख आंसुओं से
भर गई। छाती पीटने लगी कि जनम-जनम मैंने अंधेरे में गुजारा। तुमने दया पहले क्यों न की? तुमने पहले क्यों न पुकारा?
देखते हो? सूरज रोज दस्तक दे रहा था, अब गुफा सूरज को ही उत्तरदायी ठहराती है कि पहले क्यों न पुकारा?
सूरज ने कहा, छोड़, जो गया सो गया। बीता सो बीता। अभी भी बहुत पड़ा है। अनंतकाल बाकी है, तू सुख से जी। अब बाहर आ। गुफा ने कहा, आऊंगी बाहर लेकिन तुम भी कभी मेरे भीतर आओ। जैसे मैंने प्रकाश नहीं जाना, हो सकता है, जिस अंधेरे को मैंने जाना, तुमने न जाना हो। सूरज ने उसका निमंत्रण माना, वह उसकी गुफा में गया। गुफा तो चौंककर रह गई। वहां अंधेरा था नहीं।
गुफा कहने लगी, यह हुआ क्या? यह हुआ कैसे? क्योंकि अंधेरा सदा था। एक दिन, दो दिन की बात नहीं, जन्मों-जन्मों से मैंने अंधेरा जाना। यह हुआ क्या? आज अंधेरा गया कहां? सूरज जब बाहर विदा हो गया तब फिर अंधेरा था। गुफा ने फिर उसे निमंत्रण दिया। सूरज ने कहा, पागल! तू मुझे अंधेरे से

मुकाबला न करवा सकेगी, क्योंकि जहां मैं हूं वहां अंधेरा नहीं है। मैं आया कि अंधेरा गया। अंधेरा कुछ है थोड़े ही, मेरा अभाव है। तो मेरा भाव और मेरा अभाव साथ-साथ थोड़े ही हो सकते हैं। अंधेरा मेरी अनुपस्थिति है। तो मेरी उपस्थिति और मेरी अनुपस्थिति साथ-साथ थोड़े ही हो सकती है। मैं जब भी आऊंगा, अंधेरा नहीं होगा।
वासना बोध की अनुपस्थिति है। बोध आया, वासना गई। जब तक बोध नहीं है तब
तक वासना है। वासना से मत भागो। इसलिए कहता हूं, भागो मत, जागो। जगाओ, भीतर जो सोया है उसे। मन से घबड़ाओ मत। मन की मौजूदगी कुछ भी खंडित नहीं कर सकती है। शरणार्थी मत बनो, विजेता बनो। जगाओ अपने को। लेकिन आदमी सोया ही चला जाता। मरते दम तक, मौत भी आ जाती है तो भी आदमी सोया ही रहता।
मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन बहुत बूढ़ा हो गया। सिर गंजा हो गया तो दवाइयों की तलाश करता फिरता था कि किसी तरह बाल उग आयें। किसी महात्मा के प्रसाद से, जड़ी-बूटी के उपयोग से बामुश्किल चार बाल निकल आये--चार बाल! वह पहुंच गया नाईबाड़े हजामत बनवाने। नाई चौंका। उसने कहा, बड़े मियां, बाल गिनूं या काटूं? मुल्ला नसरुद्दीन ने बहुत शरमाते हुए कहा, काले कर दो। चार बाल उग आये हैं उनको भी काले करने का मन है! आदमी अंत तक भी छोड़ नहीं पाता। मौत द्वार पर आ जाती है और मोह नहीं छूटता। यमदेवता द्वार पर दस्तक देने लगते हैं और कामदेवता के साथ दोस्ती नहीं छूटती। जागो!
और दो तरह के लोग हैं दुनिया में। एक हैं, जो कामवासना में पड़े रहते हैं नाली में पड़े कीड़ों की तरह। सड़ते रहते हैं। और एक हैं जो भागते हैं। न भागनेवाला पहुंचता है और न डूबनेवाला पहुंचता है; जागनेवाला पहुंचता है। जागनेवाला जहां भी हो वहीं से पहुंच जाता है। जागने की सीढ़ी तुम जहां खड़े हो वहीं से परमात्मा से जुड़ जाती है।
"विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त-निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है।"
अगर किसी गुफा में जाना हो तो अंतर्गुफा में जाना। और चित्त-निरोध में मत पड़ना। क्योंकि जबर्दस्ती चित्त का निरोध किया जाये...जो तुम जबर्दस्ती करोगे वह कभी भी नहीं होगा। जीवन जबर्दस्ती मानता ही नहीं। जीवन तो केवल सरलता और सहजता का निमंत्रण मानता है। जबर्दस्ती कुछ भी नहीं होता यहां।
तुम क्रोध को जबर्दस्ती दबा लो, मुस्कुराहट को ऊपर से पोत दो, मुखौटा
ओढ़ लो खुशी का, इससे क्या फर्क पड़ता है? भीतर क्रोध उबलता रहता है, जलता रहता है। ब्रह्मचर्य की कसमें खा लो लेकिन भीतर आंधी वासना की चलती रहती है। तुम जितना संयम करोगे ऊपर से, तुम भीतर उतना ही पाओगे उतनी ही झंझट बढ़ती जाती है। संयम से कोई झंझट से मुक्त नहीं होता। यह सस्ता उपाय काम नहीं आता। ये तरकीबें कभी काम नहीं आयीं। लेकिन ये सुगम मालूम पड़ती हैं। जबर्दस्ती आदमी को सुगम मालूम पड़ती है क्योंकि आदमी बहुत हिंसक है। दूसरों के साथ तुमने हिंसा की है। फिर जिस दिन तुम अपने को बदलने की आकांक्षा से भरते हो तो अपने साथ हिंसा शुरू कर देते हो; उसी का नाम चित्त-निरोध है। ऐसी हिंसा से कुछ भी न होगा।
मैंने सुना है, बरसात की एक रात में रेल के फाटक पर पार करते वक्त एक व्यक्ति दुर्घटना से बाल-बाल बच गया। उसने गुस्से में आकर रेल्वे पर मुकदमा दायर कर दिया। सिग्नल-मैन ने गवाही में कहा, मैंने तो खूब बत्ती हिलाई थी। जब मुकदमा जीतकर सिग्नल-मैन बाहर आया तो स्टेशन- मास्टर ने उसकी पीठ ठोंकी और कहा, शाबास। मैंने तो समझा था कि तुम वकील की जिरह से घबड़ा जाओगे। लेकिन तुम गजब के हिम्मत के आदमी हो। तुम कहते ही गये बार-बार कि मैंने तो बत्ती खूब हिलाई थी, मैंने तो बत्ती खूब हिलाई थी। तुम डटे रहे अपनी बात पर। सिग्नल-मैन बोला, नहीं साहब। मैं जरा भी नहीं घबड़ाया यह बात तो ठीक है। हां, अगर वकील ने पूछा होता कि बत्ती जल रही थी या नहीं? तब उस समय जवाब देना मेरे लिए कठिन हो जाता।
अब तुम बिना जली बत्ती हिलाते रहो, इससे कुछ होनेवाला नहीं है। निरोध बिना जली बत्ती का हिलाना है। भीतर कुछ भी नहीं है। बोध में बत्ती हिलानी

भी न पड़ेगी; प्रकाश काफी है। प्रकाश के साथ ही क्रांति घटती है। निरोध से प्रकाश तो आता नहीं। समझो इस बात को।
कहीं उल्टी तरफ से जीवन को पकड़ना शुरू किया तो चूकते चले जाओगे। मगर उल्टी तरफ से पकड़ने के पीछे कारण है। क्योंकि जब भी हमने किसी व्यक्ति के जीवन में संयम का महापर्व घटते देखा तो हमसे भूल हो गई। हमारे तर्क में भूल है। हमारे गणित में भूल है।
महावीर को हमने देखा तो देखा, महाशांति को उपलब्ध, परम शांति को उपलब्ध। और साथ में हमने देखा, जीवन में बड़ा संयम है। तो हमने सोचा कि संयम करने से शांति मिली होगी। हम अशांत हैं; शांति हम भी चाहते हैं। कैसे शांति को पायें इसकी तलाश करते हैं। महावीर को देखा, देखा शांति है, संयम है। शांति हमें चाहिए। संयम की तो हमें भी चिंता नहीं है, शांति हमें चाहिए। तो अब साफ बात हो गई कि शांति तो हमारे जीवन में नहीं है और संयम भी हमारे जीवन में नहीं है। तो गणित हमारा बैठा कि महावीर के जीवन में शांति है और संयम; संयम से ही शांति घटी होगी।
बात बिलकुल उल्टी है। शांति पहले घटी है, संयम पीछे आया है। शांति कारण है, संयम परिणाम है। हमने समझा, शांति परिणाम है, संयम कारण है। यहां भूल हो गई। और इस भूल हो जाने के पीछे भी कारण है। क्योंकि संयम ऊपर से दिखाई पड़ता है, पकड़ में आता है। महावीर चलते हैं तो बड़े होशपूर्वक चलते हैं। बैठते हैं तो होशपूर्वक बैठते हैं। करवट भी नहीं बदलते रात; कि कहीं करवट बदलने से कोई कीड़ा-मकौड़ा पीछे आ गया हो तो दबकर मर न जाये। हर काम बड़े बोधपूर्वक करते हैं।
हमें क्या दिखाई पड़ा? हमें दिखाई पड़ा, महावीर करवट नहीं बदलते। महावीर के भीतर जो बोध है वह तो हमें दिखाई पड़ता नहीं, करवट नहीं बदलते यह दिखाई पड़ता है। यह ऊपरी बात है। यह दिखाई पड़ जाती है। रात भर महावीर करवट नहीं बदलते। तो हमने सोचा, हम भी करवट न बदलें। तो तुम भी करवट बिना बदले पड़े हो। तुम्हें सिर्फ तकलीफ होती है करवट न बदलने में और कुछ नहीं होता। करवट न बदलने का तुम सिर्फ अभ्यास कर लेते हो--एक तरह की कसरत। तुम सर्कसी हो जाते हो। इससे और कुछ नहीं होता। अभ्यास रोज-रोज करोगे तो ठीक है, बिना करवट बदले पड़े रहोगे। यह कोई बड़ी बात थोड़े ही है!
लेकिन क्या करवट न बदलने से बोध का जन्म होगा? तुम बिना जली बत्ती के लालटेन हिला रहे हो। महावीर के जीवन में बोध पहले घटा है। बोध घट जाने से करवट नहीं बदलते। बोध घट जाने से रात भोजन नहीं करते। बोध के घटने से! तुम भी रात भोजन नहीं करते, बोध तो नहीं घटता। जैन कितने समय से रात भोजन नहीं कर रहे हैं। कौन-सा बोध घटा है?
तुमने बाहर की तरफ से पकड़ा। तुमने बाहर से सोचा, बाहर से पकड़ेंगे तो भीतर पहुंच जायेंगे। बात और थी; भीतर पहले घटता है, तब बाहर घटता है। बाहर गौण है, भीतर प्रमुख है। केंद्र पर पहले घटता है, तब परिधि पर घटता है। वह जो रोशनी तुम देखते हो लालटेन के आसपास, वह आसपास पहले नहीं घटती। पहले भीतर दीया जलता है, ज्योति जलती है। ज्योति में पहले घटती है, फिर बाहर फैलती है। अंतःकरण पहले बदलता है, फिर आचरण बदलता है। लेकिन आचरण हमें दिखाई पड़ता है। अंतःकरण तो महावीर के भीतर छिपा है। वह तो महावीर जानते हैं या महावीर जैसे जो होंगे वे जानते हैं। हमें लालटेन के भीतर जलती हुई ज्योति तो दिखाई नहीं पड़ती, बाहर पड़ता हुआ प्रकाश दिखाई पड़ता है। वह आचरण है, संयम है, नियम, व्रत, उसको हम पकड़ लेते हैं। वहीं चूक हो जाती।
क्रांति भीतर से बाहर की तरफ है, बाहर से भीतर की तरफ नहीं। तुम कारण
और कार्य की ठीक-ठीक बात समझ लेना। कहीं ऐसा न हो कि तुम कार्य को कारण समझ लो और कारण को कार्य समझ लो। तो फिर जीवन भर भटकोगे और कभी भी ठीक जगह न पहुंच पाओगे।
"विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त-निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है।"
चित्त के निरोध के लिए, दबाने के लिए, चित्त को बांधने के लिए, व्यवस्था में लाने के लिए, चित्त को जंजीरें पहनाने के लिए, चित्त को

कारागृह में धकाने के लिए, लेकिन कुछ इससे होता नहीं। चित्त बंध भी जाता है तो भी तुम मुक्त नहीं होते। चित्त बंध जाता है तो तुम भी बंध जाते हो, खयाल रखना। तुम जिसको संन्यासी कहते हो वह तुमसे ज्यादा बंधन में पड़ा है। तुम जरा आंख खोलकर तो देखो। तुम जरा जाकर जैन मुनि को तो देखो। वह तुमसे ज्यादा बंधन में पड़ा है। तुम्हारी तो थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता भी है। उसकी तो कोई स्वतंत्रता नहीं है। होना तो उल्टा चाहिए कि संन्यासी परम स्वतंत्र हो। स्वतंत्रता ही तो संन्यासी का स्वाद होना चाहिए। स्वतंत्रता ही तो संन्यासी की परिभाषा होनी चाहिए। और क्या परिभाषा होगी? परम स्वातंत्र्य! लेकिन तुम्हारे तथाकथित साधु-मुनि स्वतंत्र हैं? तुमसे ज्यादा परतंत्र हैं। तुम्हारे हाथों में परतंत्र हैं।
जैन मुनि मुझे खबर भेजते हैं कि मिलने आना चाहते हैं लेकिन श्रावक नहीं आने देते। कहते हैं कि श्रावक नहीं आने देते। क्या करें? हद हो गई! मुनि को श्रावक नहीं आने देते। तो गुलाम कौन हुआ, मालिक कौन हुआ? मुनि के पीछे श्रावक जायें यह तो समझ में आता है लेकिन मुनि श्रावक के पीछे जा रहे हैं। और डरते हैं, क्योंकि रोटी-रोजी उन पर निर्भर, मान-सम्मान उन पर निर्भर, पद-प्रतिष्ठा उन पर निर्भर। उनकी मर्यादा से जरा यहां-वहां हुए कि सब गई पद-मर्यादा, सब प्रतिष्ठा। वे जो कल तक तुम्हारे पैर छूते थे, तुम्हारा सिर काटने को उतारू हो जायेंगे।
अनुयायी देखते रहते हैं कि अपना साधु, अपने महाराज व्यवस्था से चल रहे हैं न! आंख रखते हैं। कुछ भूल-चूक तो नहीं कर रहे हैं न! कुछ नियम व्रतभंग तो नहीं हो रहा? सब तरफ से जांच-पड़ताल रखते हैं।
अनुयायी कारागृह बन जाते हैं। और इन्होंने चित्त-निरोध किया; ये दोहरी झंझट में पड़ गये। एक तो उन्होंने अपने चित्त को बांध-बांधकर खुद को बांध लिया। क्योंकि इन्हें अभी पता ही नहीं कि चित्त के पार भी इनका कोई होना है। अभी आत्मा को तो इन्होंने जाना नहीं। आत्मा को जान लेते तो फिर चित्त को बांधने की जरूरत ही नहीं पड़ती। आत्मा के जानते ही चित्त बांधना नहीं पड़ता, चित्त अनुगत हो जाता है। आत्मा के उदभव के साथ ही चित्त झुक जाता है। ये जबर्दस्ती के झुकाव काम नहीं पड़ेंगे।
यह सारा जिस्म झुक कर बोझ से दोहरा हुआ होगा
मैं सजदे में नहीं था, आपको धोखा हुआ होगा
अब कोई दुख और पीड़ा में झुक जाये और तुम समझो कि नमाज पढ़ रहा है, कि पूजा कर रहा है।
यह सारा जिस्म झुक कर बोझ से दोहरा हुआ होगा
मैं सजदे में नहीं था, आपको धोखा हुआ होगा
ये अधिक लोग जो प्रार्थनाओं में झुक रहे हैं, गौर से देखना, दुख के कारण बोझ से दोहरे हुए जा रहे हैं। ये प्रार्थनायें नहीं हैं। इनमें प्रार्थनाओं का कोई जरा-सा भी स्फुरण नहीं है। प्रार्थनाओं की जरा-सी भी गंध नहीं है। दुख और पीड़ा में झुके हैं। डर, भय, कंपते हुए झुके हैं।
यह आनंद-अनुभूति नहीं है। और न आनंद में हुआ समर्पण है, न अहोभाव में झुक गये सिर हैं ये। गौर से देखना, शरीर ही झुका है, मन अभी भी अकड़ा खड़ा है।
और जबर्दस्ती मन को भी झुका दो तो भी कुछ न होगा; जब तक कि आत्मा का जागरण न हो। उस जागरण के सूत्र हैं ये।
निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदंतिनः।
पलायंते न शक्तास्ते सेवंते कृतचाटवः।।
"वासनारहित पुरुषसिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं,
या वे असमर्थ होकर उसकी चाटुकार की तरह सेवा करने लगते हैं।"
यह...यही पकड़ लेने जैसी बात है।
"वासनारहित पुरुषसिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं।" विषयरूपी हाथी कहा अष्टावक्र ने। क्योंकि दिखाई बहुत बड़े पड़ते हैं, बड़े हैं नहीं।
एक लोमड़ी सुबह-सुबह निकली अपनी गुफा से। उगता सूरज! उसकी बड़ी छाया बनी। लोमड़ी ने सोचा, आज तो नाश्ते में एक ऊंट की जरूरत पड़ेगी। छाया देखी अपनी तो स्वभावतः सोचा कि ऊंट से कम में काम न चलेगा। खोजती रही ऊंट को।

ऊंट को खोजते-खोजते दोपहर हो गई। अब कहीं लोमड़ियां ऊंट को खोज सकती हैं! और खोज भी लें तो क्या करेंगी?
दोपहर हो गई, सूरज सिर पर आ गया तो उसने सोचा, अब तो दोपहर भी हुई जा रही है, नाश्ते का वक्त भी निकला जा रहा है। नीचे गौर से देखा, छाया सिकुड़कर बिलकुल नीचे आ गई। तो उसने सोचा, अब तो एक चींटी भी मिल जाये तो भी काम चल जायेगा।
ये छायायें जो तुम्हारी वासना की बन रही हैं, ये बहुत बड़ी हैं। हाथी
की तरह बड़ी हैं। और इनको तुम पूरा करने चले हो, ऊंट की तलाश कर रहे हो। एक दिन पाओगे, समय तो ढल गया, नाश्ता भी न हुआ, ऊंट भी न मिला। तब गौर से नीचे देखोगे तो पाओगे, छाया बिलकुल भी नहीं बन रही है।
वासना सिर्फ एक भुलावा है, एक दौड़ है। दौड़ते रहो, दौड़ाये रखती है। रुक जाओ, गौर से देखो, थम जाती है। समझ लो, विसर्जित हो जाती है।
"वासनारहित पुरुषसिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं।
या वे असमर्थ होकर उसकी चाटुकार की तरह सेवा करने लगते हैं।"
यही मेरा अर्थ था, जब मैंने तुमसे कहा, अनुगत हो जाती है वासना, अनुगत
हो जाता है मन। तुम जागो तो जरा! फिर मन को कब्जा नहीं करना पड़ता, मन खुद ही झुक जाता है। मन कहता है, हुकुम! आज्ञा! क्या कर लाऊं? आप जो कहें। मन तुम्हारे साथ हो जाता है। मालिक आ जाये...।
देखा? बच्चे क्लास में शोरगुल कर रहे हों, उछलकूद कर रहे हों और शिक्षक आ जाये, एकदम सन्नाटा हो जाता है, किताबें खुल जाती हैं। बच्चे किताबें पढ़ने लगे, जैसे अभी कुछ हो ही नहीं रहा था। एक क्षण पहले जो सब शोरगुल मचा था, सब खो गया। शिक्षक आ गया।
ऐसी ही घटना घटती है। नौकर बकवास कर रहे हों, शोरगुल मचा रहे हों और मालिक आ जाये, सब बकवास बंद हो जाती है। ऐसी ही घटना घटती है भीतर भी। अभी मन मालिक बना बैठा है, सिंहासन पर बैठा है। क्योंकि सिंहासन पर जिसको बैठना चाहिए वह बेहोश पड़ा है। जिसका सिंहासन है उसने दावा नहीं किया है। तो अभी नौकर-चाकर सिंहासन पर बैठे हैं और उनमें बड़ी कलह मच रही है। क्योंकि एक-दूसरे को खींचतान कर रहे हैं कि मुझे बैठने दो, कि मुझे बैठने दो। मन में हजार वासनायें हैं। सभी वासनायें कहती हैं, मुझे सिंहासन पर बैठने दो। मालिक के आते ही वे सब सिंहासन छोड़कर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं, चाटुकार की तरह सेवा करने लगते हैं।
पलायंते न शक्तास्ते सेवंते कृतचाटवः।
या तो भाग ही जाती हैं ये छायायें, या फिर सेवा में रत हो जाती हैं।
असली बात है, वासनारहित पुरुषसिंह।
लेकिन क्या करें? यह वासनारहित पुरुषसिंह कैसे पैदा हो? यह सोया हुआ सिंह कैसे जागे? कैसे हुंकार करे? यह सिंहनाद कैसे हो?
भगोड़ों से न होगा। क्योंकि भगोड़ों ने तो मान ही लिया, हम कमजोर हैं। जिसने मान लिया कमजोर हैं, वह कमजोर रह जायेगा। तुम्हारी मान्यता तुम्हारा जीवन बन जाती है। जैसा मानोगे वैसे हो जाओगे। बुद्ध ने कहा है, सोच-विचारकर मानना क्योंकि तुम जो मानोगे वही हो जाओगे।
पुरानी बाइबल कहती है, एज ए मैन थिंकेथ--जैसा आदमी सोचता, बस वैसा ही
हो जाता। सोच-समझकर मानना। इसलिए मैं कहता हूं, भागना मत। क्योंकि भागने में यह मान्यता है कि मैं कमजोर हूं, लड़ न सकूंगा। धन जीत लेगा, पद जीत लेगा, शरीर जीत लेगा। यह संसार बड़ा है, विराट है। यह जाल बहुत बलवान है, मैं बहुत कमजोर हूं। इसलिए तो आदमी भागता है। भागे कि तुमने अपने को कमजोर मान लिया। मान लिया कमजोर, हो गये कमजोर। फिर तुम्हारी धारणा ही तुम्हारा जीवन बन जायेगी। और गुफाओं में बैठकर तुम अपने को क्षमा न कर पाओगे। क्योंकि हमेशा यह बात खलेगी कि भाग आये। हमेशा यह बात चुभेगी कि जीत न पाये। हमेशा यह बात मन को काटेगी कि तुम डरपोक, कायर। साहस काफी न था। नहीं, लड़ो। घबड़ाओ मत। यह संसार तुमसे छोटा है। और यह मन तुम्हारा नौकर है। और ये वासनायें जितनी बड़ी तुमने समझ रखी हैं बड़ी नहीं हैं, सुबह लोमड़ी की बनी छाया है। दोपहर होतेऱ्होते छाया सिकुड़ जायेगी। समझ आते-आते, दोपहर आते-आते, प्रौढ़ता आते-आते यह छाया बड़ी छोटी हो जाती, विलीन हो जाती।

यह पुरुषसिंह कैसे जागे? पहली तो बात यह है कि भीतर छिपी हुई इस आत्मा
के सिंहत्व को स्वीकार करो। इसकी उदघोषणा करो कि मालिक मैं हूं। तुम जरा देखो यह उदघोषणा करके कि मालिक मैं हूं। और इस तरह जीना शुरू करो कि मालिक तुम हो। मन फिर भी खींचेगा पुरानी आदत के वश, लेकिन मन से कह देना कि मालिक मैं हूं। मन से लड़ना भी मत, क्योंकि लड़ने का मतलब है कि तुम मालिक न रहे। एक सिंह को एक गधे ने चुनौती दे दी कि मुझसे निपट ले। सिंह चुपचाप सरक गया। एक लोमड़ी छुपी देखती थी, उसने कहा कि बात क्या है? एक गधे ने चुनौती दी और आप जा रहे हैं? सिंह ने कहा, मामला ऐसा है, गधे की चुनौती स्वीकार करने का मतलब मैं भी गधा। वह तो गधा है ही। उसकी चुनौती से ही जाहिर हो रहा है। किसको चुनौती दे रहा है? पागल हुआ है, मरने फिर रहा है। फिर दूसरी बात भी है कि गधे की चुनौती मानकर उससे लड़ना अपने को नीचे गिराना है। गधे की चुनौती को मानने का मतलब ही यह होता है कि मैं भी उसी तल का हूं। जीत तो जाऊंगा निश्चित ही, इसमें कोई मामला ही नहीं है। जीतने में कोई अड़चन नहीं है। एक झपट्टे में इसका सफाया हो जायेगा। मैं जीत जाऊंगा तो भी प्रशंसा थोड़े ही होगी कुछ! लोग यही कहेंगे क्या जीते, गधे से जीते! और कहीं भूलचूक यह गधा जीत गया तो सदा-सदा के लिए बदनामी हो जायेगी, इसलिए भागा जा रहा हूं। इसलिए चुपचाप सरका जा रहा हूं कि इस...यह चुनौती स्वीकार करने जैसी नहीं है।
मैं सिंह हूं यह स्मरण रखना जरूरी है। मन खींचेगा। मन चुनौतियां देगा। तुमने अगर अपने मालिक होने की घोषणा कर दी, तुम कहना कि ठीक है, तू चुनौती दिये जा, हम स्वीकार नहीं करते। न हम लड़ेंगे तुझसे, न हम तेरी मानेंगे। तू चिल्लाता रह। कुत्ते भौंकते रहते हैं, हाथी गुजर जाता है। तू चिल्लाता रह।
और तुम चकित होओगे, थोड़े दिन अगर तुम मन को चिल्लाता छोड़ दो, धीरे-धीरे उसका कंठ सूख जाता। धीरे-धीरे वह चिल्लाना बंद कर देता। और जिस दिन मन चिल्लाना बंद कर देता है उस दिन...उस दिन ही अंतर्गुफा में प्रवेश हुआ। बाहर की कोई गुफा काम न आयेगी। बाहर शरण लेने से कुछ अर्थ नहीं होगा। महावीर ने कहा है, अशरण हो जाओ। बाहर शरण लेना ही मत। अशरण हुए तो ही आत्मशरण मिलती है।
"वासनारहित पुरुषसिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं,
या वे असमर्थ होकर उसकी चाटुकार की तरह सेवा करने लगते हैं।"
"शंकारहित और युक्त मनवाला पुरुष यम-नियमादि मुक्तिकारी योग को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता है, लेकिन वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।"
इस सूत्र को खूब ध्यान करना।
न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः। पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।।
जिसको अपने सिंह होने में शंका न रही, जिसको अपने आत्मा होने में शंका
न रही, जिसने जरा-सा इस भीतर के अंतर्जगत का स्वाद लिया, जो थोड़ा-सा भी जागा--विवेक में, ध्यान में, समाधि में। शंकारहित--जो निःशंक हुआ।
निःशंको युक्तमानसः।
और जिसका मन युक्त हुआ।
ये दो बातें समझना। एक तो हमें अपने होने पर ही शंका है। भला हम कितना
ही कहते हों कि मैं आत्मा हूं, कि मेरी कोई मृत्यु नहीं, मगर हमें इस पर भरोसा नहीं। हम कहते जरूर हैं; कहते भी हैं, मान भी लेना चाहते हैं। भरोसा करना चाहते हैं, भरोसा है नहीं। भरोसा करना चाहते हैं क्योंकि मौत से डर लगता है। मृत्यु से घबड़ाहट होती है। तो हम मान लेते हैं, आत्मा अमर है। जहां हम पढ़ते हैं किसी शास्त्र में, आत्मा अमर है--हिम्मत आती है कि ठीक; होनी चाहिए आत्मा अमर। मगर निःशंक नहीं है यह बात।
मैं एक पड़ोस में बहुत दिनों तक रहा। एक घर में कोई मर गया तो मैं गया। वहां मैंने देखा कि एक दूसरे पड़ोसी समझा रहे हैं लोगों को कि क्या रोते हो, क्या घबड़ाते हो? किसी की पत्नी मर गई है, वे समझा रहे हैं कि आत्मा तो अमर है। मैं बड़ा प्रभावित हुआ कि यह आदमी जानकार होना चाहिए। संयोग की बात,

तीन-चार महीने बाद उनकी पत्नी चल बसी। पत्नियों का क्या भरोसा, कब चल बसें! तो मैं बड़ी उत्सुकता से उनके घर गया कि अब तो यह आदमी प्रसन्नता से बैठा होगा, या खंजड़ी बजा रहा होगा। पत्नी को विदा दे रहा होगा। लेकिन वे रो रहे थे सज्जन। मैंने कहा, भई बात क्या है? दूसरे की पत्नी मर गई तब तुम समझा रहे थे, आत्मा अमर है। वे कहने लगे अपने आंसू पोंछकर, अरे ये समझाने की बातें हैं। जब अपनी मर जाये तब पता चलता है।
मैं बैठा रहा। थोड़ी देर बाद देखा कि जिन सज्जन की पत्नी मर गई थी पहले,
वे आ गये और इनको समझाने लगे कि क्या रोते हो? आत्मा तो अमर है।
ऐसा चलता लेन-देन। पारस्परिक सांत्वना! तुम हमको समझा देते, हम तुम्हें समझा देते। न तुम्हें पता, न हमें पता। लोग मान लेते हैं। लेकिन मान लेने का अर्थ निःशंक हो जाना नहीं है। मान तो हम वही बात लेते हैं जो हम मान लेना चाहते हैं।
इस फर्क को खयाल में रखना। यह देश है, इस देश में आत्मा की अमरता का सिद्धांत सनातन से चला आ रहा है। और इस देश से ज्यादा कायर देश खोजना मुश्किल है। अब यह बड़े आश्चर्य की बात है। यह होना नहीं चाहिए। क्योंकि जिस देश में आत्मा की अमरता मानी जाती हो, उस देश को तो कायर होना ही नहीं चाहिए। लेकिन पश्चिम के लोग आकर हुकूमत कर गये, जो आत्मा को नहीं मानते, नास्तिक हैं। जो मानते हैं कि एक दफे मरे तो मरे; फिर कुछ बचना नहीं है। वे आकर आत्मवादियों पर हुकूमत कर गये। और आत्मवादी डरकर अपने-अपने घर में छिपे रहे। वहीं बैठकर अपने उपनिषद पढ़ते रहे कि आत्मा अमर है।
आत्मा अमर है तो फिर भय क्या है? जिस आदमी को निःशंक रूप से पता चल गया आत्मा अमर है, उसके तो सब भय निरसन हो गये। उसके तो सारे भय गये। अब क्या भय है? अब तो मौत भी आये तो कोई भय नहीं है। ऐसे आदमी को परतंत्र तो बनाया ही नहीं जा सकता। ऐसे देश को तो परतंत्र बनाया ही नहीं जा सकता जो मानता हो, आत्मा अमर है।
लेकिन मामला कुछ और है। हम मानते ही इसलिए आत्मा को अमर हैं कि हम कायर हैं। हममें इतनी भी हिम्मत नहीं कि हम सीधी-सीधी बात मान लें, भई, हमें पता नहीं। जहां तक दिखाई पड़ता है वहां तक तो यही मालूम पड़ता है कि आदमी मरा कि खतम हुआ। और हम भी मरेंगे तो खतम हो जायेंगे। इतनी भी हिम्मत नहीं है हममें स्वीकार करने की। हम बचना चाहते हैं। आत्मा की अमरता हमारे लिए शरण बन जाती है। हम कहते हैं, नहीं, शरीर मरेगा, मन मरेगा, मैं तो रहूंगा। हम किसी तरह अपने को बचा लेते हैं। लेकिन यह कोई निःशंक अवस्था नहीं है। इसलिए इसका जीवन में कोई परिणाम नहीं होता।
तो पहली तो बात है, शंकारहित--निःशंको। यह तुम्हारा अनुभव होना चाहिए, उपनिषद की सिखावन से काम न चलेगा। दोहरायें लाख कृष्ण, और दोहरायें लाख महावीर, इससे कुछ काम न चलेगा। बुद्ध कुछ भी कहें, इससे क्या होगा? जब तक तुम्हारे भीतर का बुद्ध जागकर गवाही न दे। जब तक तुम न कह सको कि हां, ऐसा मेरा भी अनुभव है। जब तक तुम न कह सको कि ऐसा मैं भी कहता हूं अपने अनुभव के आधार पर, अपनी प्रतीति के, अपने साक्षात के आधार पर कि मेरे भीतर जो है, वह शाश्वत है।
लेकिन तब तुम यह भी पाओगे कि जो शाश्वत है वह तुम नहीं हो। तुम तो अहंकार हो। तुम तो मरोगे। तुम तो जाओगे। तुम बचनेवाले नहीं हो। तुम्हारा शरीर जायेगा, तुम्हारा मन जायेगा। इन दोनों के पार कोई तुम्हारे भीतर छिपा है जिससे तुम्हारी अभी तक पहचान भी नहीं हुई। वही बचेगा। और वह तुमसे बिलकुल अन्यथा है, तुमसे बिलकुल भिन्न है। तुम्हें उसकी झलक भी नहीं मिली है। तुमने सपने में भी उसका स्वप्न नहीं देखा है।
शंकारहित कैसे होओगे? कैसे यह निःशंक अवस्था होगी? कठिन तो नहीं होनी चाहिए यह बात, क्योंकि जो भीतर ही है उसको जानना अगर इतना कठिन है तो फिर और क्या जानना सरल होगा? कठिन तो नहीं होनी चाहिए। तुमने शायद भीतर जाने का उपाय ही नहीं किया। शायद तुम कभी घड़ी भर को बैठते ही नहीं। घड़ी भर को मन की तरंगों को शांत होने नहीं देते। जलाये रहते हो मन में आग, ईंधन डालते रहते हो। दौड़ाये रखते हो मन के चाक को। चलाये रखते हो मन के चाक को। कभी

मौका नहीं देते कि चाक रुके और तुम कील को पहचान लो। वह जो कील है, जिस पर चाक घूमता है, वह नहीं घूमती।
देखते? हिंदुस्तान में बड़ा अदभुत नाम है। कहते हैं, चलती का नाम गाड़ी।
अब गाड़ी का मतलब होता है, गड़ी हुई। चलती का नाम गाड़ी? चलती का नाम तो गाड़ी नहीं होना चाहिए। गाड़ी का मतलब गड़ी हुई। गड़ी हुई चीज तो चलती नहीं। चलती हुई चीज तो गाड़ी नहीं हो सकती। लेकिन फिर भी चलती को गाड़ी कहते हैं। कारण? क्योंकि चाक असली चीज नहीं है गाड़ी में; असली चीज कील है, और कील गड़ी है। चाक चलता है, कील नहीं चलती। चाक हजारों मील चल लेगा, कील जहां की तहां है, जैसी की तैसी। उस कील के कारण गाड़ी को गाड़ी कहते हैं, चाक के कारण नहीं कहते। चाक तो गौण है। असली चीज तो कील है, उस पर ही चाक घूमता है। कील केंद्र है, चाक परिधि है।
तुम्हारे भीतर भी कील है जिस पर जीवन का चाक घूमता है, जीवन-चक्र चलता। जीवन-चक्र के बहुत से आरे हैं, वे ही तुम्हारी वासनायें हैं। लेकिन सब के भीतर छिपी हुई एक कील है--अचल, कभी चली नहीं; अकंप, कभी कंपी नहीं। वही कील तुम्हारी आत्मा है।
जरा बैठो कभी। थोड़ा समय निकालो अपने लिए भी। सब समय औरों में मत गंवा दो। धन में कुछ लगता है, काम में कुछ लगता है, पत्नी-बच्चों में कुछ लगता है; हर्ज नहीं, लगने दो। कुछ तो अपने लिए बचा लो। घड़ी भर अपने लिए बचा लो। तेईस घंटे दे दो संसार को, एक घंटा अपने लिए बचा लो। और एक घंटा सिर्फ एक ही काम करो कि आंख बंद करके चाक को ठहरने दो। मत दो इसको सहारा। तुम्हारे सहारे चलता है। तुम ईंधन देते हो तो चलता है। तुम हाथ खींच लोगे, रुकने लगेगा। शायद थोड़ी देर चलेगा--मोमेंटम, पुरानी गति के कारण, लेकिन फिर धीरे- धीरे रुकेगा।
दो-चार महीने अगर तुम एक घंटा सिर्फ बैठते ही गये, बैठते ही गये--जल्दी
भी मत करना, धैर्य रखना। सिर्फ एक घंटा रोज बैठते गये, आंख बंद करके बैठ गये दीवाल से टिककर और कुछ भी न किया, कुछ भी न किया--दो-चार-छः महीने के बाद तुम अचानक पाओगे, चाक अपने आप ठहरने लगा। एक दिन साल-छः महीने के बाद तुम पाओगे...। और साल-छः महीने कोई वक्त है इस अनंतकाल की यात्रा में? कुछ भी तो नहीं। क्षण भर भी नहीं। साल-छः महीने में किसी दिन तुम पाओगे कि चाक ठहरा है और कील पहचान में आ गई। उसी दिन निःशंक हुए। उसी दिन जान लिया जो जानने योग्य है, पहचान लिया जो पहचानने योग्य है। फिर चलाओ खूब चाक। अब कील भूल नहीं सकती। अब चलते चाक में भी पता रहेगा। अब दौड़ो, भागो, यात्रायें करो संसारों की; और तुम जानते रहोगे कि भीतर कील ठहरी हुई है। "शंकारहित और युक्त मनवाला...।"
उसी कील के अनुभव से तुम्हारे भीतर संयुक्तता आती है, योग आता है, इंटिग्रेशन आता है। जिसने अपनी कील नहीं देखी वह तो भीड़ है। एक मन कुछ कहता है, दूसरा मन कुछ कहता है, तीसरा मन कुछ कहता है। महावीर ने विशेष शब्द उपयोग किया है इस अवस्था के लिए: बहुचित्तवान। आधुनिक मनोविज्ञान एक शब्द उपयोग करता है: पॉलीसाइकिक। इस शब्द का ठीक-ठीक अनुवाद बहुचित्तवान है, जो महावीर ने दो हजार साल पहले, ढाई हजार साल पहले उपयोग किया।
जब तक तुमने अपनी कील नहीं देखी, जब तक तुमने एक को नहीं देखा है अपने भीतर तब तक तुम अनेक के साथ उलझे रहोगे। मन अनेक है, आत्मा एक है। उस एक को जानकर ही व्यक्ति संयुक्त होता है।
न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः।
"और ऐसा जो युक्त मनवाला पुरुष है, शंकारहित, यम-नियमादि मुक्तिकारी योग को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता।"
यह खयाल में रखना। ऐसे व्यक्ति के जीवन में यम-नियम पाओगे तुम, लेकिन आग्रह न पाओगे। चेष्टा करके यम-नियम नहीं साधता। यम-नियम सधते हैं सहज, बिना किसी आग्रह के। कोई हठ नहीं, कोई जबर्दस्ती नहीं।
ऐसा ही समझो कि आंखवाला आदमी कमरे के बाहर जाना चाहता है तो दरवाजे से निकल जाता है। ऐसा पहले खड़े होकर कसम थोड़े ही खाता है कि आज मैं कसम खाता हूं कि दरवाजे से ही निकलूंगा और दीवाल से निकलने की कोशिश न करूंगा। ऐसी कोई कसम थोड़े ही खाता है! दरवाजे से चुपचाप निकल जाता है। अंधा आदमी जब

उठता है तो तय करता है कि दरवाजे से निकलना है। दरवाजे से ही निकलना है। पूछता है, दरवाजा कहां है? पूछकर भी फिर अपनी लकड़ी से टटोलता है कि दरवाजा कहां है। क्योंकि डर है, अंधा है, कहीं दीवाल से न निकलने की कोशिश कर ले; कहीं दीवाल से न टकरा जाये।
अंधा आदमी आग्रहपूर्वक दरवाजे से निकलने का प्रयास करता है। आंखवाला आदमी चुपचाप निकल जाता है। सोचता भी नहीं कि दरवाजा कहां है। जिसको दिखाई पड़ता है वह सोचेगा क्यों? सिर्फ अंधे सोचते हैं। आंखवाले सोचते ही नहीं। सोचने की जरूरत क्या है? सोचना तो अंधों के हाथ की लकड़ी है; उससे टटोलते हैं।
कोई बैठा है और कहता है, ईश्वर के संबंध में सोच रहे हैं। क्या खाक सोचोगे! ईश्वर कोई सोचने की बात है? ईश्वर तो देखने की बात है। इसलिए तो हम ईश्वर की तरफ जो यात्रा है उसको दर्शन कहते हैं, विचार नहीं कहते। पश्चिम में जो शब्द है फिलॉसफी, वह ठीक-ठीक शब्द नहीं है दर्शन के लिए। भारतीय दर्शन को भारतीय फिलॉसफी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि फिलॉसफी का अर्थ होता है सोच-विचार, चिंतन-मनन। दर्शन का अर्थ होता है, देखना। ये शब्द बड़े अलग हैं। दर्शन का अर्थ होता है, आंख का खुल जाना, दृष्टि का मिल जाना, द्रष्टा का जाग जाना।
हां, जब तक दर्शन नहीं हुआ तब तक सोच-विचार है। जब तक सोच-विचार है तब
तक शंकायें-कुशंकायें हैं। जब तक शंकायें-कुशंकायें हैं तब तक तुम एक भीड़ हो, बहुचित्तवान हो, तुम एक नहीं, संयुक्त नहीं।
"...यम-नियमादि योग को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता है।"
ग्रहण करता ही नहीं; आग्रह का प्रश्न ही नहीं उठता है।
"...लेकिन वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।"
वह जीवन की सब छोटी-छोटी क्रियाओं में सरलता से जीता है। देखता हुआ देखता है, सुनता हुआ सुनता है।
देखना, झेन फकीर जो कहते हैं...। बोकोजू से किसी ने पूछा कि तुम्हारी साधना क्या है? तो उसने कहा, जब भूख लगती है तब भोजन करता और जब नींद आती है तब सो जाता। तो उस आदमी ने कहा, यह कोई साधना हुई? यह तो हम भी करते हैं, यह तो सभी करते हैं, नींद आयी तब सो गये, भूख लगी तब खा लिया। बोकोजू ने कहा कि नहीं, कभी-कभी कोई बिरला करता है। तुम भोजन करते हो और हजार काम साथ में और भी करते हो। भोजन कर रहे हो और दुकान भी चला रहे हो खोपड़ी में। भोजन कर रहे और बाजार में भी हो। भोजन कर रहे और किसी को रिश्वत भी दे रहे हो। भोजन कर रहे और हजार विचार कर रहे हो। भोजन तो डाले जा रहे हो यंत्रवत, और भीतर मन हजार दुनियाओं में दौड़ रहा है, हजार योजनायें बना रहा है।
जब तुम सोते हो तब सोते भी कहां? सपने देखते हो। न मालूम कितनी भाग-दौड़, कितनी आपाधापी नींद में भी चलती रहती है। नींद में भी तुम अपने घर नहीं आते। दिन में भागे रहते, रात में भी भागे रहते। तुम्हारा मन तो सदा चलायमान ही रहता है।
बोकोजू ने कहा, नहीं जब मैं भोजन करता तो बस भोजन करता। और बोकोजू ने कहा, जब भूख लगती तब भोजन करता। तुम्हें भूख भी नहीं लगती तो भी भोजन करते। समय हो गया तो भोजन करते। करना चाहिए भोजन तो भोजन करते। भूख का कोई संबंध नहीं है तुम्हारे भोजन से, तुम्हारी व्यवस्था का संबंध है। कभी भूख भी लगती तो भोजन नहीं करते, क्योंकि उपवास कर रहे हो। तुम प्रकृति की थोड़े ही सुनते! कभी बिना जरूरत के भोजन डालते, कभी जरूरत होती तो भोजन नहीं डालते। बड़े अजीब हो। कभी कहते पर्यूषण आ गये, अभी व्रत करना है। अब यह पेट को भूख लगती है, तुम भोजन नहीं करते। और रोज ऐसा करते कि पेट को भूख नहीं लगी तो भी भोजन डाले जाते। पेट भर जाता है तो भी नहीं सुनते। पेट कहने भी लगता है, अब क्षमा करो। दर्द भी होने लगता है, कहता है क्षमा करो, लेकिन तुम कहते, थोड़ा और।
मैंने सुना है मथुरा के एक पंडे के संबंध में; किसी के घर भोजन करने गये। इतना भोजन कर गये, इतना भोजन कर गये कि गाड़ी पर डालकर उनको घर लाना पड़ा। जब घर आये तो उनकी पत्नी ने कहा कि चलो कोई बात नहीं। ऐसा तो मेरे

पिता के साथ भी होता था। यह कोई नयी बात नहीं। यह गोली ले लो। तो उन्होंने कहा, अरे पागल, अगर गोली ही खाने की जगह होती तो एक लड्डू और न खा जाते? जगह है कहां? एक गोली की भी जगह नहीं छोड़ी।
तो तुम इतना भी कर लेते हो। मेरे एक मित्र हैं, लेखक हैं। उनकी शादी हुई तो जिस घर में गये--देहाती हैं--जिस घर में शादी हुई, वह बड़ा संस्कारशील, कुलीन घर है। छोटी-छोटी पूड़ी! तो वे एक पूड़ी का एक ही कौर कर जायें। उनकी पत्नी को शर्म आने लगी। पहली ही दफा विवाह के बाद आये थे पत्नी को लेने। तो उसने ऐसा कोने से छिपकर इशारा किया दो अंगुलियों का। इशारा किया कि दो टुकड़े करके तो कम से कम खाओ। वे समझे कि शायद इस घर में दो पूड़ी एक साथ खाई जाती हैं। सो उन्होंने दो पूड़ियों का एक कौर बना लिया। मुझे कहते थे कि बड़ी बदनामी हुई।
बोकोजू कहता है, जब भूख लगती है तब भोजन करता हूं; और तब सिर्फ भोजन करता हूं। और जब नींद आती है तब, और केवल तब ही सोता हूं। और तब केवल सोता हूं।
यही इस सूत्र का अर्थ है। यह सूत्र बड़ा अदभुत है।
"...लेकिन वह देखता हुआ देखता, सुनता हुआ सुनता, स्पर्श करता हुआ स्पर्श करता, सूंघता हुआ सूंघता, खाता हुआ खाता सुखपूर्वक रहता है।"
उसके जीवन में कोई दमन नहीं है, कोई जबर्दस्ती नहीं है, कोई आत्महिंसा नहीं है, कोई कठोरता नहीं है, कोई तपत्तपश्चर्या नहीं है। न तो भोग है उसके जीवन में, न योग है उसके जीवन में। उसके जीवन में बड़ी सरलता है। पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।
ऐसा सब क्रियाओं में होता हुआ सुखपूर्वक जीता है। डोलता नहीं अपनी कील से। चाक चलता रहता, वह अपनी कील पर थिर रहता। वह अपने में ठहरा रहता। और यह भी खयाल रखना कि उसकी सारी प्रक्रिया बोध मात्र है। जब देखता तो बेहोशी में नहीं देखता, होशपूर्वक देखता। फर्क समझो! भगोड़ा कहता है, स्त्री को देखना मत। ज्ञानी कहता है, होशपूर्वक देखना।
बुद्ध के जीवन में एक उल्लेख है। एक भिक्षु यात्रा को जा रहा है। उस भिक्षु ने बुद्ध को कहा कि प्रभु, मार्ग के लिए कोई निर्देश हों तो मुझे दे दें; क्योंकि महीनों दूर रहूंगा, पूछ भी न सकूंगा। तो बुद्ध ने कहा, एक काम करना। रास्ते पर स्त्री मिले तो देखना मत, आंख नीचे करके निकल जाना। वह भिक्षु बोला, जैसी आज्ञा।
लेकिन बुद्ध का दूसरा शिष्य आनंद बैठा था। और आनंद की बड़ी कृपा है मनुष्य जाति पर। क्योंकि उसने बड़े अनूठे, वक्त-बेवक्त, बेबूझ, कभी असंगत-अनर्गल प्रश्न भी पूछे। उसने कहा, प्रभु रुकें। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि देखना पड़े या देखकर ही तो पता चलेगा कि स्त्री है, फिर आंख झुकानी। पहले से तो पता कैसे चल जायेगा? आखिर...पहले तो देख ही लेंगे कि स्त्री आ रही है। अब तो देख ही चुके। आप कहते हैं, स्त्री को देखकर आंख नीचे झुका लेना, मगर देख तो चुके ही, उस हालत में क्या करना?
तो बुद्ध ने कहा, अगर देख चुके हो, कोई हर्ज नहीं, छूना मत। आनंद ने कहा, और कभी ऐसा भी हो सकता है कि छूना पड़े। अब एक स्त्री गिर गई हो रास्ते पर और हमारे सिवाय कोई नहीं। उसे उठायें, न उठायें? आप कहते हैं, करुणा, दया--क्या हुआ करुणा-दया का? तो बुद्ध ने कहा, ठीक, ऐसी कोई घड़ी आ जाये तो छू लेना, मगर होश रखना।
बुद्ध ने कहा, असली बात तो होश रखना है। यह भिक्षु कमजोर है, इससे मैंने कहा, देखना मत। थोड़ा हिम्मतवर आदमी हो तो उससे मैं यह भी नहीं कहता कि देखना मत। और थोड़ा हिम्मतवर हो, उससे मैं यह भी नहीं कहता कि छूना मत। और थोड़ा हिम्मतवर हो तो उसे मैं कुछ भी आज्ञा नहीं देता। लेकिन एक ही बात-- होश रखना।
ऐसा हुआ, एक बार वर्षाकाल शुरू होने के पहले एक भिक्षु राह से गुजर रहा था और एक वेश्या ने उससे निवेदन किया कि इस वर्षाकाल मेरे घर रुक जायें। उस भिक्षु ने कहा, मैं अपने गुरु को पूछ लूं। उसने यह भी न कहा कि तू वेश्या है। उसने यह भी न कहा कि तेरे घर और मेरा रुकना कैसे बन सकता है?

उसने कुछ भी न कहा। उसने कहा, मेरे गुरु को मैं पूछ आऊं। अगर आज्ञा हुई तो रुक जाऊंगा।
वह गया और उसने भरी सभा में खड़े होकर बुद्ध से पूछा कि एक वेश्या राह
पर मिल गई और कहने लगी कि इस वर्षाकाल मेरे घर रुक जायें। आपसे पूछता हूं। जैसी आज्ञा! बुद्ध ने कहा, रुक जाओ। बड़ा तहलका मच गया। बड़े भिक्षु नाराज हो गये। यह तो कई की इच्छा थी। इनमें से तो कई आतुर थे कि ऐसा कुछ घटे। वे तो खड़े हो गये। उन्होंने कहा, यह बात गलत है। सदा तो आप कहते हैं, देखना नहीं, छूना नहीं और वेश्या के घर में रुकने की आज्ञा दे रहे हैं?
बुद्ध ने कहा, यह भिक्षु ऐसा है कि अगर वेश्या के घर में रुकेगा तो वेश्या को डरना चाहिए; इस भिक्षु को डरने का कोई कारण नहीं है। खैर, चार महीने बाद तय होगी बात, अभी तो रुक।
वह भिक्षु रुक गया। रोज-रोज खबरें लाने लगे दूसरे भिक्षु कि सब गड़बड़
हो रहा है। रात सुनते हैं, दो बजे रात तक वेश्या नाचती थी, वह बैठकर देखता रहा। कि सुनते हैं कि वह खान-पान भी सब अस्तव्यस्त हो गया है। कि सुनते हैं, एक ही कमरे में सो रहा है। ऐसा रोज-रोज बुद्ध सुनते, मुस्कुरा कर रह जाते। उन्होंने कहा, चार महीने रुको तो! चार महीने बाद आयेगा।
चार महीने बाद भिक्षु आया, उसके पीछे वेश्या भी आयी। वेश्या, इसके पहले कि भिक्षु कुछ कहे, बुद्ध के चरणों में गिरी। उसने कहा कि मुझे दीक्षा दे दें। इस भिक्षु को भेजकर मेरे घर, आपने मेरी मुक्ति का उपाय भेज दिया। मैंने सब उपाय करके देख लिये इसे भटकाने के, मगर अपूर्व है यह भिक्षु। मैंने नाच देखने को कहा तो इसने इंकार न किया। मैं सोचती थी कि भिक्षु कहेगा, मैं संन्यासी, नाच देखूं? कभी नहीं! जो कुछ मैंने इसे कहा, यह चुपचाप कहने लगा कि ठीक। मगर इसके भीतर कुछ ऐसी जलती रोशनी है कि इसके पास होकर मुझे स्मरण भी नहीं रहता था कि मैं वेश्या हूं। इसकी मौजूदगी में मैं भी किसी ऊंचे आकाश में उड़ने लगती थी। मैं इसे नीचे न उतार पाई, यह मुझे ऊपर ले गया। मैं इसे गिरा न पाई, इसने मुझे उठा लिया। इस भिक्षु को मेरे घर भेजकर आपने मुझ पर बड़ी कृपा की। मुझे दीक्षा दे दें, बात खतम हो गई। यह संसार समाप्त हो गया। जैसी जागृति इसके भीतर है, जब तक ऐसी जागृति मेरे भीतर न हो जाये तब तक जीवन व्यर्थ है। यह दीया मेरा भी जलना चाहिए।
बुद्ध ने अपने और भिक्षुओं से कहा, कहो क्या कहते हो? तुम रोज-रोज खबरें लाते थे। मैं तुमसे कहता था, थोड़ा धीरज रखो। इस भिक्षु पर मुझे भरोसा है। इसका जागरण हो गया है। यह जाग्रत रह सकता है। असली बात जागरण है। गहरी बात जागरण है। आखिरी बात जागरण है।
तो अष्टावक्र कहते हैं:
न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः। पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।।
देखो, सुनो, खाओ, पीयो, रहो संसार में--जागे हुए, सुखपूर्वक। भागो मत, भोगो मत। भोगो मत, त्यागो मत। जागो! उसी जागरण से परम सिद्धि फलित होती है। भाग गये तो भी कल्पना पीछा करेगी। जाग गये तो फिर कल्पना बचती ही नहीं।
तुमको निहारता हूं सुबह से ऋतंभरा
अब शाम हो रही है मगर मन नहीं भरा
या धूप में अठखेलियां हर रोज करती है
एक छाया सीढ़ियां चढ़ती-उतरती है
मैं तुम्हें छूकर जरा-सा छेड़ देता हूं
और गीली पांखुरी से ओस झरती है
तुम कहीं पर झील हो, मैं एक नौका हूं
इस तरह की कल्पना मन में उभरती है
तुम दूर बैठ गये जाकर, कुछ फर्क न पड़ेगा। नई-नई कल्पनायें मन में उभरेंगी।
तुमको निहारता हूं सुबह से ऋतंभरा
दूर बैठे पहाड़ पर भी तुम उसको ही निहारोगे जिसको छोड़कर भाग गये। उसी
को निहारोगे, और क्या करोगे? जिसे छोड़कर भागे हो वही तुम्हारा पीछा करेगा।

तुमको निहारता हूं सुबह से ऋतंभरा
अब शाम हो रही है मगर मन नहीं भरा
या धूप में अठखेलियां हर रोज करती है
एक छाया सीढ़ियां चढ़ती-उतरती है
नहीं कोई वास्तविक रहा तो छायायें सीढ़ियां चढ़ेंगी-उतरेंगी, सपने उठेंगे, कल्पनायें जगेंगी।
मैं तुम्हें छूकर जरा-सा छेड़ देता हूं
और तुम कल्पनाओं को छूने लगोगे। तुमने ऋषि-मुनियों की कथायें पढ़ी हैं, अप्सरायें सताती हैं। अप्सरायें कहां से आयेंगी? अप्सरायें होती नहीं। ये ऋषि-मुनि जिनको भाग गये हैं छोड़कर, उनकी ही कल्पनायें हैं। छायायें सीढ़ियां चढ़ती-उतरती हैं। कोई नहीं सता रहा। अप्सराओं को क्या पड़ी तुम्हारे विश्वामित्रों को सताने के लिए! अप्सराओं को फुरसत कहां? देवताओं से फुरसत मिले तब तो वे इन...और ऋषि-मुनियों को बेचारों को! नाहक सूख गये जिनके देह, हड्डी-मांस सब खो गया, अस्थि-पंजर रह गये जो, इन पर अप्सराओं को इतना क्या मोह आता होगा! अप्सरायें इन्हें देखकर डरें, यह तो समझ में आता--कि बाबा आ रहे हैं! मगर अप्सरायें इनको सताने आयें, नग्न होकर इनके आसपास नाचें...।
मगर बात में रहस्य है। ये अप्सरायें इनके मन की ही छायायें हैं। स्त्रियों को छोड़कर भाग गये हैं, स्त्रियां मन में बसी रह गई हैं।
एक छाया सीढ़ियां चढ़ती-उतरती है
मैं तुम्हें छूकर जरा-सा छेड़ देता हूं
और गीली पांखुरी से ओस झरती है
तुम कहीं पर झील हो, मैं एक नौका हूं
इस तरह की कल्पना मन में उभरती है
और कल्पनाओं पर कल्पनायें उभरती रहेंगी। जिससे तुम भागे हो उससे तुम कभी छूट न पाओगे। उससे तुम सदा के लिए बंधे रह जाओगे। भागने में ही बंधन हो गया। भागने में ही गांठ बंध गई। भागने में ही तुमने बता दिया कि जीत नहीं सके, हार गये। जिससे हार गये उससे हारे रहोगे; बार-बार हारना होगा। अष्टावक्र उस पक्ष में नहीं हैं। वे कहते हैं, "यथार्थ सत्य के श्रवण मात्र से शुद्ध-बुद्धि और स्वस्थ चित्त हुआ पुरुष न आचार को, न अनाचार को, न उदासीनता को देखता है।"
वस्तुश्रवणमात्रेण...।
मैं तुमसे रोज कहता रहा हूं, प्रज्ञा प्रखर हो तो सुनने मात्र से, श्रवणमात्रेण।
वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
जिसकी बुद्धि शुद्ध हो, निराकुल हो, तरंगें न उठ रही हों; वस्तुश्रवणमात्रेण--बस सुन लिया सत्य को कि हो गई बात, घट गई बात। कुछ करने को शेष नहीं रह जाता है।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति।
और ऐसे व्यक्ति के जीवन में, जहां चित्त स्वस्थ है, शुद्ध है बुद्धि, सत्य के श्रवण मात्र से, सिर्फ सत्य के आघात मात्र से, सत्य के संवेदन मात्र से जो मुक्त हुआ है; किसी आग्रह, हठ, योग, नियम, व्रत इत्यादि से नहीं, बोध मात्र से जो मुक्त हुआ है; ऐसे व्यक्ति के जीवन में न तो आचार होता, न अनाचार होता। इतना ही नहीं, उदासीनता भी नहीं होती।
ये तीन बातें हैं साधारणतः। एक आदमी है अनाचार में भरा हुआ, जिसको हम कहते हैं भोगी। दूसरा व्यक्ति है आचार से भरा हुआ, उसको हम कहते हैं योगी। इन दोनों के ऊपर एक व्यक्ति है उदासीन जिसके जीवन में अब न आचार रहा, न अनाचार रहा; जो दोनों से हटकर एकदम उदासीन हो गया है। यह तीसरी अवस्था है। अष्टावक्र कहते हैं, एक चौथी अवस्था भी है: उदासीन भी नहीं। यह चौथी अवस्था बड़ी अपूर्व है।
समझें। अनाचार में जो पड़ा है, वह जो गलत है उसको भोग रहा है। आचार में
जो पड़ा है, वह जो ठीक है उसको भोग रहा है। दोनों का चुनाव है। अनाचारी आधे को चुन लिया, आधे को छोड़ दिया। आचारी ने दूसरे आधे को चुन लिया, पहले आधे को

छोड़ दिया। लेकिन पूरा सत्य दोनों के हाथ में नहीं है। इस बात को देखकर उदासीन ने दोनों को छोड़ दिया; लेकिन उसके हाथ में भी पूरा सत्य नहीं है। उदासीन तो नकारात्मक अवस्था है। वह बैठ गया तटस्थ होकर। उसने धारा में बहना छोड़ दिया।
एक चौथी अवस्था है--न आचार, न अनाचार, न उदासीनता। जीवन में खड़ा है व्यक्ति। न तो तय करता है कि आचरण से रहूंगा, न तय करता है कि अनाचरण में ही अपने जीवन को डालकर रहूंगा। तुमने खयाल किया, साधुओं के भी संकल्प होते हैं, असाधुओं के भी। साधु कहता है, जो शुभ है वही करूंगा। और असाधु कहता है, देखें कौन क्या बिगाड़ता है, अशुभ को करके रहेंगे।
अगर तुम कारागृह में जाओ तो तुम्हें पता चलेगा। कारागृह में बंद लोग अपने अपराधों को भी बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं। क्योंकि वहां तो अपराधी ही अपराधी हैं। वहां तो अहंकार को तृप्त करने का एक ही उपाय है। कोई कहता है, मैंने दो आदमी मारे। वह कहता, यह क्या रखा! अरे ऐसे बीसों मार चुका। कोई कहता है, लाख रुपये का डाका डाला। वह कहता है, यह भी कोई डाका है? अरे यह तो हमारे घर में बच्चे कर लेते हैं। ऐसे करोड़ का डाका डाला है।
मैंने सुना है, एक कारागृह में एक आदमी प्रविष्ट हुआ। एक कोठरी में उसे ले जाया गया। कोठरी में जो पहले से ही कारागृह में बंद आदमी था, उसने पूछा, कितने दिन की सजा हुई? इस आदमी ने कहा, दो साल की। उसने कहा, तू वहीं दरवाजे के पास अपना डेरा रख। जल्दी तेरे को निकल जाना है। इधर हमको तीस साल रहना है। उसकी अकड़! वहीं रख डेरा दरवाजे के पास। ऐसे ही कोई सिक्खड़ मालूम होता। नौसिखुआ! चले आये! करना-धरना नहीं आता कुछ। अभी वहीं रह। तेरे जाने का वक्त तो जल्दी आ जायेगा। दो साल ही हैं न कुल? इधर तीस साल रहना है। तो दादा गुरु...।
कारागृह में लोग अपने पाप का भी बखान करते हैं जोर से। बड़ा करके बढ़ा- चढ़ाकर अतिशयोक्ति करते। ठीक वैसा ही जैसा कि तुम रुपया दान दे आते तो हजार बताते हो।
एक सज्जन मेरे पास आये, पत्नी उनके साथ थी। पत्नी ने अपने पति की प्रशंसा में कहा कि बड़े दानी हैं। शायद आपने इनका नाम सुना हो, न हो, एक लाख रुपया दान कर चुके अब तक। पति ने ऐसा धक्का मारा हाथ से और कहा, एक लाख दस हजार। यह कोई बात है! वह दस हजार की चोट लग गई उनको कि दस हजार भूले जा रही है, क्या मामला है?
आदमी शुभ की भी घोषणा करके अहंकार को भर लेता है, अशुभ की घोषणा करके
भी अहंकार को भर लेता है। शुभ के भी जिद्दी हैं और अशुभ के भी जिद्दी हैं। फिर इन दोनों को छोड़कर भी बैठ गये उदासीन लोग हैं जिनके चेहरे पर मक्खियां उड?ने लगती हैं। उदासी आ गई। वे कहते हैं कि अब कुछ रस नहीं है। अच्छे-बुरे में कुछ रस नहीं है। बैठ गये, तटस्थ हो गये।
लेकिन अष्टावक्र कहते हैं, इन तीनों के पार एक वास्तविक चित्तदशा है। उदासीनता तो अच्छी बात नहीं। अस्तित्व तो उत्सव है। इस उत्सव में उदासीनता तो प्रभु का अपमान है। यहां फूल खिले हैं, सूरज उगा है, पक्षी गीत गा रहे हैं, नाचो। यहां उदासीन होना तो प्रभु ने यह जो जगत दिया, उस प्रभु का अपमान है। इस अस्तित्व ने जो इतना अवसर दिया इसमें उदासीन न होकर बैठ गये? यह तो तौहीन है। यह बात ठीक नहीं। उत्सव चाहिए जीवन में, उदासीनता नहीं। और उत्सव ऐसा चाहिए कि जिसमें कोई आग्रह न हो।
क्षण-क्षण जीयो निराग्रह से। न तो तय करो कि शुभ करेंगे, न तय करो कि अशुभ करेंगे; जो परमात्मा करवा ले। जो उसकी मर्जी। उसकी मर्जी पर छोड़ दो। जो भी करेंगे, बोधपूर्वक करेंगे। और जो वह करवा लेगा उसमें राजी रहेंगे। ऐसी परम राजीपन की दशा चौथी दशा है।
"धीरपुरुष, जब जो कुछ शुभ अथवा अशुभ करने को आ पड़ता है उसे सहजता के साथ करता है...।"
खयाल रखना, शुभ या अशुभ। अष्टावक्र का मुकाबला नहीं। अष्टावक्र की क्रांति का कोई मुकाबला नहीं। अष्टावक्र अतुलनीय हैं।
"धीरपुरुष, जब जो कुछ शुभ अथवा अशुभ करने को आ पड़ता है उसे सहजता के साथ करता है, क्योंकि उसका व्यवहार बालवत है।"

शुभ आ जाये, शुभ करवा ले प्रभु तो शुभ; अशुभ करवा ले तो अशुभ। वह चुनाव नहीं करता।
यही तो कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि अगर प्रभु की मर्जी है कि युद्ध
हो तो तू लड़। अब तू कौन है बीच में कहनेवाला कि यह अशुभ है, हिंसा हो जायेगी, पाप हो जायेगा? तू कौन बीच में आनेवाला? तू निमित्त मात्र है। अर्जुन से कृष्ण कहते हैं, ये जो सामने खड़े लोग हैं, मैं देखता हूं, ये मारे जा चुके हैं। तू तो निमित्त मात्र है। इनकी मौत तो घट चुकी। मैं जरा आगे की देख रहा हूं, इनकी मौत हो चुकी है। घड़ी-दो घड़ी की बात है। ये मारे जा चुके हैं। तू निमित्त मात्र है। तेरे कंधे पर रखकर गांडीव चला कि किसी और के कंधे पर रखकर चला, कुछ फर्क नहीं पड़ता। ये मारे जा चुके। तू यह मत सोच कि तू इन्हें मारनेवाला है। तू कर्ता मत बन।
और तू कौन है बीच में सोचे कि क्या शुभ, क्या अशुभ? यह भी जरा समझने की बात है। क्योंकि तुम कभी शुभ करो और हो जाता है अशुभ। और तुम कभी अशुभ करो और हो जाता है शुभ।
चीन में ऐसा हुआ कि एक आदमी के सिर में दर्द था--कोई चार हजार साल पुरानी कथा है--बड़ा दर्द था और जीवन भर से दर्द था। और एक दुश्मन ने छिपकर उसे तीर मार दिया। उसके पैर में तीर लगा और दर्द चला गया। बड़ी हैरानी हुई। तीर तो निकल गया, वह आदमी बच भी गया, लेकिन दर्द चला गया। इसी आदमी के अनुभव से चीन में एक शास्त्र का जन्म हुआ: अकुपंक्चर। इससे यह पता चला कि दर्द तो उसके सिर में था लेकिन असली उलझन उसके पैर में थी। उसके पैर में विद्युत का प्रवाह अटक गया था, उसका परिणाम सिर में हो रहा था। सिर के इलाज करने से कुछ भी नहीं हो सकता था। उसके पैर में जो विद्युत का प्रवाह अटक गया था वह तीर के लगने से संयोगवशात खुल गया। तब से अकुपंक्चर पैदा हुआ।
अकुपंक्चर बड़ी अनूठी औषधि है। तुम्हारे बायें हाथ में दर्द हो, वे दायें हाथ का इलाज करें। तुम्हारे सिर में दर्द है, वे पैर के अंगूठे का इलाज करें और ठीक कर दें। और इलाज भी कुछ नहीं है सिर्फ थोड़ा-सा एक सुई चुभा दी। उस सुई के चुभाने से जीवन की ऊर्जा का जो प्रवाह है, उसको बदल देते हैं।
अब इस आदमी ने तो तीर मारा था अशुभ के लिए, लेकिन हो गया शुभ। न केवल उस आदमी के जीवन में शुभ हो गया, उसका सिरदर्द चला गया, चार हजार साल में करोड़ों लोगों ने लाभ लिया अकुपंक्चर से। वह सब लाभ उसी आदमी के ऊपर जाता है जिसने तीर मारा था। लेकिन उसकी आकांक्षा तो बुरी थी, वह तो अशुभ करने चला था।
कभी तुम शुभ करने जाते हो और अशुभ हो जाता है। तुम सब अच्छा कर रहे थे
और सब गड़बड़ हो जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि बाप बेटे को बहुत अच्छा बनाना चाहता है इसी कारण बेटा बुरा हो जाता है। तुम्हारी ज्यादा चेष्टा खतरनाक होती है।
गांधी जैसा अच्छा बाप पाना मुश्किल है। गांधी ने अपने पहले बेटे को बरबाद कर दिया, हरिदास को। गांधी ने ही बरबाद किया। उसको इतना अच्छा बनाने का...उनको तो महात्मा होने की धुन सवार थी, उसको भी महात्मा बनाना है। तुम्हें महात्मा बनना है, तुम बनो। कोई मना नहीं कर रहा है। लेकिन दूसरे पर तो मत थोपो। दूसरे का मौका आने दो। जब उसको मौका आयेगा, आयेगा।
वे हरिदास को जबर्दस्ती महात्मा बनाने में लग गये। हरिदास को इस तरह महात्मा बनाया उन्होंने कि हरिदास के भीतर बगावत पैदा हो गई। उसने बुरी तरह बदला लिया। बदला लेने में अपने को भी नष्ट कर लिया। जो-जो गांधी कहते थे उससे उल्टा करने लगा। शराब पीने लगा, वेश्यागामी हो गया और आखिर में मुसलमान हो गया। क्योंकि गांधी कहते थे, हिंदू-मुस्लिम सब एक; तो उसने कहा, अब यह आखिरी चोट भी करके देख लें। वह मुसलमान हो गया। हरिदास गांधी से अब्दुल्ला गांधी हो गया। और जब गांधी को खबर मिली कि हरिदास मुसलमान हो गया तो उनको बड़ा सदमा पहुंचा। जब यह खबर हरिदास को मिली तो वह हंसा, उसने कहा कि अरे, सदमा! हिंदू-मुस्लिम सब एक, अल्ला-ईश्वर तेरे नाम--इसमें सदमा क्या? तो बात सब बकवास थी, ऊपर-ऊपर थी! सदमे की क्या बात है? मैं मुसलमान हो

गया तो कुछ बुरा हो गया? तो वह जो हिंदू-मुस्लिम एक है, सब राजनीति ही थी? वह कुछ गहरी बात नहीं थी।
गांधी ने अच्छा बनाने की कोशिश की। लेकिन कोई किसी के अच्छा बनाने से थोड़े ही अच्छा बनता है! अक्सर ऐसा होता है, अच्छे बाप के बेटे बिगड़ जाते हैं। अक्सर ऐसा होता है। क्योंकि चारों तरफ से उनकी गर्दन कसने की कोशिश की जाती है कि अच्छे बनो। जबर्दस्ती दुनिया में कहीं अच्छाई होती है? अच्छाई तो स्वतंत्रता में फलती है।
तो तुम अच्छा करो, बुरा हो जाता है। बुरा करो, कभी अच्छा हो जाता है।
तो तुम्हारे करने का क्या भरोसा? परमात्मा पर छोड़ दो।
फिर जो अभी अच्छा लगता है, क्षण भर बाद बुरा हो सकता है। क्योंकि जगत
की कथा तो चलती चली जाती है। इसमें हर चीज बदलती रहती है। तुम एक कुएं के पास से निकलते थे, कोई गिर पड़ा, तुमने उसको निकालकर बचा लिया। वह आदमी गया गांव में, किसी की हत्या कर दी। अब तुम जिम्मेवार हो या नहीं? न तुम बचाते, न यह हत्या होती। अब यह बड़ी मुश्किल हो गई। तुमने हत्या के लिए बचाया भी नहीं। तुम तो बड़ी दया कर रहे थे।
इसलिए तेरापंथी जैन कहते हैं, बचाना ही मत। वह जो कुएं में पड़ा है, पड़ा रहने दो, तुम अपने रास्ते जाओ। क्योंकि बचाया और कहीं उसने जाकर किसी की हत्या कर दी। फिर? कोई प्यासा मर रहा है और तुम्हारे पास पानी है तो तेरापंथी कहते हैं, पानी भी मत पिलाना। क्योंकि क्या पता? पानी पिलाकर ठीक हो जाये, रात किसी के घर डाका डाल दे। फिर कौन जिम्मेवार? इसलिए तुम उदासीन रहना। तुम अपने चले जाना अपने रास्ते पर। वह अपना कर्म भोग रहा है, तुम अपना कर्म भोगो। बीच में बाधा डालो मत।
लेकिन यह तो बड़ी कठोरता हो जायेगी। और यह तो आदमियत से बड़ा नीचे गिरना
हो जायेगा। तो फिर क्या उपाय है? अष्टावक्र का सुझाव ज्यादा कारगर है। अष्टावक्र कहते हैं, जो जिस क्षण में प्रभु करवा ले वह कर लो। तुम कर्ता मत बनो। तुम कह दो, निमित्त मात्र हूं। योजना भी मत रखो कि मैं यही करूंगा और यह न करूंगा। यह ठीक, यह गलत, ऐसा हिसाब भी मत रखो। यह जगत इतना रहस्यपूर्ण है कि क्या गलत, क्या ठीक! और यह कथा इतनी लंबी है कि जो अभी गलत मालूम होता है, क्षण भर बाद ठीक हो जा सकता है। और जो क्षण भर पहले ठीक मालूम होता था, क्षण भर बाद गलत हो सकता है। कुछ कहा नहीं जा सकता। इसलिए इस अनजान विराट लीला में तुम निमित्त मात्र रहो।
"धीरपुरुष जब जो कुछ शुभ अथवा अशुभ करने को आ पड़ता है उसे सहजता के साथ करता है...।"
वह उसमें अड़चन नहीं लेता। वह निमित्त बन जाता है। वह कहता है, ठीक। "क्योंकि उसका व्यवहार बालवत है।"
यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
सरलता से, ऋजुता से, सहजता से, बिना कोई बोझ लिये--कि शुभ कर रहा हूं, इसकी अकड़ लिये, कि अशुभ कर रहा हूं, इसकी अकड़ लिये, कि पुण्य किया कि पाप किया--किसी तरह का अहंकार बिना लिये और किसी तरह का पश्चात्ताप बिना लिये।
प्रभु ने जो करवाया, किया। जो हुआ, हुआ। न पीछे लौटकर देखता है, न आगे की योजना करता है। क्षण में जो हो जाता है, हो जाता है।
यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्।।
और छोटे बच्चे की तरह सरल। छोटे बच्चे में देखा? क्षण-क्षण जीता है।
वही उसका सौंदर्य है। क्षण में तुमसे नाराज हो गया और कहने लगा, अब तुम्हारा चेहरा भी कभी न देखेंगे। कट्टी हो गई। बात खतम हो गई। और क्षण भर बाद तुम्हारी गोदी में आ बैठा और हंस रहा है। और बात ही भूल गया।
ऐसा बालवत। शुभ-अशुभ में हिसाब नहीं है। क्रोध और प्रेम में भी हिसाब नहीं है। जो क्षण में होता है, पूरे भाव से कर लेता है। फिर क्षण के साथ ही विदा हो जाती है बात। ऐसा क्षण-क्षण रूपांतरित, क्षण-क्षण प्रवाहमान, क्षण-क्षण सरितवत, ऐसा जो व्यक्ति है उसको ही अष्टावक्र साधु कहते हैं।
उसी को सरल। साधु यानी सरल, ऋजु।

"धीरपुरुष स्वतंत्रता से सुख को प्राप्त होता है, स्वतंत्रता से परम
को प्राप्त होता है, स्वतंत्रता से नित्य सुख को प्राप्त होता है, और स्वतंत्रता से परमपद को प्राप्त होता है।"
स्वतंत्रता अष्टावक्र का सारसूत्र है; अष्टावक्र की कुंजी। कृष्णमूर्ति की एक किताब है: "द फर्स्ट एंड लास्ट फ्रीडम", पहली और अंतिम स्वतंत्रता। इस एक सूत्र की व्याख्या है पूरी किताब। या पूरी किताब को इस एक सूत्र में समाया जा सकता है। यह सूत्र अदभुत है। स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्यात् लभते परम्। स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम्।।
"धीरपुरुष स्वतंत्रता से सुख को प्राप्त होता है...।"
पराधीनता में तो सुख कहां? फिर पराधीनता दूसरे की हो या अपनी ही थोपी हुई, पराधीनता में तो सुख कहां? पराधीनता में तो दुख ही है। जंजीरें दूसरे ने पहनाई हों कि खुद पहन ली हों, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। पंख किसी और ने काटे हों कि खुद कटवा दिये हों, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। परतंत्रता में दुख है, क्योंकि परतंत्रता में सीमा बंध जाती है। असीम में सुख है।
इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति। एक ही सुख है जगत में, वह है स्वतंत्र हो जाना। तो समस्त मर्यादाओं से, समस्त सीमाओं से, समस्त यम-नियम, समस्त जपत्तप, साधना मात्र से स्वतंत्र हो जाना है।
यह तो आधा हुआ स्वतंत्रता का हिस्सा--नकारात्मक हिस्सा: किस-किस चीज
से स्वतंत्र हो जाना है। और फिर किसमें स्वतंत्र हो जाना है--बोध में। बंधनों से स्वतंत्र हो जाना है, यह तो स्वतंत्रता का नकारात्मक हिस्सा है। फिर बोध में, जागृति में, साक्षीभाव में स्वतंत्र हो जाना, यह स्वतंत्रता का विधायक हिस्सा है।
नकारात्मक स्वतंत्रता ही अगर हो तो तुम स्वच्छंद हो जाओगे, उच्छृंखल
के अर्थ में। जब तक विधायक स्वतंत्रता न हो तब तक तुम स्वच्छंद न हो पाओगे, अष्टावक्र के अर्थ में। तो स्वतंत्रता के दो पहलू खयाल रखना--जिससे स्वतंत्र होना है और जिसके लिए स्वतंत्र होना है। दोनों बातें अगर मिल जायें तो तुम्हारे भीतर का स्वयं का छंद प्रगट होगा। स्वच्छंदता प्रगट होगी। तुम्हारे भीतर छिपा गीत फूटेगा। तुम्हारा झरना बहेगा। तुम्हारा कमल खिलेगा।
स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्यात् लभते परम्।
और इसी स्वतंत्रता में परम ज्ञान का जन्म होता है। उस परम का, अल्टिमेट का, आखिरी का, जिसके पार फिर कुछ जानने को नहीं रह जाता, उसका बोध होता है। वह ज्ञान कोई बाहर नहीं है, वह तुम्हारा आत्म-साक्षात्कार है। जहां कोई बंधन न रहे, जहां सब बंधन विसर्जित हुए और जहां तुम्हारे भीतर की ज्योति मुक्त हुई और तुम्हारी ज्योति प्रकट हुई, वहां तुम्हारे भीतर परम ज्ञान की घटना घटी। परम कैवल्य कहो, परम सत्य कहो, आत्मा कहो, परात्पर ब्रह्म कहो, जो नाम देना हो। लेकिन परम है उसका नाम। परम का अर्थ है, इसके पार अब कुछ भी नहीं। चरम आ गया। आखिरी आ गया। इसके पार न पाने को कुछ है, न जानने को कुछ है। और जब तक यह परम न जान लिया जाये तब तक जीवन की दौड़ नहीं मिटती।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत्...।
और स्वतंत्रता में ही व्यक्ति निर्वाण में प्रवेश करता। स्वतंत्रता में ही स्वयं से मुक्ति हो जाती। स्वतंत्रता में ही अहंकार जलता और बुझ जाता। मोमबत्ती बुझ जाती, सूरज प्रगट हो जाता।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम्।
और स्वतंत्रता में ही व्यक्ति परमपद पर विराजमान हो जाता, परमात्मा
हो जाता।
इसी घड़ी में अलहिल्लाज मंसूर ने घोषणा की थी: अनलहक। मैं सत्य हूं।
इसी घड़ी में जीसस ने कहा: मैं और मेरा परमात्मा एक है। इसी घड़ी में उपनिषदों ने कहा, "अहं ब्रह्मस्मि।" इसी घड़ी की ओर इशारा किया है उद्दालक ने, जब अपने बेटे श्वेतकेतु को कहा, "तत्वमसि। वह तू ही है। तू ही वह है।"

यह परमपद है, जहां व्यक्ति अपने भीतर छिपे परमात्मा को प्रकाशमान हो जाने देता। जहां अपने भीतर जो छिपी संपदा थी जन्मों-जन्मों की, अनंत काल की, वह खजाना खुलता है। जहां भीतर का कोहिनूर प्रकट होता है। वहां तुम मनुष्य नहीं रह जाते, वहां तुम विभु हो जाते, प्रभु हो जाते।
इस स्वतंत्रता के अर्थ को ठीक से गृहीत कर लेना, क्योंकि लोग केवल स्वतंत्रता का अर्थ नकारात्मक मानते हैं। वे कहते हैं, मत मानो कुछ, स्वतंत्रता हो गई। इतने से नहीं होती। इतने से उच्छृंखलता होती। मत मानो कुछ, यह स्वतंत्रता का अनिवार्य चरण है, इतना काफी नहीं है। इतना जरूरी तो है, लेकिन इससे आगे जाओ। आगे का अर्थ है, भीतर प्रकाश को उपलब्ध होओ। दूसरों ने जो प्रकाश दिये हैं उनको तो छोड़ दो; क्योंकि उनके कारण स्वयं के प्रकाश को पाने में बाधा पड़ रही है, लेकिन सिर्फ उनको बुझाकर मत बैठ जाना। नहीं तो कुछ थोड़ी-बहुत रोशनी थी, वह भी गई। अपनी तो जागी न, बाहर से जो मिलती थी वह भी गई।
खुद का बोध जब तक पैदा न हो जाये तब तक तुम बाहर से जो बोध मिल रहा है, मजबूरी में उसको मानकर चलना ही पड़ेगा; अन्यथा तुम और बुरी तरह भटक जाओगे। ये दोनों बातें साथ-साथ घटती हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।
बाहर की मानो मत, भीतर की जानो। जिस दिन भीतर की जानने लगोगे, उस दिन बाहर की मानने की जरूरत ही न रह गई। और ऐसा नहीं है कि उस घड़ी में तुम अपराधी हो जाओगे। ऐसा भी नहीं है कि उस घड़ी में तुम समाज-विपरीत हो जाओगे। ऐसा भी नहीं कि उस घड़ी में तुम सारी मर्यादायें तोड़ दोगे। लेकिन अब मर्यादायें नये ढंग से पूरी होंगी। अब तुम्हारे अपने अनुभव से पूरी होंगी।
तुम अब भी वही अपने को करते हुए पाओगे जो वस्तुतः शुभ है। लेकिन अब समाज की धारणाओं के अनुसार नहीं, अब परमात्मा को अपने में बहने दोगे। कभी- कभी ऐसा होता है कि जो इस घड़ी में अशुभ मालूम होता है वह आगे की घड़ी में शुभ हो जाता है। अब तुम परमात्मा को अपने से बहने दोगे। तुम कहोगे, जो तेरी मर्जी। तू अंत को जानता, तू प्रथम को जानता। हमें न प्रथम का पता, न अंत का पता। हमें तो कहानी की बीच की थोड़ी-सी झलक है। इस थोड़ी-सी झलक के आधार पर हम पूरा निर्णय नहीं कर सकते। तू पूरा निर्णय जानता है। तू जानता है कहां से आना हो रहा है चैतन्य का, कहां जाना हो रहा है। तुझे पूरे का पता है। उस पूरे के संदर्भ में तू जो करवाये, शुभ है; फिर चाहे इस क्षण में अशुभ ही क्यों न मालूम पड़ता हो।
ऐसी प्रतीति जब गहन हो जाती और व्यक्ति समर्पित हो जाता समष्टि को, तब जीवन में परम क्रांति का क्षण आता। इस आमूल क्रांति को ही धर्म कहते हैं।
धर्म शास्त्रों में नहीं है, स्वयं के संगीत के साथ बहने में है। धर्म का अर्थ ही स्वभाव है।
और इस स्वभाव को पाने की व्यवस्था स्वतंत्रता है।
अपने को बांधो मत, खोलो। पिंजरों के सींखचों से अपने को जकड़ो मत। उड़ो।
खुला आकाश तुम्हारा है। तुम आकाश हो। इससे कम पर राजी मत हो जाना। जब तक पूरे आकाश पर तुम्हारे पंख न फैल जायें तब तक बढ़ते ही जाना है, तब तक चलते ही जाना है।
बुद्ध ने कहा है अपने भिक्षुओं को: "चरैवेति, चरैवेति।"
चलते जाओ, चलते जाओ, जब तक परमपद न आ जाये। जब तक आखिरी मंजिल न आ जाये
तब तक कोई पड़ाव नहीं। रुक लेना, रात भर विश्राम कर लेना, लेकिन ध्यान रखना, सुबह चल पड़ना। और किसी पड़ाव से इतना मोह मत बना लेना कि उसी को मंजिल मानने लगो। ऐसे हर पड़ाव से स्वतंत्र होते, हर नियम से मुक्त होते, एक दिन परम मुक्ति फलित होती है। स्वतंत्रता प्रथम चीज है और स्वतंत्रता अंतिम।
स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्यात् लभते परम्।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम्।।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच सत्तरवां प्रवचन

दिल का देवालय साफ करो

पहला प्रश्न: आप अकर्ता होने को कहते हैं। लेकिन कोई भी निर्णय या चुनाव करते समय कर्ता फिर-फिर खड़ा हो जाता है। अकर्ता कैसे होवें? कैसे बनें उसकी बांसुरी? कैसे हटायें "मैं-भाव" को? कैसे पहचानें कि यह निर्णय उसका ही है?

पहली बात, तुम अकर्ता न बन सकोगे। तुम्हारे कुछ किये अकर्ता न सधेगा। तुम जो भी करोगे, कर्ता ही निर्मित होगा उससे। करोगे तो कर्ता निर्मित होगा। तुम मिटने की भी कोशिश करोगे, तो भी कर्ता ही निर्मित होगा। विनम्रता भी अहंकार का ही आभूषण बन जाती है। मैं नहीं हूं, ऐसी घोषणा भी मैं से ही उठ आयेगी। ऐसे तो तुम धोखे में पड़ोगे। ऐसे तो बड़ा जाल उलझ जायेगा। सुलझा न सकोगे।
अकर्ता कोई बन नहीं सकता। अकर्ता बनने की बात नहीं है। क्योंकि जो भी बनेगा, वह तो कर्ता ही रहेगा। कृत्य मात्र कर्ता को ही निर्माण करता है। अब तुम जो भी प्रश्न पूछ रहे हो, वह मौलिक रूप से गलत है। प्रश्न की दिशा ही गलत है। मैं क्या करूं? मैं कैसे अकर्ता होऊं? कैसे बनूं उसकी बांसुरी? कैसे हटाऊं "मैं-भाव" को? कैसे पहचानूं कि यह निर्णय उसका है? इस सब के पीछे तुम मौजूद हो। यह कौन है जो उसकी बांसुरी बनना चाहता है? यह कौन है जो कहता है, कैसे "मैं-भाव" को छोडूं? यही तो कर्ता है।
फिर क्या करें? करने को तो कुछ बचता नहीं। फिर क्या करें? बस कर्ता कैसे निर्मित होता है इस बात को समझ लेने से, धीरे-धीरे कर्ता अपने-आप तिरोहित हो जाता है। कुछ करना नहीं पड़ता। तुम पूछते हो, कैसे बनें उसकी बांसुरी? बांसुरी तुम हो। यह बनने का प्रश्न ही नहीं। यह तुमने मान रखा है कि तुम बांसुरी नहीं हो। बांसुरी तो तुम अभी भी हो। इस क्षण भी वही सुन रहा है तुम्हारे भीतर, वही बोल रहा है। एक क्षण को भी इससे अन्यथा होने का उपाय नहीं है। जब तुमने पाप भी किया है तो उसी ने किया है। और जब तुमने पुण्य भी किया है तो उसी ने किया है। जब तुम चोर थे तब भी वही था। और जब तुम साधु बने तब भी वही था। एक क्षण को भी अन्यथा होने का उपाय नहीं है। तुम उससे भिन्न हो कैसे सकोगे?
तुम पूछते हो, हम उसकी बांसुरी कैसे बनें? इसमें भ्रांति भीतर पड़ी ही है। भ्रांति यह पड़ी है कि हम उससे अलग हैं, अब हमें उसकी बांसुरी बनना है। बांसुरी तुम हो, इतना ही जानना है। तुम पूछते हो कैसे पहचानें कि यह निर्णय उसका है? सब निर्णय उसके हैं। पहचान की बात ही नासमझी की है। ऐसा कोई निर्णय ही नहीं है जो उसका न हो। ऐसा हो ही कैसे सकता है कि उसका निर्णय न हो और हो जाये! जो भी हुआ है, जो भी हो रहा है, जो भी होगा, उसी से है। तुम नाहक बीच में आ जाते हो। लहरों को देखो सागर में। अलग-अलग मालूम पड़ती हैं। अगर लहरों को भी थोड़ी बुद्धि आ जाये तुम्हारे जैसी, तो प्रत्येक लहर पूछने लगेगी कि मैं सागर के साथ एक कैसे हो जाऊं? लहर सागर के साथ एक है। लहर सागर से अलग कैसे हो सकती है, पहले यह तो पूछो! लहर सागर से अलग होकर जी कैसे सकेगी? कभी तुमने लहर को सागर से अलग करके देखा? बचेगी कैसे? लहर को भी बुद्धि आ जाये और लहर भी सत्संग करने लगे और साधु-संतों के पास बैठने लगे, तो पूछेगी कि बात तो समझ में आ गई, अब इतना और बता दें कि सागर से एक कैसे हो जाऊं? तो क्या कहेंगे लहर को हम कि पागल, तू एक है ही! तेरी यह भ्रांति है कि तू अलग है। अलग तू कभी हुई नहीं। और जब कभी तू गंदी थी तो सागर ही गंदा था। और जब कभी तुझमें मिट्टी उठी थी, सागर से ही उठी थी। और जब कभी तुझमें सूखे पत्ते तैरे थे, तो सागर में ही तैरे थे। जब कभी तू बड़ी होकर उठी थी कि बड़े जहाजों को डुबो दे, तब भी सागर ही उठा था। और जब तू छोटी-सी होकर उठी थी, तब भी सागर ही उठा था। छोटी हो कि बड़ी, गंदी हो कि उजली, सुंदर हो कि कुरूप, हर हाल, हर स्थिति में सागर ही तेरे भीतर बोला था, सागर ही तेरे भीतर प्रकट हुआ था; अन्यथा कोई उपाय नहीं है।

इस विराट चैतन्य के सागर में हम लहरें हैं। हमारा अलग होना नहीं है। इसलिए तुम यह तो पूछो ही मत कि कैसे हम एक हो जायें, क्योंकि तुम अलग कभी हुए नहीं। और यह तुम पूछो ही मत कि कौन-से निर्णय हमारे हैं और कौन-से उसके हैं। सभी निर्णय उसके हैं। इस अनुभव, इस प्रतीति, इस साक्षात्कार का नाम ही समर्पण है। बांसुरी बननी नहीं पड़ती, बांसुरी तुम हो। इतनी याद भर करनी है।
स्वामी अरविंद योगी ने कबीर का एक प्यारा पद भेजा है। इस प्रश्न के उत्तर में उसे याद रखना--
धोबिया जल बिच मरत पियासा
जल में ठाढ़ पीवे नहीं मूरख जल है अच्छा-खासा
अपने घर का मर्म न जाने करे धुबियन की आसा
छिन में धोबिया रोवे-धोवे छिन में रहत उदासा
आप पैर करम की रस्सी आपन धरहि फांसा
सच्चा साबुन ले नहीं मूरख है संतों के पासा
दाग पुराना छूटत नहीं धोवे बारह मासा
एक रत्ती को जोर लगावत छोड़ दियो भरि मासा
कहत कबीर सुनो भई साधो धोबिया जल बिच मरत पियासा
तुम पूछ रहे हो, प्यास कैसे बुझायें? "धोबिया जल बिच प्यासा।" और तुम जहां खड़े हो, चारों तरफ जलऱ्ही-जल है। "जल है अच्छा-खासा, धोबिया जल बिच प्यासा।"
प्रश्न गलत हो, तो सही उत्तर की कोई संभावना नहीं। तुम्हारा यह प्रश्न गलत है। और जो तुम्हें मार्ग दिलानेवाले, दिखानेवाले मिल जायेंगे, जरा सावधान रहना! क्योंकि ऐसे लोग हैं जो तुम्हें बताएंगे कि हां, यह रही तरकीब। इस भांति तुम प्रभु की बांसुरी बन सकते हो। ऐसे लोग हैं जो तैयार बैठे हैं कि तुम आओ, पूछो, और वे बता देंगे कि ये रहे विधि, उपाय, मार्ग; इस भांति प्रभु से मिलन हो सकता है। लेकिन मैं तुम्हारे किसी गलत प्रश्न का उत्तर देने में उत्सुक नहीं हूं। तुम्हारा प्रश्न गलत है, यह जरूर मैं तुमसे कहना चाहता हूं। और गलत प्रश्न को लेकर चलना मत, अन्यथा पूरी यात्रा गलत हो जायेगी।
इधर हम कुछ और ही बात कह रहे हैं। इतनी-सी बात कह रहे हैं कि परमात्मा
ही है और तुम नहीं हो। अब तुम पूछते हो कि हम नहीं कैसे हो जायें? मैं कह रहा हूं कि तुम हो ही नहीं, तुम कभी थे ही नहीं; तुमने कुछ सपना देख लिया है, तुम किसी भ्रम में पड़ गये हो।
झेन फकीर बोकोजू एक रात सोया, उसने सपना देखा नहीं देखा, पता नहीं, कहानी यह है कि सुबह उठकर उसने अपने एक शिष्य से कहा कि सुनो जी, रात मैंने एक सपना देखा है, व्याख्या करोगे? शिष्य ने कहा रुकें, मैं जल ले आऊं, आप जरा हाथ-मुंह धो लें। वह एक बालटी भरकर पानी ले आया, गुरु का हाथ-मुंह धुलवा दिया खूब रगड़-रगड़ कर। गुरु ने कहा, मैं पूछता हूं सपने की व्याख्या, तू यह क्या कर रहा है? उसने कहा, यह सपने की व्याख्या है। सपना था ही नहीं, उसकी क्या खाक व्याख्या करनी है! जो नहीं था, नहीं था। नहीं की कहीं कोई व्याख्या होती है! गुरु बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा, खुश हूं। अगर आज तूने व्याख्या की होती, तो कान पकड़कर तुझे बाहर निकाल दिया होता।
तभी एक दूसरा शिष्य गुजर रहा था, उससे कहा कि सुनो जी, रात एक सपना देखा है, उसकी व्याख्या करोगे? उसने हाल-चाल देखे--पानी रखा है, धोया गया है; उसने कहा, रुकें, मैं जरा एक कप चाय ले आता हूं, आप चाय पी लें। वह एक कप चाय ले आया। गुरु चाय पीने लगा, उसने कहा, यह क्या व्याख्या हुई! शिष्य ने कहा, अब हाथ-मुंह धो लिया, अब चाय पी लें, जागें, सुबह हो गई, सपना समाप्त हुआ। रात की बातें सुबह कोई पूछता! पूछने में सार क्या है! आप भी जानते हैं, नहीं था; सपना खुद ही कह रहे हैं। सत्य की व्याख्या हो सकती है, सपने की क्या कोई व्याख्या होती है!
तुमने एक सपना देखा है कि तुम अलग हो, अब तुम पूछते हो, उससे एक कैसे हो जायें? मैं कहूंगा, जागो, जरा हाथ-मुंह धोओ, चाय पी लो। तुम अलग कभी हुए नहीं, एक भ्रम पोसा है। और जब मैं तुमसे यह कहता हूं कि सभी निर्णय उसके

हैं, तो समझना, यही क्रांति मैं तुम्हारे जीवन में प्रविष्ट कराना चाहता हूं। तुम्हारे पास साधु-संत हैं जो तुमसे कहते हैं, अच्छी-अच्छी बातें उसकी हैं, बुरी-बुरी तुम्हारी हैं। यह भी क्या कंजूसी! जब दिया तो पूरा ही दे दो। और तुम थोड़ा सोचो, जब बुरी-बुरी तुम्हारी हैं, तो अच्छी-अच्छी तुम कैसे दे पाओगे? साधु-संत कहते हैं, बुरी-बुरी तुम्हारी, अच्छी-अच्छी उसकी। तुम मनऱ्ही-मन में उल्टा सोचते हो। तुम सोचते हो, अच्छी-अच्छी अपनी, बुरी- बुरी उसकी। यह जो तुम्हारे भीतर चलता है हिसाब-किताब, यह हिसाब-किताब तोड़ो, एकतरफा तोड़ो, एक दफा तोड़ो। और एक ही चोट में तोड़ो। यह भी क्या हिसाब! और जब तुम सोचते हो कि बुरी मेरी, तो भली उसकी कैसे हो सकती है? तुम सोचते हो चोरी तुम्हारी और दान उसका! असंभव! यह तो गणित की बात न रही फिर। जब चोरी तुम्हारी, तो दान भी तुम्हारा, यही तुम समझोगे। और तुम्हारा अहंकार तुम्हें यह समझायेगा कि चोरी तो मजबूरी में कर ली, भाग्य ने करा दी, परिस्थिति ने करा दी, दान मैंने किया है। तो चोरी तो तुम किसी पीछे के रास्ते से उसी पर छोड़ दोगे--परिस्थिति, भाग्य; पत्नी बीमार थी, दवा न थी घर में, इसलिए चोरी करनी पड़ी। चाहे सीधे तुम कहो न कि तूने करवा दी, तुम कहोगे परिस्थिति! पत्नी को बीमार किसने किया? भूखे मरते थे, किसने मारा? ऐसी अड़चन में, ऐसी कठिनाई में अगर चोरी कर ली--भूखे भजन न होहिं गोपाला--हे गोपाल, जब भूखे भजन न होते थे तो कर ली, तेरे भजन के लिए भी जरूरी थी।
तो तुम किसी-न-किसी पीछे के दरवाजे से उसी पर छोड़ दोगे चोरी। और जब दान करोगे-- चोरी करोगे लाख की, दान करोगे दो-चार-दस रुपये का--जब दान करोगे तो छाती फुला लोगे। देखा न, मुर्गे कैसे छाती फुलाकर चलते हैं। ऐसे दानी चलने लगते हैं। दानवीर! यह उन्होंने किया है। तब तुम न कहोगे, तूने किया है। क्योंकि अहंकार यह तो कह ही नहीं सकता। जो शुभ-शुभ है उसको बचा लेता है, उससे अपना शृंगार बना लेता है। फूलों को तो सजा लेता है, कांटों को उस पर छोड़ देता है। लेकिन यह स्वाभाविक है। भूल तुम्हारी नहीं, तुम्हारे साधु- संतों की है जो तुमसे कहते हैं कि आधा तुम्हारा, आधा उसका। या तो सब उसका, या सब तुम्हारा।
दो तरह के ज्ञानी हुए हैं संसार में। एक कहते हैं, सब तुम्हारा। वे भी
सच कहते हैं। और एक कहते हैं, सब उसका। वे भी सच कहते हैं। बाकी बीच में जो कहते हैं--कुछ तुम्हारा, कुछ उसका, ये अज्ञानी हैं। इन्हें कुछ भी पता नहीं है।
महावीर कहते हैं, सब तुम्हारा। यह भी सच है बात। अष्टावक्र कहते हैं,
सब उसका। यह भी सच है बात। एक बात तो दोनों में सच है कि पूरा-पूरा रहता है, काट-काट कर हिसाब नहीं होता। कोई श्रम-विभाजन नहीं है कि तुम कुछ करो, कुछ मैं करूंगा।
महावीर कहते हैं, पूरा मनुष्य का। तो उसमें बुरा भी आ जाता है, अच्छा
भी आ जाता है। अच्छे और बुरे एक-दूसरे को काट देते हैं। जैसे ऋण और धन एक-दूसरे को काट देते हैं। तुम शून्य रह जाते हो। वही शून्य होना ध्यान है। शून्य हो गये, नहीं हो गये, बांसुरी बन गये। महावीर की भाषा नहीं है बांसुरी बन जाना, क्योंकि महावीर की भाषा में परमात्मा शब्द का उपयोग नहीं है। शून्य हो गये, ध्यानी हो गये, कैवल्य को उपलब्ध हो गये। लेकिन बात वही है। अष्टावक्र की भाषा में तुमने दोनों परमात्मा पर छोड़ दिये, तुम शून्य हो गये। महावीर की तरकीब में तुम कहते हो, धन भी मेरा, ऋण भी मेरा। दोनों एक-दूसरे को काट देते हैं। तुम खाली रह जाते हो।
बुराई और भलाई को अगर तुम गौर से देखोगे तो तुम बड़े चकित हो जाओगे, बुराई और भलाई का अनुपात बिलकुल बराबर होता है। तुल जाते हैं तराजू पर। एक-दूसरे से कट जाते हैं। तुम उतनी ही बुराई करते हो जितनी भलाई करते हो।
इधर तुम्हारी भलाई बढ़ेगी, उधर तुम्हारी बुराई भी बढ़ेगी। ऐसे, जैसे वृक्ष ऊपर उठता है, वैसे जड़ें नीचे जाती हैं। जितना वृक्ष ऊपर जायेगा उतनी जड़ें नीचे जायेंगी। ऐसा नहीं हो सकता कि वृक्ष तो सौ फीट ऊपर उठ जाये और जड़ें दो-चार फीट नीचे जायें। गिर जायेगा। वृक्ष बच नहीं सकता।

नीत्शे का बहुत प्रसिद्ध वचन है और बहुत बहुमूल्य कि जिसे स्वर्ग जाना हो, उसे नर्क में पैर अड़ाने पड़ते हैं। ठीक कहता है नीत्शे, स्वर्ग जाना हो तो नरक में जड़ें फैलानी पड़ती हैं।
तुम जितना अच्छा करोगे उतना ही बुरा होगा। अनुपात बराबर रहेगा। तुम देखते नहीं बुराई को, तुम बुराई से आंख चुराते हो, इसलिए तो तुम्हें लगता है भलाई खूब की। लेकिन कुछ इस जगत में संतुलन टूटता ही नहीं। संतुलन बराबर बना है। संतुलन इस जगत का परम नियम है। सब चीजें एक गहरे "बैलेंस", संतुलन में चल रही हैं।
तो महावीर कहते हैं, तुम बुरे और भले दोनों को स्वीकार कर लो, तुम्हारे हैं, क्योंकि और कोई परमात्मा नहीं है। कोई उपाय नहीं है किसी पर छोड़ने का, बस तुम्हीं हो। बुरे और भले संतुलित हो जाते हैं। अच्छा-बुरा मिलकर एक-दूसरे को काट देते हैं। उनके कट जाने पर जो हाथ-लायी हाथ आती है, शून्य। कुछ बचता नहीं। उस शून्य में कैवल्य है, निर्वाण है।
अष्टावक्र कहते हैं, दोनों उस पर छोड़ दो। यह ज्यादा सुगम तरकीब है। महावीर की तरकीब से ज्यादा कारगर। महावीर की तरकीब जरा चक्करवाली है, लंबी है, अनावश्यक रूप से कठिन है। लेकिन किन्हीं को कठिन में चलने में रस आता है, वे चलें। अष्टावक्र की बात बड़ी सीधी-साफ है। अष्टावक्र कहते हैं दोनों उस पर छोड़ दो, कह दो सब निर्णय तेरे हैं। मैं भी तेरा हूं, तो मेरे निर्णय भी तेरे ही होंगे। जब मैं ही अपना नहीं हूं तो मेरे निर्णय मेरे कैसे हो सकते हैं! तूने दिया जन्म, तू देगा मौत, तो जीवन भी तेरा है; दोनों के बीच जो घटेगा, वह मेरा कैसे हो जायेगा!
तुमने जन्म तो अपने हाथ से लिया नहीं, तुम एकदम छलांग लगाकर तो नहीं जनम गये हो। तुमने अचानक पाया कि जन्म हो गया। एक दिन अचानक पाओगे कि मौत हो गई। दोनों के बीच में जीवन है। न शुरू का छोर तुम्हारे हाथ में है, न अंत का छोर तुम्हारे हाथ में है, तो मध्य भी तुम्हारे हाथ में हो नहीं सकता। अष्टावक्र कहते हैं, सभी उसके हाथ में है। ऐसा जानकर तुम शून्य हो गये। यह शून्य समर्पण हो गया। परम दशा घट गई। तब मिटता है कर्ता।
कर्ता तो मान्यता है। दो अवस्थाओं में मिटता है--या तो महावीर के ढंग से, या अष्टावक्र के ढंग से। लेकिन मिटाये नहीं मिटता। मिटाने का कोई उपाय ही नहीं है। जब बोध होता है इस भीतर की आत्यंतिक दशा का, तो तुम वहां कर्ता को नहीं पाते हो।
तो मुझसे मत पूछो कि कैसे पहचानें कि यह निर्णय उसका है? इसमें तो धोखा-धड़ी हो जायेगी। पहचाननेवाले तो तुम्हीं रहोगे न! तो पहचाननेवाले की आड़ में छिप जायेगा कर्ता। अब वह वहां से काम शुरू करेगा। अब वह कहेगा, यह मेरा, यह उसका। लेकिन यह मेरा तो बच गया फिर! नया नाम हो गया, नये वेश, नये रूप-रंग, मगर बच गया फिर। इसे बचाओ ही मत। यह भ्रांति है तुम्हारी।

दूसरा प्रश्न: अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो शब्द क्यों? उपदेश क्यों? समर्पण है तो विरोध की व्याख्या क्यों? जीवन की खोज को अधूरा छोड़कर संन्यास में प्रवेश क्या पलायन नहीं? क्या कायरता नहीं?

पहली बात, "अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो शब्द क्यों?"
तुमसे कहा किसने कि शब्द अस्तित्व नहीं है? जितना शून्य अस्तित्व है, उतना ही शब्द भी अस्तित्व है। चुप रहने में जितना यथार्थ है, उतना ही बोलने में भी यथार्थ है। बीज में जितना सत्य छिपा है, उतना ही फूल के प्रकट हो जाने में भी छिपा है।
झेन कवि बासो ने कहा है, फूल बोलते नहीं। मुझे कभी झंझट नहीं होती किसी को गलत कहने में, लेकिन बासो को गलत कहने में मुझे भी पीड़ा होती है। बासो से मेरा लगाव है। लेकिन फिर भी मैं कहना चाहता हूं कि फूल भी बोलते हैं। बासो कहता है, फूल बोलते नहीं; मैं तुमसे कहना चाहता हूं, फूल भी बोलते हैं। बासो फूलों की भाषा नहीं समझता रहा होगा। पूछो मधुमाखी से, फूल बोलते हैं या नहीं? मीलों दूर तक खबर पहुंच जाती है। सुगंध, सुवास, मिठास हवा में तैर जाती है। तार खिंच जाते हैं। निमंत्रणों के जाल फैल जाते हैं।

मीलों दूर के मधुछत्ते पर खबर पहुंच जाती है, फूल खिल गया है। भाग मच जाती है, दौड़ मच जाती है, मधुमक्खियां चलीं कतारबद्ध! तितलियों से पूछो, फूल बोलते हैं या नहीं? सूरज की किरणों से पूछो, फूल बोलते हैं या नहीं? अपने नासापुटों से पूछो, फूल बोलते हैं या नहीं? अपनी आंखों से पूछो, फूल के रंग, गंध से पूछो।
फूल भी बोलते हैं। उनकी भाषा मनुष्य की भाषा नहीं। हो भी क्यों? फूल
की भाषा फूल की भाषा है। अगर फूल सोचते होंगे, तो वे सोचते, मनुष्य बोलते ही नहीं। क्योंकि उनकी भाषा में तो नहीं बोलते। फूल भी बोलते हैं। यह अस्तित्व बहुत मुखर है। सब कुछ बोल रहा है।
तुम पूछते हो, "अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो शब्द क्यों?"
अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो शब्द से बचने का उपाय कहां? शून्य भी अपना, शब्द भी अपना। मौन भी अपना, मुखरता भी अपनी। अस्तित्व तो सारे विरोधों का सम्मिलन है। लेकिन आदमी हमेशा चुनाव में लगा रहता है। या तो शब्द, तो कभी शून्य को न चुनेगा। अब शून्य को चुन लिया, तो अब शब्द से घबड़ायेगा। कुछ हैं जो बोले ही चले जाते हैं और कुछ हैं जिन ने कसम खा ली है कि नहीं बोलेंगे। ये दोनों ही गलत हैं। दोनों ने ही हठ किया। दोनों ने आग्रह कर लिया है।
मेरा कोई आग्रह नहीं है। जब जैसी प्रभु की मर्जी! जब बोलना चाहे, बोले। जब चुप रहना चाहे, चुप रहे। तुम्हारा आग्रह, तो तुम ही मौजूद रह जाओगे।
अब तुम पूछते हो, "उपदेश क्यों?"
उपदेश क्यों नहीं? समझना। तुम सोचते हो, उपदेश दिया जाता है, तो तुम गलती में हो। जो देते हैं, वे वस्तुतः उपदेष्टा नहीं। उपदेश होता है। जैन शास्त्रों में बड़ा ठीक वचन है। महावीर बोले, ऐसा जैन शास्त्र नहीं कहते। जैन शास्त्र कहते हैं: महावीर से वाणी झरी। यह बात ठीक है। यह बात पकड़ आती है। बोले, ऐसा नहीं; क्योंकि बोले में ऐसा लगता है जैसे कुछ किया। तो जैन शास्त्र ठीक अभिव्यक्ति देते हैं: महावीर से वाणी झरी। जैसे सूरज से रोशनी झरती है, जैसे फूल से गंध झरती है, ऐसी महावीर से वाणी झरी।
अब फूल कैसे रोके गंध को? और सूरज कैसे रोके प्रकाश को? जब भीतर का दीया जल गया, तो रोशनी झरेगी। कभी शून्य से झरेगी, कभी शब्द से झरेगी, लेकिन रोशनी झरेगी। कभी शब्द से बोलेगी, कभी शून्य से बोलेगी, लेकिन बोलेगी। बोलकर रहेगी।
तुम पूछते हो, "उपदेश क्यों?"
तुम्हें अभी उपदेष्टा मिला नहीं। तुमने उपदेशक देखे होंगे, तुमने व्याख्यान करनेवाले देखे होंगे, तुमने उपदेष्टा नहीं जाना। तुम्हें उपदेश की गहराई का कुछ पता नहीं है।
फर्क क्या है उपदेश में और व्याख्यान में?
यही फर्क है। महावीर ने कहा है, मैं उपदेश देता हूं, आदेश नहीं। दो फर्क समझ लो। व्याख्यान और उपदेश में फर्क है। एक, व्याख्यान में तुम चेष्टारत हो, तुम आग्रहपूर्वक कुछ थोपने के उपाय कर रहे हो किसी के ऊपर। व्याख्यान में चेष्टा है, श्रम है, थकान है। दूसरा राजी हो जाये तो प्रसन्नता है। दूसरा राजी न हो तो अप्रसन्नता है। व्याख्यान में सफलता है, असफलता है; सुख-दुख है। उपदेश में न कोई सफलता है, न कोई विफलता है। जो बात भीतर उमगी थी, वह कही गई। जो बात भीतर उठी थी, वह झरी। जो झरना भीतर फूटा, बहा। किसी ने पी लिया ठीक; किसी ने न पीया, उसकी मर्जी। वह जाने! उसका भाग्य!
उपदेश बड़ी नैसर्गिक प्रक्रिया है। इसलिए महावीर एक और भेद करते हैं,
वे कहते हैं, मैं उपदेश देता हूं, आदेश नहीं। आदेश का मतलब होता है, जो मैं कहता हूं, ऐसा करो। उपदेश का यह अर्थ नहीं होता है कि जो मैं कहता हूं, ऐसा करो। उपदेश का अर्थ होता है, जो मुझे हुआ है, वह बांट रहा हूं। जंच जाये, कर लेना; न जंचे, फेंक देना। काम आ जाये ठीक; काम न आये, भूल जाना। आदेश नहीं है कि करना ही। ऐसी आज्ञा नहीं है उपदेश में कि करना ही। पक्षी गीत गाते हैं; तुम्हें सुनना हो सुन लिया। फूल खिले, तुम्हें देखना है देख लिया। रात

चांद उगा, आदेश नहीं है कि देखो, सारी दुनिया देखो, खड़े हो जाओ सावधान और मेरी तरफ देखो--नहीं, चांद खिला, चांद चला, चांद अठखेलियां करने लगा, आकाश में उसका विलास चला! कोई देख ले, धन्यभागी; न देखे, उसकी मौज। कोई भी न देखे पृथ्वी पर, तो भी चांद को इससे फर्क नहीं पड़ता। उपदेश निर्झर है।
तुम पूछते हो, "उपदेश क्यों?"
तुम्हें उपदेश का पता ही नहीं कि उपदेश का अर्थ क्या होता है। शब्द को
भी समझने की कोशिश करो, क्योंकि संस्कृत, प्राकृत, पाली, इनके जो शब्द हैं, वे साधारण शब्द नहीं हैं। ये भाषाएं ज्ञानियों की निर्झरनी से इस तरह भरी हैं कि इनके एक-एक शब्द में बड़ा अर्थ है। उपदेश का अर्थ क्या होता है-- शाब्दिक अर्थ? देश का अर्थ होता है, "स्पेस"। देश का अर्थ होता है, विस्तार, आयाम। उपदेश का अर्थ होता है, उस विस्तार के निकट होना। जो उपनिषद का अर्थ होता है...। उपनिषद का अर्थ होता है, जिसको घट गया है, उसके पास बैठ जाना। गुरु के पास होना--उपनिषद। उपवास का अर्थ होता है, वह जो भीतर बसा है, उसके पास हो जाना। वह जो तुम्हारे भीतर आत्मा है, उसके निकट आ जाने का नाम उपवास।
अनशन को उपवास मत समझना। भूखे मरने का नाम उपवास नहीं है। हां कभी-कभी ऐसा होता--आत्मा में इतना रस झरता है, तुम इतने भीतर ऐसे भरे-पूरे होते हो कि भोजन की याद नहीं आती; भोजन चूक जाता है। वह बात अलग है। उपवास हुआ। अनशन उपवास नहीं है, क्योंकि तुमने भोजन चेष्टा से न किया। तो भोजन की याद आती रही। यह कोई उपवास हुआ! इससे तो तुम भोजन कर लेते वही ज्यादा उपवास था। कम-से-कम दिन में दो बार कर लिया, निपट गये। अब दिन में हजार बार करना पड़ रहा है। याद आ रही है, फिर याद आ रही है, फिर याद आ रही है। उपवास का अर्थ है, शरीर भूल जाये, आत्मा के निकट हो गये। उपनिषद का अर्थ है, स्वयं को भूल जाओ, गुरु के निकट हो गये।
उपदेश का क्या अर्थ है? जिसके भीतर वह परम आकाश घटा है--कोई महावीर, कोई बुद्ध, कोई कृष्ण, कोई मुहम्मद, कोई अष्टावक्र, कोई क्राइस्ट--जिसके भीतर महाआकाश प्रगट हुआ है, उसके पास हो गये। उसके उस महाआकाश से झर रही हैं कुछ किरणें, उनको झरने दिया। उनको पीया, उनको आत्मसात किया। जैसे प्यासा जल पीता है, ऐसे पीया।
उपदेश सभी के लिए नहीं है। उन्हीं के लिए है, जो दीक्षित हैं। इधर मुझसे लोग पूछते हैं कि यहां इतनी बाधा क्यों डालते हैं लोगों के आने पर? यहां कोई व्याख्यान नहीं हो रहा है। यहां भीड़ की आकांक्षा नहीं है। यहां उन्हीं के लिए आने का उपाय है, जो सच में ही उस महाआकाश के निकट होना चाहते हैं जो मेरे भीतर घटा है। जो यहां मेरे आकाश के हिस्से बनना चाहते हैं, बस उनके लिए। यहां बाजार नहीं भर लेना है। यहां कुतूहल से भरे लोगों को नहीं इकट्ठा कर लेना है। जो ऐसे ही चले आये कि चलो देखें क्या है? जैसे सिनेमा देखने चले जाते हैं, वैसे यहां आ गये। उनके लिए नहीं है जगह यहां। उन पर हजार तरह का नियंत्रण है। यहां तो सिर्फ प्यासों के लिए...।
उपदेश का अर्थ होता है, जो मेरे भीतर महादेश प्रकट हुआ है, उसमें तुम
भी भागीदार हो जाओ। इसलिए बोलता हूं। और तुम खयाल रखो, अगर ज्ञानी न बोले होते तो उपनिषद न होते, गीता न होती, अष्टावक्र की महागीता न होती, बाइबिल न होती, कुरान न होता, धम्मपद न होता। जरा सोचो, अगर ज्ञानी न बोले होते, तुम कहां होते? तुम जंगलों में होते। तुम मनुष्य न होते। यह जो बोला गया है--यद्यपि तुमने सुना नहीं, सुन लेते तब तो तुम स्वर्ग में होते--यह जो बोला गया है, यह जो तुमने ऊपर-ऊपर से सुन लिया, वह भी तुम्हें बहुत दूर ले आया है। तुम्हारे अनजाने ले आया है। तुम्हें पता भी नहीं चला और ले आया है। काश, सुन लेते! उपदेश दिये तो गये हैं, तुमने लिये नहीं हैं। बिना तुम्हारे लिये भी तुम खिंच गये हो, बहुत दूर खिंच गये हो जंगलों से। पशुओं के बहुत पार आ गये हो। काश सुन लेते, तो तुम परमात्मा में प्रविष्ट हो जाते।
उपदेश देने तक मेरी क्षमता, लेना तो तुम्हारे हाथ में है। अब जो सज्जन पूछते हैं, उपदेश क्यों, असल में यह पूछ रहे हैं कि मैं लूं क्यों? क्योंकि मुझसे तुम्हारा क्या लेना-देना! मैं बोलूं, न बोलूं, इससे तुम्हारा क्या

लेन-देन है! तुम हो कौन! मुझ पर किसी तरह का नियंत्रण और सीमा लगाने वाले तुम हो कौन? इतना ही तुम कर सकते हो, तुम न आओ। मैंने तुम्हें बुलाया भी नहीं। अपनी मर्जी से आ गये हो। तुम न होओगे और मुझे बोलना होगा, वृक्षों से बोल लूंगा, पहाड़ों से बोल लूंगा, पत्थरों से बोल लूंगा, सूने आकाश से बोल लूंगा। तुम मुझे बोलने से तो न रोक सकोगे।
लेकिन असल में तुम बात कुछ और कह रहे हो। तुम उपदेश लेना नहीं चाहते।
तुम्हें उपदेश जहर जैसा मालूम पड़ रहा है। तुम्हें लग रहा है कि यह बात किसी से लेनी पड़े, यह तुम्हारे अहंकार को बड़ा कष्ट देती मालूम पड़ रही है।
मत लो, तुम्हारी मर्जी।
देने में मेरी आतुरता नहीं है। कह दिया, मेरा कर्तव्य पूरा हो गया। परमात्मा मुझसे न कह सकेगा कि जो तुम्हें मिला था, वह तुमने कहा नहीं। वह जिम्मेवारी मैंने पूरी कर दी। तुमने नहीं लिया, वह तुम्हारे और तुम्हारे परमात्मा के बीच का निपटारा है। उससे मेरा कुछ लेना-देना नहीं। तुम्हें न लेना हो उपदेश, न लो। यह कोई आदेश नहीं है कि तुम्हें लेना ही पड़ेगा। लेकिन कृपा करके यह तो मत कहो कि मैं उपदेश क्यों दूं? तुम मुझे तो छोड़ो! मैं तुम्हें छोड़ रहा हूं--आदेश नहीं दे रहा--तुम इतनी दया मुझ पर भी करो।
तुम पूछते हो, "समर्पण है तो विरोध की व्याख्या क्यों?"
बिना विरोध की व्याख्या समझे तुम समर्पण समझोगे कैसे? कोई तुमसे पूछे
कि प्रकाश क्या है, तो तुम यही कहोगे न कि अंधेरा नहीं है! और क्या कहोगे? कोई तुमसे पूछे जीवन क्या है, तो तुम यही कहोगे न कि मृत्यु नहीं है! कोई तुमसे पूछे कि ध्यान क्या है, तो यही लिखा है न सारे शास्त्रों में कि विचार नहीं है! बिना विपरीत के व्याख्या नहीं होती। समर्पण की व्याख्या करनी हो तो विरोध की व्याख्या करनी पड़ती है। विरोध समझ में आ जाये, विरोध गिर जाये, समझ में आकर, तो जो शेष रह जाता है वही समर्पण है। इसलिए व्याख्या है। सत्य को जानने के लिए असत्य को भी समझना पड़ता है। ठीक को पहचानने के लिए गैर-ठीक को पहचानना पड़ता है। सही रास्ते पर जाने के लिए गलत-गलत रास्ते कौन-से हैं, वे भी पहचान लेने पड़ते हैं। नहीं तो वहीं भटकते रहोगे।
एडीसन एक प्रयोग कर रहा था। सात सौ बार असफल हो गया प्रयोग करने में। तीन साल लग गये। उसके शिष्य, उसके अनुयायी, उसके साथी सब परेशान हो गये कि यह तो पागलपन हुआ जा रहा है। सात सौ बार असफल हो गया है, लेकिन यह थकता नहीं। और रोज सुबह वह ताजा चला आये--प्रसन्न, उत्साह से भरा हुआ, फिर प्रयोग शुरू।
आखिर उसके साथियों ने एक दिन उसे घेर लिया और कहा कि बहुत होता है, एक सीमा होती है, हर चीज की सीमा होती है, अब ठहरें। सात सौ बार हम हार चुके हैं, अब यह कब तक चलेगा? कुछ और नहीं करना है? जिंदगी भर यही करते रहना है? एडीसन ने कहा, पागलो, सात सौ बार हार चुके इसका मतलब है, सात सौ गलत रास्तों से हमारी पहचान हो गई, अब ठीक रास्ता करीब ही आता होगा। कितने होंगे गलत रास्ते? अगर हजार गलत रास्ते हैं, तो सात सौ तो हम पहचान चुके कि गलत हैं, अब तीन सौ ही बचे। दो सौ निन्यानबे और पहचान लेने हैं कि गलत हैं, फिर मिल जायेगा ठीक। हम ठीक के रोज करीब हो रहे हैं, तुम उदास क्यों हो! क्योंकि गलत को जाने बिना ठीक को जानोगे कैसे?
अपने घर आने के लिए बहुत दूसरों के घरों पर दस्तक देनी पड़ती है। सदगुरु को पाने के पहले न मालूम कितने असदगुरुओं के पास भटकना पड़ता है। स्वाभाविक है। इसमें कुछ अस्वाभाविक नहीं है। गलत भी कुछ नहीं है। ठीक नियम के अनुसार है। टटोलना है अंधेरे में।
तो मैं तुम्हें विरोध की भी व्याख्या देता हूं, क्या गलत है वह भी कहता हूं; क्योंकि तुमसे कहना चाहता हूं वह जो कि सही है। सच तो यह है कि सही को सीधा-सीधा कहने का कोई उपाय ही नहीं है। नेति-नेति उसका मार्ग है। यह नहीं है सत्य, यह नहीं है सत्य, यह नहीं है सत्य, ऐसा एक-एक असत्य को बताते-बताते, बताते-बताते जब सब असत्य चुक जाते हैं, तो गुरु कहता है, अब जो शेष रहा, यही है सत्य। सीधा कोई उपाय नहीं है कि उंगली रख दी जाये--यह है सत्य।

सत्य इतना बड़ा है कि उंगली रखी नहीं जा सकती। असत्य छोटे-छोटे हैं, उन
पर उंगली रखी जा सकती है। तो असत्य पर उंगली रखी जाती है--यह असत्य, यह असत्य, यह असत्य, चले; आखिर एक घड़ी तो आयेगी जब असत्य चुक जायेंगे! सत्य तो असीम है, असत्य सीमित हैं। तो असत्य तो चुक जायेंगे। एक न एक दिन गलत की तो गणना हो जायेगी। फिर जो गणना के बाहर रह गया, फैला आकाश की तरह, वही शेष रह गया, वही सत्य है। नेति-नेति उपाय है। यह भी नहीं, यह भी नहीं। तब तुम किसी दिन जान लोगे, क्या है।
असार को पहचान लिया, तो सार का द्वार खुल जाता है। संसार को समझ लिया,
तो मोक्ष का द्वार खुल गया। इसीलिए तो संसार है, नेति-नेति का उपाय करने को। धन के मोह में पड़े, फिर पाया कि नहीं मिलता सुख, कहा--नेति, नहीं। स्त्री के प्रेम में पड़े, पुरुष के प्रेम में पड़े, पाया कि कुछ पाया नहीं, कहा--नेति। पद पाया, प्रतिष्ठा पायी और पाया कि कुछ न मिला, हाथ में राख लगी, कहा--नेति। ऐसा कहते गये, नेति-नेति, एक दिन पूरा संसार जो-जो दे सकता था सब पहचान लिया, अचानक सब संसार व्यर्थ हो गया और गिर गया, तब जो शेष रह जाता है, वही निर्वाण है।
और फिर पूछते हो कि "जीवन की खोज को अधूरा छोड़कर संन्यास में प्रवेश क्या पलायन नहीं? क्या कायरता नहीं?"
यही तो मैं रोज कह रहा हूं कि जीवन की खोज को अधूरा छोड़कर संन्यास में प्रवेश मत करना, वह पलायन होगा। इसीलिए तो मैं अपने संन्यासी को भी जीवन की खोज से तोड़ता नहीं। उससे कहता हूं, जीवन की खोज भी जारी रहने दो और संन्यास के संगीत को भी धीरे-धीरे आत्मसात करने लगो। क्योंकि तुम कैसे जानोगे कि अब जीवन की खोज पूरी हो गई, मुझे बताओ! तुम कैसे जानोगे कि अब आ गया वक्त संन्यास में प्रवेश का? धीरे-धीरे अभ्यास करते रहो संन्यास का-- संसार को भी चलने दो, संन्यास का अभ्यास भी करते रहो। क्योंकि अगर अचानक एक दिन पता चला कि संसार तो व्यर्थ हो गया और तुम्हारे पास अगर संन्यास की कोई भी धारणा न रही, संन्यास का कोई सूत्र हाथ में न रहा, तो तुम आत्महत्या कर लोगे बजाय संन्यास में जाने के।
तुम्हें खयाल है, पश्चिम में आत्महत्याएं बड़ी मात्रा में घटती हैं, पूरब में नहीं घटती हैं। और कारण? कारण संन्यास है। पश्चिम में जब एक आदमी जीवन से बिलकुल हार जाता है और पाता है कुछ सार नहीं, तो एक ही बात समझ में आती है--खतम करो अपने को, क्योंकि अब क्या करने को बचा! पूरब में आदमी आत्महत्या नहीं करता। जब जीवन व्यर्थ हो जाता है तो संन्यस्त हो जाता है। पूरब ने आत्महत्या का विकल्प खोजा है। पश्चिम के पास विकल्प नहीं है, इसलिए पश्चिम में आत्महत्या रोज बढ़ती जाती है। बढ़ती रहेगी, जब तक संन्यास न पहुंच जायेगा पश्चिम में। जब तक गैरिक रंग नहीं फैलता पश्चिम के आकाश पर, तब तक पश्चिम में आत्महत्या जारी रहेगी और बढ़ती जायेगी। रोज-रोज बढ़ती जायेगी। क्योंकि लोगों को समझ में आता जाता है कि जीवन व्यर्थ, जीवन व्यर्थ। फिर करना क्या? फिर उठना क्यों? फिर रोज सुबह जागना क्यों? फिर जाना क्यों दफ्तर? किसलिए? उसी दुख को फिर-फिर झेलने के लिए! वही उपद्रव जारी रखने के लिए! अपने ही जीवन के नरक को रोज-रोज पानी देने की जरूरत क्या है? खतम करो, समाप्त करो।
पश्चिम के बहुत बड़े-बड़े विचारकों ने भी आत्मघात किया है। यह सोचने जैसा है। पूरब के किसी महाविचारक ने कभी आत्मघात नहीं किया। बुद्ध, महावीर, कृष्ण, राम, नागार्जुन, शंकर, रामानुज, निंबार्क, वल्लभ, कबीर, नानक, दादू, हजारों महापुरुषों की धारा है, इनमें से एक ने भी आत्मघात नहीं किया। इनमें से एक भी पागल नहीं हुआ। पश्चिम में बड़ी उल्टी बात है। पश्चिम में कोई बड़ा विचारक बिना पागल हुए बचता नहीं। हो ही जाता है पागल। अगर बच जाये तो इसका एक ही अर्थ है कि कोई बड़ा विचारक नहीं है वह। अभी दूर तक नहीं गया विचार में। अन्यथा विचार एक जगह लाकर खड़ा कर देता है, जिसके आगे कोई गति नहीं रहती। ध्यान का उपाय नहीं है। जहां विचार समाप्त हुआ, वहां अब क्या करना! आदमी विक्षिप्त होने लगता है। ध्यान का तो उपाय नहीं है। जहां संसार व्यर्थ हुआ, वहां आदमी आत्महत्या की सोचने लगता है। संन्यास का तो उपाय नहीं है, विकल्प नहीं है।

मैं जब तुमसे कहता हूं संसार में रहो, तो इसीलिए कहता हूं कि कहीं ऐसा
न हो कि तुम कच्चे संसार के बाहर निकल आओ। लेकिन पता कैसे चलेगा कि कब तुम पक गये? और जिस दिन पक जाओगे, जिस दिन घर में आग लगेगी, उसी दिन कुआं खोदोगे? कुआं तो खोदना शुरू करो; जब आग लगेगी, लगेगी। कुआं तो तैयार रहे; जब आग लगेगी तो पानी कुएं का तैयार रहेगा, बुझा लेंगे। अब जिस दिन घर में आग लगेगी उसी दिन कुआं खोदने अगर बैठे, तो घर बचनेवाला नहीं है।
इसीलिए मैं कहता हूं, संसार को चलने दो और साथ ही साथ संन्यास के संगीत को भी जन्मने दो। और इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि संन्यास भी परमात्मा का है और संसार भी परमात्मा का है। सब उसका है। संन्यास संसार का विपरीत नहीं है, इसलिए कहीं भागने की जरूरत नहीं है।
अब तुम मुझसे पूछते हो कि जीवन की खोज को अधूरा छोड़कर संन्यास में प्रवेश क्या पलायन नहीं है? वही तो मैं कह रहा हूं। तुम किससे पूछ रहे हो? तुम पुरी के शंकराचार्य से पूछते तो बात ठीक थी। मुझसे तो मत पूछो। तुम जाकर आचार्य तुलसी से पूछो, बात ठीक है। मुनि देशभूषण महाराज से पूछो, बात सही है। मुझसे पूछ रहे हो! यही तो मेरी क्रांति है संन्यास में कि संसार के साथ चल सकता है। मंदिर और दूकान को करीब लाने की कोशिश चल रही है कि जिस दिन दूकान चल जाये, मंदिर इतना दूर न हो कि तुम पहुंच न पाओ। मंदिर करीब होना चाहिए; पास ही होना चाहिए। एक कदम रखा कि मंदिर में पहुंच गये। तो तुम आत्मघात से बच सकोगे।
फिर ध्यान रखना कि संन्यास एक तरह का आत्मघात है। बड़ा प्यारा आत्मघात है। अहंकार का विसर्जन है। तुम तो मरे! तुम तो गये। वस्तुतः संन्यास को ही ठीक-ठीक आत्मघात कहना चाहिए; क्योंकि और कोई आदमी जो आत्महत्या कर लेता है, उसका शरीर तो मिटा देता है लेकिन मन तो मिटता नहीं, अहंकार तो मिटता नहीं। इधर शरीर मिटा नहीं कि नया जन्म हुआ नहीं। फिर गर्भ, फिर दौड़ शुरू। वही फिर शुरू हो जायेगा जो चल रहा था। संन्यास ही वास्तविक आत्मघात है, क्योंकि जो ठीक-ठीक संन्यस्त हो जाये, अहंकार विसर्जित हो जाये, तो फिर दुबारा लौटकर आने की जरूरत नहीं। तुम अनागामिन हो गये। अब तुम दुबारा न आओगे। अब तुम प्रभु में समाहित हो गये।
लेकिन मैं जानता हूं, पूछनेवाले का कारण कुछ और है। संन्यास लेने की हिम्मत नहीं, तो अपने को समझा रहे हैं कि यह संन्यास तो पलायन है। कहते हैं, क्या संन्यास कायरता नहीं? सच बात उल्टी है--संन्यास लेने की हिम्मत नहीं। तुम जरा मेरा संन्यास लेकर देखो, तब तुम्हें पता चलेगा कि कायरता लेने में थी कि न लेने में थी। तुम जरा लेकर देखो। जरा गैरिक वस्त्र पहनकर, यह माला पहनकर बाजार जाकर देखो, घर जाकर देखो, परिवार-प्रियजन के पास जाकर देखो, तब तुम्हें पता चलेगा कायरता कहां थी। सारी दुनिया विरोध में खड़ी मालूम होगी। हां, अगर मैं तुमसे कहता पहाड़ पर भाग जाओ, तो कायरता थी। मैं तो तुमसे कहता हूं, भागना ही मत। तुम तो जमकर खड़े रहना संसार में।
एक मित्र आये। कहने लगे संन्यास तो लेता हूं, लेकिन एक झंझट है कि मैं शराब पीता हूं। मैंने कहा, मजे से पीयो। संन्यास तो लो, फिर देखेंगे। वे बहुत चौंके। उन्होंने कहा, क्या आप कहते हैं कि शराब भी पीऊं! मैंने कहा, वह तुम्हारी मर्जी। मुझे इन छोटी बातों में लेना-देना नहीं, क्या तुम पीते, क्या नहीं पीते! मैं कोई जैन-मुनि थोड़े ही हूं कि इन सबका हिसाब रखूं कि शराब छानकर पीते कि बिना छनी पीते। तुम पीयो; तुम पीते हो, तुम्हारी जिम्मेवारी। मैं तुम्हें ध्यान देता हूं, संन्यास देता हूं, फिर देखेंगे। कोई पंद्रह दिन बाद वे आये और कहने लगे कि फांसी लगा दी! अब शराबघर की तरफ जाते डर लगता है। संन्यास लेने के दूसरे दिन गया, एक आदमी पैर पर गिर पड़ा और कहने लगा स्वामी जी, आप यहां कैसे! मैंने कहा, अब तुम्हारी मर्जी! हिम्मत हो तो जाओ। नहीं, वे कहने लगे, अब न हो सकेगा। उस आदमी ने इतने भाव से कहा कि स्वामी जी, आप यहां कैसे! शायद उसने सोचा कि कोई भूल-भटक गये हैं स्वामी जी। यह मधुशाला है, यह कोई मंदिर नहीं है, आप कहां आ गये!
तुम पूछते हो, संन्यास कायरता! तुम जरा लेकर देखो। नहीं, उस आदमी की शराब गई। संन्यास लेने के बाद तुम्हें पता चलना शुरू होगा।

एक युवक ने संन्यास लिया, कल्याण में रहते हैं। पंद्रह दिन बाद अपनी पत्नी को लेकर आ गये कि इसको भी संन्यास दे दें। मैंने कहा, बात क्या? कहने लगे, झंझट खड़ी होती है। ट्रेन में लोगों ने मुझे पकड़ लिया कि तुम किसकी पत्नी लेकर भागे जा रहे हो? संन्यासी होकर, यह स्त्री किसकी है? इसको भी संन्यास दे दें, नहीं तो यह तो किसी दिन झंझट होगी! पांच-सात दिन बाद अपने छोटे बेटे को लेकर आ गये, इसको भी संन्यास दे दें। मैंने कहा, हुआ क्या? बोले कि हम दोनों को लोगों ने रोक लिया ट्रेन में, कहा यह किसका बच्चा उठा लाये? अपना बच्चा! मगर अब यह संन्यासी का बच्चा कैसे!
संन्यास की एक धारणा थी पुरानी, उसमें भगोड़ापन था। मैं तुमसे कह रहा हूं, पति भी रहना, पत्नी भी रहना, मां भी रहना, पिता भी रहना। मैं तो तुम्हें एक संघर्ष दे रहा हूं, एक चुनौती दे रहा हूं। तुम्हारी चुनौतियां बढ़ जायेंगी, घटेंगी नहीं। तुम्हारा संघर्ष गहरा हो जायेगा। यह पलायन नहीं है।
लेकिन तुम बचना चाहते हो। बचना चाहते हो बचो, लेकिन झूठे शब्दों की आड़
मत लो। कायर तुम हो। और चाह रहे हो अपने आपको समझा लेना कि संन्यास कायरता है। सो अपने मन में तुम मान रखो कि तुम बड़े बहादुर हो। बहादुर हो तो डुबकी लो, डरो मत! संसारी रहकर तो देख लिया है, अब साथ ही संन्यासी रहकर संसार में रहकर देख लो, तब तुम्हें पता चलेगा कि संघर्ष किसका बड़ा है, चुनौती किसकी महान है!
और देखना, तुम कहते हो जब पक जायेंगे...। मैं तुम्हें कहे देता हूं कि पकने के पहले मौत आ जायेगी। क्योंकि मरते दम तक आदमी नहीं सोचता कि मैं पक गया। मरते दम तक वासनाएं पीछा करती हैं। मरते दम तक भी सपने जकड़े रहते हैं। मरते दम तक योजनायें पीछे पड़ी रहती हैं। मरते दम तक खयाल रहता है कुछ करके दिखा दें, कुछ हो जायें, अभी कुछ देर और बाकी है।
बिखर गये सब मोती मेरे!
क्रूर समय ने असमय तोड़ी
सांसों की वह रेशम डोरी
जिसमें रोज पिरोये मोती
आशाओं ने सांझ-सवेरे
बिखर गये सब मोती मेरे!

आयी तेज हवा मतवाली
तोड़ गई वह कोमल डाली
जिस पर हर पंछी ने अपने
बना लिये थे रैन-बसेरे
बिखर गये सब मोती मेरे!

काली रात लगी गहराने
बुझने दीप लगा सिरहाने
घिर आये आंखों के आगे
चारों ओर अपार अंधेरे
बिखर गये सब मोती मेरे!
लेकिन तब समय न बचेगा--जब मोतियों की माला टूटकर बिखरेगी, जब सपनों की माला टूटकर बिखरेगी और जब चारों तरफ अंधेरा घिरने लगेगा!
एक महिला संन्यास लेना चाहती थी। कई बार आयी, कई बार पूछा, कई बार समझा, फिर कहती है कि कल आऊंगी। एक दिन खबर आयी--और उसके एक ही दिन पहले वह कह कर गई थी कि कल आऊंगी--कि वह कार में "एक्सीडेंट" हो गया है। वह कोई छः घंटे सात घंटे बेहोश रही, फिर उसे होश आया। होश आया तो उसने पहली बात कही कि दौड़ो, अपने लड़के से कहा कि दौड़ो, मुझे संन्यास लेना है, और मैं कितने दिन से टाल रही--उसकी उम्र थी कोई सत्तर वर्ष--कितने दिन से टाल रही; और आज तो, कल मैं कहकर आयी थी कि आज संन्यास ले लूंगी, आज मौत आ गई, अब भागो! लेकिन लड़का जब तक मेरे पास आया, उसकी सांस टूट चुकी थी।

मैंने लड़के को कहा, उसकी इतनी इच्छा थी, जिंदगी में तो न ले सकी, मर गई, कोई फिक्र नहीं, यह माला उसको पहना देना। यह नाम उसकी छाती पर रख देना। गैरिक वस्त्रों में लपेटकर उसको जला देना। अब और क्या करोगे!
यही मैं तुमसे कहता हूं। जीते-जी ले लेना। क्योंकि मरकर गैरिक वस्त्रों में दफनाये गये कि और वस्त्रों में, कुछ भेद नहीं पड़ता है। संन्यास का मूल्य ही यही है कि तुमने परम जागरूकता में, होश में लिया, चुना, उतरे।
हाथ थे मिले कि जुल्फ चांद की संवार दूं
ओंठ थे खुले कि हर बहार को पुकार दूं
दर्द था दिया गया कि हर दुखी को प्यार दूं
और सांस यूं कि स्वर्ग भूमि पर उतार दूं
हो सका न कुछ मगर, शाम बन गई सहर
वो उठी लहर कि ढह गये किले बिखर-बिखर
और हम डरे-डरे नीर नैन में भरे
ओढ़ कर कफन पड़े मजार देखते रहे,
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे।

मांग भर चली थी एक जब नयी-नयी किरण ढोलकें घुमुक उठीं ठुमुक उठे चरण-चरण शोर मच गया कि लो चली दुल्हन, चली दुल्हन गांव सब उमड़ पड़ा बहक उठे नयन-नयन,
पर तभी जहर भरी गाज एक वह गिरी
पुछ गया सिंदूर तारत्तार हुई चुनरी
और हम अजान से दूर के मकान से
पालकी लिये हुए कहार देखते रहे,
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे।
इसके पहले कि कारवां गुजर जाये और सिर्फ गुबार छूट जाये तुम्हारी राह पर, और तुम्हारी आंखें अपनी ही मजार को देखती रहें और कहार को देखती रहें जो तुम्हारी अर्थी को ले चले, कुछ कर लेना। ऐसी होशियारी की बातों में अपने को छिपाना मत। शब्द-जाल मत बुनना, सत्य को सीधा-सीधा देखना। न ले सको संन्यास, तो जानना कि मैं कायर हूं इसलिए नहीं ले रहा हूं। तो किसी दिन ले सकोगे। क्योंकि कौन कायर होना चाहता है! लेकिन तुमने अगर समझा कि कायर संन्यास ले रहे हैं, मैं बहादुर हूं इसलिए नहीं ले रहा हूं, तो फिर तुम कभी भी न ले सकोगे।
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे।
फिर तुम्हारी यही दशा होने को है।

तीसरा प्रश्न: प्यारे भगवान, क्या आपने अपनी जिंदगी में कभी कोई गलती
की है?

जब तक मैं था, तब तक गलती ही गलती थी। जबसे मैं नहीं हूं, तबसे गलती का कोई उपाय न रहा। गलती एक ही है, "मैं" का होना। फिर उस "मैं" से हजार गलतियां पैदा होती हैं। जब तक मैं था, गलती ही गलती थी। ठीक हो कैसे सकता था! जो सही दिखायी पड़ता था, वह भी सही नहीं था। वह भी आभास था। वह भी प्रतीति थी। वह भी मान लेना था, समझा लेना था। तब तो सब गलती ही गलती थी। जबसे मैं न रहा, तबसे गलती करनेवाला ही न रहा। करनेवाला ही न रहा, तो गलती कैसे होगी? तबसे सब ठीक ही ठीक है। क्योंकि तबसे परमात्मा ही परमात्मा है। तुम जब तक हो, तब तक गलती है। तुम मिटे कि गलती भी गई। और खयाल रखना, जब
तक तुम हो, तब तक जो ठीक लगता है वह भी अंतिम निर्णय में गलत सिद्ध होता है। और यह भी खयाल रखना कि जब तुम न बचे, तब जो गलत भी मालूम पड़े वह भी अंतिम निर्णय में सही सिद्ध होता है। जो परमात्मा से होता है, वही ठीक। जो हम अपनी अकड़ में सोचते हैं हमने किया, वही गलत। बस हमारी अकड़ गलत है। और कुछ

गलती नहीं। एक ही पाप है। फिर एक पाप के अनेक रूपांतरण हैं, अनेक रूप हैं। एक पाप--मेरा होना, "मैं" का होना।
लुट गये तन के रतन सब
छुट गये मन के सपन सब
तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए
गांव भर रूठा हुआ है
दुश्मनी पर है जमाना
तैश में है रात
हाथों का दिया करता बहाना हर नजर में है अदावत
हर अधर पर है बगावत
सौंप दूं किस गोद को जा
आंसुओं का यह खजाना
पांव जर्जर, पथ अपरिचित
है चला जाता न किंचित
तुम चलो यदि साथ
तो हर एक छाला मुस्कुराए
तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए
तुम तो हो जब तक, तब तक छाले ही छाले हैं। प्रभु मिल जाये...।
तुम चलो यदि साथ
तो हर एक छाला मुस्कुराए
तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए
प्रभु के मिलन के साथ ही छाले भी फूल बन जाते हैं। शूल भी फूल बन जाते हैं। भूल भी फूल बन जाती है। और जब तक तुम हो, तुम्हारी अकड़ है, दंभ है, दर्प है, यह "मैं" का जहर है, तब तक फूल भी फूल नहीं, कांटे ही हैं। तब तक भूलें तो भूलें हैं ही, जिनको तुम भूलें नहीं समझते वे भी भूलें हैं।
इसे खयाल में रखना, क्योंकि मेरे हिसाब में एक ही भूल है और एक ही सुधार है। मैंने तुम्हारी जिंदगी के गणित को सीधा-साफ और सरल कर दिया है। तुम्हारे गुरुओं ने तुमसे कहा है अब तक कि हजारों भूलें हैं, सब ठीक करनी हैं। एक-एक भूल को ठीक करने बैठोगे, कभी ठीक न कर पाओगे। क्रोध को ठीक करो, तो मोह बचा है। मोह को ठीक करो, तो लोभ बचा है। लोभ को ठीक करो, तो काम बचा है। और जब तक काम को ठीक करने पहुंचे, वर्षों गुजर गये, तब तक क्रोध जो दबा दिया था वह उभर आया। ऐसे चक्कर में घूमते रहोगे। भूलें बहुत हैं, तो फिर आदमी के छुटकारे का कोई उपाय नहीं। आदमी की सामर्थ्य, सीमा है, भूलें अनंत हैं।
नहीं, इस तरह काम न होगा। हमें कुछ गहरा विश्लेषण करना होगा। उस मूल भूल को पकड़ना होगा, जिसके आधार पर सारी भूलों का जाल फैलता है। जड़ को काटना होगा, पत्तों को नहीं। तुम पत्ते काटते रहो, तुम्हारे पत्ते काटने से वृक्ष नष्ट नहीं होता। तुम्हारे पत्ते काटने से तो हो सकता है वृक्ष और सघन हो जाये, क्योंकि वृक्ष के पत्ते काटो, कलम होती है। एक पत्ते की जगह तीन निकल आते हैं।
मैं तुमसे कहता हूं, जड़ काटो। और जड़ अहंकार है। काम, लोभ, मद, मोह, मत्सर, सब अहंकार की जड़ पर खड़े हैं। और मजा यह है कि जैसे जड़ें जमीन में छिपी होती हैं, ऐसा ही अहंकार जमीन में छिपा है, पत्ते सब बाहर हैं। भूलें दिखायी पड़ती हैं, अहंकार दिखायी नहीं पड़ता। जड़ें इसीलिए तो जमीन में छिपी रहती हैं ताकि दिखायी न पड़ें, कोई काट न दे। वृक्ष को काट डालो, कोई फिक्र नहीं, फिर अंकुर आ जायेंगे। जीवन ऐसे नष्ट नहीं होता है। इसीलिए तो वृक्ष होशियारी से अपनी जड़ों को जमीन में छिपाये बैठे हैं।
तुमने बच्चों की कहानियां पढ़ीं, जिनमें यह बात आती है कि किसी राजा ने अपने प्राण तोते में रख दिये। फिर तुम राजा को कितना ही मारो, वह नहीं

मरता। जब तक कि तोते की गर्दन न मरोड़ो। अब यह पता कैसे चले कि किसमें रख दिये हैं प्राण, तोते में रखे हैं, कि मैना में रखे हैं, कि कोयल में रखे हैं, कि कहां रखे हैं! तो तुम राजा को मारते रहो, मरता नहीं। क्योंकि उसके प्राण वहां हैं नहीं।
ऐसे ही तुम्हारी सारी बीमारियों ने अपने प्राण अहंकार में रख दिये हैं। जब तक तुम अहंकार की गर्दन न मरोड़ दो, कुछ भी न मरेगा।
तुम पूछते हो, भूलें? भूलें मैंने बहुत कीं। जब तक मैं था, भूलें ही भूलें थीं। तब मैंने एक भी ठीक बात नहीं की। कर ही न सकता था। मूल भूल मौजूद थी, उसी में पत्ते लगते थे। जबसे मैं न रहा, तबसे कोई भूल नहीं हुई। अब हो नहीं सकती। अब करना भी चाहूं तो नहीं हो सकती। पहले ठीक करना भी चाहा था तो गलत हुआ था। अब गलत भी करना चाहूं तो भी ठीक ही होता है। अब गलत होने का उपाय ही न रहा। मूल कट गया। जड़ कट गई।
जड़ पर ही ध्यान देना, जड़ को ही काटना है।

चौथा प्रश्न: बड़ा प्रसिद्ध पद है कबीर का, "प्रेमगली अति सांकरी तामें
दो न समाय।" लेकिन प्रेमगली क्या इतनी चौड़ी नहीं है कि "तामें सर्व समाय"? कृपया समझाएं।

दोनों का एक ही अर्थ है। जहां दो न बचे, वहीं सर्व बचता है। एक और सर्व
एक ही अर्थ रखते हैं। जैसे ही एक बचा, वैसे ही सर्व बचा।
तो कबीर का यह कहना कि "प्रेमगली अति सांकरी तामें दो न समाय," वही अर्थ रखता है। इसको ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रेम की गली बहुत विशाल है, तामें सर्व समाय।
लेकिन कबीर ने वैसा कहा नहीं, कारण है। क्योंकि तुम्हारे लिए दूसरा वक्तव्य किसी मतलब का नहीं है। तुम्हारे लिए तो पहला वक्तव्य ही मतलब का है। तुम अभी दो में हो और एक को गिराना है। कबीर जैसे सत्पुरुष जो बोलते हैं, अकारण नहीं बोलते। जिनसे बोलते हैं, उनके लिए कुछ सूत्र है, कुछ इशारा है। कबीर ने जिनसे कहा है, वे दो में खड़े हैं। अभी उनसे सर्व की बात करनी फिजूल है। अभी तो एक ही नहीं हुआ तो सर्व का तो पता ही न चलेगा। अभी तो इतना ही कहना ठीक है कि तुम अभी दो हो और प्रेम की गली बड़ी संकरी है, ये "दो-भाव" छोड़ दो। एक को गिरा दो, एक ही बच रहे। जब एक ही बच रहेगा, तब तुम्हें स्वयं ही पता चलेगा कि यह तो सर्व हो गया। यह तो खोना न हुआ, पाना हो गया। जब बूंद सागर में गिरती है, तो पहले तो यही सोचती होगी कि मिटी, गई, खोयी; गिर कर पाती है कि मैं तो सागर हो गई। पहले लगता था खोना, अब लगता है पाना।
तो दूसरा पद कबीर ने नहीं कहा, जानकर। और दोनों में विरोध नहीं है। दोनों एक ही की तरफ इशारा हैं।

पांचवां प्रश्न: "रसो वै सः।" परमात्मा रसरूप है। यह कथन कृष्ण के मार्ग पर सही है। लेकिन अष्टावक्र के मार्ग पर यह कहां तक मौजूं है?

यह कथन मार्ग से संबंधित नहीं है।
यह कथन परम सत्य का निवेदन है। यह कथन कबीर, कृष्ण, मुहम्मद या महावीर, अष्टावक्र या जरथुस्त्र, इनसे कुछ संबंध नहीं है इस वक्तव्य का। यह वक्तव्य साधनों से संबंधित नहीं है। यह तो साध्य का निर्वचन है--रसो वै सः। वह रसरूप है।
और ध्यान रखना, रसो वै सः, इसका अर्थ यह नहीं है कि परमात्मा रसरूप है,
वह रसरूप है। क्योंकि परमात्मा तो सांप्रदायिक शब्द है। जैन राजी न होंगे, बौद्ध राजी न होंगे। फिर परमात्मा के तो अलग-अलग रूप-रंग होंगे। ईसाइयों का परमात्मा कुछ अलग रंग-ढंग का है, मुसलमानों का कुछ अलग रंग-ढंग का, हिंदुओं के तो फिर हजार रंग-ढंग हैं परमात्मा के। परमात्मा में फिर झगड़े खड़े होंगे। और मूल शब्द है--रसो वै सः। वह रसरूप है। वह शब्द ठीक है। वह निर्विकार शब्द है। "दैट", वह, तत्। इसमें फिर किसी मार्ग का कोई संबंध नहीं। सिर्फ इंगित है। और इंगित है परम दशा का कि वह परम दशा रसरूप है।

अब तुम कहते हो, कृष्ण के मार्ग पर सही है, तो तुम गलत समझे। तुम फिर रस
का अर्थ ही नहीं समझे। तुम समझे कि कृष्ण वे जो बांसुरी बजाकर गोपियों के साथ नाच रहे हैं, वे रस हैं। तो तुम समझे ही नहीं फिर। यह उस रस की चर्चा नहीं हो रही है। तो तुम्हारे मन में कहीं बांसुरी बजाकर गोपियों को नचाने का भाव होगा। तुम कहीं अपने को धोखा देने में पड़े हो। तो तुमने कहा कि कृष्ण के मार्ग पर सही है। अष्टावक्र के मार्ग पर सही नहीं है। अष्टावक्र तो वैसे ही किसी गोपी को न नचा सकेंगे, नाच भी नहीं सकते, आठ तरफ से अंग टेढ़े हैं--अष्टावक्र! बांसुरी बजेगी भी नहीं और गोपियां आनेवाली भी नहीं। गोपियां तो छोड़ो, गोप भी न आयेंगे। तुम गलत समझे।
यह बांसुरी बजाकर जो नाच चलता, रासलीला होती, उस रस से इसका कोई संबंध नहीं है। स्वभावतः अगर तुम ऐसा समझोगे तो फिर बुद्ध के मार्ग पर क्या होगा? बुद्ध तो बैठे हैं वृक्ष के तले, आंख बंद किये, यहां कैसा रस होगा! महावीर तो खड़े हैं नग्न, न मोर-मुकुट बांधे, न बांसुरी हाथ में, यहां कैसे रस होगा! और चलो इनको भी किसी तरह का होगा; ईसा तो सूली पर लटके, हाथों में खीले ठुके, प्राण जा रहे, यहां कैसे रस होगा! नहीं, तुम समझे नहीं रस का अर्थ।
रस का अगर तुम अर्थ समझो, तो जीसस जिसको कहते हैं "किंग्डम ऑफ गॉड", वह
रस की परिभाषा है। जिसको बुद्ध कहते हैं निर्वाण, जहां मैं बिलकुल नहीं बचा, वह रस की परिभाषा है। जिसको महावीर कहते हैं कैवल्यम्, मोक्ष, वह रस की परिभाषा है। परम मुक्ति।
जिसको कबीर कहते हैं आनंद की वर्षा, अमृत की वर्षा, अमि रस बरसे, वह रस
की व्याख्या है। रस का अर्थ है, वह परम दशा नीरस नहीं है, वह परम दशा बड़ी रससिक्त है। वह परम दशा उदास नहीं है, उत्सवपूर्ण है, वह परम दशा नाचती हुई है।
लेकिन नाचने का मतलब यह मत समझना कि तुम्हारा शरीर नाचे तो ही। वह परम दशा गुनगुनाती हुई है। भीतर नाच ही नाच है। मीरा बाहर भी नाच रही है, बुद्ध भीतर ही नाच रहे हैं, पर नाच चल रहा है। कृष्ण बांसुरी बजाकर नाच रहे, महावीर बिना बांसुरी, बिना मोरपंख के नाच रहे। कृष्ण का नृत्य तुम्हारी चर्म आंखों से भी देखा जा सकता है, महावीर का नृत्य देखना हो तो भीतर की आंखें खोलनी जरूरी हैं। वहां तुम्हें महावीर नाचते हुए दिखाई पड़ेंगे। वह परम दशा उत्सव की है, महोत्सव की है। परम प्रेम, परम अमृत, परम आनंद
की है; सच्चिदानंद रूप है, इतना ही अर्थ है।
यह परम दशा का इंगित है। यह परम दशा की निर्वचना है। इसका मार्ग से कोई भी संबंध नहीं है। कोई किसी मार्ग से आये, कैसी ही विधियों का उपाय करके आये--पतंजलि से गुजरकर आये कि अष्टावक्र से गुजरकर आये, लेकिन पहुंच गया जो, सिद्ध जो हुआ, वह कहेगा: रसो वै सः, वह रसरूप है।

छठवां प्रश्न:
यही है जिंदगी मेरी
यही है बंदगी मेरी
कि तेरा नाम आया
और गर्दन झुक गई मेरी
ठीक है, शुभ है। जैसा कहा है इस पद में, वैसा ही प्रभु करे तुम्हारे भीतर भी हो। यह पद ही न रहे। पद लिखने की मौज में ही न लिख दिया हो। सुंदर है, सुंदर को कहने का मन होता है। लेकिन स्मरण रखना, सुंदर को कहना तो सुखद है ही, सुंदर हो जाना महासुखद है। रसो वै सः। ऐसा हो जाये--
"यही है जिंदगी मेरी
यही है बंदगी मेरी
कि तेरा नाम आया
और गर्दन झुक गई मेरी"
झुकना आ जाये, तो सब आ गया। झुकना सीख लिया तो कुछ और सीखने को न बचा। राम, तुम्हारा नाम कंठ में रहे
हृदय जो कुछ भेजो वह सहे

दुख से त्राण नहीं मांगूं
मांगूं केवल शक्ति दुख सहने की दुर्दिन को भी मान तुम्हारी दया अकातर ध्यानमग्न रहने की
देख तुम्हारे मृत्युदूत को डरूं नहीं न्योछावर होने में दुविधा करूं नहीं
तुम चाहो, दूं वही
कृपण हो प्राण नहीं मांगूं
राम, तुम्हारा नाम कंठ में रहे
हृदय जो कुछ भेजो वह सहे
दुख से त्राण नहीं मांगूं
ऐसा हो। इसका स्मरण रखना। क्योंकि अच्छे-अच्छे शब्दों में खो जाने का
डर है। कविताएं मधुर होती हैं। कविताओं का अपना एक रस है, अपना मनोरंजन है। लेकिन जब तक हृदय वैसा न हो जाये--काव्यसिक्त--तब तक रुकना मत।
तुमने कभी देखा, किसी की कविता पढ़कर मन डांवांडोल हो जाता है। डोल-डोल उठता है। लेकिन उस कवि से मिलने जाओ और बड़ी बेचैनी होती है। वह कोई साधारण आदमी से भी गया-बीता आदमी मालूम होता है। तुम चकित होते हो, कैसे इस अभागे को ऐसी कविता का दान मिला! ऐसा अक्सर हो जाता है। क्योंकि कवि जो कह रहा है, उसकी झलकें भर आती हैं उसे, कभी-कभी छलांग लगती है आकाश में, फिर जमीन पर पड़ जाता है।
यही तो कवि और ऋषि का फर्क है। कवि छलांग लगाता है, एक क्षण आकाश में
उठ जाता है, फिर जमीन का गुरुत्वाकर्षण खींच लेता है, फिर जमीन पर गिर जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि ज्यादा ऊंची छलांग लगायी तो हाथ-पैर टूट जाते हैं जमीन पर गिरकर। ज्यादा उचके-कूदे, खाई-खड्ड में गिर जाते हैं। समतल जमीन तक खो जाती है। तो कवि अक्सर ऐसी दशा में होता है-- लंगड़ा-लूला, हाथ-पांव तोड़े, अपंग। उसकी कविताओं में तो हो सकता है परमात्मा की बात हो और उसका मुंह सूंघो तो शराब की बास आये। उसके गीत तो ऐसे हो सकते हैं कि उपनिषदों को मात करें, और उसका जीवन ऐसा फीका हो सकता है जहां कभी कोई फूल खिले, इसका भरोसा ही न आये।
ऋषि और कवि का यही फर्क है। ऋषि जो कहता है, वही उसका जीवन है। सच तो यह है, कवि का जो जीवन नहीं है उससे ज्यादा वह कह देता है। और ऋषि का जो जीवन है, उससे वह हमेशा कम कह पाता है। उतना नहीं कह पाता। क्योंकि शब्द में उतना अटता नहीं। है उसके पास बहुत, शब्द छोटे पड़ जाते हैं। कवि तो अक्सर अपने जीवन से ज्यादा कह देता है और ऋषि अक्सर अपने जीवन से बहुत कम कह पाता है। जीवन तो सागर है; जो कह पाता है वह बूंद ही रह जाती है।
कविता में मत खोना। ऐसी तुम्हारी जीवन-दशा बने, इसका स्मरण रखना।

सातवां प्रश्न: भीतर कोई अंकुर जन्म ले चुका है, जो बीज के टूटने की प्रतीक्षा कर रहा है। कब वह बीज टूटेगा और धरती में मिलेगा? कब ये कान तुझे सुनने में समर्थ होंगे? भगवान, मुझ पर सदा आपकी विजय हो!

संत अगस्तीन ने अपनी एक प्रार्थना में कहा है कि प्रभु, मैं न जीतूं, इसका तू ध्यान रखना। तू ही जीते, इसका तू ध्यान रखना। और ऐसा भी नहीं है कि मैं जीतने की कोशिश न करूंगा। मैं तो कोशिश करूंगा, लेकिन भूलकर भी मुझे जीतने मत देना। जीते तू ही। मेरी कोशिश अकारथ जाये। और फिर भी मैं तुझसे कहता हूं कि मेरी प्रार्थना तो ठीक, लेकिन मैं कोशिश करूंगा, मैं जीतने की कोशिश करूंगा; मैं तुझसे लडूंगा, मैं तुझे हराने के उपाय करूंगा, लेकिन तू दया मत करना।
ठीक बात कही है। ठीक बात आनंद ने भी कही है--भगवान, मुझ पर सदा आपकी विजय हो! स्वाभाविक है कि तुम जीतना चाहो। गुरु से भी शिष्य जीतना चाहता है। जीत की ऐसी प्रबल आकांक्षा है, अहंकार का ऐसा रस है। लेकिन जीत न पाओ, यही तुम्हारा सौभाग्य है। जीत गये तो हार गये। हार गये तो जीत गये।
काबा जाओ, काशी जाओ

गंगा में डुबकियां लगाओ
दिल का देवालय गंदा तो
फंदा सारा धरम-करम है
इस दिशा से उस दिशा तक
सब जगह है प्यार फैला
सब जगह है एक हलचल
सब जगह है एक मेला
है नहीं कोई न जिसके
शीश हो छाया किसी की
एक मैं ही जो यहां
बिलकुल अपरिचित औ" अकेला सांस तक अपनी अजानी
लाश तक अपनी बिरानी
तुम गहो यदि बांह तो
सब स्वर्ग बांहों में समाये
तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए
शिष्य होने का अर्थ है, दे दिया अपना हाथ गुरु के हाथ में। शिष्य होने
का अर्थ है, दे दिया अपना हाथ गुरु के हाथ में इस भरोसे कि गुरु के हाथ में परमात्मा का हाथ छिपा है। शिष्य का अर्थ है कि परमात्मा तो दिखायी नहीं पड़ता, गुरु दिखायी पड़ता है, उसी के झरोखे से परमात्मा की थोड़ी झलक आती है, समर्पण किया। फिर भी अहंकार लड़ाई लड़ता है, आखिरी दम तक लड़ता है। आखिरी दम तक चेष्टा करता है कि हारूं न। स्मरण रखना इसे। यह प्रार्थना तुम्हारे मन में गूंजती ही रहे।
तुम गहो यदि बांह तो
सब स्वर्ग बांहों में समाए
तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए
काबा जाओ, काशी जाओ
गंगा में डुबकियां लगाओ
दिल का देवालय गंदा तो
फंदा सारा धरम-करम है
और दिल तब तक गंदा रहता है जब तक अहंकार बसा रहता है। हार का अर्थ है, अहंकार का मिट जाना। हार का अर्थ है, तुम्हारा न हो जाना, शून्य हो जाना। उसमें ही तुम्हारी विजय है।
पूछते हो, "भीतर कोई अंकुर जन्म ले चुका है जो बीज के टूटने की प्रतीक्षा कर रहा है। कब वह टूटेगा और धरती में मिलेगा?"
प्रतीक्षा करो और धैर्य से प्रतीक्षा करो। जल्दी मत करना। जल्दी में अक्सर ऐसा हो जाता है कि आदमी कल्पना करने लगता है कि टूट गया बीज, वृक्ष लग गया, फूल भी खिलने लगे। कल्पना मत कर लेना। कल्पना कर ली कि चूक गये। आते-आते चूक गये। घर पहुंचते-पहुंचते चूक गये। कल्पना का जाल फैला लिया, तो फिर असली वृक्ष कभी पैदा न हो सकेगा। कल्पना मत कर लेना। और अधैर्य में आदमी कल्पना करने लगता है।
तुमने देखा? अगर तुम बहुत अधैर्य से किसी की प्रतीक्षा कर रहे हो और रास्ते पर सूखे पत्ते हवा में उड़ जाते, तुम दौड़कर बाहर आ जाते--शायद आ गया! तुम किसी की प्रतीक्षा कर रहे हो, हवा का झोंका द्वार पर दस्तक देता, तुम भागे आ जाते कि शायद आ गया! तुम हजार बार कल्पना को आरोपित कर लेते हो। नहीं, अधैर्य मत करना। बड़ी धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा!
अब यह बड़े समझने की बात है, अधैर्य ही होता है प्रतीक्षा में छिपा। या
तो प्रतीक्षा नहीं होती, तो अधैर्य नहीं होता। प्रतीक्षा होती है तो अधैर्य होता है, यह झंझट है। और होना ऐसा चाहिए कि प्रतीक्षा हो और अधैर्य न हो। प्रतीक्षा+धैर्य, यही प्रार्थना का अर्थ है। कहना, जब तुझे आना हो आना। जब तुझे आना हो, अनंत काल में आना हो तो आना; क्योंकि जो तू समय चुनेगा

वही ठीक होगा। मैं कैसे चुनूं? मैं कौन हूं? मैं कैसे जानूं कि कब ठीक क्षण आ गया? कब ठीक मौसम आ गया? कब ऋतु है खिलने की? तू जब आये, तब आना। मैं कितना ही पुकारूं, बेमौसम मत आना। बिना ऋतु के मत आना। जब तुझे आना हो तभी आना। तेरी मर्जी ही सदा पूरी हो। और मैं प्रतीक्षा करूंगा। थकूंगा नहीं, हारूंगा नहीं, उदास न होऊंगा, आशा-रहित न होऊंगा, निराश न होऊंगा, हताश न होऊंगा, प्रतीक्षा करूंगा। आज जैसी प्रतीक्षा है, वैसी ही कल, वैसी ही परसों, वैसी जन्मों-जन्मों तक होगी। मेरी प्रतीक्षा बासी न पड़ेगी। मैं रोज सुबह उसी उत्साह से उठूंगा और प्रतीक्षा करूंगा।
तो शायद आज ही आगमन हो जाये।
इतनी जहां गहन प्रतीक्षा है, वहां इतनी ही गहन प्रार्थना हो जाती है। उसी प्रार्थना में आगमन है। जहां प्रार्थना पूर्ण हो गई, वहां परमात्मा आ जाता है।

आखिरी प्रश्न: भगवान, अष्टावक्र-गीता पर आपको सुनकर अब तो सभी आधार धराशायी होते जा रहे हैं। बुद्धपुरुष और बुद्धपुरुषों के दिये सूत्र भी एक-एक करके छूटते जा रहे हैं। खोते जा रहे हैं। बड़ी आश्चर्य पूर्ण घड़ियां हैं। अहोभाव, प्रणाम!

नरेंद्र ने पूछा है।
एक तो यह प्रश्न है नहीं, इसलिए जैसा प्रश्न वैसा उत्तर। यह रहा उत्तर--
हो आयी देह-देहरी सुरभीली
ये स्यात कंत आने के लक्षण हैं
उभरी दर्पण पर रेखा सिंदूरी
नूपुर के स्वर बिखरे दालानों में
हो गई देह कस्तूरी कस्तूरी
हो आयीं जूड़े की अलकें ढीली
ये विरह अंत आने के लक्षण हैं
आंगन की धूप हो गई सोनीली
ये तो वसंत आने के लक्षण हैं!
अहोभाव आ गया, तो वसंत आ गया। अहोभाव आ गया, तो हो गई देह कस्तूरी- कस्तूरी। अहोभाव आ गया--
हो गई देह-देहरी सुरभीली
ये स्यात कंत आने के लक्षण हैं
तो प्यारा आता ही होगा। अहोभाव उस प्यारे के आने की पगध्वनि है।
उभरी दर्पण पर रेखा सिंदूरी
नूपुर के स्वर बिखरे दालानों में
अहोभाव--उसके नूपुर। अहोभाव--उसके आने की हवा का झोंका। अहोभाव--उसकी पहली किरणें।
हो गई देह कस्तूरी-कस्तूरी
अहोभाव--उसके आने की सुगंध। जैसे तुम आते हो कभी बगीचे के करीब और हवाएं ठंडी हो जाती हैं और हवाएं सुरभीली हो जाती हैं और हवाओं में सुवास आ जाती है। तुम्हें दिखायी भी नहीं पड़ता अभी बगीचा लेकिन फिर भी तुम जानते हो दिशा ठीक है। अहोभाव ठीक दिशा का लक्षण है।
हो आयीं जूड़े की अलकें ढीली
ये विरह अंत आने के लक्षण हैं
प्यारा बहुत करीब है और विरह का अंत करीब आ रहा है।
आंगन की धूप हो गई सोनीली
ये तो वसंत आने के लक्षण हैं
अहोभाव वसंत है अध्यात्म का।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
इकहत्तरवां प्रवचन

निराकार, निरामय साक्षित्व

अष्टावक्र उवाच।

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवंत्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः।। २२७।।
उच्छृंखलाप्यकृतिका थतिर्धीरस्य राजते।
न तु संस्पृहचित्तस्य शांतिर्मूढ़स्य कृत्रिमा।। २२८।।
विलसन्ति महाभोगेर्विशन्ति गिरिगह्वरान्।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः।। २२९।।
श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम्।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना।। २३०।।
भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्।। २३१।।
संतुष्टोऽपि न संतुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा व जानन्ते।। २३२।।
कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः।। २३३।।

एक पुरानी चीनी कथा है, जंगल में कोई लकड़हारा लकड़ियां काटता था।
अचानक देखा कि उसके पीछे आकर खड़ा हो गया है एक बारहसिंगा--सुंदर, अति सुंदर, अति स्वस्थ। लकड़हारे ने अपनी कुल्हाड़ी उसके सिर पर मार दी।
बारहसिंगा मर गया। तब लकड़हारा डरा; कहीं पकड़ा न जाए। क्योंकि वह राजा का सुरक्षित वन था और शिकार की मनाही थी। तो उसने एक गङ्ढे में छिपा दिया उस बारहसिंगे को, ऊपर से मिट्टी डाल दी और वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। अब लकड़ियां काटने की कोई जरूरत न थी। काफी पैसे मिल जाएंगे बारहसिंगे
को बेचकर। सांझ जब सूरज ढल जाएगा और अंधेरा उतर आयेगा तब निकालकर बारहसिंगे को अपने घर ले जाएगा। अभी तो दोपहर थी।
वह वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा और उसकी झपकी लग गई। जब उठा तो सूरज ढल चुका था और अंधेरा फैल रहा था। बहुत खोजा लेकिन वह गङ्ढा मिला नहीं, जहां बारहसिंगे को गड़ा दिया था। तब उसे संदेह होने लगा कि हो न हो, मैंने स्वप्न में देखा है। कहीं ऐसे बारहसिंगे पीछे आकर खड़े होते हैं! आदमी को देखकर भाग जाते हैं, मीलों दूर से भाग जाते हैं। जरूर मैंने स्वप्न में देखा है और मैं व्यर्थ ही परेशान हो रहा हूं।
हंसता हुआ, अपने पर ही हंसता हुआ घर की तरफ वापिस लौटने लगा। यह भी खूब मूढ़ता हुई! राह में एक दूसरा आदमी मिला तो उसने अपनी कथा उससे कही कि ऐसा मैंने स्वप्न में देखा। और फिर मैं पागल, उस गङ्ढे को खोजने लगा।
उस दूसरे आदमी को हुआ, हो न हो इस आदमी ने वस्तुतः बारहसिंगा मारा है। लकड़हारा तो घर चला गया, वह आदमी जंगल में खोजने गया और उसने बारहसिंगा खोज लिया। चोरी-छिपे वह अपने घर पहुंचा। उसने अपनी पत्नी को सारी कथा कही कि ऐसा लकड़हारे ने मुझे कहा और उसने यह भी कहा कि स्वप्न देखा है। अब मैं कैसे मानूं कि स्वप्न देखा है? स्वप्न कहीं सच होते हैं? यह बारहसिंगा सामने मौजूद है। तो स्वप्न नहीं देखा होगा, सच में ही हुआ होगा।
लेकिन पत्नी ने कहा, तुम पागल हो। तुम दोपहर को सोये तो नहीं थे जंगल में? उसने कहा, मैं सोया था, झपकी ली थी। तो उसने कहा, तुमने हो न हो लकड़हारे का सपना देखा है। और सपने में लकड़हारा तुम्हें दिखाई पड़ा। तो वह आदमी कहने लगा, अगर लकड़हारा सपने में देखा है तो यह बारहसिंगा तो मौजूद है न!
तो उसकी स्त्री ने कहा, ज्ञानी कहते हैं, सपने में और सत्य में फर्क कहां? सपने भी सच होते हैं और जिसको हम सच कहते हैं, वह भी झूठ होता है। हो

गया होगा सपना सच। निश्चिंत हो गया वह आदमी। अपराध का एक भाव था कि लकड़हारे को धोखा दिया, वह भी चला गया।
रात लकड़हारे ने एक सपना देखा कि उस आदमी ने जंगल में जाकर खोज लिया गङ्ढा। और वह बारहसिंगे को घर ले गया। वह आधी रात उठकर उसके घर पहुंच गया। दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोला तो बारहसिंगा आंगन में पड़ा था। तो उसने कहा, यह तो बड़ा धोखा दिया तुमने। मैंने सपना देखा, तुम्हें निकालते देखा और बारहसिंगा तुम्हारे द्वार पर पड़ा है। ऐसी बेईमानी तो नहीं करनी थी। मुकदमा अदालत में गया। मजिस्ट्रेट बड़ा मुश्किल में पड़ा। मजिस्ट्रेट
ने कहा, अब यह बड़ी उलझन की बात है। लकड़हारा सोचता है कि उसने सपना देखा था। तुम्हारी पत्नी कहती है कि तुमने सपना देखा कि लकड़हारा देखा था। अब लकड़हारा कहता है कि सपने में उसने देखा कि तुम बारहसिंगा ले आए। जो हो, इस पंचायत में मैं न पडूंगा। यह कानून के भीतर आता भी नहीं सपनों का निर्णय। एक बात सच है कि बारहसिंगा है, सो आधा-आधा तुम बांट लो।
यह फाइल राजा के पास पहुंची दस्तखत के लिए, स्वीकृति के लिए। राजा खूब हंसने लगा। उसने कहा, यह भी खूब रही। मालूम होता है इस न्यायाधीश का दिमाग फिर गया है। इसने यह पूरा मुकदमा सपने में देखा है। उसने अपने वजीर को बुलाकर कहा कि इसको सुलझाना पड़ेगा।
वजीर ने कहा, देखिए, ज्ञानी कहते हैं, जिसको हम सच कहते हैं वह सपना है। और अब तक कोई पक्का नहीं कर पाया है कि क्या सपना है और क्या सच है। और जो जानते थे प्राचीन पुरुष--लाओत्सु जैसे, वे अब मौजूद नहीं दुर्भाग्य से, जो तय कर सकें कि क्या सपना और क्या सच। यह हमारी सामर्थ्य के बाहर है। न्यायाधीश ने जो निर्णय दिया, आप चुपचाप स्वीकृति दे दें। इस उलझन में पड़ें मत। क्योंकि केवल ज्ञानी पुरुष ही तय कर सकते हैं कि क्या सच है और क्या सपना है।
मैं तुमसे कहना चाहता हूं, ज्ञानी पुरुष ही तय कर सकते हैं कि क्या सपना है और क्या सच है। लेकिन हम क्यों नहीं तय कर पाते? हम चूकते क्यों चले जाते हैं? हम चूकते चले जाते हैं क्योंकि हम सोचते हैं, जो देखा उसमें ही तय करना है। जो देखा उसमें क्या सच और जो देखा उसमें क्या झूठ।
दिन में देखा वह सच हम कहते हैं, रात जो देखा वह झूठ। जागकर जो देखा वह सच, सोकर जो देखा वह झूठ। आंख खुली रखकर जो देखा वह सच, आंख बंद रखकर देखा जो झूठ। सबके साथ जो देखा सच, अकेले में जो देखा वह झूठ। लेकिन हम एक बात कभी नहीं सोचते कि हम देखे और देखे में ही तौल करते रहते हैं।
ज्ञानी कहते हैं, जिसने देखा वह सच, जो देखा वह सब झूठ--जागकर देखा कि सोकर देखा, अकेले में देखा कि भीड़ में देखा, आंख खुली थी कि आंख बंद थी--जो भी देखा वह सब झूठ। देखा देखा सो झूठ। जिसने देखा, बस वही सच।
द्रष्टा सत्य और दृश्य झूठ।
दो दृश्यों में तय नहीं करना है कि क्या सच और क्या झूठ, द्रष्टा और दृश्य में तय करना है। द्रष्टा का हमें कुछ पता नहीं है।
अष्टावक्र का यह पूरा संदेश द्रष्टा की खोज है। कैसे हम उसे खोज लें
जो सबका देखने वाला है।
तुम अगर कभी परमात्मा को भी खोजते हो तो फिर एक दृश्य की भांति खोजने लगते हो। तुम कहते हो, संसार तो देख लिया झूठ, अब परमात्मा के दर्शन करने हैं। मगर दर्शन से तुम छूटते नहीं, दृश्य से तुम छूटते नहीं। धन देख लिया, अब परमात्मा को देखना है। प्रेम देख लिया, संसार देख लिया, संसार का फैलाव देख लिया, अब संसार के बनानेवाले को देखना है; मगर देखना है अब भी। जब तक देखना है तब तक तुम झूठ में ही रहोगे। तुम्हारी दूकानें झूठ हैं। तुम्हारे मंदिर भी झूठ हैं, तुम्हारे खाते-बही झूठ हैं, तुम्हारे शास्त्र भी झूठ।
जहां तक दृश्य पर नजर अटकी है वहां तक झूठ का फैलाव है। जिस दिन तुमने
तय किया अब उसे देखें जिसने सब देखा, अब अपने को देखें, उस दिन तुम घर लौटे।
उस दिन क्रांति घटी। उस दिन रूपांतरण हुआ। द्रष्टा की तरफ जो यात्रा है वही धर्म है।
ये सारे सूत्र द्रष्टा की तरफ ले जाने वाले सूत्र हैं।

और उस बूढ़े वजीर ने राजा से ठीक ही कहा कि अब वे प्राचीन पुरुष न रहे,
वे विरले लोग--चीन की कथा है इसलिए उसने लाओत्सु का नाम लिया, भारत की होती तो अष्टावक्र का नाम लेता। विरले हैं वे लोग और दुर्भाग्य से कभी-कभी होते हैं; मुश्किल से कभी होते हैं, जो जानते हैं कि क्या सत्य है और क्या सपना है। अष्टावक्र ऐसे विरले लोगों में एक हैं। एक-एक सूत्र को स्वर्ण का मानना। एक-एक सूत्र को हृदय में गहरे रखना, सम्हालकर रखना। इससे बहुमूल्य मनुष्य के चैतन्य में कभी घटा नहीं है।
पहला सूत्र:
अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवंन्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः।।
"जब मनुष्य अपनी आत्मा के अकर्तापन और अभोक्तापन को मानता है तब उसकी संपूर्ण चित्तवृत्तियां निश्चयपूर्वक नाश को प्र्राप्त होती हैं।" दृश्य में हम उलझे क्यों हैं? दृश्य में हम उलझे हैं क्योंकि दृश्य में ही सुविधा है कर्ता के होने की, भोक्ता के होने की। जब तक हम कर्ता होना चाहते हैं तब तक हम द्रष्टा न हो सकेंगे। क्योंकि जो कर्ता होना चाहता है वह तो द्रष्टा हो ही नहीं सकता। वे आयाम विपरीत हैं। वे आयाम एक साथ नहीं रहते। अंधेरे और प्रकाश की भांति हैं। प्रकाश ले आए, अंधेरा चला गया। ऐसे ही जिस दिन साक्षी आएगा, कर्ता चला जाएगा। या कर्ता चला जाए तो साक्षी आ जाए। दोनों साथ नहीं होते।
और हमारा रस भोक्ता होने में है। दृश्य को हम देखना क्यों चाहते हैं?
यह दृश्य की इतनी लीला में हम उलझते क्यों हैं? क्योंकि हमें लगता है, देखने में ही भोग है।
तुम देखो, संसार को देखने से तुम नहीं चुकते तो फिल्म देखने चले जाते हो। जानते हो भलीभांति कि पर्दे पर कुछ भी नहीं है। नाकुछ के लिए तीन घंटे बैठे रहते हो। कुछ भी नहीं है पर्दे पर। भलीभांति जानते हो, फिर भी भूल-भूल जाते हो। रो भी लेते हो, हंस भी लेते हो। रूमाल आंसुओं से गीले हो जाते हैं। तरंगित हो लेते हो, प्रसन्न हो लेते हो, दुखी हो लेते हो। तीन घंटे भूल ही जाते हो।
जहां-जहां टेलीविजन फैल गया है वहां लोग घंटों...अमरीकन आंकड़े मैं पढ़ रहा था, प्रत्येक अमरीकन कम से कम छः घंटे प्रतिदिन टेलीविजन देख रहा है-- छः घंटे! छोटे-छोटे से बच्चे से लेकर बड़े-बड़े तक बचकाने हैं। तुम देख क्या रहे हो?
ज्ञानी कहते हैं, संसार झूठ है, तुम झूठ में भी सच देख लेते हो। तुम पर्दे पर जहां कुछ भी नहीं है, धूप-छाया का खेल है, आंदोलित हो जाते हो, सुखी-दुखी हो जाते हो, सब भांति अपने को विस्मरण कर देते हो। फिल्म में जाकर बैठ जाने का सुख क्या है? थोड़ी देर को तुम भूल जाते हो। फिल्म एक तरह की शराब है। दृश्य इतना जकड़ लेता है तुम्हें कि कर्ता बिलकुल संलग्न हो जाता है, भोक्ता संलग्न हो जाता है और साक्षी भूल जाता है। उस विस्मरण में ही शराब है। तीन घंटे बाद जब तुम जागते हो उस विस्मरण से, जो फिल्म तुम्हें सुला देती है तीन घंटे के लिए अपने साक्षीभाव में, उसी को तुम अच्छी फिल्म कहते हो। जिस फिल्म में तुम्हें अपनी याद बार-बार आ जाती है, तुम कहते हो, कुछ मतलब की नहीं है। जिस उपन्यास में तुम भूल जाते हो अपने को पढ़ते समय, कहते हो, अदभुत कथा है।
अदभुत तुम कहते उसको हो जिसमें शराब झरती है, जहां तुम भूल जाते हो, जहां विस्मरण होता है। जहां स्मरण आता है वहीं तुम कहते हो कथा में कुछ सार नहीं, डुबा नहीं पाती। बार-बार अपनी याद आ जाती है।
"जब मनुष्य अपनी आत्मा के अकर्तापन और अभोक्तापन को मानता है तब उसकी संपूर्ण चित्तवृत्तियां निश्चयपूर्वक नाश को प्राप्त होती हैं।"
जानने योग्य, मानने योग्य, होने योग्य एक ही बात है और वह है, अकर्तापन
और अभोक्तापन। अकर्तापन, अभोक्तापन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।
भोक्ता और कर्ता साथ-साथ होते हैं। जो भोक्ता है वही कर्ता बन जाता है। जो कर्ता बनता है वही भोक्ता बन जाता है। एक दूसरे को सम्हालते हैं।

जो इन दोनों से मुक्त हो जाता है उसकी चित्तवृतियां निश्चयपूर्वक नाश
को उपलब्ध होती हैं। फिर उसे निरोध नहीं करना पड़ता, चेष्टा नहीं करनी पड़ती। कैसे अपनी चित्तवृत्तियों को त्याग दूं इसके लिए कोई उपाय नहीं करना पड़ता। ऐसा जानकर, ऐसा देखकर, ऐसा समझकर कि मैं केवल साक्षी हूं, चित्तवृत्तियां अपने से ही शांत हो जाती हैं।
साक्षी के साथ मन जीता नहीं। साक्षी के साथ मन की तरंगें खो जाती हैं।
और मन की तरंगों का खो जाना ही तो फिर परमात्मा की तरंगों का उठना है। जहां तुम्हारा मन गया वहीं प्रभु आया। इधर तुम विदा हुए, उधर प्रभु का पदार्पण हुआ। तुम करो खाली सिंहासन तो प्रभु आ जाता है।
तुम अकड़कर बैठे हो, कर्ता-भोक्ता बने बैठे हो। तुम किसी तरह अगर छूटते
भी हो संसार से तो भी तुम कर्ता-भोक्तापन से नहीं छूटते। फिर तुम कहते हो स्वर्ग चाहिए। वहां भी भोगेंगे। भोग जारी है। अगर तुम संसार से छूटते भी हो तुम कहते हो, तप करेंगे, ध्यान करेंगे; जप करेंगे, पूजा, प्रार्थना, यज्ञ, हवन, करेंगे; लेकिन करेंगे। कर्तापन फिर भी जारी रहा।
समस्त धर्मों का जो अंतिम निचोड़ है वह है, ऐसी घड़ियों को पा लेना जब न
तो तुम भोगते और न कुछ करते; जब तुम बस हो। होने में भोक्ता की तरंग उठी कि चूक गए, कर्ता की तरंग उठी कि चूक गए। होने में कोई तरंग न उठी, बहने लगा रस। रसो वै सः! वहीं आनंद की धार, वहीं अमृत की धार उपलब्ध हुई।
इसे समझो। रात तुम सपना देखते हो, तुम भलीभांति जानते हो झूठ है। रात नहीं, सुबह जागकर जानते हो कि झूठ है। रात जान लो तो तुम प्रबुद्ध पुरुष हो जाओ, बुद्ध हो जाओ। रात तो तुम फिर भूल जाते हो। यह तुम्हारी पुरानी आदत है दृश्य में भूल जाने की। फिल्म में भूल जाते हो, टी. वी. पर देखते-देखते भूल जाते हो, किताब पढ़ते-पढ़ते भूल जाते हो। रात सपना देखते हो, अपनी ही कल्पना का जाल, वहां भूल जाते हो। और लगता है सब सच है, सब ठीक है। बिलकुल असंगत बातें भी ठीक लगती हैं। जो जरा भी संभव नहीं है वह भी ठीक लगता है।
एक पत्थर पड़ा है राह के किनारे, पास तुम पहुंचते हो, अचानक पत्थर उचककर खरगोश हो जाता है, फिर भी तुम्हें कोई अड़चन नहीं आती। घोड़ा चला आ रहा है, बदलकर पत्नी हो जाती है, तुम्हें कुछ अड़चन नहीं मालूम होती। तुम यह भी नहीं सोचते एक क्षण को, यह कैसे हो सकता है।
नहीं, तुम दृश्य में इतने लीन हो कि सोचने वाला है कहां? जागकर देखनेवाला है कहां? निर्णय कौन करे? तुम तो हो ही नहीं। तुम तो सिफर, तुम तो नकार हो। तुम्हारी मौजूदगी नहीं है। तुम्हारी मौजूदगी की किरण आ जाए तो सपना अभी टूटने लगे, अभी बिखरने लगे।
गुरजिएफ अपने शिष्यों को साधना के पूर्व तीन महीने के लिए एक ही प्रयोग करवाता था कि किसी भांति सपने में जागना आ जाए। बहुत सी विधियां उसने खोजीं थी। उनमें एक विधि यह थी कि तीन महीने तक चलो, उठो, बैठो, बाजार जाओ, दूकान जाओ, दफ्तर जाओ, मगर एक बात खयाल रखो कि जो भी तुम देख रहे हो झूठ है। इसको स्मरण रखो। इस स्मरण को गहराओ। इस बात का अभ्यास करो कि जो भी देख रहे, सब झूठ है।
बड़ी कठिनाई है। राह पर तुम चल रहे हो, जो लोग चल रहे--झूठ, जो कारें दौड़ रहीं--झूठ, जो बसें चल रही--झूठ; सब झूठ है। पहले तो अड़चन होती है। पहले तो बड़ी अड़चन होती है। बार-बार भूल जाते हो, क्योंकि जन्मों-जन्मों तक इसे सच माना है। लेकिन गुरजिएफ कहता है, चेष्टा करते रहो। कोई महीने भर के प्रयोग के बाद यह बात थमने लगती है। यह भाव बना रहने लगता है कि सब झूठ।
तीन महीने पूरे होतेऱ्होते एक दिन तुम अचानक पाओगे कि रात सपने में, अचानक बीच सपने में तुम्हें स्मरण आ जाता है--झूठ! और वहीं सपना टूटकर बिखर जाता है। तीन महीने तुमने अभ्यास किया कि जो दिखाई पड़ रहा है--झूठ, जो दिखाई पड़ रहा है--झूठ, जो दिखाई पड़ रहा है--झूठ। यह अभ्यास गहरे चला गया। इसका तीर प्रवेश कर गया तुम्हारे हृदय की आखिरी सीमा तक। फिर एक दिन वहीं से रात सपना भी दिखाई ही पड़ेगा। यह अभ्यास एक दिन बोलेगा सपने में--"झूठ"। झूठ कहते ही, यह भाव उठते ही कि यह झूठ है, यह सपना है--सपना बिखर जाता है। सन्नाटा छा जाता है। और जिस क्षण तुम्हें याद आता है कि यह सपना है, इधर सपना टूटा, उधर तुम जागे। दृश्य गया, द्रष्टा उठा।

और जिस दिन तुम सपने में जान लोगे कि यह झूठ है, सपना झूठ है, दृश्य झूठ है, द्रष्टा सच है; उस दिन तुम सुबह जागकर पाओगे, अब अभ्यास की जरूरत न रही। अब तो जो दिखाई पड़ता है वह झूठ है। झूठ का यह अर्थ नहीं है कि नहीं है, झूठ का इतना ही अर्थ है: आभास है। झूठ का इतना ही अर्थ है: शाश्वत नहीं है, क्षणभंगुर है। पानी का बबूला है। पानी पर बबूले उठते हैं, झूठ तो नहीं हैं, हैं तो। लेकिन झूठ इस अर्थ में हैं, टिकेंगे नहीं। अभी उठे, अभी गए। क्षणभंगुर हैं। आई लहर, गई लहर। टिकती नहीं, स्थिर नहीं है, थिरता नहीं है। कल नहीं थी, आज है, कल फिर नहीं हो जाएगी।
इस परिभाषा को याद रखना। पूरब की सत्य की यह परिभाषा है: जो सदा रहे वह सत्य। जो सतत रहे वही सत्य। सतत का निचोड़ ही सत्य। सत्य और सतत एक ही अर्थ रखते हैं। वह जो सातत्य है, वही सत। जो आज है कल नहीं हो जाए, वही असत। जिसका सातत्य न रहे, वही असत।
असत को खयाल रखना। असत का यह मतलब नहीं होता कि नहीं है। पानी का बबूला भी है तो। रात का सपना भी है तो। सपना है, तो भी है तो। पानी पर उठी लहर है, मगर है तो। थोड़ी देर को है, बस इतना ही अर्थ है। और थोड़ी देर को जो है, उसमें जो उलझ गया वह दुख पायेगा। क्योंकि जो थोड़ी देर को है, थोड़ी देर बाद नहीं हो जाएगा।
तुम एक प्रेम में पड़ गए। तुमने एक स्त्री को चाहा, एक पुरुष को चाहा, खूब चाहा। जब भी तुम किसी को चाहते हो, तुम चाहते हो तुम्हारी चाह शाश्वत हो जाए। जिसे तुमने प्रेम किया वह प्रेम शाश्वत हो जाए। यह हो नहीं सकता। यह वस्तुओं का स्वभाव नहीं। तुम भटकोगे। तुम रोओगे। तुम तड़पोगे। तुमने अपने विषाद के बीज बो लिए। तुमने अपनी आकांक्षा में ही अपने जीवन में जहर डाल लिया। यह टिकनेवाला नहीं है। कुछ भी नहीं टिकता यहां। यहां सब बह जाता है। आया और गया।
अब तुमने यह जो आकांक्षा की है कि शाश्वत हो जाए, सदा-सदा के लिए हो जाए; यह प्रेम जो हुआ, कभी न टूटे, अटूट हो; यह शृंखला बनी ही रहे, यह धार कभी क्षीण न हो, यह सरिता बहती ही रहे--बस, अब तुम अड़चन में पड़े। आकांक्षा शाश्वत की और प्रेम क्षणभंगुर का; अब बेचैनी होगी, अब संताप होगा। या तो प्रेम मर जाएगा या प्रेमी मरेगा। कुछ न कुछ होगा। कुछ न कुछ विघ्न पड़ेगा। कुछ न कुछ बाधा आएगी।
ऐसा ही समझो, हवा का एक झोंका आया और तुमने कहा, सदा आता रहे। तुम्हारी आकांक्षा से तो हवा के झोंके नहीं चलते। वसंत में फूल खिले तो तुमने कहा सदा खिलते रहें। तुम्हारी आकांक्षा से तो फूल नहीं खिलते। आकाश में तारे थे, तुमने कहा दिन में भी रहें। तुम्हारी आकांक्षा से तो तारे नहीं संचालित होते। जब दिन में तारे न पाओगे, दुखी हो जाओगे। जब पतझड़ में पत्ते गिरने लगेंगे, और फूलों का कहीं पता न रहेगा, और वृक्ष नग्न खड़े होंगे दिगंबर, तब तुम रोओगे, तब तुम पछताओगे। तब तुम कहोगे, कुछ धोखा दिया, किसी ने धोखा दिया।
किसी ने धोखा नहीं दिया है। जिस दिन तुम्हारा और तुम्हारी प्रेयसी के बीच प्रेम चुक जाएगा, उस दिन तुम यह मत सोचना कि प्रेयसी ने धोखा दिया है; यह मत सोचना कि प्रेमी दगाबाज निकला। नहीं, प्रेम दगाबाज है। न तो प्रेयसी दगाबाज है, न प्रेमी दगाबाज है--प्रेम दगाबाज है।
जिसे तुमने प्रेम जाना था वह क्षणभंगुर था, पानी का बबूला था। अभी-अभी बड़ा होता दिखता था। पानी के बबूले पर पड़ती सूरज की किरणें इंद्रधनुष का जाल बुनती थीं। कैसा रंगीन था! कैसा सतरंगा था! कैसे काव्य की स्फुरणा हो रही थी! और अभी गया। गया तो सब गए इंद्रधनुष! गया तो सब गए सतरंग। गया तो गया सब काव्य! कुछ भी न बचा।
क्षणभंगुर से हमारा जो संबंध हम बना लेते हैं और शाश्वत की आकांक्षा करने लगते हैं उससे दुख पैदा होता है। शाश्वत जरूर कुछ है; नहीं है, ऐसा नहीं। शाश्वत है। तुम्हारा होना शाश्वत है। अस्तित्व शाश्वत है। आकांक्षा कोई भी शाश्वत नहीं है। दृश्य कोई भी शाश्वत नहीं है। लेकिन द्रष्टा शाश्वत है।

देखो, रात तुम सपना देखते हो, सुबह पाते हो सपना झूठ था। फिर दिन भर खुली आंखों जगत का फैलाव देखते हो, हजार-हजार घटनायें देखते हो। रात जब सो जाते हो तब सब भूल जाता है, सब झूठ हो जाता है।
दिन में तुम पति थे, पत्नी थे, मां थे, पिता थे, बेटे थे; रात सो गए, सब
खो गया। न पिता रहे, न पत्नी, न बेटे। दिन तुम अमीर थे, गरीब थे; रात सो गए, न अमीर रहे न गरीब। दिन तुम क्या-क्या थे! रात सो गए, सब खो गया। दिन में जवान थे, बूढ़े थे; रात सो गए, न जवान रहे, न बूढ़े। सुंदर थे, असुंदर थे, सब खो गया। सफल-असफल सब खो गया। रात ने दिन को पोंछ दिया।
जैसे सुबह रात को पोंछ देती है, वैस ही रात दिन को पोंछ देती है। जैसे दिन के उगते ही रात सपना हो जाती है, वैसे ही रात के आते ही दिन भी तो सपना हो जाता है। इसे जरा गौर से देखो। दोनों ही तो भूल जाते हैं। दोनों ही तो मिट जाते हैं। लेकिन एक बना रहता है--रात जो सपना देखता है वही जागृति में दिन का फैलाव देखता है। देखनेवाला नहीं मिटता। रात सपने में भी मौजूद होता है।
कभी-कभी सपना भी खो जाता है और इतनी गहरी तंद्रा, इतनी गहरी निद्रा होती है कि स्वप्न नहीं होते, सुषुप्ति होती है स्वप्नशून्य, तब भी द्रष्टा होता है। सुबह तुमने कभी-कभी उठकर कहा है--रात ऐसे गहरे सोये, ऐसे गहरे सोये कि सपने की भी खलल न थी। बड़ा आनंद आया। बड़े ताजे उठे।
तो जरूर कोई बैठा देखता रहा रात भी। कोई जागकर अनुभव करता रहा रात भी। गहरी निद्रा में भी कोई जागा था। कोई किरण मौजूद थी। कोई प्रकाश मौजूद था। कोई होश मौजूद था। कोई देख रहा था। नहीं तो सुबह कहेगा कौन? तुम सुबह ही जागकर अगर जागे होते तो रात की खबर कौन लाता? उस गहरी प्रसुप्ति की कौन खबर लाता? रात भी तुम कहीं जागते थे किसी गहरे तल पर। किसी गहरे अंतश्चेतन में कोई जागा हुआ हिस्सा था, कोई प्रकाश का छोटा सा पुंज था। वही याद रखे है; उसी की स्मृति है सुबह कि रात बड़ी गहरी नींद सोये। अपूर्व थी, आनंदपूर्ण थी।
एक बात तय है, जागो कि सोओ, सपना देखो कि जगत देखो, सब बदलता रहता है, द्रष्टा नहीं बदलता। इसलिए द्रष्टा शाश्वत है। बचपन में भी द्रष्टा था, जवानी में भी द्रष्टा था, बुढ़ापे में भी द्रष्टा था। जवानी गई, बचपन गया, बुढ़ापा भी चला जाएगा, द्रष्टा बचा रहता है। तुम जरा गौर से छानो, तुम्हारे जीवन में तुम एक ही चीज को शाश्वत पाओगे, वह द्रष्टा है। कभी हारे, कभी जीते; कभी धन था, कभी निर्धन हुए; कभी महलों में वास था, कभी झोपड़ें भी मुश्किल हो गये, लेकिन द्रष्टा सदा साथ था। जंगलों में भटको कि राजमहलों में निवास करो, हार तुम्हें गङ्ढों में गिरा दे कि जीत तुम्हें शिखरों पर बिठा दे, सिंहासन पर बैठो कि कौड़ी-कौड़ी को मोहताज हो जाओ, एक सत्य सदा साथ है: द्रष्टा। देखनेवाला सदा साथ है।
और अगर तुम इस देखनेवाले को ठीक-ठीक पहचानने लगो तो जब तुम मरोगे तब
भी यह साथ रहेगा। बस यही साथ रहेगा, और सब छूट जायेगा। मृत्यु तो एक घटना है। जैसे जीवन देखा वैसे मृत्यु को भी तुम देखोगे। जैसे दिन देखा--दिन जीवन है; और रात देखी--रात मौत है; ऐसे ही बड़ी रात आएगी मौत की, अमावस आएगी, वह भी तुम देखोगे। मगर द्रष्टा से पहचान बना लो। द्रष्टा से दोस्ती बना लो। द्रष्टा के साथ गठबंधन कर लो।
हालत तो ऐसी है कि तुम अभी दिन में ही बेहोश तो रात में तो बेहोश रहोगे ही। जीवन ही सोये-सोये जा रहा है तो मौत तो और गहरी नींद है, वहां तो तुम जाग न पाओगे। और जिसने एक बार मौत को जागकर देख लिया, उसका फिर जो नया जन्म होगा वह भी जागकर होगा। जब मौत तक को देख लिया, फिर क्या अड़चन रही? तुम जागते हुए जन्मोगे। बस, जागकर एक बार मौत हो जाए तो उसके बाद जो जन्म होगा वह जागा हुआ होगा। तुम देखते हुए जन्मोगे। और उसके बाद फिर कुछ भी नहीं है। फिर आखिरी जीवन आ गया, फिर जो मौत होगी वही मोक्ष है।
कर्ता और भोक्ता दृश्य में उलझाव है, द्रष्टा भीतर की यात्रा है।
"धीर पुरुष को स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है"--सुनना सूत्र को--"धीर पुरुष को स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है, लेकिन स्पृहायुक्त चित्तवाले मूढ़ की बनावटी शांति भी नहीं शोभती।"

उच्छृंखलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।
न तु संस्पृहचित्तस्य शांतिर्मूढ़स्य कृत्रिमा।।
अष्टावक्र कह रहे हैं कि अगर ज्ञान को उपलब्ध, साक्षी में जागा पुरुष हो, धीर पुरुष हो तो उसको अशांति भी शोभती है। उसके जीवन में दुख भी आभूषण हैं। उसे अगर तुम क्रोधयुक्त भी पाओगे तो उसके क्रोध में भी तुम पाओगे एक गरिमा, एक गौरव, एक दिव्यता। अगर वैसा व्यक्ति उच्छृंखल भी होगा तो तुम उसकी उच्छृंखलता के गहरे में शांति की अपूर्व धारा पाओगे।
और इससे विपरीत भी सच है: "स्पृहायुक्त चित्तवाले मूढ़ की बनावटी शांति भी नहीं शोभती।"
"स्पृहायुक्त चित्तवाले...।"
जिसके जीवन में अभीर् ईष्या है, द्वेष है, स्पर्धा है, कॉम्पिटीशन है। खयाल करो, द्रष्टा होने में तो कोई स्पृहा नहीं हो सकती। क्योंकि मैं द्रष्टा हो जाऊं तो तुमसे कुछ छीनता नहीं। तुम द्रष्टा हो जाओ तो मुझसे कुछ छीनते नहीं। लेकिन मैं अगर भोक्ता बनूं तो तुमसे बिना छीने न बन सकूंगा। मुझे अगर बड़ा महल चाहिए तो किन्हीं के मकान गिरेंगे। मुझे अगर बहुत धन चाहिए तो किन्हीं की जेबें कटेंगी। मुझे अगर बहुत यश चाहिए तो किन्हीं के जीवन से यश के दीये बुझेंगे। मुझे अगर पद चाहिए तो जो पद पर हैं उन्हें नीचे गिराना होगा। स्पृहा! भोग में तो स्पृहा है।
अगर मुझे कर्ता होना है तो संघर्ष होगा, कलह होगी। क्योंकि और भी कर्ता बनने निकले हैं, मैं अकेला नहीं। और कर्ता का जो जगत है, वह बाहर है। सभी निकले हैं विजेता होने, सभी सिकंदर बनने निकले हैं। संघर्ष होगा। हिंसा होगी। कष्ट फैलेगा। दुख आएगा। मनुष्य-जाति का पूरा इतिहास स्पृहा से भरे हुए पागलों का इतिहास है। तैमूरलंग, चंगीजखान, सिकंदर, नेपोलियन और सब। लेकिन एक ऐसा जगत भी है जहां दूसरे से कोई स्पृहा नहीं है।
अगर मैं द्रष्टा बनने निकलूं तो किसी से मेरा कोई संघर्ष नहीं। मैं अप्रतियोगी हो गया। मेरी किसी से कोई दुश्मनी न रही। लाख तुम लोगों को समझाओ कि मित्रता रखो, सभी तुम्हारे भाई-बंधु हैं, देखो पिता सबका एक है, परमात्मा एक है और हम सब उसके बेटे हैं तो हम सब भाई-बंधु हैं, लेकिन यह हल नहीं होता इससे कुछ, कितना ही यह कहो।
स्कूल में तीस बच्चे हैं, एक क्लास में पढ़ते हैं, हम उनको कितना ही कहें कि तुम एक-दूसरे के मित्र हो, यह बात हो नहीं सकती। क्योंकि स्पर्धा तो मौजूद है, प्रथम आने की दौड़ तो मौजूद है। कोई एक प्रथम आएगा उनतीस को हराकर। तो हरेक हरेक का दुश्मन है। लाख समझाओ-बुझाओ। लाख ऊपर से हम रोगन पोतें और कहें कि हम एक-दूसरे के मित्र हैं, यह सब मित्रता दिखावा है, पाखंड है, औपचारिकता है।
शायद यह दिखावा भी जरूरी है उस भीतरी संघर्ष को चलाए रखने के लिए। यह मुखौटा भी जरूरी है, नहीं तो संघर्ष बिलकुल खुलकर हो जाएगा; गर्दनें कट जाएंगी। तो गर्दन काटते भी हैं हम और इस ढंग से काटते हैं कि कहीं कोई पता भी न चले, शोरगुल भी न हो, आवाज भी न हो। हम जेब काटते भी हैं और जेब में हाथ भी नहीं डालते।
एक बड़े राजनेता ने एक बहुत बड़े दर्जी से अपने कपड़े बनवाये। जब वे कपड़े पहनकर उसने देखे तो बड़ा खुश हुआ। पूरी कुशलता दर्जी ने बरती थी। कोट भी सुंदर था, कमीज भी सुंदर थी, पैंट भी सुंदर था। राजनेता बहुत खुश हुआ। तभी उसने खीसे में हाथ डालकर देखा तो खीसा नहीं था। तो उसने दर्जी से पूछा कि इतना सुंदर तुमने वेश तैयार किया, खीसा तो है ही नहीं। यह भूल कैसे हो गई? उसने कहा, मैं तो सोचा कि आप राजनेता हैं; राजनेता अपने खीसे में हाथ तो डालते ही नहीं। तो खीसे की जरूरत क्या? राजनेता तो दूसरे के खीसे में हाथ डालते हैं। इस कुशलता से डालते हैं कि दूसरे को पता भी नहीं चलता। चोर भी चुराते हैं मगर पता चल जाता है। राजनेता भी चुराते हैं लेकिन पता नहीं चलता।
इस जगत में तो सब तरफ संघर्ष है। कोई बहुत सज्जनता से करता है, कोई बड़ी कुशलता से करता है, कोई छीना-झपटी कर देता है। जो छीना-झपटी कर देता है वह अकुशल है, बस। बेईमान तो सब एक जैसे हैं। बेईमानी में तो कुछ भेद नहीं है।

इस जगत में ईमानदार होना तो असंभव है। क्योंकि इस जगत की दौड़ ऐसी है कि वहां बेईमान होना ही पड़ेगा। जो कर्ता बनने निकला है उसे लड़ना पड़ेगा। और लड़ना कहीं नैतिक हो सकता है? जो भोक्ता बनने निकला है उसे दूसरे की गर्दन काटनी ही होगी। अब दूसरे की गर्दन भी कहीं धार्मिक ढंग से काटी जा सकती है? मित्रता इत्यादि सब नाम हैं, बातचीत है, बकवास है, ऊपर का पाखंड है, धोखा है। जिसको तुम संस्कृति कहते हो, सभ्यता कहते हो, वह सब बातचीत है। उस बातचीत--सुंदर बातचीत के नीचे एक-दूसरे की जेबें काटी जाती हैं, एक-दूसरे की गर्दन काटी जाती है, एक-दूसरे की जड़ काटी जाती है। यहां दुश्मन तो दुश्मन हैं ही, यहां मित्र भी दुश्मन हैं।
ऑस्कर वाइल्ड ने लिखा है, हे प्रभु, दुश्मनों से तो मैं निपट लूंगा, मित्रों का तू जरा खयाल करना! दुश्मन से निपटना तो बहुत आसान है; कम से कम मामला साफ है। मित्रों से निपटना बहुत मुश्किल है, क्योंकि मामला बिलकुल साफ नहीं है, मित्र होने का दावा है। अंततः मित्र ही बड़े शत्रु सिद्ध होते हैं। क्योंकि वे ही निकट होते हैं और छुरा भोंकना उन्हें ही आसान होता है। स्पृहा हिंसा है। स्पृहा शत्रुता है। स्पृहा में सारा रोग है, महारोग है। अष्टावक्र कहते हैं:
उच्छृंखलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।
अगर कभी तुम धीर पुरुष को क्रोध में भी देखो, उच्छृंखल भी देखो, नाराज
भी देखो, तो भी गौर से देखना, उसकी नाराजगी के पीछे गहन शांति होगी। और तुम अगर स्पृहा से भरे हुए व्यक्ति को शांत बैठा देखो तो उसकी शांति ऊपर-ऊपर होगी और भीतर गहन अशांति का तूफान, अंधड़ चलता होगा।
रोजे के दिन थे और मुल्ला नसरुद्दीन ने अपने तीन मित्रों के साथ एक दिन मौन से बैठने का निर्णय किया; दिन भर मौन रखना है। बैठे ही थे मौन से, आधा घड़ी भी न गुजरी थी कि एक व्यक्ति थोड़ा बेचैन-सा होने लगा और एकदम से बोला कि पता नहीं, मैं घर में ताला लगा पाया कि नहीं। दूसरे ने कहा, नालायक! बोलकर सब खराब कर दिया। टूट गया व्रत। तीसरे ने कहा, किसको समझा रहे? तुम भी बोल गए। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि हमीं भले; अभी तक नहीं बोले। अशांत आदमी चेष्टा करके बैठ भी जाए तो भी कुछ फर्क तो नहीं पड़ता। अशांत तो अशांत है, ऊपर-ऊपर से थोप भी ले तो कुछ अंतर नहीं आता। सच तो यह है, अगर तुम अशांत हो तो जब तुम शांत बैठोगे तब तुम्हारी अशांति जितनी प्रगट होगी उतनी कभी भी प्रगट नहीं होगी। क्योंकि उस वक्त तो अशांति ही अशांति बचेगी। एक झीनी-सी पर्त तुम ऊपर से ओढ़ लोगे--एक चादर, और भीतर तो अंधड़ चल रहे होंगे। जीवन के कामों में उलझे रहते हो तब उतने अंधड़ चलते भी नहीं। क्योंकि ऊर्जा कामों में उलझी रहती है। शांत होकर बैठ गए तो ऊर्जा का क्या होगा, शक्ति का क्या होगा? जो दूकान में लगी है, लड़ने में लगी है, मरने- मारने में लगी है, वह सब खाली पड़ी है। वह एकदम भीतर घुमड़ने लगेगी। वह सारी भाप तुम्हारे भीतर इकट्ठी होने लगेगी। तुम्हारी केतली शोरगुल करने लगेगी, फूटने का क्षण करीब आने लगेगा।
अक्सर ऐसा होता है, जब लोग ध्यान करने बैठते हैं तब उन्हें अशांति का पता चलता है। मेरे पास लोग आकर कहते हैं कि जब हम ध्यान के लिए नहीं बैठते तब सब ठीक रहता है, जब ध्यान के लिए बैठते हैं, हजार-हजार सवाल उठते हैं, हजारों विचार उठते हैं। न मालूम कहां-कहां के--वर्षों पहले की यादें आती हैं। जिनको हम सोचते हैं भूल ही चुके थे, वे अभी ताजे मालूम पड़ते हैं। जो घाव हम सोचते थे भर चुके हैं, वे फिर खुल जाते हैं। यह क्या ध्यान हुआ? यह कैसा ध्यान है?
लेकिन कारण है। साधारणतः तुम व्यस्त रहते हो। तुम्हें अपने भीतर झांकने का मौका भी नहीं मिलता। अगर तुम घड़ी भर को शांत होकर बैठ जाओ तो भीतर का सारा रोग साक्षात्कार होने लगता है, सामने आ जाता है। सारा ज्वर, सारी मवाद भीतर बहती हुई दिखाई पड़ने लगती है।
"धीर पुरुष को स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है।"
ख्याल करना इस वचन का--"स्वाभाविक"।
मैंने तुम्हें पीछे कहा, चादविक ने लिखा है कि रमण को कभी उसने नाराज
न देखा था। लेकिन एक दिन एक पंडित आया और उनसे ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछने लगा;

और उन्होंने उसे बहुत समझा- समझाकर कहा, लेकिन वह माने ही नहीं। वह शास्त्रों के उद्धरण दे, और विवाद के लिए बिलकुल तत्पर खड़ा। चादविक ने लिखा है कि हम सब परेशान हो गए कि वह नाहक उन्हें परेशान कर रहा है। और उन्हें जो कहना था, कह दिया। समझ ले ठीक, न समझे, जाये। लेकिन वह वेद, उपनिषद, गीता इनके उद्धरण देने लगा और सिद्ध करने लगा कि मैं सही हूं। चादविक ने लिखा है, तब एक घटना घटी जो अलौकिक थी। रमण ने उठाया डंडा और उसके पीछे दौड़े। रमण महर्षि किसी के पीछे डंडा उठाकर दौड़ें! सब भक्त भी चौंक गए। और वह आदमी भागा एकदम घबड़ाकर। उसे बाहर खदेड़कर वे हंसते हुए भीतर आए। डंडा रखकर अपनी जगह बैठ गए।
अब यह जो घटा यह बिलकुल स्वाभाविक है। यह आदमी दूसरी भाषा समझता ही न था। कोई उपाय ही न था। यह कुछ क्रोध नहीं है। यह वैसा क्रोध नहीं है जैसा तुम जानते हो। इसमें रमण कहीं भी अपने केंद्र से च्युत नहीं हुए। अपने केंद्र पर थिर हैं। लेकिन यह आदमी दूसरी भाषा समझता ही नहीं। इसको सब तरफ से समझाने की कोशिश कर ली, यह सिर्फ डंडे की भाषा ही समझेगा। ऐसा देखकर--और ऐसा भी किसी निर्णय से नहीं कि ऐसा सोच-विचारकर डंडा उठाया हो, डंडा उठा लिया बालवत, स्वाभाविक। यही मौजूं था इस स्थिति में, यह स्वाभाविक था। चादविक ने लिखा है, उस दिन जैसी शांति रमण में पहले नहीं देखी थी। शांति, अपूर्व शांति थी। इतनी गहरी शांति थी इसीलिए इतने स्वाभाविक रूप से क्रोध को भी हो जाने दिया। इससे भी कोई बाधा न थी।
अष्टावक्र कहते हैं, स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है। चादविक
ने लिखा है, वह रूप रमण का जो उस दिन देखा, अपूर्व था, बड़ा प्यारा था। यह भी शोभती है।
"लेकिन स्पृहायुक्त चित्तवाले मूढ़ की बनावटी शांति भी नहीं शोभती।"
मूढ़ तो बोले तो मुश्किल में पड़े, न बोले तो मुश्किल में पड़े।
मैंने सुना है, लाला करोड़ीमल की छोटी-सी दूकान थी। एक बार दूकान में
से दस रुपये का नोट कम हो गया। तो उन्होंने अपने नौकर ननकू से कहा, आज सुबह से शाम तक दूकान में कोई कौवा भी नहीं आया। दूकान में तुम्हारे और मेरे अलावा कोई भी न था। तुम्हीं कहो, दस रुपये कहां जा सकते हैं? ननकू ने तपाक से अपनी जेब से पांच रुपये निकालकर देते हुए कहा, हुजूर, यह लीजिए मेरा हिस्सा। मैं आपकी इज्जत खराब नहीं करना चाहता।
मूढ़ बोले तो फंसे, न बोले तो फंसे। मूढ़ फंसा ही हुआ है; कुछ भी करे। हर जगह उसकी मूढ़ता का दर्शन हो जाएगा।
इसलिए असली सवाल शांत बैठने, न बैठने का नहीं है, असली सवाल मूढ़ता को तोड़ने का है। असली सवाल जागने का है, अमूर्च्छा को लाने का है। ध्यान, तप, जप काम न आयेंगे। क्योंकि मूढ़ जप भी करेगा तो मूढ़ता ही प्रगट होगी। तप भी करेगा तो मूढ़ता ही प्रगट होगी। तुम्हारे भीतर जो है वही तो प्रगट होगा। तुम कुछ भी करो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता, जब तक कि भीतर के केंद्र पर ही क्रांति घटित न हो।
इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, उपर की व्यर्थ बातों में मत उलझना। सारी शक्ति भीतर लगाओ, जागने में लगाओ।
तुमने गौर से देखा कभी? मूढ़ अगर शांत बैठे तो सिर्फ जड़ मालूम होता है, मुर्दा मालूम होता है, प्रतिभाशून्य मालूम होता है, सोया-सोया मालूम होता है। ज्ञानी अगर शांत बैठे तो उसकी शांति जीवंत होती है। तुम गौर से सुनो तो उसकी शांति का कलकल नाद तुम्हें सुनाई पड़ेगा। ज्ञानी शांत बैठे तो उसकी शांति नाचती होती, उत्सवमग्न होती। मूढ़ की शांति डबरे की भांति है। ज्ञानी की शांति कलरव करती बहती हुई सरिता की भांति है, गत्यात्मक है। मूढ़ की शांति कहीं नहीं जा रही, कब्र की शांति है। ज्ञानी की शांति कब्र की शांति नहीं है, जीवन का अहोभाव है; जीवन का महारास, जीवन का नृत्य, जीवन का संगीत है। मूढ़ की शांति में कोई संगीत नहीं। बस तुम शांति ही पाओगे। ज्ञानी की शांति संगीतपूर्ण है--छंदोबद्ध, स्वच्छंद है।
तो ध्यान रखना, शांति को लक्ष्य मत बना लेना, नहीं तो बहुत जल्दी तुम मूढ़ की शांति में पड़ जाओगे। क्योंकि वह सस्ती है और सुगम है। कुछ भी करना नहीं पड़ता। बैठ गए! इसीलिए तो तुम्हारे बहुत से साधु-संन्यासी बैठ गए हैं।

तुम उनके पास जाकर मूढ़ता ही पाओगे। उनकी प्रतिभा निखरी नहीं है, और जंग खा गई। ऐसी शांति का क्या मूल्य है जो निष्क्रिय हो? ऐसी शांति चाहिए जो सृजनात्मक हो। ऐसी शांति चाहिए जो गुनगुनाये। ऐसी शांति चाहिए जिसमें फूल खिलें। ऐसी शांति चाहिए जिसमें जीवन का स्पर्श अनुभव हो, और महाजीवन अनुभव हो; मरघट की नहीं। तुम्हारे मंदिर भी मरघट जैसे हो गए हैं। नहीं, कहीं भूल हो रही है।
अष्टावक्र ठीक कहते हैं, मूढ़ की बनावटी शांति भी शोभा नहीं देती।
ऐसा ही समझो कि कोई कुरूप स्त्री खूब गहने पहन ले। तुमने देखा? स्त्री
और कुरूप हो जाती है, अगर कुरूप है और गहने पहन ले। और अक्सर ऐसा होता है, कुरूप स्त्रियों को गहने पहनने का खूब भाव पैदा होता है। कुरूप स्त्रियां सोचती हैं कि शायद जो कुरूपता है वह गहनों में ढांक ली जाए। तो खूब रंग-बिरंगे कपड़े पहनो, खूब गहने ढांक लो, हीरे-जवाहरात लटका लो। लेकिन कुरूपता हीरे-जवाहरातों से नहीं मिटती, और उभरकर दिखाई पड़ने लगती है। कितने ही बहुमूल्य वस्त्र पहन लो, कुरूपता वस्त्रों से नहीं मिटती। इतना आसान नहीं।
और कोई सुंदर हो तो निर्वस्त्र भी, बिना वस्त्रों के भी सुंदर है; साधारण वस्त्रों में भी सुंदर है, बिना गहनों के भी सुंदर है, बिना आभूषणों के भी सुंदर है। हां, अगर सुंदर व्यक्ति के हाथ में आभूषण हों तो आभूषण भी सुंदर हो जाते हैं। कुरूप व्यक्ति के हाथ में पड़े आभूषण भी कुरूप हो जाते हैं।
तुम जैसे हो वही तुम्हारे जीवन पर फैल जाता है--वही रंग। इसलिए असली सवाल आभूषणों का नहीं है, असली सवाल अंतःसौंदर्य को जगाने का है। तुम्हारे भीतर एक सौंदर्य की आभा होनी चाहिए, जो तुम्हारे पोर-पोर से बहे और झलके; तुम्हारे रोयें-रोयें में जिसकी मौजूदगी हो; तुम्हारी श्वास-श्वास में जिसकी महक हो।
"कल्पनारहित, बंधनरहित और मुक्त बुद्धिवाले धीर पुरुष कभी बड़े-बड़े भोगों के साथ क्रीड़ा करते हैं और कभी पहाड़ की कंदराओं में प्रवेश करते हैं।"
विलसन्ति महाभोगैः विशन्ति गिरिगह्वरान्।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः।।
और अष्टावक्र कहते हैं, मुक्त पुरुष को न तो महल से मोह है, और न झोपड़े
से मोह है।
इसे खयाल रखना। जिनका महलों से मोह छूट जाता उनका झोपड़ों से मोह बंध जाता है, लेकिन मोह जारी रहता। जिनका धन से मोह छूट जाता उनका निर्धनता से मोह बंध जाता है, लेकिन मोह जारी रहता।
अष्टावक्र कहते हैं, "कल्पनारहित, बंधनरहित और मुक्त बुद्धिवाले धीर पुरुष कभी बड़े-बड़े भोगों के साथ क्रीड़ा करते हैं।"
जैसा हो, उसमें ही राजी हैं। महल, तो महल में राजी। सुख, तो सुख में राजी। सिंहासन, तो सिंहासन पर राजी। और कभी पहाड़ की कंदरायें, तो वे भी सुंदर हैं।
सच तो यह है, मुक्त पुरुष महल में होता है तो महल प्रकाशित हो जाते हैं। मुक्त पुरुष कंदराओं में होता है, कंदरायें प्रकाशित हो जातीं। मुक्त पुरुष जहां होता वहीं सौंदर्य झरता। मुक्त पुरुष की मौजूदगी सभी चीजों को अपूर्व गरिमा से भर देती है। वह पत्थर छुए तो हीरा हो जाता है। हीरा छुए तो स्वभावतः हीरे में भी सुगंध आ जाती है। सोने में सुगंध। लेकिन मुक्त पुरुष का किसी चीज से कोई आग्रह नहीं है। ऐसा ही हो, ऐसा
ही होगा तो ही मैं सुखी रहूंगा, ऐसा कोई आग्रह नहीं है। जैसा हो, उसमें वह राजी है। उसका राजीपन प्रगाढ़ है, गहरा है, पूर्ण है। समस्तरूपेण उसने स्वीकार कर लिया है। जो दिखाये प्रभु, जहां ले जाए उसके लिए राजी है। न वह महल छोड़ता है, न वह झोपड़े को चुनता है। जीता है सूखे पत्ते की भांति; हवा जहां ले जाए।
"धीर पुरुष के हृदय में पंडित, देवता और तीर्थ का पूजन कर तथा स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती।"

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम्।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना।।
"धीर पुरुष के हृदय में पंडित, देवता और तीर्थ का पूजन कर...।"
तुम तो पूजन भी करते हो तो वहां भी वासना आ जाती है। तुम्हारा तो पूजन
भी कामना से दूषित हो जाता है। तुम्हारे तो पूजन में भी सुगंध नहीं रहती, वासना की दुर्गंध आ जाती है। धीर पुरुष भी पूजन करता है, लेकिन उसके पूजन में और तुम्हारे पूजन में जमीन-आसमान जितना फर्क है। धीर पुरुष भी कभी मंदिर जाता है, कभी मग्न होकर प्रतिमा के सामने नाचता है। कभी गंगा भी नहाता है, कभी तीर्थों की यात्रा भी करता है, लेकिन उसके मन में कोई वासना नहीं है। मंदिर इसलिए नहीं जाता कि कुछ मांगना है; मंदिर भी परमात्मा का है। धीर पुरुष मंदिर भी जा सकता है, मस्जिद भी जा सकता है। गुरुद्वारा भी जा सकता है, गिरजा भी जा सकता है। सभी परमात्मा का है।
धीर पुरुष जहां है, वहीं मंदिर। कोई मंदिर में ही सुख लेगा ऐसा भी नहीं है, लेकिन मंदिर का कोई त्याग भी नहीं है। कभी पूजा भी कर सकता है।
क्योंकि पूजन का भी एक मजा है। पूजन का भी एक रस है। पूजन भी एक अहोभाव है।
लेकिन यह सब है अहोभाव, एक धन्यवाद। तूने खूब दिया है उसके लिए धन्यवाद।
और तुझसे मांगने की कोई चाह नहीं। और की कोई वासना नहीं है।
तुम जाते भी मंदिर, झुकते भी, तो भी तुम्हारे हृदय में कुछ वासना है।
कुछ मिल जाए। तुम भिखारी की तरह ही जाते हो। धीर पुरुष हो गया सम्राट; नाचता है। जगत को तो बहुत कुछ देता ही है, परमात्मा को भी देता है, मांगता नहीं। परमात्मा के हाथों में भी स्वयं को उंडेल देता है। वहां भी नाचकर थोड़ा नाच परमात्मा को दे आता है।
"पंडित, देवता और तीर्थ का पूजन कर तथा स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती।"
सुंदरतम स्त्री को देख लेता है तो भी वासना नहीं होती। क्या इसका यह अर्थ हुआ कि उसे सुंदर स्त्री में सौंदर्य दिखाई नहीं पड़ता? ऐसा लोग समझाते हैं। ऐसा तुम्हारे पंडित-पुरोहित तुम्हें कहते हैं।
बात गलत है। उसे सौंदर्य तो दिखाई पड़ता है--दिखाई पड़ेगा ही। उसको ही दिखाई पड़ेगा, तुम्हें क्या दिखाई पड़ेगा? तुम तो अंधे हो। जहां सौंदर्य होता, उसे दिखाई पड़ता है। लेकिन वासना पैदा नहीं होती, वहां भी अहोभाव पैदा होता है। सुंदर स्त्री में भी प्रभु का ही दर्शन होता है, सुंदर पुरुष में भी प्रभु का ही दर्शन होता है। अगर कमल में देखकर प्रभु का दर्शन होता है तो मनुष्यों के कमल जहां खिलते हैं उन्हें देखकर क्या घबड़ाहट? घबड़ाहट तो जिन्हें होती है वे खबर दे रहे हैं कि अभी वासना जागती है, जीती है। अभी वासना चुकी नहीं। अभी ईंधन जारी है। अभी घबड़ाहट है। वे आंख फेर लेते हैं, आंख बंद कर लेते हैं।
नहीं, धीर पुरुष सौंदर्य को देखेगा और हर सौंदर्य उसे उस परम सौंदर्य
की याद दिलायेगा। हर सौंदर्य उस परम प्रकाश की ही एक किरण है। किसी स्त्री में नाची वह किरण, किसी बच्चे की आंखों में झलकी वह किरण, किसी झरने में गुनगुनायी वह किरण, लेकिन सब तरफ वही है। यह सूरज की ही धूप है सब तरफ। तुम्हें चाहे सूरज दिखाई न भी पड़े, लेकिन जो भी धूप है, यह सब सूरज की है। चाहे सूरज को सीधा देखना संभव भी न हो।
शायद परमात्मा को सीधा देखने में आंखें काम न आएं। शायद परमात्मा को सीधा देखना संभव ही नहीं है, क्योंकि हमारी आंखों की सीमा है। इसलिए हम प्रतिफलन में देखते हैं। किसी स्त्री के चेहरे पर, किसी बच्चे की आंखों में। किसी वीणाकार के स्वर में, पक्षियों के कलरव में, सागर की चट्टानों से टकराती लहरों के शोरगुल में। यह सब प्रतिफलन है। यह सब उसी की गूंज, अनुगूंज है। यह एक ही छाया है। इस अनेक में वही अनेक की तरह उतरा है।
तो स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती। सम्राटों को देखकर भी धीर पुरुष आनंदित होता है। क्योंकि सम्राटों में भी उसी का साम्राज्य है। वह जो सम्राट की चाल में गौरव है, गरिमा है, वह जो कुलीनता है, वह जो श्रेष्ठता है, वह जो आभिजात्य है, वह भी उसी का आभिजात्य है। वह जो सम्राट की आंखों में एक चमक है, वह भी उसी की चमक है।

सब चमक उसकी है। इसलिए सम्राट को देखकर भी उसे ऐसा नहीं होता कि वासना पैदा होती हो कि मैं सम्राट हो जाऊं। वह तो सम्राट हो ही गया है। वह तो सम्राटों का सम्राट हो गया है। वह तो राजराजेश्वर है। लेकिन अब किसी सम्राट में भी देखता है तो याद करता है, उसी का छोटा-सा टुकड़ा यहां भी उतरा। धूप थोड़ी-सी यहां भी है; उसी की है।
धूप का यह गुनगुना स्पर्श
चौकड़ी भरते किरन के इंगुरी छोने
फिर लगे तृण-पालकी मृदु ओस की ढोने
पर्त कोहरे की हटा दुर्धर्ष
धूप का खोल वातायन धुआंते कक्ष में झांका
भोर ने फिर सूर्य नीलाकाश में टांका
सुर्ख मूंगे की तरह आकर्ष
धूप का यह गुनगुना स्पर्श
जहां भी धूप है वहां परमात्मा का ही गुनगुना स्पर्श है। प्रियजन को देखकर भी कोई वासना पैदा नहीं होती। जो अपने हैं वे तो अपने हैं ही, जो पराये हैं वे भी अपने हैं। क्योंकि वस्तुतः न तो कोई अपना है, न कोई पराया है। यहां तो एक ही है। अपना कहो तो वही, पराया कहो तो वही। अपना न कहो तो वही, पराया न कहो तो वही। यहां तो एक ही है। यहां तो एक ही स्व का विस्तार है। स्व ही सर्व है; वासना कैसी?
"योगी नौकरों से, पुत्रों से, पत्नियों से, पोतों से और संबंधियों से हंसकर धिक्कारे जाने पर भी जरा भी विकार को प्राप्त नहीं होता है।" भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्।।
समझना। वह जो ज्ञानी पुरुष है, अगर अपने नौकर भी उसका अपमान कर दें तो
भी नाराज नहीं होता। क्यों नौकर को ही विशेष रूप से सूत्र में कहा है? क्योंकि नौकर अंतिम है, जिससे तुम अपेक्षा करते हो कि तुम्हारा अपमान कर देगा। नौकर और तुम्हारा अपमान कर दे? नौकर तो तुम्हारा खरीदा हुआ है, स्तुति के लिए ही है। वह तुम्हारी निंदा कर दे? असंभव। वह हंसकर धिक्कार कर दे। यह असंभव है। तुम और सबका धिक्कार चाहे स्वीकार भी कर लो, अपने नौकर का धिक्कार तो स्वीकार न कर सकोगे। तुम उसे कहोगे, नमकहराम! तुम उसे कहोगे कि जिस दोने में खाया, जिस पत्तल में खाया, उसी में छेद किया। तुम कहोगे, जिसका नमक खाया उसका बजाया नहीं। नमकहराम! तुम बड़े नाराज हो जाओगे। इसलिए पहला अष्टावक्र कहते हैं, नौकर भी अगर धिक्कार कर दे--और साधारण धिक्कार नहीं, हंसकर धिक्कार कर दे। हंसी और भी जहर हो जाती है धिक्कार में मिल जाए तो; व्यंगात्मक हो जाती है, गहरी चोट करती है। फिर अपने नौकर से? यह तो अंतिम है जिससे तुम अपेक्षा करते हो। हां, तुम्हारा मालिक अगर धिक्कार कर दे तो तुम बर्दाश्त कर लो--करना पड़े। महंगा है न बर्दाश्त करना। मालिक गाली भी दे तो भी तुम्हें धन्यवाद देना पड़ता है।
नौकर प्रशंसा भी करे तो भी तुम कहां धन्यवाद देते हो? तुम अखबार पढ़ रहे हो बैठे अपने कमरे में, नौकर गुजर जाता, तुम इतना भी स्वीकार नहीं करते कि कोई गुजरा। तुम नौकर में व्यक्तित्व ही कहां मानते? नौकर की कहीं कोई आत्मा होती है? कोई दूसरा गुजरता तो तुम उठकर खड़े होते। कोई दूसरा आता तो तुम कहते, आओ, बैठो, विराजो। नौकर गुजर जाए तो तुम्हारे ऊपर कुछ भी भाव नहीं आता। तुम अपना अखबार पढ़ते रहते हो, जैसे कोई भी नहीं गुजरा। नौकर को तुम स्वीकार ही नहीं करते कि वह मनुष्य है। तो नौकर अगर अपमान कर दे, धिक्कार कर दे, तो बड़ी कठिनाई हो जाएगी।
अष्टावक्र कहते हैं, "योगी नौकर से, पुत्रों से...।"
अपने पुत्र से तो कोई धिक्कार की संभावना नहीं मानता। बेटा अपना और हंस दे, धिक्कार कर दे? तुम सबको माफ कर सकते हो लेकिन अपने बेटे को तो न कर सकोगे। क्योंकि बेटा तो तुम्हारा ही विस्तार है। तुम्हारा ही एक रूप, तुम्हीं पर हंस दे? यह तो जैसा अपना ही हाथ अपने को चांटा मारने लगे तो तुम कैसे बर्दाश्त कर सकोगे? यह तो बहुत ज्यादा हो जाएगा।
"पत्नियों से...।"

अष्टावक्र ने जब ये सूत्र कहे तब पत्नी आज जैसी तो नहीं थी, आधुनिक तो नहीं थी। पत्नी तो खरीदी हुई थी। स्त्री धन-संपत्ति थी। ये सूत्र इतने पुराने हैं कि तब अगर कोई अपनी स्त्री को मार भी डालता था तो भी अपराध नहीं था। अपनी स्त्री मारी। किसी से कुछ प्रश्न ही नहीं है, अदालत का कोई सवाल नहीं है। अपनी थी, मारी। तुम अपनी कुर्सी तोड़ डालो, तुम अपने मकान को गिरा डालो, तुम अपने नोट में आग लगा दो, तुम्हारी मर्जी। तुमने अपनी पत्नी मार डाली, तुम जानो।
मैं एक घर में रहता था रायपुर में, कोई दो-चार ही दिन मुझे वहां हुए थे,
कि बगल में एक रात कोई एक बजे मेरी नींद खुली। वह पति अपनी पत्नी को मार रहा है। दोनों मकानों की छतें मिलती थीं तो मैं छत उतरकर उसके मकान में गया। मैंने उस आदमी को रोकने की कोशिश की कि तुम यह क्या पागलपन कर रहे हो? रुको। वह बोला, आप कौन हैं बीच में बोलनेवाले? यह मेरी पत्नी है। मैं चाहे इसे बचाऊं, चाहे मारूं, आप कौन हैं बीच में बोलनेवाले?
वह ठीक बोल रहा है, शास्त्र की भाषा बोल रहा है। मनु महाराज की भाषा बोल रहा है। जैसे पत्नी उसकी कोई चीज है! वह इस बुरी तरह मार रहा है, उसके सिर से खून बह रहा है। और मुझसे कहता है, आप बीच में न पड़ें। आप कौन हैं बीच में बोलनेवाले? यह मेरी पत्नी है।
अष्टावक्र कहते हैं, "अपनी पत्नी से, पोतों से, संबंधियों से हंसकर धिक्कारे जाने पर भी जरा विकार को प्राप्त नहीं होता।"
क्योंकि जिसे ज्ञान घटा, न कोई अपना रहा, न कोई पराया। कौन बेटा, कौन बाप? जिसे ज्ञान घटा, कौन मालिक, कौन नौकर? जिसे ज्ञान घटा, कौन पत्नी, कौन पति? जिसे ज्ञान घटा, एक ही बचा। और जिसे ज्ञान घटा वह तो मिट गया। वह घाव ही न रहा जिस पर चोट लगती है धिक्कार की, अपमान की, असम्मान की, कोई हंस दे इस बात की। वह घाव ही भर गया, वह घाव ही न रहा। अहंकार न रहा तो अपमान जरा भी पीड़ा नहीं देता।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्।
जरा भी, किंचित भी अंतर नहीं पड़ता। मैं ही नहीं बचा तो तुम चोट कैसे करोगे? तुम जो चोट कर रहे हो वह व्यर्थ जा रही है, खाली जा रही है। वहां कोई है नहीं जो चोट को पकड़े, जिसमें चोट चुभे।
"धीर पुरुष संतुष्ट होकर भी संतुष्ट नहीं होता है, और दुखी होकर भी दुखी नहीं होता है। उसकी आश्चर्यमय दशा को वैसे ही ज्ञानी जानते हैं।"
यह सूत्र बहुत अनूठा है; इसे समझने की कोशिश करें।
संतुष्टोऽपि न संतुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानन्ते।।
"धीर पुरुष संतुष्ट होकर भी संतुष्ट नहीं होता।"
क्या इसका अर्थ होगा? क्योंकि संतोष और संतोष में भेद है। एक संतोष है, जो वही खट्टे अंगूरवाला संतोष है। नहीं मिला इसलिए किसी तरह अपने को संतुष्ट कर लिया। एक सांत्वना है, एक भुलावा है कि क्या करें, मिलता तो है नहीं, रोने से भी सार क्या है? इसलिए मन मारकर बैठ गये। अब यह भी स्वीकार करने की हिम्मत नहीं होती कि हार गए हैं। हार भी क्या स्वीकार करनी! यह हार का रोना भी क्या रोना! तो अपनी हार को ही सजाकर बैठ गए। अपनी हार को ही गले का हार बनाकर बैठ गए। इसका ही गुणगान करने लगे। कहने लगे कि रखा ही क्या है? संसार में है क्या? संतुष्ट हो गए। कहते हैं, हम तो संतुष्ट हैं।
एक ऐसा संतोष है जो मुर्दा दिलों की सुरक्षा करता है, हारे हुओं की सुरक्षा बनता है। और जो जीवन के संघर्ष में, चुनौती में, विजययात्रा पर, अंतर्यात्रा पर निकलने का साहस नहीं रखते उनको जड़ बना देता है। यह एक तरह की शराब है, जिसको पीकर बैठ गए, कहीं जाने की जरूरत न रही।
मनोवैज्ञानिक कहते हैं, हारे हुए लोग अगर यह भी स्वीकार कर लें कि हम हार गये तो भी गरिमा पैदा होती है। तो भी जीवन में एक गति आती, गत्यात्मकता आती। लेकिन हारे हुए लोग यह स्वीकार नहीं करते कि हम हार गये। वे तो हार को भी लीप-पोतकर जीत जैसा दिखाना चाहते हैं। एक ऐसा संतोष है।
जब अष्टावक्र कहते हैं, संतुष्टोऽपि न संतुष्टः--वह जो धीर पुरुष है, संतुष्ट होकर भी इस अर्थ में संतुष्ट नहीं है। उसका संतोष बड़ा और है। उसका

संतोष आनंद से जन्मता है, हार से नहीं। उसका संतोष अंतर-रस से उपजता है। उसका संतोष सांत्वना नहीं है। उसका संतोष उदघोषणा है विजय की। जीवन को जाना, जीया, पहचाना; उस पहचान से आया संतोष। उसका संतोष, आनंद नहीं मिला इसलिए मन मारकर बैठ गये ऐसा नहीं है, आनंद मिला इसलिए संतुष्ट है। उसका संतोष आनंद का पर्यायवाची है--पहली बात।
दूसरी बात: जो पहला संतोष है वह तुम्हें रोक देगा, तुम्हारी गति को मार देगा; वह तुम्हें आगे न बढ़ने देगा। दूसरा जो संतोष है, वह मुक्त है। वह गति को मारता नहीं, वह गति को बढ़ाता है। तुममें और जीवन-ऊर्जा आती है। तुम जितने आनंदित होते हो और उतने ज्यादा आनंदित होने की क्षमता और पात्रता आती है। तुम जितना नाचते हो उतना नाचने की कुशलता बढ़ती है।
इसलिए जीसस ने कहा है, जिनके पास है उनको और भी दिया जायेगा। और जिनके पास नहीं है उनसे वह भी ले लिया जायेगा जो उनके पास है। कितना ही कठोर लगता हो यह वचन, लेकिन यह वचन परम सत्य है। जिनके पास है उन्हें और भी दिया जायेगा। वे ही मालिक हैं। उन्हें और-और मिलेगा, उन्हें मिलता ही रहेगा। उनके मिलने का कोई अंत नहीं आता। उन्हें सदा मिलेगा, शाश्वत तक मिलेगा। कहीं कोई आखिरी घड़ी नहीं आती, जहां उनके मिलने का द्वार बंद हो जाता हो। एक द्वार चुकता है, दूसरा खुलता है। एक पहाड़ पूरा चढ़े, दूसरा उत्तुंग शिखर सामने आ जाता है।
तो एक तो संतोष है कि बैठ गए मारकर मन, कि अब कहां जाना है! हो गए संतुष्ट। नहीं है कुछ सार कहीं। समझा लिया अपने मन को, कि अपने से यह होगा नहीं। अपनी हालत पहचान ली। दबा ली पूंछ और बैठ गए। नहीं, ज्ञानी का संतोष ऐसा संतोष नहीं।
संतुष्टोऽपि न संतुष्टः।
संतुष्ट होकर भी इस अर्थ में संतुष्ट नहीं।
और एक अर्थ: एक तो संतोष है, जो असंतोष के विपरीत है। और एक ऐसा संतोष
है जो असंतोष के विपरीत नहीं। एक ऐसा संतोष है, जो असंतोष से विपरीत है इस अर्थ में कि फिर तुम्हें जरा भी असंतुष्ट नहीं होने देता। लेकिन तब तो गति मर जायेगी।
समझो। लोग तुम्हें समझाते हैं, संतुष्ट हो जाओ। जैसे हो, जहां हो, संतुष्ट हो जाओ। यह बात अधूरी है। ज्ञानियों ने कहा है, बाहर से संतुष्ट हो जाओ, भीतर से संतुष्ट मत हो जाना। धन, पद, मर्यादा, इससे हो जाओ संतुष्ट। इसमें कुछ सार भी नहीं है। रुक गए तो कुछ खोया नहीं, क्योंकि चलनेवाले कुछ पाते नहीं। ठहर गए तो कुछ जाता नहीं, क्योंकि जो दौड़ते रहे वे कुछ पाते नहीं। इसमें संतुष्ट हो जाओ। लेकिन भीतर संतुष्ट मत हो जाना। भीतर तो और-और अनंत यात्रा है। शुरू तो है वहां, अंत नहीं है वहां। अनंत है यात्रा। भीतर तो और-और खोजना है।
तो एक दिव्य असंतोष की आग भीतर जलती रहे। राजी मत हो जाना, क्योंकि परमात्मा इतना बड़ा है, तुम छोटा-मोटा टुकड़ा लेकर बैठ मत जाना। तुम तो बढ़ते ही जाना जब तक कि पूरे परमात्मा को न पा लो। और पूरे को कभी कोई पाता है? पाता जाता है, पाता जाता है, पूरे को कोई कभी नहीं पाता। यह मंजिल ऐसी नहीं है कि कभी चुक जाये। और यह सौभाग्य है कि मंजिल चुकती नहीं। नहीं तो फिर क्या करते? मंजिल चुक जाती, पा लिया पूरा परमात्मा, बंद कर दिया तिजोड़ी में, बैठ गए। फिर क्या करते? नहीं, यह चुकती नहीं। जितना तुम पाओगे, उतना ही पाने को शेष मालूम पड़ेगा।
तो जीसस के वचन में एक वचन और जोड़ देना चाहिए। जीसस कहते हैं, जिनके पास है उसे मिलेगा; और मिलेगा। और जिसके पास नहीं है उनसे वह भी छीन लिया जाएगा जो उनके पास है। इसमें एक वचन और जोड़ देना चाहिए कि जिसके पास है उसे और मिलेगा। और जिसे और मिलेगा उसे और खोजना पड़ेगा। जो जितना पायेगा उतना ही पायेगा और पाने को शेष है।
परमात्मा कभी अशेष होता ही नहीं। सदा शेष है; और शेष है, और शेष है। उसका दूसरा कोई किनारा नहीं है। नाव छोड़ दी एक दफा सागर में तो सागर--और सागर--और सागर--विराट होता चला जाता है। जितनी तुम्हारी हिम्मत बढ़ती,

जितनी तुम्हारी पात्रता बढ़ती, जितनी तुम्हारी योग्यता अर्जित होती उतना ही सागर बड़ा होता चला जाता।
संतुष्टोऽपि न संतुष्टः--इसलिए ज्ञानी संतुष्ट होकर भी संतुष्ट कहां?
खिन्नोऽपि न च खिद्यते--और खिन्न होकर भी खिन्न नहीं।
कभी-कभी तुम ज्ञानी को खिन्न भी देखोगे, फिर भी वह खिन्न नहीं है। उसकी खिन्नता भी अदभुत है। कभी-कभी तुम उसे उदास भी देखोगे। उसकी उदासी तुम्हारी खुशियों से ज्यादा मूल्यवान है। क्योंकि वह अपने लिए कभी उदास नहीं होता, वह सदा औरों के लिए उदास होता है। इसलिए कहा है, "खिन्नोऽपि न च खिद्यते।"
बुद्ध के पास एक आदमी आया और उसने कहा कि मैं दुनिया की कैसे सेवा करूं, आप मुझे समझा दें। और कहते हैं, बुद्ध ने आंख बंद कर ली और उनकी आंख से एक आंसू टपका। ऐसा बहुत मुश्किल से होता है कि बुद्ध रोयें। वह आदमी भी घबड़ा गया कि मैंने कुछ ऐसी बात तो नहीं कह दी कि उन्हें चोट लगी हो? कि मैंने उनके फूल जैसे कोमल हृदय को कोई आघात तो नहीं पहुंचा दिया? ऐसा मैंने कुछ कहा तो नहीं। वह तो सोचकर ही आया था कि बुद्ध बड़े प्रसन्न होंगे, जब सुनेंगे कि मैं अपना सारा जीवन मनुष्य जाति की सेवा में लगाना चाहता हूं। और यह क्या हुआ कि बुद्ध की आंख से आंसू टपका?
आनंद भी विह्वल हो गया, और भी भिक्षु विह्वल हो गए। उन्होंने कहा, तुमने कहा क्या आखिर? उस आदमी ने कहा, मैंने कुछ ऐसी बात कही नहीं, इतना ही कहा है। बुद्ध से पूछा उन्होंने, कि क्या हुआ? आपकी आंख में आंसू? उन्होंने कहा, मैं इस आदमी के लिए रोया। इसने अभी अपनी ही सेवा नहीं की और यह सारी दुनिया की सेवा करने चला। इसने अभी अपने को भी नहीं जाना। यह आदमी महादुख में है। यह अपने दुख से बचने के लिए दूसरों की सेवा करने में उलझना चाहता है। यह इसका बचाव है। इसलिए मैं रोता हूं। इसकी करुणा वास्तविक करुणा नहीं है, इसकी करुणा आत्मपलायन है। इसलिए मैं रोता हूं।
बुद्ध और रोते?
खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
ज्ञानी पुरुष अगर कभी उदास हो, दुखी हो, उसकी आंख में आंसू भी आ जाएं
तो जल्दी निष्कर्ष मत लेना। वह अपने लिए नहीं रोता।
समझो। तुम तो जब भी रोते हो, अपने लिए रोते हो। जब तुम बताते हो कि दूसरों के लिए रो रहे हो तब भी तुम अपने लिए ही रोते हो। पति मर गया किसी का और पत्नी रो रही है; लेकिन वह अपने लिए ही रो रही है, पति के लिए नहीं रो रही। यह सहारा था, सुरक्षा थी, अर्थ की व्यवस्था थी। यह पति का सहारा छूट गया। इस पति के कारण हृदय भरा-पूरा था, एक खाली जगह छूट गई। वह अपने लिए रो रही है। वह पति के लिए नहीं रो रही है।
मैंने सुना है, एक पति मरा--स्वभावतः घटना अमरीका की है--इंश्योरेंस कंपनी का आदमी आया, उसने एक लाख डालर का चेक पत्नी को दिया। पति का बीमा था। पत्नी ने कहा, धन्यवाद। अगर मेरा पति मुझे वापिस मिल जाए तो इसमें से आधी राशि मैं अभी भी लौटा सकती हूं--आधी! वह भी पूरी न लौटा सकी। पति वापिस मिलने को है भी नहीं, पति तो मर गया। इसमें से अभी भी आधी राशि वापिस लौटा सकती हूं!
कनफ्यूशियस की बड़ी प्राचीन कथा है कि कनफ्यूशियस एक गांव से गुजरता
था और उसने एक स्त्री को एक कब्र पर पंखा करते देखा। बड़ा हैरान हुआ। इसको कहते हैं प्रेम! पति तो मर गया, कब्र को पंखा कर रही है? उसने पूछा कि देवी, सुना है मैंने पुराणों में कि ऐसी देवियां हुई हैं, लेकिन अब होती हैं सोचता नहीं था। लेकिन धन्य! तेरे दर्शन हुए, चरण छू लेने दे। उसने कहा, रुको। पहले पूछ तो लो कि क्यों पंखा हिला रही है? क्यों हिला रही है? कनफ्यूशियस ने पूछा। उसने कहा कि जब मेरा पति मरा तो उसने कहा कि देख, विवाह तो तू करेगी ही, लेकिन जब तक मेरी कब्र न सूख जाये, मत करना। पंखा हिला रही हूं? कब्र को सुखा रही हूं। गीली कब्र। अब पति को वचन दे दिया। हम अपने लिए ही रोते हैं। जब कोई मर जाता है तब भी हम अपने लिए रोते हैं। जब राह से किसी की अर्थी गुजरती है, और तुम्हारे मन में एक धक्का लगता

है। तुम कहते हो कि अरे! कोई मर गया। तब तुम्हें याद आती है अपने मरने की कि मुझे भी मरना होगा। जल्दी करो, जाने का वक्त आता होगा। यह अर्थी इसी की नहीं सजी, मेरी भी सजने के करीब है।
तुम जब भी रोते हो, अपने लिए रोते हो। तुम जब भी खिन्न होते हो, अपने लिए खिन्न होते हो। तुम जब भी क्रोधित होते हो, अपने लिए क्रोधित होते हो। तुम्हारा सारा जीवन अहं-केंद्रित है। ज्ञानी पुरुष अगर कभी खिन्न भी मालूम पड़े तो किसी और के लिए। ज्ञानी पुरुष अगर कभी क्रोधित भी हो जाये तो किसी और के हित के लिए। ज्ञानी पुरुष अगर कभी उदास भी हो तो ख्याल करना, जल्दी निर्णय मत ले लेना। उसकी उदासी उसकी करुणा का हिस्सा होती है।
"धीर पुरुष संतुष्ट होकर भी संतुष्ट नहीं, दुखी होकर भी दुखी नहीं होता।"
तो कितने ही दुख में तुम पाओ बुद्धपुरुष को, वह दुखी नहीं है। उसके भीतर अब दुख का कोई वास नहीं रहा। अहंकार गया, उसी दिन अहंकार की छाया दुख भी गया।
"...उसकी उस आश्चर्यमय दशा को वैसे ही ज्ञानी जान सकते हैं।"
बड़ी कठिन बात है लेकिन, तुम कैसे पहचानोगे? तुम्हारी तो सब पहचान तुमसे ही निकलती है। तुम्हीं तो कसौटी हो तुम्हारे लिए। तुम जब रोते हो तो तुम जैसा सोचते हो, वैसा ही कोई किसी और को भी रोते देखोगे तो वही सोचोगे। तुम जब हंसते हो, जैसा तुम सोचते हो वैसा किसी और को हंसते देखोगे तब भी तुम वैसा ही सोचोगे। तुम अपने ही मापदंड से सोचते हो। तुम्हारा मापदंड तुम्हीं हो। इसलिए ज्ञानी पुरुष को तुम समझ नहीं पाते।
अष्टावक्र ठीक कहते हैं, तस्य आश्चर्यदशां--ऐसे ज्ञानी पुरुष की बड़ी आश्चर्यमय दशा है। और तुम उसे समझ न पाओगे, क्योंकि तुम्हारा वैसी दशा का कोई भी अनुभव नहीं है।
तां तां तादृशा एव जानन्ते।
उसे तो वे ही जान सकते हैं जिन्होंने वैसी दशा का अनुभव किया हो। बुद्ध को बुद्ध जान सकते हैं। जिन को जिन जान सकते हैं। कृष्ण को कृष्ण जान सकते हैं। उस परम दशा को जानने का और कोई उपाय नहीं है, जब तक कि वह परम दशा तुम्हारे भीतर न घट जाये।
मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, हम कैसे सदगुरु को पहचानें? बहुत मुश्किल है। असंभव है। तुम नहीं पहचान सकते। कोई उपाय नहीं है। तुम जो भी उपाय करोगे वह गलत होगा। तुम्हारे पास तो एक ही उपाय है कि जहां तुम्हें लगे--अनुमान ही होगा तुम्हारा, कोई प्रमाण नहीं हो सकता। जहां तुम्हें लगे, जिसके पास तुम्हें लगे कि तुम्हारे जीवन में कुछ रसधार बहती है वहां रुक जाना। अनुभव करना कुछ। अनुभव बढ़ने लगे तो समझना कि ठीक जगह रुक गये। अनुभव न बढ़े तो समझना कि कहीं और चलना पड़ेगा, कहीं और खोजना पड़ेगा। टटोलते रहना; और कोई उपाय नहीं।
तुम चाहो कि तुम्हारे पास कोई पक्की गारंटी हो सके--असंभव। क्योंकि तुम जांचोगे कैसे? जिन अनुभवों का तुम्हारे जीवन में कोई अब तक स्वाद ही नहीं है, तुम कैसे पहचानोगे? तुम जो भी तय कर लोगे वह गलत होगा। तुम अगर किसी ज्ञानी पुरुष को खिलखिलाकर हंसते देखोगे तो तुम सोचोगे, अरे यह कैसा ज्ञानी है? ऐसे तो हमीं हंसते हैं। तुम अगर किसी ज्ञानी पुरुष की आंख में आंसू टपकते देख लोगे, तुम कहोगे यह कैसा ज्ञानी है? ऐसे तो हम रोते हैं। तुम किसी ज्ञानी पुरुष को किसी भी अवस्था में देखोगे तो वे ही सारी अवस्थाएं अज्ञान में भी होती हैं, इसको खयाल में रखना। ज्ञान में जो होता है वही सब अज्ञान में भी होता है। कारण अलग-अलग होते हैं, कारण में भेद होता है, लेकिन कार्य वही के वही होते हैं। करीब-करीब एक-सी घटनाएं घटती हैं। उन घटनाओं से ही तो तुम तौलोगे। कारण का तो तुम्हें कुछ पता नहीं है। भूल हो जाएगी। इस झंझट में पड़ना ही मत।
इसलिए मैं कहता हूं, तुम तो जहां तुम्हारा मन लग जाए, अनुमान जहां हो-- अनुमान ही कहता हूं--जहां तुम्हें लगे कि हां, कुछ यहां हो सकता है, ऐसी तुम्हें थोड़ी-सी छाया प्रतीत हो, मालूम हो, रुक जाना। कोशिश करना। हिम्मत करना। प्रयोग करना।

अगर कुछ है वहां तो धीरे-धीरे तुम्हारा जीवन रूपांतरित होने लगेगा। धीरे-धीरे तुम्हारी नाव किनारे से छूटने लगेगी। बंधन कटने लगेंगे। धीरे- धीरे आनंद की तरंगें उठने लगेंगी। धीरे-धीरे एक नया लोक तुम्हारे भीतर अपने द्वार खोलने लगेगा।
खुलने लगें द्वार तो रुके रह जाना। न खुलें द्वार, कहीं और टटोलना। और जिस दिन तुम किसी सदगुरु को छोड़ो क्योंकि तुम्हारे द्वार नहीं खुल रहे हैं, उस दिन भी तय मत करना कि वह सदगुरु है या नहीं। क्योंकि कई बार यह होता है, तुम्हारे द्वार जहां न खुलें वहां किसी और के खुल जाते हों। कई बार यह होता है, जहां किसी और के द्वार न खुलें तुम्हारे खुल जाते हों। क्योंकि लोग भिन्न हैं। लोग बड़े भिन्न हैं।
और कोई एक गुरु सभी का गुरु नहीं हो सकता। इतने भिन्न लोग हैं। बुद्ध
के पास किसी के द्वार खुलते, महावीर के पास किसी के द्वार खुलते हैं। कृष्ण के पास किसी और के द्वार खुलते हैं। इसलिए तुम यह निर्णय ही मत करना। न जाने के पहले निर्णय करना, न छोड़ते वक्त निर्णय करना। तुम तो कहना, कोशिश करके देख लेते हैं। कुछ होने लगे, ठीक; रुक जायेंगे। कुछ न हो, धन्यवाद देकर हट जायेंगे। हटते वक्त भी धन्यवाद से ही भरा हुआ मन हो। हटते वक्त शिकायत से भरा हुआ मन न हो कि इतने दिन खराब गए। क्योंकि कुछ खराब जाता नहीं। वह जो गलत दरवाजों पर हमने दस्तक दी है, वे दस्तकें भी व्यर्थ नहीं जातीं। वे दस्तकें ही हमें ठीक दरवाजे पर ले जाती हैं।
तस्य आश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानन्ते।
जान तो उन्हीं को वे ही लोग पायेंगे, जो उन्हीं की दशा को उपलब्ध हो जाते हैं।
"कर्तव्य ही संसार है और उस कर्तव्य को शून्याकार, निराकार, निर्विकार और निरामय ज्ञानी नहीं देखते हैं।"
ममेदं कर्तव्यं। शास्त्रों में एक वचन है--मेरे को यह कर्तव्य है। ममेदं कर्तव्यं, ऐसे निश्चय का नाम ही संसार है। जब तक तुम्हें लगता है, ऐसा मेरा कर्तव्य, ऐसा मुझे करना ही पड़ेगा, तब तक तुम संसार में हो। जिस दिन तुम्हें लगा कि मेरा क्या कर्तव्य? जिसने सारे को रचा, उसका ही होगा। मैं तो थोड़ा-सा अपना पार्ट है जो दिया, अदा कर देता हूं। कर्तव्य नहीं, अभिनय। जिस दिन तुम कर्ता न होकर अभिनेता होकर जीने लगे, बस उसी दिन क्रांति घट गई।
कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः।।
कर्तव्यतैव संसारो।
जब तक तुम सोचते, ऐसा मेरा कर्तव्य है, ऐसा मुझे करना है, करना पड़ेगा, ऐसी मेरी जिम्मेवारी है। चार बच्चों का पिता हूं, पत्नी है, कर्तव्य है, पूरा करना है, तब तक तुम संसार में जी रहे हो। पत्नी छोड़कर मत भागो, बच्चे छोड़कर मत भागो। पत्नी और बच्चे में संसार नहीं है। इस सूत्र को समझो। ममेदं कर्तव्यं--मेरे को यह कर्तव्य है, ऐसे निश्चय का नाम संसार है। कर्तव्यतैव संसारो।
जब तक कर्तव्य तब तक संसार। कर्तव्य को ही छोड़ दो। पत्नी को रहने दो, बच्चे को रहने दो। दफ्तर भी जाओ, दूकान भी जाओ, काम भी करो। कर्ता परमात्मा को बना दो, तुम कर्ता न रहो। तुम कहो, जो लीला तुझे दिखानी, जो अभिनय तूने दे दिया, जिस नाटक में पात्र बना दिया, पूरा कर देंगे। राम मत बनो। रामलीला के राम ही रहो। मंच पर जो खेल खेलने को कहा गया है उसे पूरा-पूरा कर दो। उसे परिपूर्ण हृदय से पूरा कर दो, लेकिन कर्ता की तरह नहीं।
न तां पश्यन्ति सूरयः।
जो ज्ञानी हैं वे कर्तव्य को देखते ही नहीं। उन्हें कोई कर्तव्य नहीं दिखाई पड़ता। जो परमात्मा करवाता है, वे करते हैं। जो नहीं करवाता, वे नहीं करते। उनकी कोई जिम्मेवारी नहीं। इसलिए तो अष्टावक्र उन्हें कहता है स्वच्छंद।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः।
ऐसी चार उनकी लक्षणा है।

शून्यकारा--वे अपने भीतर शून्य रहते हैं। बाहर हजार-हजार रूप धर लेते हैं, भीतर शून्य बने रहते हैं। क्रोध में उन्हें पाओ, रमण को भागते देखो डंडा लिए, तब भी भीतर शून्याकारा। कि गुरजिएफ को क्रोध से उबलते देखो...। गुरजिएफ के शिष्यों ने बहुत से संस्मरण लिखे हैं कि जब वह क्रुद्ध होता था तो तूफान-आंधी आ जाए ऐसा क्रुद्ध होता था। ऐसा लगता था, सब मिटा डालेगा। और क्षण भर में जैसे आंधी चली गई। और क्षण भर बाद उसे देखो तो पता ही न चलता कि वह कभी क्रोधित हो सकता है।
और कभी-कभी तो गुरजिएफ गजब कर देता था; बड़ा कुशल अभिनेता था। दो आदमी बैठे हों तो एक आदमी को तो एक आंख से वह क्रोध दिखलाता और दूसरे आदमी को प्रेम दिखलाता। और दोनों जब बाहर मिलते तो उनमें विवाद छिड़ जाता कि यह आदमी अच्छा है कि बुरा। वह एक कहता, बड़ा खतरनाक है। मेरी तरफ ऐसा देख रहा था, जैसे मार डालेगा। और दूसरा कहता, मेरी तरफ उसने इतने प्रेम से देखा, तुम गलत बात कह रहे हो। कोई आदमी एक-एक आंख से अलग-अलग थोड़े ही देख सकता है। लेकिन इसकी संभावना है, क्योंकि तुम्हारे भीतर दो मस्तिष्क हैं और दोनों का अलग-अलग उपयोग हो सकता है। बायीं आंख अलग मस्तिष्क से चल रही है; दायें मस्तिष्क से चल रही है। दायीं आंख बायें मस्तिष्क से चल रही है। दोनों अलग हैं। दोनों का प्रयोग ठीक से कर लो तो दोनों का उपयोग किया जा सकता है।
अभी पश्चिम में कुछ प्रयोग चलते हैं। अनूठे प्रयोग हैं, भविष्य में काम आयेंगे। अब तक आदमियत ने आधे का ही उपयोग किया है इसलिए हमारा एक हाथ चलता है, और एक हाथ नहीं चलता। अब पश्चिम में वे अभ्यास कर रहे हैं कि दूसरा हाथ भी इतना ही चल सकता है। कोई कारण नहीं है।
तो अब बच्चों को भविष्य में ऐसा सिखाया जाना है कि दोनों हाथ चलें। तो दोहरी शक्ति हाथ में आ जायेगी। और जब दोनों हाथ चलेंगे तो दोनों मस्तिष्क काम करेंगे। आदमी अब तक अधूरा जीया है। आदमी में बड़ी क्षमता प्रगट होगी अगर दोनों मस्तिष्क काम करने लगें।
और अगर तुम्हारी कला-कुशलता बढ़ गई...जो बढ़ जाएगी, क्योंकि आदमी को खयाल
आ जाए तो फिर उपाय शुरू हो जाते हैं। तो फिर पारी-पारी बदली जा सकती है। आधा मस्तिष्क काम करता है, इसको छः घंटे काम लेने दो, फिर इसको बदल दो। फिर दूसरे मस्तिष्क को काम करने दो। तो एक का विश्राम चलेगा, दूसरे का काम चलेगा। काम की क्षमता बहुत बढ़ सकती है।
गुरजिएफ इस पर प्रयोग कर रहा था। लेकिन गुरजिएफ का सारा मामला नाटक था। उसके एक शिष्य ने लिखा है कि उसके साथ यात्रा की उसने एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक। कहा कि फिर कसम खा ली कि जिंदगी में अब कभी इसके साथ यात्रा नहीं करेंगे। क्योंकि उसने ऐसा उपद्रव मचाया!
पहले तो स्टेशन पर ही उसने इतना शोरगुल मचाया कि भीड़ इकट्ठी कर ली। गाड़ी दस मिनट लेट हो गई उसके उपद्रव के कारण। फिर वह किसी तरह अंदर चढ़ा, तो जहां सिगरेट नहीं पीना है वहां सिगरेट पीने लगा बैठकर। जहां शराब नहीं पीनी है वहां शराब पीने लगा; फिर वहां शोरगुल मचा। फिर ड्राइवर और कंडक्टर भागे आये, फिर किसी तरह उसको समझाया। तो वह अनर्गल बकने लगा। और वह शिष्य जानता है कि वह बिलकुल होश में है। वह कुछ गड़बड़ नहीं कर रहा है। वह कितनी ही शराब पीये, बेहोश होता नहीं था।
वह भी एक गहरा अभ्यास है; भारत में अघोरपंथी साधु बहुत दिन से करते रहे। ध्यान की परीक्षा है कि शराब तुम्हारे ध्यान को प्रभावित न करे। कितनी ही शराब पी जाओ और ध्यान अछूता बचा रहे। क्योंकि शराब से अगर ध्यान डूब जाये तो यह कोई ध्यान हुआ! यह तो जरा-सी शराब ने बदल दिया, यह तो जरा-से रसायन ने बदल दिया। यह कोई बहुत गहरा नहीं है।
तो शिष्य जानता है, वह सबको समझाता है कि नाटक है, मगर कौन उसकी माने? क्योंकि यह कैसा नाटक? रात दो बजे तक उसने सारी ट्रेन को परेशान कर रखा। यहां तक हालत आ गई कि जहां नहीं उतरना था वहां ड्राइवर ने गाड़ी खड़ी कर दी और कहा, इस आदमी को उतारना पड़ेगा। यह चलने ही नहीं देता, यात्रियों को परेशान कर रहा है। पूरी गाड़ी जुड़ी है तो वह इस कोने से लेकर उस कोने तक आ-जा रहा है, शोरगुल मचा रहा है, सोये आदमियों को हिलाकर जगा रहा है।

और वह शिष्य परेशान है। और वह शिष्य जानता है, सब उसी के लिए किया जा रहा है। बामुश्किल उस शिष्य ने हाथ-पैर जोड़कर किसी तरह कहा कि अगले स्टेशन पर हमें उतरना ही है, वहां तक तो चले जाने दो। अब जो हो गई भूल, हो गई।
अगले स्टेशन पर उतरकर जब वे कार में बैठे तब वह हंसने लगा। उसने कहा, कहो, कैसी रही? तुम बहुत घबड़ा गए थे। घबड़ा गए थे? वह कहता, मैं कंपता रहा। अब कभी तुम्हारे साथ यात्रा नहीं करूंगा। और मैं जानता था कि सब नाटक है। और तुमने मेरी खूब परीक्षा ली। इतना मैंने कोसा तुम्हें इस पूरे वक्त। क्योंकि तुमको तो लोग समझ रहे थे, तुम बेहोश हो, सब मुसीबत मुझ पर आ रही थी कि तुम किस आदमी को लेकर चढ़ गए ट्रेन में!
वह आदमी प्रसिद्ध आदमी था; एक बड़ा पत्रकार था, लेखक था। उसको लोग जानते भी थे। उसकी खूब बेइज्जती करवाई उसने। लेकिन उस पत्रकार ने लिखा है कि उस दिन के बाद मेरे जीवन में बड़े फर्क भी हुए। दूसरे दिन सुबह मैं बिलकुल हलका उठा, जैसे मेरा पहाड़ उतर गया। वह अहंकार, कि मैं बड़ा प्रसिद्ध फलां-ढिकां...उसने सब मिट्टी करवा दिया। वही मेरा इलाका था जहां लोग मुझे जानते हैं। उसने सब पानी फेर दिया। और दूसरे दिन मैं बिलकुल हलका उठा-- निर्भार!
कठिन है कहना, ज्ञानी का व्यवहार कैसा हो?
कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा--वह भीतर तो शून्य बना रहता; बाहर कुछ भी व्यवहार करे।
निराकारा--बाहर कैसा ही अभिनय करे, भीतर निराकार बना रहता है।
निर्विकारा--तुम उसे शराबघर में देखो कि वेश्यालय में, कोई फर्क नहीं पड़ता। वह भीतर निर्विकार बना रहता है।
निरामया--तुम उसे कैसी भी दशा में देखो, वह दुखरहित होता।
गुरजिएफ के जीवन में और भी उल्लेख हैं, जो बड़े महत्वपूर्ण हैं। गुरजिएफ ने आखिरी समय अपनी कार को टकरा लिया एक वृक्ष से। उसे कार चलाने का शौक था और दौड़ाता था सीमा के बाहर। जब उसकी कार टकराई तो ऐसी कार की हालत हो गई थी कि उसे कार से निकालने में डेढ़ घंटा लगा--गुरजिएफ को बाहर निकालने में। उसका शरीर इस बुरी तरह उलझ गया था कार के भीतर, सब चकनाचूर हो गया था।
लेकिन जो लोग निकाल रहे थे उनको उसने सब बताया कि कैसे निकालो। वह पूरे होश में था। जब उसे बाहर निकाल लिया गया तो उसने बताया कि कहां-कहां पट्टियां बांधो। सारा शरीर चकनाचूर था। और जब छत्तीस घंटे बाद उसे बड़े अस्पताल में लाया गया तो डाक्टरों ने माना ही नहीं कि आदमी जिंदा रह सकता है। यह असंभव है। उसके सारे फेफड़ों में खून भरा था, उसके सारे मस्तिष्क में खून भरा था। न केवल वह जिंदा था, वह परिपूर्ण होश से जिंदा था। वह डाक्टरों से बात करता रहा और डाक्टरों को भरोसा न आया कि आदमी बेहोश नहीं है।
उसके शिष्य जानते थे कि उसने जानकर किया। वह मरने के पहले मृत्यु को स्वेच्छा से देख लेना चाहता था। वह अपने शरीर को आखिरी विकृति में डालकर देख लेना चाहता था कि फिर भी मेरा होश रह सकता है कि नहीं। डाक्टरों ने कहा, यह बच ही नहीं सकता। यह आदमी मर ही जाना चाहिए। ऐसा कोई उल्लेख ही नहीं अब तक कि ऐसा आदमी बच सके। लेकिन वह बच गया। न केवल बच गया, उसने कोई दवा न ली। उसने किसी तरह का इंजेक्शन न लिया। उसने किसी तरह की शामक ट्रैंक्वेलाइजर न ली। उसने कहा कि नहीं, कुछ भी नहीं।
और इतना ही नहीं, वह दूसरे दिन सुबह अपने शिष्यों के बीच बैठा समझा रहा था। उसको लाया गया स्ट्रेचर पर। मगर वह समझा रहा था, जो बातें उसे समझानी थीं। और तीन सप्ताह के भीतर वह बिलकुल चंगा था; फिर चलने लगा, फिर ठीक हो गया।
जब वह मरा--कई साल बाद मरा इस घटना के--जब वह मरा तो उसका एक बहुत प्रसिद्ध अनुयायी बेनेट पहुंच नहीं पाया समय पर। खबर कर दी गई थी, शिष्य आ जायें, क्योंकि उसे बोध था कि वह कब शरीर छोड़ देगा। लेकिन वह नहीं पहुंच पाया। पहुंचने की कोशिश की लेकिन प्लेन देर से आया। जब पहुंचा तो वह मरे कोई बारह घंटे हो चुके थे।

रात, आधी रात बेनेट पहुंचा। जिस चर्च में उसकी लाश रखी थी, वह अंदर गया। वहां कोई भी न था रात में, सब शिष्य जा चुके थे। वह बड़ा हैरान हुआ। उसे ऐसा लगा कि वह जिंदा है। और बेनेट एक बड़ा विचारक है, गणितज्ञ है, वैज्ञानिक है। वह पास गया, उसने हृदय के पास कान रखकर सुनना चाहा। उसे ऐसा लगा कि वह सांस ले रहा है। वह बहुत घबड़ाया। मरे बारह घंटे हो गये और यह आदमी क्या अब भी कोई खेल कर रहा है, मरने के बाद भी?
उसे इतना भय लगा कि वह बाहर आ गया निकलकर, लेकिन फिर भी उसकी आकांक्षा बनी रही कि एक दफा और जाकर देख लूं कि सच में यह बात है कि मैं किसी भ्रम में हूं? वह भीतर गया, उसने सब तरह से--अपनी सांस रोककर बैठा। कहीं मेरी सांस की आवाज ही तो मुझे नहीं सुनाई पड़ रही है? लेकिन तब भी उसे सांस लेने की आवाज सुनाई पड़ती रही।
गुरजिएफ उस समय भी प्रयोग कर रहा था देह के बाहर खड़े होकर। देह के भीतर प्रयोग किए, देह के बाहर प्रयोग किए। गुरजिएफ अब भी, मर जाने के बाद भी उसके शिष्यों को उपलब्ध है--उतना ही जीवित, जितना तब था जब वह जीवित था।
मृत्यु में भी मरता नहीं ज्ञानी। दुख में दुखी नहीं होता--निरामयाः।
ज्ञानी को पहचानने के लिए लेकिन तुम्हें ज्ञानी हो जाना पड़े। जैसे को जानना हो, वैसा होना ही उपाय है।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच बहत्तरवां प्रवचन

सदगुरुओं के अनूठे ढंग

पहला प्रश्न: कृष्णमूर्ति परम ज्ञानी होकर भी अन्य सदगुरुओं के कार्यों की निंदा, आलोचना क्यों करते हैं?

जब तक परम ज्ञानी न हो जाओ, न समझ सकोगे। अज्ञान के तल से जो निंदा और आलोचना मालूम होती है, ज्ञान के तल से वह केवल करुणा है। तुम भटक न जाओ इसलिए; तुम गलत में न पड़ जाओ इसलिए; जब श्रेष्ठ उपलब्ध हो तो तुम निकृष्ट न चुन लो इसलिए।
फिर खयाल रहे कि सत्य की अनंत अभिव्यक्तियां हैं। और सत्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति "मैं सही हूं", इस भाव के साथ ही पैदा होती है। सत्य स्वतः प्रमाण है। इसलिए जब भी सत्य का अनुभव होता है तो जो भी अभिव्यक्ति सत्य को मिलती है, वह इतनी प्रगाढ़ता से मिलती है कि इससे अतिरिक्त सब गलत है, यह भाव उसमें सम्मिलित होता है।
बुद्ध ने आलोचना की है महावीर की। महावीर ने आलोचना की है मखली गोशाल की। कुछ कृष्णमूर्ति नया नहीं करते हैं। लाओत्से ने आलोचना की है कनफ्यूशियस की। और क्राइस्ट ने तो इतनी ज्यादा आलोचना की कि सूली बिना चढ़ाये लोग रह न सके।
लेकिन तुम्हारे तल पर कठिनाई भी मेरे समझ में आती है। तुम आलोचना ही जानते हो, निंदा ही जानते हो। तो जब तुम कृष्णमूर्ति जैसे व्यक्ति को कोई वक्तव्य देते देखते हो तो तुम अपना रंग उस पर चढ़ा देते हो। तुम्हें ऐसा लगता है कि सदगुरु को तो आलोचना नहीं करनी चाहिए। लेकिन कभी कोई सदगुरु हुआ है जिसने आलोचना न की हो?
जिन्होंने नहीं की है वे न तो गुरु थे--सदगुरु तो दूर, वे राजनैतिक नेता रहे होंगे। राजनैतिक नेता हिसाब से चलता है। वह वही कहता है जो तुम सुनना चाहते हो। उसे सत्य से कोई प्रयोजन नहीं है, उसे तुम पर अधिकार करने से प्रयोजन है। तुम जिसके साथ हो, वह उसको भी ठीक कहता है। इसका कोई उसके मन में मूल्य ही नहीं है कि वह जो कह रहा है, वह ठीक है या गलत। राजनेता अक्सर समन्वय की बात करता हुआ मिलेगा। सदगुरु अक्सर प्रगाढ़ रूप से जो कह रहे हैं, उसके लिए प्रमाण जुटाते मिलेंगे और उससे अन्यथा को गलत कहते मिलेंगे।
लेकिन समन्वय का तुम्हारे मन में बड़ा आग्रह पैदा हो गया है। ऐसी भ्रांत धारणा पैदा हो गई है कि जो व्यक्ति आलोचना करता है वह ज्ञानी नहीं। राजनीतिज्ञों ने समन्वय के नाम पर काफी प्रचार किया है। उस प्रचार के कारण जितना अहित हुआ है, किसी और बात से नहीं हुआ।
जैसे महात्मा गांधी हैं; कुरान भी ठीक है और पुराण भी ठीक है, और महावीर भी ठीक हैं और कृष्ण भी ठीक हैं। सबको ठीक कहे चले जाते हैं। न कृष्ण से मतलब है, न मोहम्मद से मतलब है, न महावीर से मतलब है। मतलब है मोहम्मद को मानने वाले से, कृष्ण को मानने वाले से, महावीर को मानने वाले से। सब पीछे चलें, इसकी आकांक्षा है। अगर कृष्ण की आलोचना करेंगे, हिंदू नाराज हो जाता है। अगर मोहम्मद की आलोचना करेंगे, मुसलमान नाराज हो जाता है। अगर महावीर की आलोचना करेंगे तो जैन नाराज हो जाता है। इन सबको राजी रखना है। इन सबको पीछे चलाये रखना है। ये सब किसी तरह से अनुयायी बने रहें। इनके सब गुरुओं की प्रशंसा करनी है। फिर चाहे इनके गुरुओं ने जो कहा है, वह एक-दूसरे से मेल खाता हो, न खाता हो।
अब कृष्ण की गीता में और महावीर के वक्तव्यों में क्या मेल हो सकता है? मैं यह नहीं कह रहा हूं कि कृष्ण के परम अनुभव में और महावीर के अनुभव में मेल नहीं होगा। है मेल, लेकिन कृष्ण ने जो अभिव्यक्ति दी और महावीर ने जो अभिव्यक्ति दी, उनमें कोई मेल नहीं है; जरा भी मेल नहीं है। उनसे विपरीत अभिव्यक्तियां नहीं हो सकतीं।

महावीर कहते हैं, किसी की शरण मत जाना। उन्होंने सत्य को बिना किसी की शरण जाकर पाया। तो जो पाया वही कहेंगे न! वही कहनी भी चाहिए निष्ठावान व्यक्ति को। जिस मार्ग से चले, जो परिचित है, जो अनुभव में आया उसके अतिरिक्त कोई बात नहीं कहनी चाहिए, अन्यथा सुननेवाला भटकेगा। और कृष्ण कहते हैं, "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" तू सब छोड़ और मेरी शरण आ। कृष्ण ने वैसे ही जाना। कृष्ण ने शरणागत होकर जाना, समर्पण से जाना।

तो कृष्ण ने जैसे जाना वैसे ही कहेंगे न! महावीर ने जैसा जाना वैसा ही कहेंगे न! फिर अगर कोई महावीर के पास जाकर कहे कि कृष्ण कहते हैं, शरणागति और आप कहते हैं, अशरण भाव; हम क्या चुनें? तो निष्ठावान महावीर कहेंगे, कृष्ण गलत कहते होंगे। यह कहना तुम्हारे प्रति करुणा के कारण है। क्योंकि अगर महावीर कहें कि कृष्ण भी ठीक, मैं भी ठीक, तो तुम वैसे ही उलझे हो, तुम और भी उलझ जाओगे। तुम्हारी उलझन सुलझेगी न, गुत्थी और बिगड़ जायेगी। तब तुम बिलकुल किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े रह जाओगे कि अब मैं क्या करूं?
तुम पर दया करके महावीर कहते हैं, कृष्ण गलत। जो मैं कहता हूं उसे समझने की कोशिश करो। किसी की भी शरण मत जाओ तो आत्मशरण घटेगी। किसी की भी शरण गए तो तुम आत्मा से चूक जाओगे, वंचित रह जाओगे। और स्वयं को जान लेना, स्वयं हो जाना पहली शर्त है सत्य को जानने की। जो स्वयं ही न रहा वह सत्य को कैसे जानेगा?
तुम कृष्ण के पास जाओ और कहो कि महावीर कहते हैं, अशरण; किसी की शरण मत जाना। समर्पण भूलकर मत करना। अपने पैर पर खड़े होना। किसी के कंधे पर झुकना मत, क्योंकि सब झुकना गुलामी है। और किसी पर निर्भर अगर हो गये तो बंधन निर्मित होगा। परम स्वतंत्रता, मोक्ष उपलब्ध कैसे होगा? तो कृष्ण कहेंगे, गलत कहते होंगे। निश्चित गलत कहते हैं, क्योंकि मैंने झुककर पाया। मैं झुका और भर गया। और जब तक मैं अकड़ा खड़ा रहा तब तक खाली रहा। मैं तुम्हें अपने अनुभव से कहता हूं कि महावीर गलत कहते होंगे। यह भी कृष्ण तुम्हारे प्रति करुणा से कहते हैं।
इसका परिणाम यह होता है अंततः कि जिनको कृष्ण की बात जंच जाती है, वे कृष्ण के मार्ग पर चल पड़ते हैं; जिनको महावीर की बात जंच जाती है, वे महावीर के मार्ग पर चल पड़ते हैं। अगर दोनों कहते हैं कि वे भी ठीक कहते होंगे, मैं भी ठीक कहता हूं--अगर दोनों ऐसा कहें तो कोई किसी के मार्ग पर न चल पायेगा। लोग डांवांडोल खड़े रह जायेंगे, कहां जायें? और ये इतनी विपरीत बातें-- अशरण-भावना, शरण-भावना। कहां जायें? महावीर कहते हैं, कोई परमात्मा नहीं है, किसकी शरण जाते हो? बस, आत्मा है।
तो महावीर को चुनें कि कृष्ण को चुनें? और महावीर खुद ही कहते हों कि कृष्ण भी ठीक होंगे, मैं भी ठीक हूं। तो तुम्हारी उलझन बढ़ेगी, घटेगी नहीं। महावीर को बहुत साफ होना चाहिए कि नहीं, मैं जो कहता हूं वही ठीक है, कोई और ठीक नहीं।
इसके दो परिणाम होंगे। जिनको बात जंच जायेगी वे निश्चिंतमना महावीर
के मार्ग पर चल सकेंगे। जिनको बात नहीं जंचेगी वे निश्चिंतमना कृष्ण के मार्ग पर चल पड़ेंगे। हानि इसमें जरा भी नहीं है। हानि तो महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों से होती है, जो कहते हैं, वह भी ठीक, यह भी ठीक; सब ठीक। सब ठीक में सब गलत हो जाता है। एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाये।
लेकिन महावीर और कृष्ण राजनेता नहीं हैं, गांधी राजनेता हैं। लेकिन गांधी की बात तुम्हें भी जंचती है। सबको ठीक कहते हैं। यही संत का भाव होना चाहिए। इसमें करुणा की तुम्हें चिंता ही नहीं है। शायद इसके पीछे भी कारण है। तुम भी चलना नहीं चाहते। यह सदी सत्य की तरफ जाना नहीं चाहती। इसलिए जो लोग भी सत्य की तरफ जाने के मार्ग को ढीला करवाते हैं वे तुम्हें रुचते हैं। गांधी की बात जंचती है कि सब ठीक।
इसका कुल परिणाम यह होता है कि तुम कहीं जाते नहीं। न कुरान, न गीता; न महावीर, न मोहम्मद, कुछ भी नहीं पकड़ते। तुम कहते हो, सभी ठीक हैं। जब सभी ठीक हैं तो पकड़ना क्या है? जाना कहां है? सभी के ठीक का एक ही परिणाम होता

है, तुम किसी रास्ते पर नहीं जाते। चौरस्ते पर खड़े हो, और मैं तुमसे कहता हूं, चारों रास्ते ठीक हैं। इसका कुल परिणाम इतना होता है, तुम चौरस्ते पर खड़े रह जाते हो। मुझे कहना चाहिए कि एक रास्ता ठीक है और इससे मैं चला हूं, इससे मैं गया हूं। यह मेरा परिचित है। बाकी तीन मैंने जाने नहीं, मैं गया नहीं। गलत ही होंगे। पहुंचता है आदमी इस रास्ते में। मैं पहुंचकर कह रहा हूं।
फिर चौरस्ते पर लोग बंट जायेंगे। जिसको जिसकी बात जम जायेगी, जो जिसके साथ अपना तालमेल पायेगा, जिसके हृदय में जिसकी वीणा बजने लगेगी, जिसका हृदय जिसके प्रेम में डूब जायेगा, वह उस मार्ग पर चल पड़ेगा निश्चिंतमना। फिर वह लौटकर भी नहीं देखेगा कि बाकी तीन मार्गों का क्या हुआ। पृथ्वी पर तीन सौ धर्म हैं। तुम अगर तीन सौ धर्मों के बीच समन्वय जुटाते रहे, अल्लाह ईश्वर तेरे नाम करते रहे, तुम कभी भी चलोगे नहीं। चौरस्ते पर खड़े-खड़े मरोगे।
इसलिए सदगुरु आलोचना करते हैं। निंदा उसमें जरा भी नहीं है। और करुणा है, गहन करुणा है। तुम चलो, यह प्रयोजन है। तुम कहीं पहुंचो, यह प्रयोजन है।
और अपना वक्तव्य बिलकुल साफ होना चाहिए। उसमें रत्ती भर भी संदेह की सुविधा नहीं होनी चाहिए। कबीर ने आलोचना की है, नानक ने आलोचना की है, अष्टावक्र ने आलोचना की है। तुम एकाध सदगुरु का नाम ले सकते हो, जिसने आलोचना न की हो? वह सदगुरु ही नहीं। क्योंकि आलोचना का अर्थ ही केवल इतना है कि बाकी जो और रास्ते हैं, वह कह रहा है, वे रास्ते नहीं हैं, यह रास्ता है; ताकि तुम चुन सको। तुम वैसे ही उलझे खड़े हो--बीमार, रुग्ण, विक्षिप्त। तुम्हारी विक्षिप्तता और बढ़ानी है? तुम्हारे मस्तिष्क को और विकृतियों से भरना है?
तो सदगुरु आलोचना करता है। निंदा तो जरा भी नहीं है वहां। निंदा का तो कोई प्रश्न नहीं है। निंदा तो व्यक्ति की तरफ होती है, आलोचना सिद्धांत की तरफ होती है। निंदा में दूसरा व्यक्ति बुरा है यह बताने की चेष्टा होती है। आलोचना में उस मार्ग पर मत जाना...।
पूछते हो, "कृष्णमूर्ति परम ज्ञानी होकर भी अन्य सदगुरुओं के कार्यों
की निंदा, आलोचना करते हैं...?"
तुम निंदा और आलोचना का ऐसा उपयोग कर रहे हो, जैसे वे पर्यायवाची हैं। निंदा व्यक्ति की तरफ उन्मुख होती है, आलोचना मार्ग की तरफ।
और फिर तुम्हें इसकी चिंता में नहीं पड़ना चाहिए कि कृष्णमूर्ति आलोचना क्यों करते हैं। तुम्हें कृष्णमूर्ति से क्या लेना-देना? तुम्हें बात जंच जाये, चल पड़ो। बात न जंचे, छोड़ दो। दो सदगुरु अगर एक-दूसरे की आलोचना करते हैं तो तुम अपना चुन लो कि तुम्हें किसकी बात जंचती है।
मगर तुम बड़े होशियार हो। तुम यह चुन रहे हो कि ये दोनों आदमी गलत होने चाहिए क्योंकि आलोचना करते हैं। तुमने अपने को चुन लिया इन दोनों को चुनने की बजाय। तुम किसी मार्ग पर न गए। तुमने कहा, ये तो ठीक होने नहीं चाहिए। ये तो एक-दूसरे की आलोचना कर रहे हैं। सदगुरु कहीं आलोचना करते हैं?
तुम एकाध सदगुरु का नाम तो बताओ, जिसने आलोचना न की हो। समय बीत जाता है, लोग भूल जाते हैं। समय बीत जाता है, लोग शास्त्रों को उलटकर भी देखते नहीं। तुम अष्टावक्र को सुन रहे हो अभी, तुम्हें खयाल नहीं आया कि अष्टावक्र से और गहरी आलोचना हो सकती है कोई? इससे ज्यादा प्रगाढ़ और कोई खंडन हो सकता है--ध्यान का, योग का, समाधि का, त्याग का, तप का, जप का, संन्यास का, स्वर्ग का, मोक्ष का? इतनी प्रगाढ़ आलोचना! ऐसी तलवार की धार! एक-एक को काटे चले जाते हैं।
लेकिन तुम्हारे प्रति करुणा के कारण है। अब तुम यह सोच लो कि अष्टावक्र को ज्ञान न हुआ होगा, नहीं तो यह आलोचना क्यों करते अगर ज्ञान हो जाता? तो तुम चूकोगे। तुम पहले से परिभाषायें मत बनाओ कि सदगुरु आलोचना नहीं करते। यह गलत स्थिति है। तुम सदगुरुओं का जरा प्राचीन समय से लेकर आज

तक का उल्लेख देखो और तुम पाओगे, उन सबने आलोचना की है और गहरे रूप से आलोचना की है।
महावीर और बुद्ध साथ-साथ जीये और एक-दूसरे की खूब आलोचना की। रत्ती भर
भी संकोच नहीं बरता। क्योंकि रत्ती भर भी संकोच, वह जो पीछे आ रहा है उसको डांवांडोल कर जाता है। उन्हें बहुत स्पष्ट होना चाहिए।
और फिर भी मैं तुमसे कहता हूं, सभी सदगुरु जहां पहुंचते हैं वह एक जगह है। जहां पहुंचना है वह तो एक है, लेकिन जिन मार्गों से पहुंचना है वे अनेक हैं। और जब सदगुरु किसी की आलोचना करता है तो वह मार्ग की आलोचना कर रहा है। तुम इतना ही उसमें से समझने की कोशिश करना कि मुझे क्या ठीक लगता है। ऐसा हुआ, एक नगर में दो हलवाइयों में झगड़ा हो गया। आमने-सामने दूकान थी। हलवाई तो हलवाई! लड्डू और बर्फी एक-दूसरे पर फेंकने लगे।
लूट मच गई। लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। लोग लड्डू और बर्फियां बीच में पकड़ने लगे। और लोग बोले कि ऐसी लड़ाई तो रोज हो। मजा आ गया।
दो हलवाई लड़ेंगे, तुम लड्डू-बर्फी पकड़ लेना। तुम इसकी फिक्र छोड़ना कि हलवाई लड़ रहे हैं। वे शायद इसीलिए लड़ रहे हैं कि तुम्हें थोड़े लड्डू और बर्फियां मिल जायें।
फिर सत्य को देखने के इतने कोण हैं...। एक तो सत्य को देखने का परंपरागत कोण है, जैसा शास्त्रों में कहा है, परंपरा में कहा है, संप्रदाय में कहा है। एक कोण है सत्य को देखने का, निजी अनुभव से। दोनों ही तरह के लोग दुनिया में हुए हैं, सदा हुए हैं। महावीर, उनके पहले जो तेईस तीर्थंकरों ने कहा था, उसी परिभाषा के भीतर सत्य को देख रहे हैं। बुद्ध एक नई परंपरा शुरू कर रहे हैं। संघर्ष स्वाभाविक है। बुद्ध एक नई भाषा को जन्म दे रहे हैं। महावीर पुरानी मान्य भाषा के भीतर अपने अनुभव को ढाल रहे हैं। वैसा भी ढाला जा सकता है। कोई जरूरी नहीं है कि तुम्हें जब कोई नया अनुभव हो तो तुम नई भाषा भी बनाओ। भाषा तो पुरानी काम में लायी जा सकती है। अनुभव तो सत्य का सदा नया है। लेकिन कोई परंपरागत भाषा का उपयोग करता है, कोई नई भाषा ढालता है। यह भी निर्भर करता है व्यक्तियों के ऊपर।
बुद्ध ने नई भाषा ढाली। एक नई परंपरा का जन्म हुआ। अब यह तुम सोचो। कोई पुरानी परंपरा में अपने नये सत्य के अनुभव को ढाल देता है। कोई अपने नये सत्य के अनुभव में नई भाषा को निर्मित करता है और एक नई परंपरा को जन्म दे देता है। एक में परंपरा पहले है, दूसरे में परंपरा पीछे है। संयोजन का भेद है। महावीर के पीछे परंपरा है, बुद्ध के आगे; मगर परंपरा कहीं जाती थोड़े ही!
सब क्रांतियां परंपरायें बन जाती हैं। और सब परंपरायें पुनः राख को झाड़ दो तो क्रांतियां बन सकती हैं। परंपरा और क्रांति कोई दो अलग चीजें थोड़े ही हैं; एक ही चीज के दो पहलू हैं।
कृष्णमूर्ति ने चुना है नये ढंग से कहना। ठीक है, सुंदर है। रमण ने चुना पुराने ढंग से कहना। अपना-अपना चुनाव है। और कोई का चुनाव किसी के ऊपर थोपा नहीं जा सकता। रमण ने भी खूब गहराई से कहा; पुराने ढंग से कहा। पुराने शब्दों की राख झाड़ दी, फिर अंगारे प्रगट हो गये! अंगारे मरते थोड़े ही हैं। जहां भी सत्य कभी रहा है, वहां सत्य है। राख जम जाती है समय के कारण। धूल इकट्ठी हो जाती है। धूल झाड़ दो। रमण ने पुराने अंगारों पर से धूल झाड़ दी, कृष्णमूर्ति नया अंगारा पैदा करते हैं। लेकिन नये अंगारे पर भी धूल जमेगी।
चालीस साल से कृष्णमूर्ति बोल रहे हैं, चालीस साल में कृष्णमूर्ति को मानने वाले लोग कृष्णमूर्ति के शब्दों को दोहराने लगे। धूल जमने लगी। संप्रदाय बनने लगा। लाख तुम कहो, कृष्णमूर्ति कितना ही कहें लोगों को कि तुम मेरे अनुयायी नहीं हो, लेकिन क्या फर्क पड़ता है? इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। लोग इसको भी मानते हैं। लोग ऐसे अनुयायी हैं कि वे कहते हैं, आप ठीक कह रहे हैं। यही तो हम भी मानते हैं।
अनुयायी का मतलब होता है, हम मानते हैं। आप जो कहते हैं उसको मानते हैं। आप कहते हैं, तुम हमारे अनुयायी नहीं? बिलकुल ठीक कहते हैं। हम आपके

अनुयायी नहीं। आपको ही मानकर चलते हैं। जैसा आप कहते हैं, ठीक अक्षरशः हम वैसा ही मानते हैं। अनुयायी पैदा हो गया।
जहां सत्य की घोषणा होगी वहां अनुगमन पैदा होगा। जहां धर्म होगा वहां संप्रदाय पैदा होगा। इससे बचा नहीं जा सकता। जहां संप्रदाय है वहां भी धर्म पैदा हो सकता है और जहां धर्म है वहां संप्रदाय पैदा हो जाता है। अपना-अपना रुझान। रमण को प्रीतिकर हैं पुराने शब्द। पुराने शब्दों में कुछ बुराई नहीं। किसी को प्रीतिकर है नये शब्दों का गढ़ना। इसमें भी कुछ बुराई नहीं है। अपनी मौज।
फिर तुममें से किसी को नये शब्द प्रीतिकर लगते होंगे तो ठीक। कैसे भी चलो, चलो तो! किसी को पुराने शब्द ठीक लगते हों तो भी ठीक। कैसे भी चलो, चलो तो! इस बिबूचन में मत पड़ो, इस विडंबना में मत पड़ो--कौन ठीक? तुम्हें जो ठीक लग जाये, तुम्हें जिसमें रस आ जाये। चल पड़ो, समय मत गंवाओ।
कृष्णमूर्ति का वक्तव्य बगावत का है। लेकिन ऐसा ही तो वक्तव्य किसी दिन अष्टावक्र का था। ऐसा ही वक्तव्य किसी दिन बुद्ध का था। ऐसा ही वक्तव्य किसी दिन कृष्ण का था। फिर उनके पीछे संप्रदाय बन गए। और ऐसे ही तो बुद्ध ने भी चाहा था कि कोई संप्रदाय न बने लेकिन फिर भी संप्रदाय बना।
संप्रदाय से बचा नहीं जा सकता। बोले कि संप्रदाय बना। कहा कि संप्रदाय बना। शब्द में बांधा कि शास्त्र निर्मित हुआ।
चुप भी नहीं रहा जा सकता, क्योंकि जो मिला है वह प्रगट होना चाहता है।
जो हुआ है, अभिव्यक्त होना चाहता है। मेघ घने हो गए हैं, बरसना चाहते हैं। फूल खिल गया है, गंध लुटना चाहती है। नाच जन्मा है, प्राण थिरकना चाहते हैं। गीत गुनगुनाने की अनिवार्यता आ गई। जब गीत पैदा होता है तो गुनगुनाना ही पड़ता है। और जब तुमने गीत गुनगुनाया तो किसी न किसी का सिर हिलेगा, कोई न कोई प्रेम में पड़ेगा, संप्रदाय निर्मित हो जायेगा। फिर तुम लाख सिर धुनो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।
एक तहजीब है दोस्ती की
एक मियार है दुश्मनी का
दोस्तों ने मुरव्वत न सीखी
दुश्मनों को अदावत तो आये
एक स्तर है दोस्ती का, और एक स्तर होता है दुश्मनी का भी। तुम तो दोस्ती भी करते हो तो भी कुछ स्तर नहीं होता। सदगुरु दुश्मनी भी करते हैं तो भी एक स्तर होता है।
एक तहजीब है दोस्ती की
एक मियार है दुश्मनी का
एक दुश्मनी का भी तल है। एक दुश्मनी की भी खूबी है, रहस्य है।
एक तहजीब है दोस्ती की
एक संस्कृति है दोस्ती की, एक संस्कृति है दुश्मनी की भी।
एक मियार है दुश्मनी का
दोस्तों ने मुरव्वत न सीखी
दुश्मनों को अदावत तो आये
तुम तो गलत दोस्त चुन लेते हो, सदगुरु ठीक दुश्मन भी चुनते हैं। लड़ने
का बड़ा मजा है। लेकिन खयाल रखना, अदावत की भी एक तहजीब है, एक संस्कृति है। अदावत सिर्फ अदावत ही नहीं है।
महावीर और बुद्ध के बीच जो संघर्ष हुआ उससे सदियां लाभान्वित हुई हैं। अगर महावीर चुप रहे होते, बुद्ध का खंडन न किया होता, बुद्ध अगर चुप रहे होते, महावीर का खंडन न किया होता तो बुद्ध और महावीर के वचनों में जो निखार है, जो पैनापन है वह नहीं हो सकता था। वह धार कहां से आती? संघर्ष धार लाता है।
जैसे तलवार पर धार रखनी हो तो चट्टान पर घिसनी पड़ती है। ऐसा जब बुद्ध
और महावीर जैसे दो कगार टकरा जाते हैं तो दोनों में धार आती है। यह अदावत अदावत नहीं, यह किसी लंबे अर्थों में बड़ी गहरी मैत्री है। और यह अदावत किसी के अहित में नहीं। तुम शब्दों में मत पड़ जाना। तुम यह मत सोच लेना कि दोस्ती ही सदा शुभ होती है। तुम्हारी तो दोस्ती भी क्या खाक शुभ होती है!

तुम्हारी तो दोस्ती में से भी अशुभ ही निकलता है। तुम्हारी दोस्ती में से भी शत्रुता ही तो निकलती है, और क्या निकलता है? ऐसी भी अदावत होती है कि दोस्ती निकले।
इल्मोत्तहजीब तारीखो-मंतब
लोग सोचेंगे इन मसलों पर
जिंदगी के मुसक्कल कदे में
कोई अहदे-फरागत तो आये
ज्ञान और सभ्यता: इल्म-औत्तहजीब; तारीख-औ-मंतब: इतिहास और दर्शन; लोग सोचेंगे इन मसलों पर। लोग सोचते रहे हैं, सोचते रहेंगे।
जिंदगी के मुसक्कल कदे में
कोई अहदे-फरागत तो आये
यह जो जिंदगी का बंधा हुआ घर है, यह जो कारागृह जैसी हो गई जिंदगी...। जिंदगी के मुसक्कल कदे में
कोई अहदे-फरागत तो आये
लेकिन कुछ अवकाश मिले इस श्रम से भरी जिंदगी में। कोई खाली रिक्त स्थान आये, जहां थोड़ी देर को हम जिंदगी के ऊपर उठ सकें; जहां थोड़ी देर हम जिंदगी के पार देख सकें। कोई झरोखा खुले।
ये सदगुरु सोच-विचारवाले लोग नहीं हैं। ये तो जिंदगी में थोड़े से झरोखे खोलते हैं। और जब तुम्हें किसी को अपने झरोखे पर बुलाना हो तो सिवाय इसके कोई उपाय नहीं कि वह कहे कि सब झरोखे व्यर्थ हैं। तुम कहां अटके हो? यह खुल गया झरोखा।
और खयाल रखना, यह करना ही पड़ेगा। क्योंकि लोग झरोखों पर अटके हैं। हो सकता है, झरोखे बंद हो चुके हों, समय ने झरोखे बंद कर दिये हों। हो सकता है, झरोखों पर धूल की पर्तें जम गई हों, सदियों ने धूल जमा दी हो, लेकिन लोग वहीं अटके हैं। जब कोई नया झरोखा खोलता है तो खयाल रखना, उसे उन्हीं लोगों में से अपने संगी-साथी खोजने पड़ते हैं, जो किन्हीं झरोखों पर पहले से अटके हैं। इसलिए आलोचना बिलकुल जरूरी हो जाती है।
समझो कि मैंने एक झरोखा खोला। जब मैंने झरोखा खोला तो कोई हिंदू था, कोई मुसलमान था, कोई ईसाई था, कोई जैन था, सब लोग पहले से ही बंटे थे। इनको बुलाओ कैसे? इनको पुकारो कैसे? अगर मैं यह कहूं कि जहां-जहां तुम खड़े हो, बिलकुल ठीक खड़े हो तो मैंने जो झरोखा खोला है--जो अभी ताजा है, कल उस पर भी धूल जम जायेगी। और ये लोग जिन झरोखों पर खड़े हैं, ये भी कभी ताजे थे, अब धूल जम गई है। अब वहां से कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। मगर खड़े हैं; पुरानी आदत के वश खड़े हैं। इनके बाप खड़े रहे, उनके बाप खड़े रहे, बाप के बाप खड़े रहे, ये भी खड़े हैं। क्यू में वहां आ गये हैं। क्यू सरकता-सरकता आ गया है, वे भी उसी में लगे-लगे झरोखे पर आ गये हैं।
कुछ दिखायी नहीं पड़ता तो सोचते हैं, अपनी आंख में खराबी होगी। हमारे पिता को दिखाई पड़ता था, पिता के पिता को दिखाई पड़ता था, पुरखों को दिखाई पड़ता था। हमको नहीं दिखाई पड़ता है, हमारा कोई पाप, कोई कर्म, आंख पर कोई गड़बड़, हम अंधे होंगे, जीवन में कुछ बुराई होगी। चरित्र को सुधारेंगे, नीति को बदलेंगे तब दिखाई पड़ेगा। समय आयेगा, प्रभु की कृपा होगी, तब दिखाई पड़ेगा। ऐसे अपने को समझाते हैं और अंधे की तरह खड़े हैं। और झरोखे पर सदियों की धूल जमी है।
जब मैंने नया झरोखा खोला तो और सारे लोग तो बंटे थे। इनको पुकारने का क्या उपाय था? इनको पुकारने का एक ही उपाय था कि तुम जहां खड़े हो वहां से सत्य का दर्शन नहीं होगा। तुम आ जाओ, जहां मैं खड़ा हूं। नया झरोखा खुला है। नया झरना खोदा है। तुम आओ और पी लो और तृप्त हो जाओ।
और जल्दी ही यहां भी धूल जम जायेगी। तुम जो मेरे पास आये हो, तुमने तो चुनाव किया है। तुम्हारे बच्चे क्यू में लगे आयेंगे। तुम संन्यास ले लेते हो, तुम्हारा छोटा बच्चा भी संन्यास लेने को आतुर हो जाता है--सिर्फ अनुकरण करने के लिए। जब पिता ने ले लिया, मां ने ले लिया तो वह भी गैरिक वस्त्र पहनना चाहता है। वह भी माला डालना चाहता है।

छोटे बच्चे तो अनुकरण करने में बड़े कुशल होते हैं। वे भी क्यू में खड़े
हो जाते हैं। तुम तो मेरे आकर्षण से आये हो। तुमने तो चुनाव किया है। तुमने तो साहस किया, हिम्मत जुटाई। तुम तो कोई झरोखा छोड़कर आये हो। तुम हिंदू थे, मुसलमान थे, जैन थे, ईसाई थे, तुम कोई तो थे ही। तुम किसी झरोखे पर खड़े थे, किसी शास्त्र को पकड़े थे। तुमने कुछ त्याग किया है। तुम कुछ छोड़कर आये हो। तुमने कुछ सुविधायें छोड़ी हैं। तुमने असुविधा हाथ में ली है। तुमने सुरक्षा छोड़ी है, असुरक्षा चुनी है। तुमने हिम्मत की है। तुम अज्ञात में उतरने का साहस किये हो। तुमने एक अभियान किया है।
लेकिन तुम्हारा बच्चा तो तुम्हारे पीछे, तुम्हारे अंगरखे को पकड़े चला आया है। जब मैं जा चुका होऊंगा और इस झरोखे पर धूल लगने लगेगी और तुम भी जा चुके होगे और धूल की पर्तें जम जायेगी तब भी तुम्हारा बेटा यहीं खड़ा रहेगा। वह कहेगा, हमारे पिता को दिखाई पड़ता था। अगर मुझे दिखाई नहीं पड़ता तो मेरी कोई भूल होगी। तो अपनी भूल सुधारूं। मेरा संन्यास सच्चा न होगा। मेरा ध्यान पक्का न होगा। तो अपनी भूल सुधारूं। और उसके भी बेटे उसके पीछे रहेंगे। और बेटों के बेटे, और बेटों के बेटे--धीरे-धीरे पर्तें जमती जायेंगी। समय हजार धूलें जमा देगा।
हजार साल बाद किसी की जरूरत होगी कि कोई नया झरोखा खोले और तुम्हें पुकारे कि तुम कहां खड़े हो? वहां कुछ भी नहीं है, दीवाल है। और मैं तुमसे कहता हूं, वह ठीक ही करेगा। उस वक्त जो मेरे झरोखे पर खड़े हुए पुरोहित बन गये होंगे वे नाराज होंगे। वे शोर-गुल मचायेंगे, क्योंकि उनके आदमी हटने लगेंगे। वे कहेंगे, यह निंदा, आलोचना सदगुरु करते ही नहीं। यह कैसी बात? हम भी ठीक, तुम भी ठीक, ऐसा पुरोहित कहते हैं। क्योंकि पुरोहित राजनीति में है। वह कहता है, तुम्हारे आदमी तुम्हारे पास रहें, हमारे आदमी हमारे पास रहें। हम भी ठीक, तुम भी ठीक। न तुम हमारे आदमी छीनो, न हम तुम्हारे आदमी छीनें। ऐसा समझौता है। ऐसा षडयंत्र है। और जब कोई सदगुरु पैदा होगा तो वह चिल्लाकर कहेगा कि छोड़ो सब झरोखे। नई रोशनी उतरी है, आओ। मैं नया पैगाम ले आया, नया पैगंबर आया हूं, आओ। तब नाराजगी होगी।
इन झरोखों पर खड़े हुए जो पंडित-पुरोहित हैं वे भी सदगुरुओं का दावा करते हैं कि वे भी सदगुरु हैं। वे सिर्फ पुरानी साख पर जी रहे हैं। तुम जाओ, देखो अपने जैन मुनि को, पुरी के शंकराचार्य को, वेटिकन के पोप को। जीसस ने जो साख पैदा की थी उसके आधार पर दो हजार साल बीत गये हैं, पोप उसी आधार पर जी रहा है। पोप के जीवन में जीसस जैसा कुछ भी नहीं है। कोई रोशनी नहीं है। लेकिन अब प्र्रतिष्ठा है। पुरानी दूकान है, दूकान की प्रतिष्ठा है। नाम भी बिकता है न दूकान का! पुरानी दूकान की तख्ती लगा लो तो बिक्री चलती है। साख पैदा हो जाती है, क्रेडिट पैदा होती। दो हजार साल पुराना, तो दो हजार साल की क्रेडिट है। और सबसे पहले जीसस का स्मरण अभी तक ताजा है। हिंदू खड़े हैं, शंकराचार्य हैं पुरी के। एक हजार साल पुरानी...आदि शंकराचार्य ने जो विरासत पैदा की थी उसका सहारा है।
कृष्णमूर्ति के पास तो कोई सहारा नहीं। मेरे पास तो कोई सहारा नहीं।
हम किसी पुरानी दूकान के मालिक नहीं हैं। हमें तो चिल्लाकर कहना होगा कि ये सब गलत हैं। और जब हम चिल्लाकर कहेंगे, ये सब गलत हैं, तो हिंदू भी नाराज होगा, मुसलमान भी नाराज होगा, ईसाई भी नाराज होगा। स्वभावतः नाराज बहुत लोग हो जायेंगे। क्योंकि सभी पंडे-पुरोहित नाराज होंगे। और उन दूकानों पर बैठे हुए जो लोग सदगुरु होने का धोखा खा रहे हैं और धोखा दे रहे हैं वे भी नाराज होंगे।
और स्वभावतः तुम्हें लगेगा कि जिस आदमी का हिंदू गुरु भी विरोध करते हैं, मुसलमान गुरु भी विरोध करते हैं, ईसाई गुरु भी विरोध करते हैं, यहूदी गुरु भी विरोध करते हैं, जैन गुरु भी विरोध करते हैं, वह ठीक कैसे हो सकता है! लेकिन मैं तुमसे कहता हूं, इसको तुम कसौटी समझना। जब पुरानी सारी दूकानें किसी एक आदमी का विरोध करें तो खयाल रखना, उस आदमी में कुछ होगा। नहीं तो इतने लोग विरोध न करते। कुछ होगा प्रबल आकर्र्षण। क्योंकि पुराने सायेदार, पुराने सरमायेदार, पुराने ठेकेदार घबड़ा गये हैं, बेचैन हो गये हैं।

कांप उठें कसरेशाही के गुंबद
थरथराये जमीं मोबदों की
कूचागर्दों की वहशत तो जागे
गमजदों को बगावत तो आये
कांप उठें कसरेशाही के गुंबद
राजमहलों की मीनारें कांप जायें। मंदिरों-मस्जिदों की मीनारें कांप जायें।
थरथराये जमीं मोबदों की
और मंदिरों की जमीन, मस्जिदों की जमीन थरथराये।
कूचागर्दों की वहशत तो जागे
और गलियों में जो आवारा घूम रहे हैं, जीवन की गलियों में जो आवारा भटक रहे हैं--
कूचागर्दों की वहशत तो जागे
उनकी नींद तो टूटे किसी तरह।
गमजदों को बगावत तो आये
और ये दुखी लोग किसी तरह विद्रोही बनें। इसलिए आलोचना है; निंदा जरा
भी नहीं।

दूसरा प्रश्न भी पहले से संबंधित है:
यदि दो सदगुरु एक-दूसरे की निंदा और आलोचना करें तो शिष्यों को क्या समझना चाहिए?

यदि तुम शिष्य हो तो तुम जो तुम्हारे हृदय से मेल खा जाये उसे चुन लोगे और चल पड़ोगे। तुम इसकी फिर चिंता ही न करोगे कि किसने आलोचना की। तुम फिर जिसने आलोचना की है उसका विरोध भी न करोगे। तुम हो कौन निर्णय करनेवाले! शिष्य और निर्णय करे कि कौन सदगुरु है, कौन सदगुरु नहीं है? बात ही मूढ़ता की है।
यह तो अंधा निर्णय करने लगा कि किसको दिखाई पड़ता और किसको नहीं दिखाई पड़ता। अंधा कैसे निर्णय करेगा, किसको दिखाई पड़ता है, किसको नहीं दिखाई पड़ता? अंधे को इतना ही जानना चाहिए कि मुझे दिखाई नहीं पड़ता। अब मुझे जिससे दोस्ती बन गई हो, उसका हाथ पकड़कर चल जाना चाहिए। और अपने अनुभव से देख लेना चाहिए कि इस आदमी के साथ चलने से गङ्ढों में गिरना तो नहीं होता? इस आदमी के साथ चलने से रास्ते पर टकराहट तो नहीं होती? इस आदमी के साथ चलने से हाथ-पैर तो नहीं टूटते?
ऐसा अनुभव में आने लगे तो समझना कि इस आदमी के पास आंखें होंगी, यह तुम्हारा अनुमान ही होगा। लेकिन यह अनुमान धीरे-धीरे तुम्हारे अनुभव से प्रमाणित होता जायेगा। और ऐसे साथ-साथ चलकर एक दिन तुम्हारी अपनी आंख भी खुल जायेगी।
और शिष्य का अर्थ यही होता है कि जिसने अपना हृदय किसी को दे दिया। जिसने हृदय दे दिया है वह तो मजे से सुन लेगा। अगर तुम कृष्णमूर्ति को सुनने जाओ और वे मेरी आलोचना करते मिलें और तुम नाराज हो जाओ तो तुमने मुझे अभी ठीक से चुना नहीं। क्योंकि तुम्हारी नाराजगी सिर्फ इतना ही बताती है कि अभी भी तुम डांवांडोल हो जाते हो। अगर तुम कृष्णमूर्ति को चुन लिए हो और मेरे पास आओ, मैं उनकी आलोचना करूं और तुम क्रोधित हो जाओ तो तुम्हारा क्रोध इतना ही बताता है कि तुमने हृदयपूर्वक कृष्णमूर्ति को नहीं चुना। तुम्हें अभी डर है कि अगर मेरी बातों को तुमने सुना तो शायद तुम अपना पंथ बदल लो। उसी डर को बचाने के लिए तुम क्रोधित हो जाते हो। अगर तुमने ठीक से चुन लिया है, तुम शांति से और आनंद से मेरी बात सुन लोगे। तुम मेरी बात में से भी कुछ खोज लोगे जिससे तुम्हारे हृदय की बात ही परिपुष्ट होगी।
दिल उसको पहले ही नाजो-अदा से दे बैठे
हमें दिमाग कहां हुस्न के तकाजे का?
पूछने का समय कहां मिलता है, सुविधा कहां है कि तुम सुंदर हो या नहीं।

दिल उसको पहले ही नाजो-अदा से दे बैठे
पहले ही देखने में, पहले ही दर्शन में बात हो गई। गंवा बैठे अपने को।
अब चुनाव का कोई उपाय न रहा।
और इसलिए मैं कहता हूं, यह अच्छा ही है कि सदगुरु एक-दूसरे की आलोचना करते हैं। इससे जो कच्चे घड़े हैं वे फूट जाते हैं और उनसे झंझट छूट जाती है। अगर समझो कि कृष्णमूर्ति का कोई कच्चा घड़ा यहां आ जाये तो कृष्णमूर्ति की झंझट छूटी। मेरा कोई कच्चा घड़ा वहां पहुंच जाये, मेरी झंझट छूटी। तो पके घड़े ही बचते हैं, कच्चे यहां-वहां चले जाते हैं। अच्छा ही है। जितने जल्दी चले जायें उतना अच्छा है। सदगुरु का अर्थ क्या होता है?
तुम्हें पहले पहल देखा तो दिल कुछ इस तरह धड़का
कोई भूली हुई सूरत मुझे याद आ गई जैसे
सदगुरु का अर्थ होता है, जिसके पास, जिसको देखकर तुम्हें अपनी भूली स्मृति आ गई। जिसकी आंखों में तुम्हें अपनी आंखें दिखाई पड़ गईं। जिसकी वाणी में तुम्हें अपने भीतर का दूर का संगीत सुनाई पड़ गया। जिसकी मौजूदगी में तुम्हें जैसा होना चाहिए इसकी तुम्हें याद आ गई। तुम जो हो सकते हो, तुम्हारी जो संभावना है वह बीज फूटा और अंकुरित होने लगा।
तुम्हें पहले पहल देखा तो दिल कुछ इस तरह धड़का
कोई भूली हुई सूरत मुझे याद आ गई जैसे
यह कोई दिमाग और बुद्धि का निर्णय नहीं है सदगुरु, यह तो हृदय की बात है। यह तो प्रेम में पड़ जाना है। यह तो एक तरह का मतवालापन है।
एक बार तुम शिष्य बन गये...और जब तुम शिष्य बनते हो तो खयाल रखना, अगर बुद्धि से बने तो तुम टूटोगे; आज नहीं कल छूटोगे। बुद्धि से बने तो कोई भी आलोचना तुम्हें अलग कर देगी। हृदय से बने तो कोई आलोचना तुम्हें अलग न कर पायेगी; हर आलोचना तुम्हें और मजबूत कर जायेगी। हर तूफान और आंधी तुम्हारी जड़ों को और जमा जायेगी। हर चुनौती तुम्हारे हृदय को और भी मजबूत, दृढ़ कर जायेगी। चुनौतियों में ही तो पता चलेगा कि जड़ें भी हैं या नहीं! सदगुरु का अर्थ होता है कि तुम तो मिटे, अब वही बचा। फिर तो तुम्हारी श्वास-श्वास में वही प्रविष्ट हो जाता है।
रात भर दीदाए-नमनाक में लहराते रहे
सांस की तरह से आप आते रहे जाते रहे
रात है अभी। सोये हो तुम। जागने में समय लगेगा। सदगुरु का अर्थ है, नींद में ही जिसका हाथ पकड़ लिया। अब जो तुम्हारी श्वासों की श्वास हो गया। अब कोई लाख निंदा करे, लाख आलोचना करे, लाख विरोध करे, कुछ अंतर न पड़ेगा। अंतर पड़ जाये तो भी अच्छा। तो तुम किसी और को चुन लेना। शायद तुमने जिसे चुन लिया था उससे हृदय मेल नहीं खाया था।
और असली सवाल तो सत्य पर पहुंचना है। तुम किसको चुनकर पहुंचते हो यह बात गौण है। तुम यात्रा बैलगाड़ी से करते हो, कि रेलगाड़ी से, कि मोटर गाड़ी से, कि हवाई जहाज से, कि पैदल जाते हो, यह बात फिजूल है। तुम पहुंच जाओ सत्य पर।
तो मैं तुमसे कहता हूं, एक सदगुरु की दूसरे सदगुरु की आलोचना बड़ी हितकर है, कल्याणकारी है। जो उसमें डांवांडोल हो जाता है, उसके भी लाभ में है, जो उसमें मजबूती से जम जाता है, उसके भी लाभ में है। वह जो अंधड़ उठता है आलोचना से, उसमें जो उखड़ गया वह इतना ही कहता है कि अभी हमारी यहां जड़ें न थीं, कहीं और जड़ें जमायेंगे। ठीक ही हुआ। जल्दी झंझट मिटी। कहीं और जड़ें जमा लेंगे। कोई और भूमि हमारी भूमि होगी।
जो उस अंधड़ में और जमकर खड़ा हो गया वह बलवान हो गया। उसने कहा, अब अंधड़
भी आयें तो कोई फर्क नहीं पड़ता। अब कोई सदगुरु से मुझे अलग न कर सकेगा। लेकिन तुम हो कमजोर। तुम ऐसे अधूरे-अधूरे, कुनकुने-कुनकुने हो। जरा किसी ने आलोचना कर दी, तुम चारों खाने चित्त! किसी ने कुछ कह दिया तुम्हारे गुरु के खिलाफ, तुम्हें भी बात जंचने लगी। उसी लिए तो तुम नाराज हो जाते हो। नाराज होने का कारण क्या है? किसी ने कह दिया खिलाफ, तुम्हें भी जंचने लगा कि बात तो ठीक है। अब तुम घबड़ाये। वह जो जड़ें उखड़ने लगी, तो तुम

घबड़ाये। तुम उस आदमी को दुश्मन की तरह देखने लगे। यह सुरक्षा कर रहे हो तुम। नहीं, ऐसी सुरक्षा की कोई जरूरत नहीं। जाओ। घूमो। सुनो, समझो। बहुतों को सुनकर ही तुम अगर मेरे पास वापिस लौट आओगे तो ही आये। तुमने किसी को सुना नहीं, आलोचना नहीं सुनी मेरी, मेरा विरोध नहीं सुना और इसलिए तुम यहां बने हो, यह बना होना कुछ बहुत काम का नहीं होगा।
शिष्यों को आलोचना से भी लाभ ही होता है। शिष्य को किसी चीज से हानि होती ही नहीं। जो झुक गया है हृदयपूर्वक, वह हर चीज से लाभान्वित होता है। तीसरा प्रश्न: कैसा है यह अहंकार! जब-जब मैंने इसे तोड़ने की कोशिश की तबत्तब वह बड़ी बेशर्मी के साथ मुझ पर हावी होकर अट्टहास करता रहा। अब और नहीं लड़ा जाता इससे प्रभु!

तो मैंने तो तुमसे कहा भी नहीं कि तुम लड़ो। यही तो मैं कह रहा हूं कि अहंकार से लड़ना मत, अन्यथा तुम कभी जीतोगे न। क्योंकि तुम सोचते हो, तुम अहंकार से लड़ रहे हो, असल में जो लड़ रहा है वही अहंकार है, इसलिए जीत हो नहीं सकती।
कौन लड़ रहा है यह? यह कौन है जो अहंकार पर विजय पाना चाहता है! यह विजय पाने की आकांक्षा ही तो अहंकार है। पहले तुम संसार पर विजय पाना चाहते थे, अब आत्मविजय पाना चाहते हो। मगर विजय का नशा चढ़ा है। जीतकर रहोगे। पहले दुनिया को हराना चाहते थे, अब अपने को हराने में लगे हो। मगर जीतना है। भीतर तुम्हारे जो जीतने का रोग है वही तो अहंकार है।
अब तुम कहते हो, "कैसा है यह अहंकार! जब-जब मैंने इसे तोड़ने की कोशिश
की तबत्तब वह बड़ी बेशर्मी के साथ मुझ पर हावी होकर अट्टहास करता रहा।"
वह जो तोड़ने की कोशिश कर रहा है, वही अहंकार है। इसीलिए तो बेशर्मी के साथ अट्टहास जारी रहा, जारी रहेगा। तुम समझे ही नहीं बात। अहंकार से लड़कर कोई कभी जीता नहीं, अहंकार को समझकर। और तब भी मैं यह नहीं कहता कि तुम जीत जाओगे। क्योंकि अहंकार को समझा तो अहंकार है ही नहीं; जीतने को कुछ बचता नहीं। जरा आंख को गौर से गड़ाओ अहंकार पर। यह हारने-जीतने का पागलपन छोड़ो। पहले समझो कि यह अहंकार है क्या! है भी? पहले पक्का तो कर लो। जिस दुश्मन से लड़ने चले हो वह मौजूद भी है? कहीं ऐसा तो नहीं कि रात के अंधेरे में छायाओं से लड़ना शुरू कर दिया? टंगा है लंगोट रस्सी पर, सोच रहे हैं भूत खड़ा है। उससे लड़ने लगे। हारोगे। हार निश्चित है। मुश्किल में पड़ जाओगे। पहले रोशनी जलाकर ठीक से देख तो लो, कहीं लंगोट भूत-प्रेत का भ्रम तो नहीं दे रहा?
और जिन्होंने भी रोशनी जलाकर देखा, उन्होंने पाया कि अहंकार नहीं है। अहंकार है ही नहीं, इसीलिए उस पर जीतना मुश्किल है। जो होता तो जीत भी लेते। जो है ही नहीं उसको जीतोगे कैसे? अगर अंधेरे से लड़े तो हारोगे क्योंकि अंधेरा है ही नहीं। प्रकाश से लड़ो तो जीत भी सकते हो क्योंकि प्रकाश है। बुझा सकते हो प्रकाश को। जला सकते हो प्रकाश को। अंधेरे का क्या करोगे? न जला सकते, न बुझा सकते, न हटा सकते।
तुमने देखा? कितने अवश हो जाओगे। छोटी-सी कोठरी में अंधेरा भरा है, तुम धक्के दे-देकर बाहर निकालो। एक दिन हारोगे, थकोगे, अपने आप परेशान हो जाओगे। और तब तुम्हें ऐसा लगेगा कि अंधेरा बड़ा शक्तिशाली है। देखो, मैं कितना लड़ता हूं, फिर भी हार रहा हूं। सचाई उल्टी है; अंधेरा है ही नहीं इसलिए तुम हार रहे हो। अंधेरा होता तो कोई उपाय बन जाता। दंड-बैठक लगा लेते, व्यायाम कर लेते, योगासन करते, और दस-पांच पहलवानों को ले आते, मित्रों की निमंत्रित कर लेते, नौकर-चाकर रख लेते। धक्का देकर निकाल ही देते। तलवारें ले आते, कुछ कर लेते।
लेकिन अंधेरा हो तो तलवार काम करे। तलवार घूम जायेगी, अंधेरा नहीं कटेगा। जो है ही नहीं उसे काटोगे कैसे? अंधेरे के साथ एक ही काम किया जा सकता है: रोशनी जलाकर देखो। रोशनी जलाकर देखा, तुम पाओगे अंधेरा है ही नहीं, न कभी था। रोशनी का अभाव अंधेरा है।
ध्यान का अभाव अहंकार है। इसलिए तुम अहंकार से मत लड़ो, तुम ध्यान को जलाओ। तुम ध्यान को जगाओ। तुम थोड़े शांत बैठकर देखने की क्षमता जुटाओ,

दर्शन की पात्रता बनाओ। और तुम एक दिन पाओगे, अहंकार नहीं है। तब तुम हंसोगे। अभी अहंकार अट्टहास कर रहा है, तब तुम हंसोगे कि अच्छा पागल था मैं भी। उससे लड़ता था, जो नहीं है।

चौथा प्रश्न: जिस आकाश का अथक वर्णन आप बार-बार करते हैं उसी आकाश के साथ बार-बार घुल-मिलकर एक होने के बाद भी तृप्ति क्यों नहीं मिलती? बाह्य जगत में तो हर तरह की तृप्ति है, हर बात की तृप्ति, लेकिन अंतस में एक अतृप्ति हर क्षण है कि कुछ छूटा-छूटा है, कुछ और है जो अभी जाना न जा सका। कुछ और आगे...कुछ और आगे की प्यास बढ़ती ही जाती है। जितना ही आपका प्रसाद पाता हूं उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है।

जीवन के संक्रांति-क्षण में, जब तुम बाहर से भीतर की तरफ मुड़ते हो तो ऐसी घटना घटती है। वह जो बाहर की अतृप्ति थी वह भीतर संलग्न हो जाती है। पहले धन था, और चाहिए था। पद था, और बड़ा चाहिए था। मकान था, महल बनाना था। तुम्हारी अतृप्ति बाहर लगी थी। अब तुमने बाहर से मन मोड़ा तो बाहर तो तृप्ति हो गई। खयाल करो, पहले भीतर कोई अतृप्ति न थी, भीतर तृप्ति थी, बाहर अतृप्ति थी। अब तुमने संयोजन बदल दिया। तुमने भीतर की तरफ मन मोड़ा। तुमने कहा, भीतर जो है उसे जानना। प्रभु को पहचानना, आत्मा को खोजना, सत्य के दर्शन करने हैं, मोक्ष पाना। तुमने अतृप्ति भीतर की तरफ मोड़ ली तो तृप्ति बाहर चली गई। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।
जैसे सिक्के को हाथ में रखा था, ऊपर सिक्के का पहला पहलू था, समझो कि सम्राट की तस्वीर थी, और पीछे दूसरा पहलू था। अब तुमने सिक्का उलट लिया। तस्वीर उस तरफ चली गई सिक्के का उल्टा हिस्सा आंख के सामने आ गया। तृप्ति- अतृप्ति एक सिक्के के दो पहलू हैं।
पहले तुम बाहर अतृप्त थे तो भीतर तृप्ति थी। संसारी आदमी को भीतर कोई अतृप्ति होती ही नहीं। वह कभी सोचता ही नहीं कि आत्मा मिले, कि और आत्मा मिले, कि सत्य मिले कि और सत्य मिले। वह तो जो लोग सत्य इत्यादि की बात करते हैं, वह बड़ा चौंकता है, इनको हो क्या गया?
पश्चिम के एक बहुत बड़े विचारक जान विसडम ने अपने एक वक्तव्य में कहा
है कि जो आदमी भी दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के प्रश्न उठाये, समझो कि इसका दिमाग खराब हो गया है।
कल मैं उनका वक्तव्य पढ़ रहा था। मजेदार वक्तव्य है। और उनका नाम है जान विसडम! और ऐसा बुद्धिहीन वक्तव्य दिया है। कहा है कि उसका दिमाग खराब हो गया है और उसे समझाने-बुझाने की बजाय मनो-चिकित्सालय में ले जाकर इलाज करना चाहिए।
ऐसा लगता है ठीक ही है। ऐसा अधिक लोगों को लगता है। अब जो आदमी धन के पीछे दौड़ रहा है उसे तुम कहो कि मुझे तो आत्मा पानी है। तो वह कहेगा कि होश ठीक है? कहां के चक्कर में पड़ रहे हो? दिमाग खराब हो गया? यह छोड़ो पागलों के लिए। सुध-बुध में आओ, व्यावहारिक बनो। यह क्या कर रहे हो?
या तुम कहो कि मुझे तो ईश्वर खोजना है तो लोग हंसेंगे। कि मैं तो ईश्वर के दर्शन पाकर रहूंगा। तुम रोने-गाने लगो तो उनको बड़ी चिंता पैदा होगी कि अब क्या करना? इलाज करवाना या क्या करना! अब ईश्वर कैसे मिलता है? सीधी-सीधी बातें करो कि दिल्ली जाना है। चुनाव करीब आ रहे हैं, दिल्ली जाओ। चुनाव लड़ लो, मिनिस्टर बनो, चीफ मिनिस्टर बनो, प्राईम मिनिस्टर बनो, राष्ट्रपति बन जाओ। इतना सब कुछ पड़ा है फैलाव, तुम कहां की ईश्वर की बातें कर रहे हो? किसने देखा? किसने सुना? यह तुम पागलों के लिए छोड़ दो।
तो जब तुम्हारी अतृप्ति बाहर लगी होती है तो भीतर तुम तृप्त होते हो। भीतर की तुम्हें चिंता ही नहीं होती। भीतर कोई उपद्रव ही नहीं होता। फिर तुमने बदला। संक्रांति का क्षण।
संन्यास यानी संक्रांति। संन्यास यानी तुमने सारा रूप बदला। तुमने कहा, अब भीतर चलें। देख लिया बाहर, नहीं कुछ पाया। या जो पाया, व्यर्थ था।
जिसको धन समझा, कूड़ा-करकट हुआ; जिसको प्रेम समझा वह सिर्फ मन की कल्पनाओं का जाल था, सपने थे। टूट गये सपने।

तुम बाहर से ऊबे, तुम भीतर आये। लेकिन हुआ क्या, अब जो अतृप्ति बाहर लगी थी वह भीतर लग गई। अब तुम कहते, और ध्यान, और ध्यान...और समाधि। इसके भी आगे--परमात्मा मिले, मोक्ष मिले, निर्वाण मिले। और आगे क्या है? अब तुम दौड़े। अब तुम बड़े मकान भीतर बनाने लगे।
अब भीतर तुम्हें तृप्ति नहीं है। बाहर अब तृप्ति है। तुम कहते हो, बाहर अब तृप्ति है। कल तक बाहर तृप्ति नहीं थी। और बाहर की स्थिति अभी भी पहले जैसी है, संन्यास लेने से थोड़ी बिगड़ भला गई हो, सुधर तो नहीं सकती। बाहर की स्थिति अब भी पहले जैसी है, लेकिन बाहर तृप्ति है।
तुम थोड़ा समझो।
स्थिति से तृप्ति का कोई संबंध नहीं है। क्योंकि बाहर सब वैसे का वैसा है। वही पत्नी है, वही घर है, वही नौकरी है, वही दूकानदारी है--शायद पहले से कुछ अस्तव्यस्त हो गई हो। क्योंकि अब यह नया जो काम शुरू हुआ है, यह भी तो शक्ति लेगा न! तो ग्राहक कम आते हों।
बचपन में मैं अपने पिता की दूकान पर बैठता था। तो मेरे काका हैं, वे कवि हैं, तो मैं बड़ा हैरान होता। मैं उनको देखता रहता। कोई ग्राहक दूकान पर आये तो वे उसको धीरे से इशारा कर देते कि आगे चला जा। और मुझसे कहते, किसी को बताना मत। मैं पूछता, बात क्या है? वे कहते, अभी कोई एक कड़ी उतर रही है। अभी यह ग्राहक कहां बीच में आ रहा है!
धीरे-धीरे सबको पता चल गया कि जब भी वे दूकान पर बैठते हैं तो कोई बिक्री होती ही नहीं। यह बात क्या है? कोई और बैठता है तो बिक्री होती है। फिर ग्राहक भी शिकायत करने लगे आकर कि यह मामला क्या है? किसको दूकान पर बिठाला हुआ है? हम कुछ लेने आते हैं, और इशारा करते हैं कि आगे। जैसे हम कोई मांगने आये हों। ग्राहक को लोग बुलाते हैं कि आइये, विराजिये, बैठिये। पान-सुपारी देते। ये हाथ से इशारा करते हैं और कहते आवाज भी मत करो, चुपचाप निकल जाओ। यह बात क्या है?
अब जो कवि है उसके लिए दूकान बड़ी अड़चन है। अब यहां कोई कड़ी उतर रही है।
अब कड़ियों को कोई पता थोड़े ही है कि अभी ग्राहक आ रहा है! कड़ी जब उतर रही, जब उतर रही। अब उनको कुछ गुनगुनाहट आ रही और ये सज्जन आ गये। अब ये उनको जमीन पर खींच रहे हैं। एक साड़ी खरीदना है, कपड़ा खरीदना है, यह करना है, वह करना है। अब उनको दाम बताओ...इतने में तो सब खो जायेगा।
अब तुम संन्यस्त हो गये तो दूकान पर बैठे-बैठे ध्यान लग जायेगा। काम करते-करते भीतर की तल्लीनता पैदा होने लगेगी। तो बाहर की हालत सुधरेगी, यह तो है ही नहीं; थोड़ी बिगड़ भला जाये। यह तुम भीतर की तरफ मुड़ने लगे तो बाहर तो हालत थोड़ी डांवांडोल होनेवाली है।
मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, अगर ध्यान करेंगे तो सुख-सुविधा बढ़ेगी? कुछ पक्का नहीं है। भीतर तो कुछ होगा लेकिन बाहर का मैं कुछ कह सकता नहीं। बढ़े, घट जाये, न बढ़े, जैसी है वैसी रहे, हजार संभावनायें हैं। कोई वचन देकर मैं तुम्हें आश्वासन नहीं दे सकता। हां, भीतर रस उमगेगा। भीतर खूब वर्षा होगी। बाहर का मैं कुछ कह सकता नहीं।
वे बड़े परेशान होते हैं। वे कहते हैं, महर्षि महेश योगी तो कहते हैं
कि जो ध्यान करेगा, खूब सुख-संपत्ति भी बढ़ती है। तो मैंने कहा, तुम्हें सुख-संपत्ति बढ़ानी हो तो तुम कहीं और किसी को खोजो। मैं तुम्हें यह वायदा नहीं कर सकता। क्योंकि यह वायदा बुनियादी रूप से झूठ है।
और अगर कोई ध्यान ऐसा हो जो बाहर की सुख-संपत्ति बढ़ाता हो तो वह ध्यान नहीं है। या तो यह वायदा झूठ है या वह ध्यान ध्यान नहीं है। दो में से कुछ एक ही होगा। क्योंकि जिसका अंतस-जगत की तरफ प्रवाह होना शुरू हो गया, बाहर के जगत में थोड़ी-बहुत अड़चन आयेगी।
तुम कहते हो कि बाहर खूब तृप्ति है, अब हर बात की तृप्ति है। जिसने पूछा है, मैं जानता हूं उनके पास कुछ ज्यादा नहीं, लेकिन अब बाहर तृप्ति है। कल तक भीतर तृप्ति थी, आज बाहर तृप्ति है। भीतर अतृप्ति है।
तुम समझो। अतृप्ति के इस स्वभाव को समझो। जैसे बाहर से इसको छोड़ दिया ऐसे ही भीतर से भी छोड़ दो। इस सिक्के को ही फेंको। यह तृप्ति-अतृप्ति की

भाषा ही जाने दो। तुम तो इस क्षण में मगन हो रहो। तृप्ति-अतृप्ति का तो अर्थ ही यह है कि कल...कल और ज्यादा होगा तब।
मैं तुमसे कहता हूं अभी, अभी, कल कभी नहीं। कल कभी आता ही नहीं। या तो अभी, या कभी नहीं। इस क्षण को जीयो।
लेकिन तुम मेरी बातें भी सुनते हो तो भी मेरी बातें तुम्हारे भीतर जाकर नई अतृप्ति का कारण बन जाती हैं। तुम्हें और जोर से दौड़ पैदा होती है, और ज्वर चढ़ता है कि हे प्रभु! जल्दी मिलना हो।
नहीं, मिलना होगा। मिलन अभी हो सकता है, यह "जल्दी" जानी चाहिए। और ज्यादा का भाव जाना चाहिए। जिस दिन तुम्हारा और ज्यादा का भाव चला जायेगा उसी दिन और ज्यादा मिलता है, उसके पहले नहीं।
और तुम मंजिल की बहुत फिक्र मत करो। यात्रा बड़ी सुखद है। नहीं देखते? नहीं अनुभव में आता? यात्रा बड़ी सुखद है। ध्यान अपने में सुखद है, तुम समाधि की चिंता छोड़ो। प्रेम अपने में सुखद है, तुम और क्या चाहते हो? रहरवे-राहे-मुहब्बत रह न जाना राह में
लज्जते-सहरानवर्दी दूरि-ए-मंजिल में है
हे प्रेममार्ग के पथिक! राह में रह मत जाना।
लज्जते-सहरानवर्दी दूरि-ए-मंजिल में है
वह जो दूर की मंजिल है उसमें थोड़े ही रस है। वह जो दूर की मंजिल की तरफ जानेवाला मार्ग है, वह जो जंगल में घूमना है, उसमें ही आनंद है। लज्जते- सहरानवर्दी--वह जो जंगल में घूमने का आनंद है। दूर की मंजिल तो सिर्फ बहाना है जंगल में घूमने के लिए।
समाधि तो बहाना है ध्यान के लिए। तुम उसको लक्ष्य मत बना लेना। वह तो सिर्फ खूंटी है ध्यान को टांगने के लिए। तुम कहीं ऐसा मत सोचने लगना कि समाधि मिलेगी तब हम आनंदित होंगे। अभी तो ध्यान ही कर रहे हैं। अभी तो ध्यान ही चल रहा है। तो ध्यान में भी रस न आयेगा। और ध्यान में रस न आया तो समाधि कभी पकेगी नहीं। तुम ध्यान को इस तरह लेना, जैसे कहीं जाना नहीं है। तुम मुझे सुन रहे हो, तुम दो तरह से सुन सकते हो। या तो इस तरह कि मन में नोट कर रहे हो कि काम-काम की बातें नोट कर लें, जिनका अपन उपयोग करेंगे; और जिनके द्वारा जल्दी से जल्दी परमात्मा को पा लेंगे। एक तो इस तरह का सुनना है। यह दूकानदार का सुनना है। यह गणित का सुनना है। और जिंदगी में गणित काम नहीं आते।
मैं अंग्रेजी स्कूल में भर्ती हुआ था और गणित के हमारे शिक्षक थे, वे बड़े पक्के गणित के आदमी थे। गणित ही उनकी दृष्टि थी। मेरी उनसे अक्सर झंझट हो जाती थी। और अक्सर मुझे उनकी कक्षा में तो क्लास के बाहर ही खड़ा रहना पड़ता था। क्योंकि जैसे ही मैं खड़ा होता, वे कहते तुम बाहर जाओ। तुम गड़बड़ न करो। नहीं तो तुम सब समय खराब कर दोगे। तुम बाहर...। तुम जब शांत बैठना हो तो भीतर आ जाना।
वे नाराज मुझसे हुए एक बात से कि उन्होंने कहा कि एक मकान को दस मजदूर तीन महीने में बना पाते हैं तो बीस मजदूर कितने दिन में बना पायेंगे? मैंने उनको कहा कि इसके पहले कि आप सवाल पूछें, मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूं। सवाल से जाहिर है कि आप सोचते हैं, बीस मजदूर डेढ़ महीने में बना पायेंगे तो चालीस मजदूर और आधे दिन में, अस्सी मजदूर और आधे दिन में, एक सौ साठ मजदूर और आधे दिन में। इसका तो मतलब यह हुआ कि अगर लाख-दो लाख मजदूर हों तो मिनट में बना देंगे।
बस, वे नाराज हो गये। उन्होंने कहा, तुम बाहर निकलो। मैंने उनसे कहा, लाख मजदूर हों तो सालों लग जायेंगे। यह गणित बुनियादी रूप से गलत है। आप पूछ ही गलत बात रहे हैं। बस उन्होंने कहा, तुम बाहर निकलो। और अब दुबारा तुम इस तरह की बात पूछना ही मत...तुमको गणित पता ही नहीं है कि गणित क्या चीज है। मैंने कहा कि सीधी-सीधी बात है कि ऐसे नहीं चलता। जिंदगी ऐसे गणित से नहीं चलती।
लेकिन बहुत लोग हैं जिनका जीवन में ढंग ही गणित का है। वे बैठे हैं यहां आकर तो भी उनके भीतर गणित चल रहा है कि ऐसा-ऐसा करेंगे तो कितनी देर से समाधि आ जायेगी। तो ठीक, यह मिल गई कुंजी, सम्हाकर रख लो। कुछ तो अपनी

नोटबुक भी ले आते हैं। जल्दी से उसमें नोट कर लेते हैं कि कहीं भूल न जायें। तो अब कल जाकर प्रयोग करना है। लेकिन कल...।
एक और ढंग भी सुनने का है: कि तुम मुझे सुनो सिर्फ। इस भांति मत सोचो
कि जो मैं कह रहा हूं उसका साधन बनाना है; कि कितनी जल्दी मोक्ष मिल जायेगा। यह तुम सोचो ही मत। तुम सिर्फ मुझे सुन लो मन भरकर। ऐसा सुन लो कि जैसे तुम मोक्ष में बैठे हो। अब कहीं और जाना नहीं है। कहां जाओगे, मोक्ष में बैठे हो। जरा देखो तो चारों तरफ। मोक्ष मौजूद है।
और मैं तुम्हें कोई विधियां नहीं बता रहा हूं कहीं जाने की। सिर्फ अपना गीत गा रहा हूं। तुम ऐसे सुनो कि मोक्ष में बैठे हैं और किसी का गीत सुन रहे हैं। तब तुम बड़े चकित हो जाओगे। गणित के हटते ही, यह पाने की दौड़ के हटते ही तुम पाओगे, तृप्ति की वर्षा हो गई। ऐसी वर्षा, जैसी तुमने कभी नहीं जानी थी। रोआं-रोआं पुलकित हो गया। श्वास-श्वास सुवासित हो गई। धड़कन-धड़कन नाच उठी। तुम इसी क्षण किसी और लोक में प्रवेश कर गये।
जो अभी हो सकता है उसे तुम कभी के लिए क्यों टाल रहे हो? स्थगित मत करो। मैं तुमसे कहता हूं, तुम मोक्ष में बैठे हो। और तुम्हें जो होना चाहिए, ठीक वैसा इसी क्षण हो सकता है। लेकिन गणित हटाना पड़े। और यह जो तुम अतृप्ति बाहर की भीतर ले आये हो, इसको भी छोड़ देना पड़े। अतृप्ति ही छोड़ दो। यह प्रश्न उठा होगा तुम्हारे मन में कल अष्टावक्र के सूत्र को सुनकर
कि "ज्ञानी संतुष्ट होकर भी संतुष्ट नहीं होता।" लेकिन यह ज्ञानी का लक्षण है, तुम्हारा नहीं। यह तो परम अवस्था की बात है। अष्टावक्र ने इतना ही कहा है कि ज्ञानी संतुष्ट होकर संतुष्ट नहीं होता। सूत्र अधूरा है। अष्टावक्र कहीं मिल जायें, तो उनसे कह दो इसको और पूरा कर दो, कि ज्ञानी असंतुष्ट होकर असंतुष्ट भी नहीं होता। नहीं तो यह सूत्र अधूरा है। इसमें कई अज्ञानी झंझट में पड़ जायेंगे।
असल में ज्ञानी कुछ भी होकर कुछ भी नहीं होता। न संतुष्ट होकर संतुष्ट होता, न असंतुष्ट होकर असंतुष्ट होता। न दुखी होकर दुखी होता, न क्रोधित होकर क्रोधित होता। न हंसते समय हंसता और न रोते समय रोता। क्योंकि ज्ञानी अभिनेता है। क्योंकि ज्ञानी ने कर्ता-भाव छोड़ दिया है। इसलिए अब कुछ होने का उपाय न रहा। अब तो ज्ञानी के माध्यम से जो भी हो, परमात्मा ही होता है। अब तो ज्ञानी केवल अभिनय कर रहा है। अब तो वह कहता है, जो तेरी मर्जी। जैसा नाच नचाये वैसा ही नाच लेंगे। न नचाये तो नहीं नाचेंगे। अब अपनी तरफ से कुछ करता ही नहीं ज्ञानी।
इसलिए न तो उसके संतोष में उसका संतोष है। उसके संतोष में परमात्मा
का ही संतोष है। और उसके असंतोष में भी परमात्मा का ही असंतोष है। ज्ञानी तो वही है जो बीच से हट गया। जो अपने और परमात्मा के बीच से हट गया वही ज्ञानी है।

पांचवां प्रश्न: भगवान, तेरी करुणा हम पाषाणों को न पिघला सकेगी। खाई
है हमने कसम न बदलने की। सुनते हैं हम हर रोज तुझे एक नशे के भांति। लेते हैं मजा तेरी अदभुत बातों का, लेकिन हटना नहीं चाहते हैं इंच भर भी। थक जायेगा तू, पर हम न थकेंगे। तेरी करुणा हम पाषाणों को न हिला सकेगी।

इंच भर तो तुम सरक गये। इतना भी समझ में आ गया कि हम न हटेंगे-- हट गये। इतना बोध क्या कम है कि तुम पहचान गये कि तुम पाषाण हो!
जो पहचान गया कि मैं पाषाण हूं, यात्रा शुरू हो गई। पाषाण न रहा। चोट
लग गई। तुम्हें ही याद आ गई यह बात, तो काम शुरू हुआ।
और ध्यान रखना, पाषाण जितने पाषाण मालूम होते हैं इतने पाषाण हैं नहीं। देखा कभी? नदी गिरती है पहाड़ से, चट्टानों पर गिरती है। चट्टानें कितनी कठोर और जल कितना कोमल! पर रोज-रोज गिरती रहती है नदी। पहले दिन जब गिरती होगी तब तो पत्थर भी सोचते होंगे कि गिरती रहो, इससे कुछ होनेवाला नहीं। लेकिन रोज-रोज ठीक आठ बजे सुबह गिरती है। गिरती ही चली जाती। पत्थर तो यही सोचते होंगे कि चलो ठीक है, मजा आ रहा है, शीतलता आ रही है। मजा ले

लेते हैं तेरे गिरने का। लेकिन एक दिन तुम पाओगे, नदी अब भी गिर रही है और पत्थर रेत के कण होकर सागर में खो गये। पत्थर टूट जाते हैं।
रसरी आवत-जात है सिल पर पड़त निशान।
रस्सी से पत्थर पर निशान पड़ जाता है--रस्सी से! रोज-रोज आती रहती है, जाती रहती है।
तुम बैठे रहो। यही तो तुमसे कहता हूं, बात का मजा लेते रहो। तुम कुछ और
ना भी किये अगर, तुम अगर मेरी बात का मजा ही लेते रहे, अगर यह स्वाद ही तुम पर चढ़ता चला गया--नशा ही सही, चलो यही सही। तुम मुझे नशे की तरह ही पीते रहो, तुम बदल जाओगे। पहले दिन तुम्हें लगेगा, तुम पाषाण जैसे हो। एक दिन अचानक तुम पाओगे, खोजोगे और पाषाण न मिलेगा। वह जो नशे की तरह तुमने पीया था वह तुम्हारे भीतर धार की तरह बहने लगेगा।
नहीं, तुम रुक न सकोगे। बदलना ही होगा। बदलाहट शुरू ही हो गई है। और कारण बदलाहट का कि सत्य अगर है तो क्रांति उसके पास घटती ही है, रुक नहीं सकती। यह कुछ तुम्हारे करने न करने की बहुत बात नहीं है।
श्रवणमात्रेण!
अष्टावक्र कहते हैं, मात्र सुनकर भी क्रांति घट जाती है।
श्रवणमात्रेण!
तुम सिर्फ सुनते रहो। तुम सिर्फ मुझे आने दो भीतर। तुम बाधा न डालो।
बस तुम्हारे हृदय तक यह धार पहुंचती रहे, तुम्हारे सब पाषाण पिघल जायेंगे और बह जायेंगे। क्योंकि जो मैं कह रहा हूं उसके सत्य को तुम कितने दिन तक झुठलाओगे! जो मैं तुमसे कह रहा हूं, तुम आज सिर्फ मजे की तरह सुन लोगे लेकिन उसके सत्य को कितने दिन तक झुठलाओगे। सुनते-सुनते उसका सत्य तुम्हारी पकड़ में आना शुरू हो जायेगा। शायद तुम्हारे अनजाने में ही सत्य तुम्हारी पहचान में आना शुरू हो जाये।
और फिर जो मैं तुमसे कह रहा हूं उसकी छाया तुम्हें जीवन में भी दिखाई पड़ेगी, जगह-जगह दिखाई पड़ेगी। अगर मैंने तुमसे आज कहा कि मंदिरों में क्या रखा है, और तुमने सुन लिया। तुम भूल भी गये। लेकिन अचानक एक दिन तुम पाओगे, मंदिर के पास से गुजरते हुए तुम्हें याद आती है कि मंदिरों में क्या रखा है। कि आज मैंने तुमसे कहा कि शास्त्रों में तो कोरे शब्द हैं। किसी दिन गीता को उलटते, बाइबिल को पलटते अचानक तुम्हें याद आयेगी कि शास्त्रों में तो केवल शब्द हैं।
और यह याद प्रगाढ़ हो जायेगी। क्योंकि शब्द ही हैं। इस बात की सचाई को तुम ज्यादा दिन तक छोड़ न पाओगे। आज तुमने सुना कि तुम्हारे मंदिर-मस्जिदों में बैठे हुये संन्यासी कोरे हैं। कहीं कुछ हुआ नहीं। किसी दिन अपने मुनि को, अपने स्वामी को सिर झुकाते वक्त तुम्हें उसकी आंखें दिखाई पड़ जायेंगी। उसका खाली चेहरा, उसके आसपास छाई हुई मूढ़ता, मूर्च्छा! तुम बच न सकोगे। सत्य याद आ जायेगा।
श्रवणमात्रेण!
सुनते रहो। और फिर जीवन की हर घटना तुम्हें याद दिलायेगी। अगर मैंने कहा कि यह जो दिखाई पड़ रहा है, सब सपना है। कितने दिन तक तुम इससे बचोगे? यह सपना है। यह तुम्हें बार-बार अनेक-अनेक मौकों पर कांटे की तरह चुभने लगेगा। और मैंने तुमसे कहा, यह जिंदगी तो मौत में जा रही है। यह जिंदगी तो मौत में बदल रही है। यह जिंदगी तो जायेगी। यह जिंदगी तो सिर्फ मरती है और कुछ भी नहीं होता।
तुम कब तक बचोगे? राह पर किसी अर्थी को गुजरते देखकर तुम्हें लगेगा, तुम बंधे अर्थी में चले जा रहे। ये बातें सिर्फ बातें नहीं हैं। ये बातें सत्य की अभिव्यक्तियां हैं। बात को जाने दो भीतर। उसके साथ थोड़ा-सा सत्य भी सरक गया। बात के पीछे-पीछे सरक गया--श्रवणमात्रेण!
और रोज-रोज तुम्हें मौके आयेंगे। प्रतिपल तुम्हें मौके आयेंगे जब इन बातों की सचाई प्रगट होने लगेगी। और प्रमाण जीवन से जुटने लगेंगे। मैं तो जो कह रहा हूं वे तो केवल मौलिक सिद्धांत हैं। प्रमाण तो तुम्हें जीवन में मिलेंगे। तुम्हारा जीवन इनके लिए प्रमाण जुटायेगा।
अब इब्तदाये-इश्क का आलम कहां हफीज

कश्ती मेरी डुबो कर वह साहिल उतर गया
एक न एक दिन जब तुम पाओगे कि वह जवानी, वह प्रेम, वह माया-मोह, वह सब तुम्हारी कश्ती को डुबोकर वह बाढ़ उतर गई और तुम किनारे पर लुटे खड़े रह गये। कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे। उस दिन तुम याद न करोगे? उस दिन तुम्हें खयाल न आयेगा? उस दिन तुम चौंककर जागोगे नहीं?
नहीं, तुम बच नहीं सकते क्योंकि इन बातों में सचाई है।
कोई मोती गूंथ सुहागिन तू अपने गलहार में
मगर विदेशी रूप न बंधनेवाला है सिंगार में
एक हवा का झोंका, जीवन दो क्षण का मेहमान है
अरे ठहरना कहां, यहां गिरवी हरेक मकान है
व्यर्थ सुनहली धूप और यह व्यर्थ रुपहली चांदनी
हर प्रकाश के साथ किसी अंधियारे की पहचान है
चमकीली चोली चुनरी पर मत इतरा यूं सांवरी
सबको चादर यहां एक सी मिलती चलती बार में
सुनते रहो।
चमकीली चोली चुनरी पर मत इतरा यूं सांवरी
सबको चादर यहां एक सी मिलती चलती बार में
यहां कितना ही उपाय करो, झूठ सच नहीं हो पाता। तुम्हारी जिंदगी झूठ को
सच करने का उपाय है। मैं तुमसे जो कह रहा हूं वह सीधा-सीधा सच है-- श्रवणमात्रेण। उसकी चोट पड़ने दो।
आज तुम मजे से सुन रहे हो, मजे से सुनो। इसी मजे-मजे के बहाने उतर जायेगा सत्य गहरे में। पाषाण कटेंगे। क्योंकि तुम्हारा जीवन झूठ है और जो मैं तुमसे कह रहा हूं, सच है। झूठ जीत नहीं सकता। कितनी ही देर हो जाये, झूठ जीत नहीं सकता। सत्यमेव जयते। सत्य ही जीतता है।

आखिरी प्रश्न: निमित्त होना और स्वच्छंद होना क्या मात्र अभिव्यक्ति भेद हैं? कृपा करके समझायें।

ऐसा ही है। अभिव्यक्ति का ही भेद है। दो अलग मार्गों के शब्द हैं।
कृष्ण कहते हैं, निमित्त मात्र हो जाओ। अष्टावक्र कहते हैं, स्वच्छंद हो जाओ। जो निमित्त-मात्र हो गया वह स्वच्छंद हो जाता है। जो स्वच्छंद हो गया वह निमित्तमात्र हो जाता है।
समझो। निमित्तमात्र का अर्थ है, तुम कर्ता न रहो, प्रभु को करने दो। तुम करने की भाषा ही भूल जाओ। तुम बांसुरी हो जाओ, पोली बांसुरी। जो गाये प्रभु, बहे तुमसे। तुम बाधा न डालो।
अगर ऐसी तुम पोली बांसुरी हो गये और प्रभु तुम्हारे भीतर से बहा तो अचानक तुम पाओगे कि यह प्रभु जो तुम्हारे भीतर से बह रहा है, यह तुम्हारा ही स्वभाव है। यह प्रभु तुमसे भिन्न नहीं है। तुम्हारे अहंकार से भिन्न है, तुमसे भिन्न नहीं है। तुम्हारे अहंकार को ही छोड़ने की बात थी। वह तुमने छोड़ दिया, निमित्तमात्र हो गये। निमित्तमात्र होने में तुम मिटते थोड़े ही! याद रखना, तुम पहली दफा होते हो। मिटकर होते हो। हारकर जीतते हो। खोकर पाते हो।
जीसस ने कहा है, जो बचायेंगे वे न बचा पायेंगे। जो खो देंगे, वे बचा लेंगे। जीसस के वचन बड़े अदभुत हैं। जो बचायेंगे, न बचा पायेंगे।
तुम बचाओगे तो बचाओगे क्या? तुम वही बचाने की कोशिश करोगे जो नहीं बचाया जा सकता--अहंकार! अकड़! तुम खो दो इसे। इसे खोते ही तुम पाओगे, जो सदा ही बचा हुआ है। जिसे खोने का उपाय ही नहीं कोई। जो आधारभूत है। जो तुम्हारा स्वभाव है।
निमित्तमात्र हो जाओ और तुम स्वच्छंद हो गये। प्रभु के हाथों में सब छोड़कर तुम गुलाम थोड़े ही होते हो, तुम मालिक हो जाते हो।
पश्चिम से लोग आते हैं तो उनको समर्पण में बड़ी अड़चन मालूम होती है। वे कहते हैं, समर्पण कर देंगे तो हम गुलाम हो जायेंगे। समर्पण कर देंगे तो फिर हम कहां रहे? उनको समझने में समय लगता है कि समर्पण का अर्थ इतना ही है

कि तुम्हारा जो नहीं है वही छोड़ दो। मैं उनसे कहता हूं, जो तुम्हारे पास नहीं है और तुम सोचते हो है, वह तुम मुझे दे दो, ताकि तुम्हारे पास जो है और तुम सोचते हो नहीं है, वह तुम्हें दिखाई पड़ जाये। मैं तुम्हें वही देता हूं जो तुम्हारे पास है। और तुमसे वही छीन लेता हूं जो तुम्हारे पास था ही नहीं, है भी नहीं, हो भी नहीं सकता, सिर्फ भ्रांति है।
निमित्तमात्र का अर्थ है, इधर अहंकार गया, वहां स्वभाव प्रगट हुआ। निमित्तमात्र का अर्थ है, अहंकार की चट्टान हटी कि झरना स्वभाव का बहा। वही तो स्वच्छंदता है। लेकिन कृष्ण की भाषा में उसका नाम परमात्मा है। अष्टावक्र की भाषा में निमित्त की बात नहीं है, वह सीधी स्वच्छंदता
की बात है। तुम स्वच्छंद हो जाओ। तुम स्वयं के छंद को खोज लो। तुम्हारे भीतर जो गहराई में पड़ा है उसको प्रगट होने दो। परिधि में मत भटको, केंद्र को प्रगट होने दो। ऊपर-ऊपर मत सतह पर भटकते रहो, गहरे...गहरे उतरो। अपनी आखिरी गहराई को छुओ। और उस गहराई को प्रगट होने दो।
इसके प्रगट होते ही तुम पाओगे, तुम निमित्तमात्र हो गये। क्योंकि यह गहराई तुम्हारी ही गहराई नहीं है, यह गहराई परमात्मा की भी गहराई है। असल में गहराई में हम सब एक हैं, सतह पर हम सब अलग हैं। केंद्र हमारा एक है, परिधि हमारी अलग है। जैसे ही हम गहरे उतरते हैं वैसे ही पाते हैं कि हम एक हैं।
ऐसा समझो कि लहरें हैं सागर पर, करोड़ों लहरें हैं। लहर ऊपर से तो अलग मालूम पड़ती है दूसरी लहर से, लेकिन हर लहर गहराई में उतरे अगर तो एक ही सागर में है। जो व्यक्ति अपनी स्वच्छंदता में उतरेगा, स्वयं में उतरेगा, वह पहुंच जायेगा सागर में। वह पहुंच गया परमात्मा में। हो गया निमित्त। ये भाषा के भेद हैं। तुम चाहे निमित्त बनो, चाहे तुम स्वच्छंद बनो, ऊपर से देखने में विरोध है। यही अड़चन है। ज्ञानियों की भाषा में यही अड़चन है। और ऊपर से देखो तो बड़ा विरोध है। अगर तर्क से सोचो तो बड़ा विरोध है। निमित्त का तो अर्थ हुआ, स्वयं को गंवा दो। तो स्वच्छंद कैसे होओगे? स्वच्छंद का अर्थ तो हुआ कि परमात्मा इत्यादि को सबको इंकार कर दो, अपनी घोषणा करो। ये तो विपरीत हो गये। लेकिन अनुभव में जाओगे तो पाओगे, यह विपरीत नहीं है। ये एक ही बात को कहने के दो ढंग थे।
फिर कुछ लोग हैं जो निमित्त हो सकते हैं; उनको स्वच्छंद होने की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। फिर कुछ लोग हैं जो स्वच्छंद हो सकते हैं; उनको निमित्त होने की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। मार्ग पर तो लोग अलग-अलग होंगे, मंजिल पर एक हो जाते हैं। अंत में हम सब मिल जाते हैं। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, सब मिल जाते हैं अंत में। लेकिन प्रथम में हमारे मार्ग बड़े अलग-अलग हैं।
और इतने मार्गों की जरूरत है, क्योंकि इतने तरह के लोग हैं। कोई मार्ग व्यर्थ नहीं है। किसी न किसी के काम का है। कोई न कोई है पृथ्वी पर, जो उसी मार्ग से पहुंचेगा। इसलिए पृथ्वी से कोई भी मार्ग विदा नहीं होना चाहिए। अभी तो और कुछ मार्ग पैदा होने चाहिए। अभी कुछ ऐसे लोग हैं जिनके लिए कोई भी मार्ग नहीं है। दुनिया में मार्ग बढ़ते जायेंगे। जैसे-जैसे मनुष्य की चेतना गहरी होती जायेगी, वैसे-वैसे मार्ग बढ़ते जायेंगे।
मुझसे कोई पूछता था दो दिन पहले कि दुनिया में इतने धर्मों की जरूरत क्या है? मैंने उससे कहा, अगर दुनिया में चैतन्य बढ़ेगा तो उतने धर्म होंगे जितने लोग होंगे। एक-एक व्यक्ति का एक-एक धर्म होगा। क्योंकि सच में एक-एक व्यक्ति इतना भिन्न है कि वह किसी दूसरे के मार्ग से कैसे चल सकता है? तुमने कभी खयाल किया? कभी किसी दूसरे आदमी के जूते पहनकर देखे? तो जरा पहनकर देखना। बाहर जाकर आज ही एक-दूसरे के जूते पहनकर देखना। तुम शायद ही एकाध ऐसा जूता खोज पाओगे, जो तुम्हारे पैर से मेल खा जाये। नंबर भी एक हो तो भी तुम शायद ही कोई ऐसा जूता खोज पाओगे, जो तुम्हारे पैर से मेल खा जाये। क्योंकि नंबर एक होता, फिर भी पैर अलग-अलग होते हैं।
दूकान पर तुम जाओगे तो तुम्हें बारह नंबर का, दस नंबर का जूता लगता, वही दस नंबर का दूसरे को लगता। लेकिन एक दफा एक आदमी ने जूता पहन लिया दस नंबर का, उसका नंबर अलग हो गया। वह आदमी का पैर धीरे-धीरे जूते को बदल देता

है। कहीं उसकी अंगुलि, कहीं उसका अंगूठा, कहीं उसकी एड़ी अलग ढांचे बना देती है। एक दफा दस नंबर का जूता एक आदमी ने पहन लिया, फिर दस नंबर के नंबर वाला दूसरा आदमी उसके जूते को पहने, वह पायेगा, यह नहीं चलेगा। यह पैर में बैठता नहीं। एक-एक पैर अलग है।
तुम दूसरे का जूता तक नहीं पहन सकते तो दूसरे का मार्ग कैसे ओढ़ोगे? न दूसरे के जूते पहने जा सकते, न दूसरे के पदचिह्नों पर चला जा सकता। हरेक को अपना ही मार्ग खोजना पड़ता है। सदगुरु के पास तुम्हें सिर्फ साहस मिलता, हिम्मत मिलती, बढ़ावा मिलता। वह कहता है, बढ़ो। फिक्र न करो। डरो मत। झिझको मत। राह है, और राह के आगे मिल जानेवाली मंजिल भी है। और मैं देखकर आया हूं, तुम चलो। तुम हिम्मत करो।
सदगुरु मार्ग थोड़े ही देता है, अगर ठीक से समझो तो साहस देता, आत्मविश्वास देता। फिर जब तुम्हें वह मार्ग भी देता है तो भी जो मार्ग है वह धीरे-धीरे-धीरे तुम्हारे ढांचे में ढल जाता है।
मैं ध्यान देता हूं अलग-अलग लोगों को। कभी-कभी एक ही ध्यान दो व्यक्तियों को देता हूं लेकिन आखिर में पाता हूं कि परिणाम अलग होने शुरू हो गये। एक ही नंबर के जूते दिये थे लेकिन उन्होंने अलग आकृति और अलग शकल लेनी शुरू कर दी। होगा ही। स्वाभाविक है। जैसे तुम्हारे अंगूठे के चिह्न अलग-अलग हैं, ऐसी तुम्हारी आत्माओं के चिह्न भी अलग-अलग हैं।
तो जिसको निमित्त होना जंच जाये, जिसको सुगमता से, सरलता से, सहजता से निमित्त होना जंच जाये, ठीक। पहुंच जायेगा वहीं, जहां स्वच्छंद होनेवाला पहुंच जाता। जिसको स्वच्छंद होना जंच जाये वह भी पहुंच जायेगा वहीं। घबड़ाहट मत लेना, मंजिल तो एक ही है, क्योंकि सत्य एक ही है। लेकिन बहुत द्वार हैं।
जीसस ने फिर कहा है कि मेरे प्रभु के मंदिर के बहुत द्वार हैं। और मेरे प्रभु के मंदिर में बहुत कक्ष हैं। मंदिर एक ही है, द्वार बहुत, कक्ष बहुत।
निमित्त का अर्थ होता है, जो हो वह प्रभु कर रहा है। तुम स्वीकार कर लो। तथाता!
बाग है यह हर तरह की वायु का इसमें गमन है
एक मलयज की वधू तो एक आंधी की बहन है
यह नहीं मुमकिन कि मधुऋतु देख तू पतझर न देखे
कीमती कितनी ही चादर हो, पड़ी सब पर शिकन है
दो बरन के सूत की माला प्रकृति है किंतु फिर भी
एक कोना है जहां शृंगार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक, तुझ पर यहां अधिकार सबका है बराबर कोस मत उस रात को जो पी गई घर का सवेरा
रूठ मत उस स्वप्न से जो हो सका जग में न तेरा खीझ मत उस वक्त पर, दे दोष मत उन बिजलियों को
जो गिरीं तबत्तब कि जब-जब तू चला करने बसेरा
सृष्टि है शतरंज औ हैं हम सभी मोहरे यहां पर
शाह हो पैदल कि शह पर वार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक! तुझ पर यहां अधिकार सबका है बराबर
फूल का, शूल का; दिन का, रात का; जीवन का, मृत्यु का; सुख का, दुख का; सबका अधिकार बराबर है।
निमित्त का अर्थ है: दोनों स्वीकार। दोनों समभाव से स्वीकार। जो हो वही हो। जैसा हो रहा है वैसा ही हो। मेरी कोई अन्यथा की मर्जी नहीं है। ऐसा जिसको जंच जाये, फिर उसे स्वच्छंद की बात ही नहीं उठानी चाहिए।
मगर ऐसा न जंचे तो ऐसा नहीं है कि परमात्मा संकीर्ण है और एक ही मार्ग
से कोई पहुंचता है। तो ऐसा नहीं है कि एक ही मार्ग है। तो तुम फिर पहुंच ही न पाओगे। ऐसा न जंचे तो? तो परमात्मा की करुणा विराट है। वह कहता है, तो इससे विपरीत जंचता है? यह नहीं जंचता तो इससे विपरीत जंचता है!

स्वच्छंदता जंचती है? विद्रोह जंचता है? जंचता है यह घोषणा कर देना कि बस, मैं मेरे ही ढंग से जीयूंगा? तो वैसे ही जीयो। उसी स्वयं के छंद में अपने को ढाल दो। परिपूर्ण स्वतंत्रता में जीयो। बिलकुल मत बनो निमित्त। मत करो समर्पण। स्वच्छंद जीयो।
जिसको अष्टावक्र स्वच्छंद कहते हैं, उसी को महावीर ने अशरण कहा है।
वे एक ही बातें हैं। जिसको कृष्ण ने निमित्तमात्र होना कहा है, उसी को चैतन्य ने, मीरा ने समर्पण कहा है। वे एक ही बातें हैं। अगर इन सारी बातों को ठीक-ठीक निचोड़कर संक्षिप्त में कहा जाये तो एक मार्ग ऐसा है जो स्त्री का है और एक मार्ग ऐसा है जो पुरुष का है। पुरुष के मार्ग का अर्थ होता है, वह समर्पण न कर पायेगा। वह निमित्त न बन पायेगा। पुरुष के मार्ग का अर्थ होता है, वह अपनी उदघोषणा करेगा। स्वच्छंदता का, अशरण का मार्ग उसको जमेगा। स्त्री का अर्थ होता है, वह अपनी घोषणा न करेगी। वह उसके स्वभाव में नहीं है। वह विनम्र होगी। वह झुकेगी, वह समर्पण करेगी। वह निमित्तमात्र बनेगी।
खयाल रखना, जब मैं कहता हूं स्त्री-पुरुष का, तो मेरा मतलब ऐसा नहीं है
कि सभी स्त्रियां इस मार्ग से जायेंगी और सभी पुरुष पुरुष के मार्ग से जायेंगे। नहीं, शरीर की बात नहीं है, मन की बात है। बहुत पुरुषों के पास स्त्रैण मन है। बहुत-सी स्त्रियों के पास पुरुष-मन है। इसलिए तुम शरीर पर ध्यान मत देना।
कई बार कोई पुरुष मेरे पास आता है और इतना समर्पण भाववाला कि वैसी स्त्री खोजनी मुश्किल है। कभी कोई स्त्री आती है और ऐसी स्वच्छंद प्रकृति की कि वैसा पुरुष खोजना मुश्किल है। इसलिए यह जो मैं कह रहा हूं स्त्री- पुरुष, यह केवल प्रतीकात्मक शब्द हैं। लेकिन दो ही तरह के मार्ग हैं: स्वच्छंदता की घोषणा या निमित्त हो जाने का समर्पण।
इतना ही खयाल रखना कि जो तुम्हें मौजूं पड़ जाये। थोपना मत। आग्रहपूर्वक, हठपूर्वक आरोपण मत करना। जबरदस्ती दबाना मत। साधो सहज समाधि भली। उसे स्मरण रखना। उतना स्मरण रहे, तुम कभी भटकोगे नहीं। जो तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल पड़े वही तुम्हारे लिए सत्य का मार्ग है। स्वभाव, सहजता, इन कसौटियों पर कसते रहना।
अक्सर उलटा होता है। अक्सर जो तुम्हारे अनुकूल नहीं पड़ता उसको तुम थोपते हो। उपवास काम नहीं आता, उपवास करते हो। मरते हो भूखे, मगर उपवास करते हो। दुखवादी हो। खुद को दुख देने में रस लेते हो। जो बात तुम्हारे सहज नहीं मालूम होती, उसमें एक तरह का अहंकार को आकर्षण मालूम होता है। और अहंकार बाधा है।
इसको मैं फिर तुम्हें दोहरा दूं: अहंकार का एक आकर्षण है कि जो अनुकूल
न पड़े उसको चुन ले। क्योंकि अनुकूल को चुनने में तो अहंकार बचता नहीं, प्रतिकूल को चुनने में बचता है। जितना बड़ा पहाड़ हो, अहंकार उतना ही उसको चढ़ना चाहता है। जितनी कठिन बात हो, उतना ही करना चाहता है। सरल में अहंकार को कोई रस नहीं। क्योंकि सरल में क्या सार!
मैंने देखा, मुल्ला नसरुद्दीन एक झील के किनारे बैठा मछली मार रहा है। मैंने उससे कहा कि नसरुद्दीन, कुछ पकड़ीं? उसने कहा कि नहीं, आज दिन भर तो हो गया, सूरज ढलने को आ गया, एक भी मछली नहीं पकड़ी। मैंने कहा, तुम्हें पता है, इस झील में मछली है ही नहीं। उसने कहा, मुझे पता है। तो मैंने कहा, पास ही दूसरी झील है, जहां मछलियां ही मछलियां हैं। मुल्ला ने कहा, वहां पकड़ने में क्या सार! वहां तो कोई भी पकड़ ले। बच्चे पकड़ लें। इसीलिए तो यहां बैठा हूं कि यहां कोई भी नहीं पकड़ पाता। यहां पकड़ी तो कुछ पकड़ी। वहां पकड़ी तो क्या पकड़ी!
अहंकार हमेशा असंभव को संभव करना चाहता है और असंभव संभव होता नहीं। अहंकार दो और दो को तीन बनाना चाहता है या पांच बनाना चाहता है और ऐसा कभी होता नहीं।
तो अहंकार के कारण अक्सर लोग उसे चुन लेते हैं जो कठिन है। और कठिन से कभी कोई नहीं पहुंचता। साधो सहज समाधि भली। जो तुम्हारे अनुकूल पड़ जाये,

बिलकुल स्वाभाविक हो। इतनी सरलता से हो जाये कि कानोंकान खबर न पता चले।
फूल की तरह हो जाये, कांटे की तरह न चुभे। वही मार्ग है।
इतना स्मरण रहे तो तुम भटकोगे नहीं, पहुंच जाओगे। पहुंचना सुनिश्चित है। सहज मार्ग से कभी कोई भटका ही नहीं है।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
तिहत्तरवां प्रवचन

मूढ़ कौन, अमूढ़ कौन!

अष्टावक्र उवाच।

अकुर्वन्नपि संक्षोभात् व्यग्रः सर्वत्र मूढ़धी।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः।। २३४।।
सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः।। २३५।।
स्वभावाद्यस्य नैवार्तिलोकवदव्यवहारिणः।
महाहृद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते।। २३६।।
निवृत्तिरपि मूढ़स्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी।। २३७।।
परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढ़स्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता।। २३८।।
भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढ़स्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थयादृष्टिरूपिणी।। २३९।।

अकुर्वन्नपि संक्षोभात् व्यग्रः सर्वत्र मूढ़धीः।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः।।

शास्त्रों का सार इतना ही है कि प्रश्न करने का नहीं, जानने का है।
समस्त ज्ञानियों को एक छोटे सूत्र में निचोड़ा जा सकता है कि करने से कुछ न होगा, जानने से होगा। अगर जानने की घटना न घटी तो तुम जो भी करोगे, तुम्हारे अज्ञान में ही उसकी जड़ें होंगी। अज्ञान से किया गया शुभ कर्म भी अशुभ हो जाता। ज्ञान से अशुभ जैसा जो दिखाई पड़ता, वह भी शुभ है। इसलिए मौलिक रूपांतरण प्रज्ञा का है, ज्ञान का है, ध्यान का है, आचरण का नहीं। पहला सूत्र अष्टावक्र का:
"अज्ञानी कर्मों को नहीं करता हुआ भी सर्वत्र संकल्प-विकल्प के कारण व्याकुल होता है--नहीं करता हुआ भी व्याकुल होता है और ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी शांत चित्तवाला ही होता है।"
इसलिए प्रश्न कर्म को छोड़कर भाग जाने का नहीं है, कर्म-संन्यास का नहीं है। प्रश्न है, अज्ञान से मुक्त हो जाने का। और अज्ञान से तुम यह मत समझना: सूचनाओं की, जानकारी की कमी। नहीं, अज्ञान से अर्थ है आत्मबोध का अभाव।
तुम कितनी ही सूचनायें इकट्ठी कर लो, कितना ही ज्ञान इकट्ठा कर लो, उससे ज्ञानी न होओगे जब तक कि भीतर का दीया न जले, जब तक कि प्रभा भीतर की प्रगट न हो। तब तक तुम बाहर से कितना ही इकट्ठा करो, उस कचरे से कुछ भी न होगा। पंडित बनोगे, प्रज्ञावान न बनोगे। विद्वान हो जाओगे, लेकिन विद्वान हो जाना धोखा है। विद्वान हो जाना ज्ञानी होने का धोखा है। बुद्धिमानी नहीं है विद्वान हो जाना। दूसरों को तो धोखा दिया ही दिया, अपने को भी धोखा दे लिया।
बुद्ध से कम हुए बिना न चलेगा। जागे मन, हो प्रबुद्ध, तो ही कुछ गति है।
न करते हुए भी अज्ञानी उलझा रहता है। विचार में ही करता रहता है। बैठ जाये गुफा में तो भी सोचेगा बाजार की। ध्यान के लिए बैठे तो भी न मालूम कहां-कहां मन विचरेगा। संकल्प-विकल्प उठेंगे--ऐसा कर लूं, ऐसा न करूं। कल्पना में करने लगेगा। कल्पना में ही हत्या कर देगा, हिंसा कर देगा, चोरी कर लेगा, बेईमानी कर लेगा। हाथ भी नहीं हिला, पलक भी नहीं हिली और भीतर सब हो जायेगा। क्योंकि संसार अज्ञान में फैलता है।
संसार के होने के लिए और कोई चीज जरूरी नहीं है, सिर्फ अज्ञान जरूरी है। जैसे स्वप्न के होने के लिए और कुछ जरूरी नहीं है, केवल निद्रा जरूरी

है। सो गये कि सपना शुरू। और कोई साधन-सामग्री नहीं चाहिए, सिर्फ नींद काफी है। नींद एकमात्र जरूरत है। फिर तुम यह नहीं कहते कि कहां है मंच? कहां हैं परदे? कहां है निर्देशक? कहां है अभिनेता? कैसे हो यह खेल सपने का? नहीं, एक चीज के पूरे होने से सब पूरा हो गया--नींद आ गई तो तुम ही बन गये अभिनेता, तुम ही बन गये निर्देशक, तुम्हीं ने लिख ली कथा, तुम्हीं ने लिख लिये गीत, तुम्हीं बन गये मंच, तुम्हीं फैल गये सब चीजों में। तुम्हीं बन गये दर्शक भी। और सारा खेल रच डाला।
एक चीज जरूरी थी--नींद।
ऐसे ही संसार के लिए भी एक चीज जरूरी है--मूर्च्छा, बेहोशी। बस, फिर संसार फैला। फिर किसी की भी आवश्यकता नहीं है।
तो तुम यह मत सोचना कि बाजार को छोड़कर अगर हिमालय चले गये तो संसार छूट जायेगा। क्योंकि संसार के होने के लिए एक ही चीज जरूरी है: मूर्च्छा।
गुफा में बैठे-बैठे मूर्च्छा की झपकी आ गई, झोंका आ गया, संसार फैल गया। वहीं तुम विवाह रचा लोगे, वहीं बच्चे पैदा हो जायेंगे।
पुरानी कथा है। एक युवा संन्यासी ने अपने गुरु को पूछा, यह संसार है क्या? गुरु ने कहा, तू ऐसा कर, तू आज गांव में जा, फलां-फलां द्वार पर भिक्षा मांग लेना। लौटकर जब आयेगा तब संसार क्या है, बता दूंगा। युवक तो भागा। ऐसी शुभ घड़ी आ गई कि गुरु ने कहा कि संसार क्या है, बता दूंगा। तू भिक्षा मांग ला।
उसने जाकर द्वार पर दस्तक दी। एक सुंदर युवती ने द्वार खोला। अति सुंदर युवती थी। युवक ने ऐसी सुंदर स्त्री कभी देखी न थी। उसका मन मोह गया। वह यह तो भूल ही गया कि गुरु के लिए भिक्षा मांगने आया था, गुरु भूखे बैठे होंगे। उसने तो युवती से विवाह का आग्रह कर लिया। उन दिनों ब्राह्मण किसी से विवाह का आग्रह करे तो कोई मना कर नहीं सकता था। युवती ने कहा, मेरे पिता आते होंगे। वे खेत पर काम करने गये हैं। हो सकेगा। घर में आओ, विश्राम करो।
वह घर में आ गया। वह विश्राम करने लगा। पिता आ गये, विवाह हो गया। वह गुरु की तो बात ही भूल गया। वह भिक्षा मांगने आया था, यह तो बात ही भूल गया। उसके बच्चे हो गये, तीन बच्चे हो गये। फिर गांव में बाढ़ आई, नदी पूर चढ़ी। सारा गांव डूबने लगा। वह भी अपने तीन बच्चों को और अपनी पत्नी को लेकर भागने की कोशिश कर रहा है। और नदी विकराल है। और नदी किसी को छोड़ेगी नहीं। सब डूब गये हैं, वह किसी तरह बचने की कोशिश कर रहा है। एक बच्चे को बचाने की कोशिश में दो बच्चे बह गये। इधर हाथ छूटा, दो बह गये। पत्नी को बचाने में बच्चा भी बह गया। फिर अपने को बचाने की ही पड़ी तो पत्नी भी बह गई। किसी तरह खुद बच गया, किसी तरह लग गया किनारे, लेकिन इस बुरी तरह थक गया कि गिर पड़ा। बेहोश हो गया।
जब आंख खुली तो गुरु सामने खड़े थे। गुरु ने कहा, देखा संसार क्या होता है? तब उसे याद आया कि वर्षों हो गये, तब मैं भिक्षा मांगने निकला था। गुरु ने कहा, कुछ भी नहीं हुआ है सिर्फ तेरी झपकी लग गई थी। जरा आंख खोलकर देख। वह भिक्षा मांगने भी नहीं गया था। सिर्फ झपकी लग गई थी। वह गुरु के सामने ही बैठा था। कुछ घटना घटी ही न थी। वह जो सुंदर युवती थी, सपना थी। वे जो बच्चे हुए, सपने थे। वह जो बाढ़ आई, सपना थी। वे जो वर्ष पर वर्ष बीते, सब सपना था। वह अभी गुरु के सामने ही बैठा था। झपकी खा गया था। दोपहर रही होगी, झपकी आ गई होगी।
तुम यहां बैठे-बैठे कभी झपकी खा जाते हो। तुम जरा सोचो, तब एक क्षण की झपकी में यह पूरा सपना घट सकता है। क्यों? क्योंकि जागते का समय और सोने का समय एक ही नहीं है। एक क्षण में बड़े से बड़ा सपना घट सकता है। कोई बाधा नहीं है।
तुमने कभी अनुभव भी किया होगा, अपनी टेबल पर बैठे झपकी खा गये। झपकी खाने के पहले ही घड़ी देखी थी दीवाल पर, बारह बजे थे। लंबा सपना देख लिया। सपने में वर्षों बीत गये। कैलेंडर के पन्ने फटते गये, उड़ते गये। आंख खुली, एक मिनट सरका है कांटा घड़ी पर और तुमने वर्षों का सपना देख लिया। अगर तुम अपना पूरा सपना कहना भी चाहो तो घंटों लग जायें। मगर देख लिया।

स्वप्न का समय जागते के समय से अलग है। समय सापेक्ष है। अलबर्ट आइंस्टीन ने तो इस सदी में सिद्ध किया कि समय सापेक्ष है, पूरब में हम सदा से जानते रहे हैं, समय सापेक्ष है। जब तुम सुख में होते हो तो समय जल्दी जाता मालूम पड़ता है। जब तुम दुख में होते हो तो समय धीमे-धीमे जाता मालूम पड़ता है। जब तुम परम आनंद में होते हो तो समय ऐसा निकल जाता है कि जैसे वर्षों क्षण में बीत गये। जब तुम महादुख में होते हो तो वर्षों की तो बात दूर, क्षण भी ऐसा लगता है कि वर्षों लग रहे हैं और बीत नहीं रहा, अटका है। फांसी लगी है।
समय सापेक्ष है। दिन में एक, रात दूसरा। जागते में एक, सोते में दूसरा। और महाज्ञानी कहते हैं कि जब तुम्हारा परम जागरण घटेगा तो समय होता ही नहीं। कालातीत! समय के तुम बाहर हो जाते हो।
सपना देखने के लिए नींद जरूरी है, संसार देखने के लिए अज्ञान जरूरी है। तो अज्ञान एक तरह की निद्रा है, एक तरह की मूर्च्छा है, जिसमें तुम्हें यह पता नहीं चलता कि तुम कौन हो। नींद का और क्या अर्थ होता है? नींद में तुम यही तो भूल जाते हो न कि तुम कौन हो? हिंदू कि मुसलमान, स्त्री कि पुरुष, बाप कि बेटे, गरीब कि अमीर, सुंदर कि कुरूप, पढ़े-लिखे कि गैर-पढ़े लिखे--यही तो भूल जाते हो न नींद में कि तुम कौन हो।
मूर्च्छा में भी और गहरे तल से हम भूल गये हैं कि हम कौन हैं।
कल एक युवती मुझसे पूछती थी कि मैं यहां क्या कर रही हूं? संन्यासिनी है। मैं यहां क्या कर रही हूं यह मेरी समझ में नहीं आता। यह प्रश्न बार-बार उठता है कि मैं यहां कर क्या रही हूं। तो मैंने उससे कहा कि मेरे सिवाय यहां किसी को भी पता नहीं है कि कौन क्या कर रहा है। और यह प्रश्न यहीं उठता है ऐसा नहीं, तू कहीं भी होगी संसार में, वहीं उठेगा। यह उठता ही रहेगा। क्योंकि अभी तो तुझे यह भी पता नहीं कि तू कौन है। तो तू क्या कर रही है यह कैसे पता चलेगा? अभी तो मौलिक प्रश्न का ही उत्तर नहीं मिला, अभी तो आधार ही नहीं रखे गये उत्तर के, तू भवन उठा रही है!
होना पहले है, कर्म तो पीछे है। बिना हुए कर्म तो न कर सकोगे। हां, बिना कर्म किये हो सकते हो; इसलिए होना मौलिक है, आधारभूत है। तो पहले यह जानो कि मैं कौन हूं तो ही समझ पाओगे कि क्या कर रहे हो। मैं कौन हूं, ऐसा जिसने जान लिया उसका संसार मिट जाता है। क्योंकि उस परम जागरण में तंद्रा रह नहीं जाती, निद्रा रह नहीं जाती, मूर्च्छा रह नहीं जाती तो संसार को फैलाने का उपाय नहीं रह जाता। इसलिए तो ज्ञानियों ने कहा है, संसार और सपना एक।
तुम समझो अर्थ। सपना और संसार एक का यही अर्थ है कि दोनों के फैलने की प्रक्रिया एक है। दोनों के होने का ढंग, ढांचा एक है। दोनों के लिए मूर्च्छा जरूरी है--सपने के लिए भी, संसार के लिए भी। और एक बात और तुमसे कह दूं, सपने के लिए गहरी मूर्च्छा जरूरी नहीं है, संसार के लिए गहरी मूर्च्छा जरूरी है। सपना तो जरा-सी झपकी आ जाती है, उसमें भी दिख जाता है। यह संसार की जो झपकी है, यह बड़ी प्राचीन है। जन्मों-जन्मों की है। यह बड़ी गहरी है।
इसीलिए सपना व्यक्तिगत होता है और संसार सामूहिक। तुम सपना देखते हो, तुम मुझे अपने सपने में निमंत्रित नहीं कर सकते। तुम अपने मित्र को नहीं कह सकते कि कल मेरे सपने में आना। इसका कोई उपाय नहीं है।
सपना वैयक्तिक है। इसका अर्थ हुआ कि सपना व्यक्तिगत मूर्च्छा से उठा है।
यह संसार सामूहिक है। ये जो वृक्ष तुम्हें दिखाई पड़ रहे हैं, मुझे भी दिखाई पड़ रहे हैं। सभी को दिखाई पड़ रहे हैं। इसमें हम साझीदार हैं। सपने में मैं जो वृक्ष देखता हूं, मुझे दिखाई पड़ता है, तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। तुम जो देखते हो, तुम्हें दिखाई पड़ता है, मुझे दिखाई नहीं पड़ता। यह वृक्ष मुझे भी दिखाई पड़ता है, तुम्हें भी दिखाई पड़ता है, सबको दिखाई पड़ता है।
इसका केवल इतना ही अर्थ हुआ कि यह मूर्च्छा कुछ इतनी गहरी होगी कि सार्वभौम है। यह सबके भीतर फैली होगी। यह हमारा सामूहिक सपना है:

कलेक्टिव ड्रीम। आधुनिक मनोविज्ञान कलेक्टिव अनकांशस की खोज पर पहुंच गया है: सामूहिक अचेतन।
पहले फ्रायड ने जब पहली दफा यह कहा कि चेतन मन के नीचे छिपा हुआ अचेतन
मन होता है तो लोग चौंके। क्योंकि पश्चिम में यह कोई धारणा न थी। बस, चेतन मन सब था। फ्रायड अचेतन मन को लाया। लोग बहुत चौंके। वर्षों मेहनत करके वह समझा पाया कि अचेतन मन है। बड़ी कठिनाई थी इसको सिद्ध करने में।
क्यों? मन का तो अर्थ ही लोग समझते हैं, चेतन। तो अचेतन मन, यह तो विरोधाभास मालूम पड़ता है। जिसका हमें पता ही नहीं है वह हमारा मन कैसे हो सकता है? अचेतन का अर्थ, जिसका हमें पता नहीं है। लेकिन फ्रायड ने समझाया। तुम भी समझोगे। कोशिश करोगे तो खयाल में आ जायेगा।
किसी का नाम तुम्हें याद नहीं आ रहा है और तुम कहते हो जबान पर रखा है।
और फिर भी तुम कहते हो याद नहीं आ रहा है। अब तुम क्या कह रहे हो? तुम कहते हो, जबान पर रखा है; और तुम कहते हो, याद भी नहीं आ रहा है। और तुम जानते हो कि तुम्हें मालूम है। तो यह कहां सरक गया? यह तुम्हारे अचेतन में सरक गया। तो अचेतन में खड़खड़ भी कर रहा है, लेकिन जब तक चेतन में न आ जाये तब तक तुम पकड़ न पाओगे। फिर तुम जितनी चेष्टा करते हो उतना ही मुश्किल। तुम जितनी चेष्टा करते हो पकड़ लें, उतना ही छिटकता है।
फिर तुम थककर हार जाते हो। तुम कहते हो, भाड़ में जाने दो। तुम अपनी सिगरेट पीने लगे, कि अखबार पढ़ने लगे, कि रेडिओ खोल लिया। अचानक यह आ रहा-- एकदम से आ गया। था; तुम्हें एहसास भी होता था कि है, लेकिन तुमने जब बहुत चेष्टा की, तो तुम संकीर्ण हो गये। चेष्टा में आदमी का चित्त संकीर्ण हो जाता है। दरवाजा छोटा हो जाता है, सिकुड़ जाता है। जब तुम बहुत आतुर होकर खोजने लगे तो तुम्हारी आतुरता ने तनाव पैदा कर दिया। तनाव के कारण जो आ सकता था बहकर वह नहीं आ सका। तुम बाधा बन गये।
फिर तुम सिगरेट पीने लगे। तुमने कहा, छोड़ो भी, जाने भी दो। अब नहीं आता
तो क्या कर सकते हो? क्योंकि ऐसी घड़ियों में तुम अगर ज्यादा कोशिश करोगे तो लगेगा, पागल हो जाओगे। जबान पर रखा है और आता नहीं। बहुत घबड़ाने लगोगे, पसीना-पसीना होने लगोगे। कहते हो, छोड़ो। शिथिल हुए, विश्राम आया। जो चीज तनाव में न घटी वह विश्राम में तैरकर आ गई। नाम याद आ गया। यह अचेतन में था। याद थी इसकी। यह भी याद थी कि याद है, और फिर भी पकड़ में न आती थी। फ्रायड को हजारों उपायों से सिद्ध करना पड़ा कि अचेतन है। बात वहीं नहीं रुकी। फ्रायड के शिष्य जुंग ने और एक गहरी खोज की। उसने कहा, यह अचेतन तो व्यक्तिगत है। एक-एक व्यक्ति का अलग-अलग है। इसके और गहराई में छिपा हुआ सामूहिक अचेतन है--कलेक्टिव अनकांशस। वह हम सबका समान है।
यह और भी मुश्किल है सिद्ध करना, क्योंकि यह और गहरी बात हो गई। लेकिन ऐसा भी है। कभी-कभी तुम्हें इसका भी अनुभव होता है। तुम बैठे हो, अचानक तुम्हें अपने मित्र की याद आ गई कि कहीं आता न हो। और तुमने आंख खोली और वह दरवाजे पर खड़ा है। एक क्षण तुम्हें विश्वास ही नहीं आता कि यह कैसे हुआ! तुम कहते हो, संयोग होगा। संयोग के नाम पर तुम न मालूम कितने सत्यों को झुठला देते हो। तुम कहते हो, संयोग होगा।
मेरे एक मित्र हैं। कवि हैं, कवि सम्मेलन में भाग लेने गये थे। बस में बैठे-बैठे बीच रास्ते में उन्हें ऐसा लगने लगा कि लौट जाऊं। घर लौट जाऊं। कोई चीज खींचने लगी, घर लौट जाऊं। मगर कोई कारण नहीं घर लौटने का। घर सब ठीक है। पत्नी ठीक है, पिता ठीक हैं, बच्चे ठीक हैं। घर लौटने का कोई कारण नहीं है, अकारण। कुछ समझ में नहीं आया। वे लौटे भी नहीं, क्योंकि ऐसे लौटने लगे तो मुश्किल हो जायेगी। चले गये।
रात एक होटल में ठहरे। कोई दो बजे, रात किसी ने आवाज दी, दरवाजे पर दस्तक दी, "मुन्नू"। वे बहुत घबड़ाये, क्योंकि मुन्नू सिर्फ उनके पिता ही कहते उनको--बचपन का नाम--और तो कोई मुन्नू कहता नहीं। बड़े कवि हैं, प्रसिद्ध हैं सारे देश में। और कौन उनको मुन्नू कहेगा? बहुत घबड़ा गये।
सोचा, मन का ही खेल होगा। और चादर ओढ़कर सो रहे।
लेकिन फिर द्वार पर दस्तक, कि "मुन्नू!" अब की बार तो बहुत बात साफ थी।
उठे, घबड़ाहट बढ़ गई। दरवाजा खोला, कोई भी नहीं है। हवा सन्नाती है। दो बजे

रात। कोई भी नहीं है, सारा होटल सो गया है। कहीं कोई पक्षी भी पर नहीं मारता।
फिर दरवाजा बंद करके सो रहे कि मन का ही खेल होगा। लेकिन बिस्तर पर गये नहीं कि फिर आवाज आई, "मुन्नू!" अब तो आवाज बहुत जोर से थी। तो गये उठकर, नीचे जाकर उन्होंने फोन लगाने की कोशिश की। वे तो फोन लगा रहे थे तभी फोन आ गया। उनका तो फोन लगा ही नहीं था, लग ही नहीं पाया था कि घर से फोन आ गया कि पिता दस मिनट हुए, चल बसे।
यह सामूहिक अचेतन है। इसका व्यक्तिगत अचेतन से कोई संबंध नहीं है। यह कुछ ऐसी जगह की बात है कि जहां पिता से बेटा जुड़ा है। जहां पिता और बेटे के बीच कोई सेतु है। यह हजारों मील पर जुड़ा होता है। जहां मां बेटे से जुड़ी है, जहां प्रेमी प्रेमी से जुड़ा है, जहां मित्र मित्र से जुड़े हैं। और अगर तुम गहरे उतरते जाओ तो जो मित्र नहीं हैं वे भी जुड़े हैं, जो अपने नहीं हैं वे भी जुड़े हैं। और गहरे उतर जाओ तो आदमी जानवर से जुड़ा है, और गहरे उतर जाओ तो आदमी वृक्षों से जुड़ा है। और गहरे उतर जाओ तो आदमी पत्थरों-पहाड़ों से जुड़ा है। हम जो भी रहे हैं अपने अतीत में, उन सबसे जुड़े हैं। जितने गहरे जाओगे उतना ही पाओगे, हम सामूहिक के करीब आने लगे। यह सामूहिक अचेतन है। मनुष्य ऐसा ऊपर-ऊपर दिखाई पड़ता है वहीं नहीं समाप्त हो गया है।
जब पूरब में यह बात कही गई कि संसार भी सपना है, और सपना तो सपना है ही,
तो इतना ही अर्थ था कि सपना तो व्यक्तिगत अचेतन में उठता है और संसार सामूहिक अचेतन में उठता है। इसलिए संसार और संसार की वस्तुओं के लिए हममें झगड़ा नहीं होता। क्योंकि हम सब राजी हो सकते हैं। एक टेबल रखी है, दस आदमी देख सकते हैं, इसलिए कोई झगड़ा नहीं है। हम सब कहते हैं कि टेबल है। क्योंकि सबको दिखाई पड़ रही है, अब और क्या प्रमाण चाहिए?
इसीलिए तो हम गवाही को इतना मूल्य देते हैं अदालत में। दस आदमी कह दें
तो बात खतम हो गई। गवाह मिल गये तो मुकदमा जीत गये। गवाह का मतलब यह है कि देखनेवाले चश्मदीद लोग हैं। फिर बात खतम हो गई। अब और क्या करना है? और क्या प्रमाण चाहिए?
संसार ऐसा सपना है जिसके लिए गवाह मिल जाते हैं। तुम्हारा सपना ऐसा संसार है जिसका कोई गवाह नहीं है। बस, इतना ही फर्क है। सपने तो दोनों हैं, तल का भेद है। एक सतह पर है, एक गहराई में है, लेकिन दोनों सपने हैं।
अब अगर संसार से मुक्त होना हो तो क्या करें! कहां जायें? जब तक तुम्हारे अचेतन में रोशनी न पहुंच जाये तब तक तुम संसार से मुक्त न हो सकोगे। तुम भाग जाओ इस बाहर दिखाई पड़नेवाले संसार से, भीतर तो संकल्प-विकल्प उठते रहेंगे। संक्षोभात--वहां तो संक्षोभ होता रहेगा। वह भीतर का अचेतन तो लहरें लेता रहेगा। वहां तो तुम सपने देखते रहोगे। और उन्हीं सपनों में तुम्हारा संसार फैलता रहेगा। तुम शांत न हो सकोगे। अकुर्वन्नपि संक्षोभात् व्यग्रः सर्वत्र मूढ़धीः।
वह जो मूढ़ है, वह जो अज्ञान और अंधेरे में डूबा हुआ है--मूढ़धीः, वह कर्मों को न भी करे तो भी संकल्प-विकल्प के कारण व्याकुल होता है।
तुमने कई दफे पाया होगा, तुम ऐसी चीजों के लिए भी व्याकुल हो जाते हो
जो हैं ही नहीं। जरा कभी बैठकर कल्पना करना शुरू करो। तुम ऐसी चीजों के लिए व्याकुल हो जाओगे, जो हैं ही नहीं। तब तुम हंसोगे भी कि यह भी मैंने क्या किया। यह तो है ही नहीं बात।
एक अदालत में मुकदमा था। दो आदमियों ने एक-दूसरे का सिर फोड़ दिया था।
जब मजिस्ट्रेट पूछने लगा कारण तो बताओ, तो वे दोनों हंसने लगे। उन्होंने कहा, क्षमा करें, दंड जो देना हो दे दें। अब कारण न पूछें। मजिस्ट्रेट ने कहा, मैं दंड बिना कारण पूछे दे कैसे सकता हूं? और तुम इतने घबड़ाते क्यों हो कारण बताने से? झगड़ा हुआ, कारण होगा।
वे दोनों एक-दूसरे की तरफ देखने लगे। वह कहने लगा, अब तू ही बता दे। वह कहने लगा, अब तू बता दे। कारण ही ऐसा था कि बताने में संकोच लगने लगा। फिर बताना ही पड़ा। जब मजिस्ट्रेट ने जोर-जबर्दस्ती की कि अगर न बताया तो दोनों को सजा दे दूंगा। तो बताना पड़ा। कारण ऐसा था कि बताने जैसा नहीं था।

दोनों नदी के किनारे बैठे थे। दोनों पुराने मित्र। और एक ने कहा कि मैं भैंस खरीदने की सोच रहा हूं। दूसरे ने कहा कि देख, भैंस तू खरीदना ही मत क्योंकि मैं खेत खरीदने की सोच रहा हूं, एक बगीचा खरीद रहा हूं। अब कभी यह भैंस घुस गई मेरे बगीचे में, झगड़ा-झंझट हो जायेगा। पुरानी दोस्ती यह भैंस को खरीदकर दांव पर मत लगा देना। और देख, मैं तेरे को अभी कहे देता हूं कि अगर मेरे बगीचे में भैंस घुस गई तो मुझसे बुरा कोई नहीं।
उस आदमी ने कहा, अरे हद हो गई! तूने समझा क्या है? तेरे बगीचे के पीछे
हम भैंस न खरीदें? तू मत खरीद बगीचा, अगर इतनी बगीचे की रक्षा करनी है। भैंस तो खरीदी जायेगी, खरीद ली गई। और कर ले जो तुझे करना हो।
बात इतनी बढ़ गई कि उस आदमी ने वहीं रेत पर एक हाथ से लकीर खींच दी और कहा, यह रहा मेरा बगीचा। और घुसाकर देख भैंस। और दूसरे आदमी ने अपनी उंगली से भैंस घुसाकर बता दी। सिर खुल गये।
उन्होंने कहा, मत पूछें कारण। जो दंड देना हो दे दें। न अभी मैंने बगीचा खरीदा है, न इसने अभी भैंस खरीदी है। और हम पुराने दोस्त हैं। अब जो हो गया सो हो गया। दोनों पकड़कर ले आये गये अदालत में।
तुमने भी कई दफे ऐसे बगीचों के पीछे झंझटें खड़ी कर लीं, जो अभी खरीदे नहीं गये। तुम जरा अपने मन की जांच-पड़ताल करना, तुम्हें हजार उदाहरण मिल जायेंगे। बैठे-बैठे न मालूम क्या-क्या विचार उठ आते हैं! और जब कोई विचार उठता है तो तुम क्षण भर को तो भूल ही जाते हो कि यह विचार है। क्षण भर तो मूर्च्छा छा जाती है, और विचार सच मालूम होने लगता है।
वह जो विचार का सच मालूम होना है, वही संसार है। एक बार विचारों से तुम मुक्त हो गये तो संसार से मुक्त हो गये। निर्विचार होना संन्यास है। और कोई उपाय संन्यासी होने का नहीं है।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः।
"और ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी शांत चित्तवाला होता है।"
कर्म नहीं बाधा डालते। ज्ञानी भी उठता, बैठता, चलता, बोलता, काम करता, लेकिन भीतर उसके कोई संक्षोभ नहीं है। वह एक बात में कुशल हो गया है, उसकी कुशलता आंतरिक है। भीतर विचार नहीं उठते। भीतर वह बिलकुल मौन में है, शून्यवत है। चलता है तो शून्य चलता है। बैठता है तो शून्य बैठता है। करता है, तो शून्य करता है।
और जो व्यक्ति अपने भीतर शून्य हो गया है वही ज्ञान को उपलब्ध हुआ है। उसी को ज्ञानी कहते हैं। जिसने शून्य के साथ अपनी भांवर डाल ली वही ज्ञानी है।
क्योंकि जो शून्य हो गया उसी से पूर्ण प्रगट होने लगता है। जो अपने भीतर अहंकार से खाली हो गया, उसके भीतर से परमात्मा बहने लगता है।
"ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक आता है और जाता है, सुखपूर्वक बोलता है और सुखपूर्वक भोजन करता है।"
सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः।।
बुद्ध के जीवन पर जो कथा-सूत्र लिखे गये हैं, हर सूत्र के पहले जो बात आती है, वह पढ़नेवालों को कभी बड़ी हैरान करने लगती है।
एक बौद्ध भिक्षु कुछ दिन मेरे पास रुके। वे मुझसे कहने लगे कि आपका बुद्ध से गहरा लगाव है। और मैं तो बौद्ध भिक्षु हूं, लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आती, हर सूत्र के पहले यही आता है: "भगवान आये, उनकी चाल बड़ी शांत थी, उनकी श्वासें बड़ी शांत थीं। वे सुखपूर्वक आसन में बैठे। उन्होंने आंख बंद कर ली, क्षण भर को सन्नाटा छा गया। फिर उन्होंने आंख खोली, फिर वे सुखपूर्वक बोले।" तब सूत्र शुरू होता है।
तो उस बौद्ध भिक्षु ने मुझसे पूछा कि हर सूत्र के पहले यह बात दोहराने
की क्या जरूरत है?
मैंने उससे कहा, जो सूत्र में कहा है उससे ज्यादा महत्वपूर्ण यह है। सूत्र नंबर दो है--दोयम; यह नंबर प्रथम है। क्योंकि जिससे सूत्र निकला है उसके संबंध में पहले बात होनी चाहिए तो ही सूत्र मूल्यवान है। ये सूत्र तो तुम भी बोल सकते हो। इसमें कुछ बड़ी अड़चन नहीं है। तुम्हें भी पता है।

लेकिन बुद्ध की भांति तुम उठ न सकोगे, बैठ न सकोगे। बुद्ध की भांति तुम श्वास न ले सकोगे। ये सूत्र तो तुम भी बोल सकते हो।
एक जापानी बौद्ध भिक्षु की पुस्तक मैं कल रात पढ़ रहा था। वह मनोवैज्ञानिक है और उसने झेन ध्यान के ऊपर एक किताब लिखी है। कैसे झेन ध्यान से चिकित्सा हो सकती है पागलों की, विक्षिप्तों की। और सारी चिकित्सा का मूल जो आधार है वह है श्वास की गति। श्वास जितनी शांत हो उतना ही चित्त शांत हो जाता है।
साधारणतः हम एक मिनट में कोई सोलह से लेकर बीस श्वास लेते हैं। धीरे- धीरे-धीरे-धीरे झेन फकीर अपनी श्वास को शांत करता जाता है। श्वास इतनी शांत और धीमी हो जाती है कि एक मिनट में पांच...चार-पांच श्वास लेता। बस, उसी जगह ध्यान शुरू हो जाता।
तुम अगर ध्यान सीधा न कर सको तो इतना ही अगर तुम करो तो तुम चकित हो जाओगे। श्वास ही अगर एक मिनट में चार-पांच चलने लगे, बिलकुल धीमी हो जाये तो यहां श्वास धीमी हुई, वहां विचार धीमे हो जाते हैं। वे एक साथ जुड़े हैं। इसलिए तो जब तुम्हारे भीतर विचारों का बहुत आंदोलन चलता है तो श्वास ऊबड़-खाबड़ हो जाती है। जब तुम पागल होने लगते हो तो श्वास भी पागल होने लगती है। जब तुम वासना से भरते हो तो श्वास भी आंदोलित हो जाती है। जब तुम क्रोध से भरते हो तो श्वास भी उद्विग्न हो जाती है, उच्छृंखल हो जाती है। उसका सुर टूट जाता है, संगीत छिन्न-भिन्न हो जाता है, छंद नष्ट हो जाता है। उसकी लय खो जाती है।
झेन फकीर श्वास पर बड़ा ध्यान देते हैं। यह जो मनोवैज्ञानिक प्रयोग कर रहा था, यह एक झेन फकीर के मस्तिष्क में यंत्र लगाकर जांच कर रहा था कि कब ध्यान की अवस्था आती है। कब अल्फा तरंगें उठती हैं। बीच में अचानक अल्फा तरंगें खो गईं एक सेकेंड को। और उसने गौर से देखा तो फकीर की श्वास गड़बड़ा गई थी। फिर फकीर सम्हलकर बैठ गया, फिर उसने श्वास व्यवस्थित कर ली। फिर तरंगें ठीक हो गईं। फिर अल्फा तरंगें आनी शुरू हो गईं।
झेन फकीर कहते हैं, श्वास इतनी धीमी होनी चाहिए कि अगर तुम अपनी नाक
के पास किसी पक्षी का पंख रखो तो वह कंपे नहीं। इतनी शांत होनी चाहिए श्वास कि दर्पण रखो तो छाप न पड़े। ऐसी घड़ी आती ध्यान में, जब श्वास बिलकुल रुक गई जैसी हो जाती है। कभी-कभी साधक घबड़ा जाता है कि कहीं मर तो न जाऊंगा! यह हो क्या रहा है?
घबड़ाना मत, कभी ऐसी घड़ी आये--आयेगी ही--जो भी ध्यान के मार्ग पर चल रहे हैं, जब श्वास, ऐसा लगेगा चल ही नहीं रही। जब श्वास नहीं चलती तभी मन भी नहीं चलता। वे दोनों साथ-साथ जुड़े हैं।
ऐसा ही पूरा शरीर जुड़ा है। जब तुम शांत होते हो तो तुम्हारा शरीर भी
एक अपूर्व शांति में डूबा होता है। तुम्हारे रोयें-रोयें में शांति की झलक होती है। तुम्हारे चलने में भी तुम्हारा ध्यान प्रगट होता है। तुम्हारे बैठने में भी तुम्हारा ध्यान प्रगट होता है। तुम्हारे बोलने में, तुम्हारे सुनने में।
ध्यान कोई ऐसी बात थोड़े ही है कि एक घड़ी बैठ गये और कर लिया। ध्यान तो कुछ ऐसी बात है कि जो तुम्हारे चौबीस घंटे के जीवन पर फैल जाता है। जीवन तो एक अखंड धारा है। घड़ी भर ध्यान और तेईस घड़ी ध्यान नहीं, तो ध्यान होगा ही नहीं। ध्यान जब फैल जायेगा तुम्हारे चौबीस घंटे की जीवन धारा पर...। ध्यानी को तुम सोते भी देखोगे तो फर्क पाओगे। उसकी निद्रा में भी एक परम शांति है।
यही है यह सूत्र:
सुखमास्ते सुखं शेते सुखामायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः।।
वह जो ज्ञानी है, शांतधीः, जिसकी प्रज्ञा शांत हो गई है, वह व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है।
तुम तो ध्यान में भी बैठो तो सुखपूर्वक नहीं बैठ पाते। तुम तो प्रार्थना भी करते हो तो व्यग्र और बेचैन होते हो। ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है। उसका सुखासन खोता ही नहीं। यह सुखासन कोई योग का आसन

नहीं है, यह उसकी अंतर्दशा है। सुखमास्ते--वह सुख में ही बैठा हुआ है।
सुखासन। सुखमास्ते। सुख में ही बैठा हुआ है।
सुखं शेते सुखमायाति याति च।
उसके सारे जीवन का स्वाद सुख है। तुम कहीं से उसे चखो, तुम सुख ही सुख चखोगे।
बुद्ध से किसी ने पूछा कि आपके जीवन का स्वाद क्या? तो बुद्ध ने कहा, जैसे सागर को तुम कहीं से भी चखो तो खारा, ऐसे तुम बुद्धों को कहीं से भी चखो तो आनंद, शांति, प्रकाश। तुम मुझे कहीं से भी चखो।
"सुखपूर्वक बैठता है।"
तुम ही तो बैठोगे न! तुम अगर बेचैन हो तो तुम्हारे बैठने में भी बेचैनी होगी। तुम देखते आदमियों को? बैठे हैं कुर्सी पर तो भी पैर हिला रहे हैं। अब बैठे हो--चल रहे होते, पैर हिलते तो ठीक थे। अब बैठकर कम से कम बैठे हो तो बैठ ही जाओ। सुखमास्ते। मगर उसमें भी पैर हिला रहे हैं।
बुद्ध बड़ा ध्यान रखते थे। एक बार एक आदमी उन्हीं के सामने बैठा सुन रहा था उनका प्रवचन, और अंगूठा हिलाने लगा अपने पैर का। उन्होंने प्रवचन रोक दिया और कहा कि सुन, यह अंगूठा क्यों हिल रहा है? जब उन्होंने कहा तो उस आदमी को ख्याल आया, नहीं तो उसको तो ख्याल ही कहां था? जैसे ही बुद्ध ने कहा यह अंगूठा क्यों हिल रहा है, अंगूठा रुक गया। तो बुद्ध ने कहा, अब यह भी बता कि अंगूठा रुक क्यों गया? तो उसने कहा, मैं इसमें क्या कहूं? मुझे कुछ पता ही नहीं। तो बुद्ध ने कहा, तेरा अंगूठा और तुझे पता नहीं तो क्या मुझे पता? तेरा अंगूठा हिल रहा है और तुझे पता नहीं है, तो तू होश में बैठा है कि बेहोश बैठा है? यह अंगूठा तेरा है या किसी और का है? तुझे कहना ही पड़ेगा कि क्यों हिल रहा था। वह कहने लगा, मुझे आप क्षमा करें! मगर मैं कोई उत्तर देने में असमर्थ हूं। मुझे पता ही नहीं।
जब तुम भीतर से बेचैन हो तो उसका कंपन तुम्हारे जीवन पर प्रगट होता रहता है। अंगूठा ऐसे ही नहीं हिल रहा है। भीतर जो ज्वर भरा है, बेहोशी भरी है। भीतर तुम उबल रहे हो। वह उबलन कहीं न कहीं से निकल रही है। भीतर भाप ही भाप इकट्ठी हो गई है तो केतली का बर्तन ऊपर-नीचे हो रहा है। भाप भरी है तो कहीं न कहीं से तो निकालोगे। कहीं पीठ खुजाओगे, कहीं सिर खुजाओगे, कहीं हाथ हिलाओगे, कहीं जम्हाई लोगे, कहीं अंगूठा हिलाओगे, करवट बदलोगे। कुछ न कुछ करोगे। क्योंकि इस करने में थोड़ी-सी ऊर्जा बाहर जायेगी और थोड़ा हल्कापन लगेगा। तुम ऊर्जा से भरते जा रहे हो।
छोटे बच्चों को देखते? बैठ ही नहीं सकते। ऊर्जा भरी है। बैठेंगे तो भी तुम पाओगे...एक मां अपने बच्चे से कह रही थी कि अब तू बैठ जा। देख, छः दफा मैं तुझसे कह चुकी हूं। अब अगर नहीं बैठा तो यह सातवीं वक्त है। भला नहीं फिर अब तेरा। तब बच्चा समझ गया। बच्चे समझ जाते हैं कि कब आ गया आखिरी मामला। कि अब मां आखिरी घड़ी में है, अब झंझट खड़ी होगी। जब तक वह देखता है कि अभी चलेगा तब तक चला रहा था। तो उसने कहा, अच्छी बात है, बैठा जाता हूं। लेकिन याद रखना, भीतर से नहीं बैठूंगा। बाहर से ही बैठ सकता हूं। तो बैठा जाता हूं। वह बैठ गया कुर्सी पर हाथ-पैर बिलकुल स्थिर करके। लेकिन उसने कहा, एक बात बता दूं कि भीतर से नहीं बैठा हूं। भीतर से तो कोई ऐसे कैसे बैठ सकता है?
तुम भीतर से बैठ जाओ तो तुम्हारे जीवन में सुख की एक आभा तैरने लगती है। ऐसा नहीं कि तुम्हीं को सुख मालूम होगा, तुम्हारी छाया में भी जो आ जायेंगे उनको भी सुख मालूम होगा। तुम्हारे पास जो आ जायेंगे वे भी तुम्हारी शीतलता से आंदोलित हो जायेंगे।
तुम्हें भी कई बार लगता होगा, किसी व्यक्ति के पास जाने से तुम उद्विग्न हो जाते हो। और किसी व्यक्ति के पास जाने से तुम शांत हो जाते। किसी व्यक्ति के पास जाने का मन बार-बार करता है। और कोई व्यक्ति रास्ते पर मिल जाये तो तुम बचकर निकल जाना चाहते हो। शायद साफ-साफ तुमने कभी सोचा भी न हो कि ऐसा क्या है? कभी तो ऐसा होता है कि व्यक्ति से तुम पहले कभी मिले नहीं थे और पहले ही मिलन में दूर हटना चाहते हो, भागना चाहते हो। और

ऐसा भी होता है कि कभी पहले मिलन में किसी पर आंख पड़ती है और उसके हो गये।
सदा के लिए उसके हो गये।
क्या हो जाता है? भीतर की तरंगें हैं जो गहरे में छूती हैं। कोई व्यक्ति तुम्हें धक्के मारकर हटाता है। कोई व्यक्ति तुम्हें किसी प्रबल आकर्षण में अपने पास खींच लेता है। किसी के पास सुख का स्वाद मिलता है। किसी के पास होने ही से लगता है कि तुम हलके हो गये; जैसे बोझ उतर गया। और किसी के पास जाने से ऐसा लगता है, सिर भारी हो आया; न आते तो अच्छा था। उदास कर दिया उसकी मौजूदगी ने। उसने अपने दुख, अपनी पीड़ायें, अपनी चिंतायें कुछ तुम पर भी फेंक दीं।
स्वाभाविक है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति तरंगित हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्तता को ब्राडकास्ट कर रहा है। उससे तुम बच नहीं सकते। उसके भीतर का गीत चारों वक्त चारों दिशाओं में आंदोलित हो रहा है। तुम उसके पास गये कि तुम पकड़ोगे उसके गीत को। अगर गीत बेसुरा है तो बेसुरेपन को पकड़ोगे। अगर गीत शास्त्रीय संगीत में बंधा है तो डोलोगे, मस्त हो जाओगे।
हर व्यक्ति का स्वाद है। सत्संग का इसीलिए इतना मूल्य है। किसी ऐसे व्यक्ति के पास बैठ जाना, जो शांत हो गया है। तो उससे कभी तुम्हें झलक मिलेगी अपने भविष्य की कि ऐसा कभी मेरे जीवन में भी हो सकता है। जो एक के जीवन में हुआ, दूसरे के जीवन में क्यों नहीं हो सकता? और स्वाद लेते-लेते ही तो आकांक्षा उठती है, अभीप्सा उठती है।
सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः।।
ज्ञानी व्यवहार में भी, साधारण व्यवहार में भी तुम उसे पाओगे सदा सुख
से आंदोलित, आनंदमग्न, मस्ती से भरा। वह बैठा भी होगा तो तुम पाओगे कि उसके पास कोई अलौकिक ऊर्जा नाच रही है। उसके पास किसी ओंकार का नाद है। उसके आसपास कोई अलौकिक संगीतज्ञ, कोई गंधर्व गीत गा रहे हैं।
और अज्ञानी तो जब तुम्हें सुख में भी बैठा हुआ मालूम पड़े तब भी तुम पाओगे, नये दुखों की तैयारियां कर रहा है। अज्ञानी अपने सुख के समय को भी दुखों के बीज बोने में ही तो व्यतीत करता है। और तो क्या करेगा? जब सुख होता है तो वह दुख के बीज बोता है। वह कहता है, अब बो लो, मौका आया है, फसल बो लो। थोड़ा समय मिला है, कर लो इसका उपयोग। लेकिन उपयोग अज्ञानी अज्ञानी की तरह ही तो करेगा न! ज्ञानी दुख में भी सुख के बीज बोता।
हंसकर दिन काटे सुख के
हंस-खेल काट फिर दुख के दिन भी
मधु का स्वाद लिया है तो
विष का भी स्वाद बताना होगा
खेला है फूलों से वह
शूलों को भी अपनाना होगा कलियों के रेशमी कपोलों को तूने चूमा है तो फिर
अंगारों को भी अधरों पर
धरकर रे मुसकाना होगा
जीवन का पथ ही कुछ ऐसा
जिस पर धूप-छांव संग रहती
सुख के मधुर क्षणों के संग ही
बढ़ता है चिर दुख का क्षण भी
हंसकर दिन काटे सुख के
हंस-खेल काट फिर दुख के दिन भी
वह जो ज्ञानी है, वह दुख में भी सुख की ही याद करता। वह कहता है, सुख के दिन सुख से काटे, अब दुख के दिन भी सुख से काट। सुख के दिन नाचकर काटे, अब दुख के दिन भी नाचकर ही काट। सुख के दिन प्रार्थना में काटे, अब दुख के दिन भी प्रार्थना में ही रूपांतरित होने दे।
हंसकर दिन काटे सुख के

हंस-खेल काट फिर दुख के दिन भी
अज्ञानी दुख का अभ्यस्त हो जाता है। जब सुख होता है तब सुख से भी नये दुख पैदा करता है।
मैंने सुना है कि एक बार ऐसा हुआ कि एक गरीब दर्जी को लाटरी मिल गई। हमेशा भरता रहता था लाटरी। हर महीने एक रुपया तो लाटरी में लगाता ही था वह। ऐसा वर्षों से कर रहा था। वह उसकी आदत हो गई थी। उसमें कुछ चिंता की बात भी न थी। हर एक तारीख को एक रुपये की टिकट खरीद लेता था। ऐसा वर्षों से किया था। एक बार संयोग लग गया और मिल गई लाटरी--कोई दस लाख रुपये। जब लाटरी की खबर मिली और आदमी दस लाख रुपये लेकर आया तो उसने कहा, बस अब ठीक। उसने उसी वक्त दूकान में ताला लगाया, चाबी कुएं में फेंक दी। दस लाख रुपये लेकर वह तो कूद पड़ा संसार में। अब कौन दर्जी का काम करे! साल भर में दस लाख तो गये ही, स्वास्थ्य भी गया। पुरानी गरीब की जिंदगी की व्यवस्था, वह भी सब अस्तव्यस्त हो गई। पत्नी से भी संबंध छूट गया, बच्चे भी नाराज हो गये। और उसने तो वेश्यालयों में और शराबघरों में और जुआघरों में...सोचा कि सुख ले रहा है। जब साल भर बाद आखिरी रुपया भी हाथ से चला गया तब उसे पता चला कि इस साल मैं जितना दुखी रहा, इतना तो पहले कभी भी न था। यह भी खूब रहा। ये दस लाख तो जैसे जन्मों-जन्मों के दुख उभारकर दे गये। ये दस लाख तो ऐसे अब दुखस्वप्न हो गया।
किसी तरह जाकर फिर चाबी वगैरह बनवाई। अपनी दूकान खोलकर बैठा। लेकिन पुरानी आदत, तो एक रुपया महीने की लाटरी फिर लगाता रहा। संयोग की बात! एक साल बाद फिर वह लाटरीवाला आदमी खड़ा हो गया। उस दर्जी ने कहा, अरे नहीं, अब नहीं। अब क्षमा करो। क्या फिर मिल गई? उस आदमी ने कहा, चमत्कार तो हम को भी है, हम भी हैरान हैं कि फिर मिल गई। उसने कहा, मारे गये! अब रुक भी नहीं सकता वह, दस लाख फिर मिल गये। लेकिन कहा कि मारे गये। घबड़ा गया कि फिर मिल गई, अब फिर उसी दुख से गुजरना पड़ेगा। अब फिर वेश्यालय, फिर शराबघर, फिर जुआघर, फिर वही परेशानी। अब दिन सुख के कटने लगे थे, फिर से अपनी दूकान चलाने लगा था। अब यह फिर मुसीबत आ गई।
आदमी अगर अज्ञानी हो तो जो भी आये वही मुसीबत है। तुम अक्सर पाओगे कि तुम्हें जब सुख के क्षण आते हैं तो तुम उन सुख के क्षणों को भी दुख में रूपांतरित कर लेने में कुशल हो गये हो। तुम तत्क्षण उनको पकड़ लेते हो और कुछ इस ढंग से उनके साथ व्यवहार करते हो कि सब दुख हो जाता है।
धन में कोई दुख नहीं है। और जिन्होंने तुमसे कहा है, धन में दुख है; वे नासमझ रहे होंगे। दुख तुममें है। दुख तुम्हारी मूढ़ता में है। तुमको धन मिल जाता है तो अवसर मिला। धन न हो तो दुख को भी तो खरीदने के लिए सुविधा चाहिए न! दुखी होने के लिए भी तो अवसर मिलना चाहिए।
मैं तुमसे कहता हूं कि धन में दुख नहीं है, दुख तुम्हारी आदत है। हां, बिना धन के शायद तुम उतने दुखी नहीं हो पाते, क्योंकि धन चाहिए न खरीदने को! दुख भी खरीदने के लिए धन तो चाहिए, अवसर तो चाहिए। तुम वेश्यालय नहीं गये क्योंकि सुविधा नहीं थी। तुम सज्जन थे क्योंकि दुर्जन होने के लिए भी मौका चाहिए। तुमने जुआ नहीं खेला क्योंकि खेलने के लिए भी तो पैसे चाहिए। तुम लड़े-झगड़े नहीं क्योंकि कौन झंझट में पड़े--अदालत, मुकदमा, वकील!
लेकिन तुम्हारे पास पैसे आ जायें तो ये सारी वृत्तियां तुममें भरी पड़ी हैं। और ये सारी वृत्तियां प्रगट होने लगेंगी। ऐसा ही समझो कि वर्षा होती है तो जिस जमीन में फूल के बीज पड़े हैं वहां फूल निकल आते हैं और जहां कांटे के बीज पड़े हैं वहां कांटे निकल आते हैं।
तो जिन्होंने तुमसे कहा है धन में दुख है, जरूर कहीं उनके जीवन में दुख की आदत थी। धन तो वर्षा है। जनक जैसे आदमी के पास धन हो तो कुछ अड़चन नहीं। कृष्ण जैसे आदमी के पास धन हो तो कुछ अड़चन नहीं। जिसको सुख की आदत है वह तो निर्धन अवस्था में भी धनी होता है, तो धनी होकर तो खूब धनी हो जाता है।
तुम इस बात को ठीक से समझ लेना। यह मेरे मौलिक आधारों में से एक है। इसलिए मैं तुमसे नहीं कहता कि धन से भागो। मैं तुमसे कहता हूं, धन तो तुम्हें एक आत्मदर्शन का मौका देता है। लोग कहते हैं, अगर शक्ति हाथ में आ

जाये तो शक्ति भ्रष्ट करती है। मैं कहता हूं, गलत कहते हैं। लार्ड बेकन ने कहा है, "पावर करप्ट्स एण्ड करप्ट्स एबसोल्यूटली।" गलत कहा है, बिलकुल गलत कहा है। शक्ति कैसे किसी को व्यभिचारी कर देगी? नहीं, तुम व्यभिचारी हो, शक्ति मौका देती है।
इधर इस देश में हुआ। गांधी के अनुयायी थे, सत्याग्रही थे, समाजसेवक थे। जब सत्ता हाथ में आई तो सब भ्रष्ट हो गये। लोग कहते हैं सत्ता ने भ्रष्ट कर दिया। मैं कहता हूं भ्रष्ट थे, सत्ता ने मौका दिया। सत्ता कैसे भ्रष्ट करेगी? तुम बुद्ध को सिंहासन पर बिठाल दो और बुद्ध भ्रष्ट हो जायें तो इसका मतलब यह हुआ कि बुद्ध छोटे हैं, सिंहासन ज्यादा ताकतवर। यह कोई बात हुई! बुद्ध और सिंहासन से हार गये! नहीं, यह कोई बात जंचती नहीं। अगर सिंहासन से हार जाता है तुम्हारा बुद्धत्व तो उसका इतना ही अर्थ है, बुद्धत्व थोपा हुआ होगा, जबर्दस्ती आरोपित किया हुआ होगा। जब अवसर आया तो मुश्किल हो गई।
नपुंसक होने में ब्रह्मचारी होना नहीं है। जब तुममें ब्रह्मचर्य की वास्तविक ऊर्जा घटेगी तो वह काम-ऊर्जा की ही प्रगाढ़ता होगी। अगर काम-ऊर्जा ही नष्ट हो गई और फिर तुम ब्रह्मचारी हो गये तो वह कोई ब्रह्मचर्य नहीं है। वह धोखा है। वह आत्मवंचना है।
ज्ञानी तो व्यवहार में भी सुखपूर्वक है, शांत है बाजार में भी, दूकान में भी। व्यवहार यानी बाजार और दूकान। और जो ज्ञानी नहीं है वह तो हर हालत में...कभी तुम उसे मंदिर में भी बैठे देखो तो भी तुम उसे मंदिर में पाओगे नहीं। तुम उसके भीतर झांकोगे तो वह कहीं और है। ज्ञानी दूकान पर बैठा हुआ भी अपने भीतर बैठा है--सुखमास्ते। दूकान भी चल रही है। इन दोनों में कोई विरोध थोड़े ही है! दूकान के चलने में क्या विरोध है?
आत्मवान को कोई विरोध नहीं है। अज्ञानी को विरोध है। अज्ञानी कहता है, दूकान चलती है तो मैं तो अपने को भूल ही जाता हूं। दूकान ही चलती है, मैं तो भूल ही जाता हूं। तो मैं अब ऐसी जगह जाऊंगा जहां दूकान नहीं है, ताकि मैं अपने को याद कर सकूं। लेकिन यह अज्ञानी अज्ञान को तो छोड़कर न जा सकेगा। अज्ञान तो साथ चला जायेगा।
ऐसा ही समझो कि जैसे फिल्म तुम देखने जाते हो तो पर्दे पर फिल्म दिखाई पड़ती है, लेकिन फिल्म पर्दे पर होती नहीं। फिल्म तो प्रोजेक्टर में होती है। वह पीछे छिपा है। जो आदमी संसार से भाग गया वह ऐसा आदमी है, जो पर्दे को छोड़कर प्रोजेक्टर लेकर भाग गया। प्रोजेक्टर साथ ही रखे हैं। अब पर्दा नहीं है तो देख नहीं सकता, यह बात सच है, मगर प्रोजेक्टर साथ है। कभी भी परदा मिल जायेगा, तत्क्षण काम शुरू हो जायेगा।
तुम स्त्रियों से भाग जाओ तो परदे से भाग गये। कामवासना तो साथ है, वह प्रोजेक्टर है। किसी दिन स्त्री सामने आ जायेगी, बस...। और ध्यान रखना, अगर तुम भाग गये हो स्त्री से तो स्त्री इतनी मनमोहक हो जायेगी, जितनी कभी भी न थी। क्योंकि जितने तुम तड़फोगे भीतर-भीतर उतनी ही स्त्री सुंदर होती जायेगी। जितने तुम तड़फोगे उतनी ही साधारण स्त्री अप्सरा बनती जायेगी। जितने तुम तड़फोगे उतना ही सौंदर्य तुम उसमें आरोपित करने लगोगे।
भूखा आदमी रूखी-सूखी रोटी में भी बड़ा स्वाद लेता। भरे पेट सुस्वादु भोजन में भी कोई स्वाद नहीं मालूम होता। इसलिए तुम्हारे साधु-संन्यासी स्त्रियों को गाली देते रहते हैं। दो चीजों को गाली देते रहते हैं: कामिनी और कांचन। दो चीजों से बड़े परेशान हैं: स्त्री और धन। बस उनका एक ही राग है--बचो कामिनी से, बचो कांचन से। और उनका राग यह बता रहा है कि ये दो ही चीजें उनको सता रही हैं। धन सता रहा है और स्त्री सता रही है।
स्त्री और धन क्या सतायेंगे! उनके भीतर वासना पड़ी है, वासना के बीज पड़े हैं। परिस्थिति तो छोड़कर भाग गये, मनस्थिति को कहां छोड़ोगे? मन तो साथ ही चला जाता है।
"जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी सामान्य जन की तरह नहीं व्यवहार करता और महासरोवर की तरह क्लेशरहित है, वही शोभता है।"
अज्ञानी तो लड़ता ही रहता, उलझता ही रहता। कोई बाहर न हो उलझने को तो भीतर उलझन बना लेता, लेकिन बिना उलझे नहीं रह सकता।

क्या-क्या हुआ है हमसे जुनूं में न पूछिये
उलझे कभी जमीं से कभी आसमां से हम
उलझता ही रहता, झगड़ता ही रहता। झगड़ा उसकी जीवन-शैली है। कोई बाहर न मिले तो वह भीतर निर्मित कर लेता है। कोई दूसरा न मिले लड़ने को तो अपने से लड़ने लगता है। लेकिन झगड़ा उसकी प्रकृति है। और अज्ञानी कहीं भी जाये, कुछ भी करे, कुछ भेद नहीं पड़ता।
मुल्ला नसरुद्दीन अपने गधे पर से गिर पड़ा। सारा गांव चकित हुआ, क्योंकि गधा उसको लेकर अस्पताल पहुंच गया। तो मुल्ला के घर लोग पहुंचे और लोगों ने कहा कि बड़े मियां, अल्लाह का शुक्र, लाख-लाख शुक्र कि आपको ज्यादा चोट नहीं लगी। और एक सज्जन ने कहा कि सच कहें तो विश्वास नहीं होता कि गधा इतना समझदार होता है। क्योंकि कहावत तो यही है कि गधा यानी गधा। मगर हद हो गई! आपका गधा कुछ विशिष्ट गधा है! कितना समझदार जानवर कि आपको लेकर अस्पताल पहुंच गया! भरोसा नहीं आता इसकी समझदारी पर। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, क्या खाक समझदार है, गधों के अस्पताल ले गया था!
गधा ले जायेगा तो गधों के अस्पताल ले जायेगा। वेटनरी अस्पताल ले गया होगा। गधा समझदारी भी करेगा तो कितनी करेगा? एक सीमा है। अज्ञानी समझदारी भी करेगा तो कितनी करेगा? एक सीमा है। उस सीमा के पार अज्ञान नहीं ले जा सकता।
इससे असली सवाल, असली क्रांति, असली रूपांतरण स्थितियों का नहीं है, बोध का है। अज्ञान से मुक्त होना है, संसार से नहीं। अज्ञान से जो मुक्त हुआ, संसार से मुक्त हुआ। मूर्च्छा टूटी, सब टूटा। सब सपने गये--व्यक्तिगत, सामूहिक, सब सपने गये। अज्ञान बचा, तुम कहीं भी जाओ, कहीं भी जाओ--मक्का कि मदीना, काबा कि कैलाश, कुछ फर्क नहीं पड़ता।
स्वभावात् यस्य नैवार्तिलोकवदव्यवहारिणः।
महाहृद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते।।
"ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी...।"
ध्यान रखना स्वभाव से; योजना से नहीं, आचरण से नहीं, स्वभाव से।
चेष्टा से नहीं, प्रयास से नहीं, साधना से नहीं, स्वभाव से--स्वभावात्।
जहां समझ आ गई वहां स्वभाव से क्रियायें शुरू होती हैं। एक आदमी शांत होता है चेष्टा से। गौर से देखोगे, भीतर उबलती अशांति, बाहर-बाहर थोपकर, लीप-पोतकर उसने अपने को सम्हाल लिया। ऊपर का थोपा हुआ ज्यादा काम नहीं आता। मुल्ला नसरुद्दीन पकड़ा गया। किसी की मुर्गी चुरा ली। वकील ने उसको सब समझा दिया कि क्या-क्या कहना। रटवा दिया कि देख, इससे एक शब्द इधर-उधर मत जाना। वह सब रट लिया, कंठस्थ कर लिया। वकील को कई दफे सुना भी दिया। वकील ने कहा, अब बिलकुल ठीक। अपनी पत्नी को भी सुना दिया। रात गुनगुनाता रहा, सुबह अदालत में भी गया और मुकदमा जीत भी गया, क्योंकि वकील ने ठीक-ठीक पढ़ाया था। उसने वही-वही कहा जो वकील ने पढ़ाया था। मजिस्ट्रेट ने कई तरह से पूछा, विपरीत वकील ने कई तरह से खोज-बीन की, लेकिन वह टस से मस न हुआ। सबको पता है कि मुर्गी उसने चुराई है। मजिस्ट्रेट को भी पता--छोटा गांव। और वह कई औरों की भी मुर्गियां चुरा चुका है तो सभी को, गांव को पता है कि है तो मुर्गी-चोर। लेकिन डटा रहा।
आखिर मजिस्ट्रेट ने कहा कि अब हार मान गये। ठीक है तो तुम्हें मुक्त किया जाता है नसरुद्दीन। तो भी वह खड़ा रहा। मजिस्ट्रेट ने कहा, अब खड़े क्यों हो? तुम्हें मुक्त किया जाता है। तो उसने कहा, इसका क्या मतलब? मुर्गी मैं रख सकता हूं?
वह चोरी भीतर है तो कहां जायेगी? वह सब पढ़ाया-लिखाया व्यर्थ हो गया। आदमी कितना ही ऊपर से आरोपण कर ले, कोई न कोई बात भीतर से फूट ही पड़ती है, खबर दे जाती है।
तुम कितने ही शांत बनो ऊपर से, तुम कितने ही सज्जन बनो, तुम कितने ही सुशील बनो, तुम कितना ही अभिनय करो, कोई न कोई बात कहीं न कहीं से बहकर निकल आयेगी। क्योंकि तुम जो हो उसको ज्यादा देर झुठलाया नहीं जा सकता।

गुरजिएफ कहता था कि मेरे पास कोई आदमी तीन घंटे रह जाये तो मैं जान लेता हूं क्या है उसकी असलियत। क्योंकि तीन घंटे तक भी अपने झूठ को खींचना मुश्किल हो जाता है। इसीलिए तो धोखा होता है।
जिनसे तुम रास्ते पर मिलते हो, जिनसे सिर्फ संबंध "जैरामजी" का है, उनको तुम समझते हो, बड़े सज्जन हैं। रास्ते पर मिले, "जैरामजी" कर लिया, अपने-अपने घर चल गये। उतनी देर के लिए आदमी सम्हाल लेता है। मुस्कुरा दिया, तुम्हें देखकर प्रसन्न हो गया, बाग-बाग हो गया। और तुमने कहा, कैसा भला आदमी है! जरा पास आओगे तब भलाई-बुराई पता चलनी शुरू होगी। निकट आओगे तब कठिन होने लगेगा।
यही तो रोज सारी दुनिया में होता है। किसी स्त्री के प्रेम में पड़ गये, कोई स्त्री तुम्हारे प्रेम में पड़ गई, तब दोनों कितने सुंदर! और दोनों का प्रेम कैसा अदभुत! ऐसा कभी पृथ्वी पर हुआ नहीं और कभी होगा भी नहीं। फिर विवाह कर लो, फिर धीरे-धीरे जमीन पर उतरोगे। असलियत प्रगट होना शुरू होगी। वह जो ऊपर-ऊपर का आवरण था, वह जो लीपा-पोता आवरण था, वह टूटेगा। क्योंकि कितनी देर उसे खींचोगे? असलियत निकलकर रहेगी। आरोपण थोड़ी-बहुत देर चल सकता है, असलियत प्रगट होकर रहेगी।
तो जो दो व्यक्ति करीब-करीब रहेंगे तो असलियत प्रगट होनी शुरू होती है। दूर-दूर से सभी ढोल सुहावने मालूम होते हैं।
ज्ञानी की यही खूबी है कि वह स्वभावात, स्वभाव से...स्वभाव का अर्थ होता है, जाग्रत होकर जिसने स्वयं को जाना, पहचाना, जिसकी अंतर्प्रज्ञा प्रबुद्ध हुई, जिसके भीतर का दीया जला, जो अब अपने स्वभाव को पहचान लिया। अब इससे अन्यथा होने का उपाय न रहा। अब तुम उसे कैसी भी स्थिति में देखोगे, तुम उसे हमेशा अपने स्वभाव में थिर पाओगे।
"जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी सामान्य जन की तरह नहीं व्यवहार करता और महासरोवर की तरह क्लेशरहित है वही शोभता है।"
संस्कृत में जो शब्द है वह है, लोकवत। वह "सामान्य जन" से ज्यादा बेहतर है। लोकवत का अर्थ होता है भीड़ की भांति। जो भीड़ की तरह व्यवहार नहीं करता।
भीड़ का व्यवहार क्या है? भीड़ का व्यवहार धोखा है। हैं कुछ, दिखाते कुछ। हैं कुछ, बताते कुछ। कहते कुछ, करते कुछ। दूर-दूर से एक मालूम होते हैं, पास आओ, कुछ और मालूम होते हैं। दूर से तो चमकते सोने की तरह, पास आओ तो पीतल भी संदिग्ध हो जाता है कि पीतल भी हैं या नहीं। हो सकता है, पीतल का भी पालिश ही हो। भीड़ का व्यवहार धोखे का व्यवहार है, प्रवंचना का व्यवहार है। ज्ञानी सहज होता, नग्न होता। जैसा है वैसा ही होता है। रुचे तो ठीक, न रुचे तो ठीक। तुम्हारे कारण ज्ञानी अपने को किन्हीं ढांचों में नहीं ढालता। तुम्हारी अपेक्षाओं के अनुकूल व्यवहार नहीं करता। जैसा है वैसा ही व्यवहार करता है। रुचे ठीक, न रुचे ठीक। ज्ञानी तुम्हें देखकर व्यवहार नहीं करता, अपने स्वभाव से व्यवहार करता है। शायद बहुतों को न भी रुचे। क्योंकि जो झूठ में बहुत पारंगत हो गये हैं उनको यह सचाई न रुचेगी। जो झूठ में बहुत कुशल हो गये हैं उनको इस सच में खतरा मालूम पड़ेगा। उनको उनके झूठ के टूट जाने का भय मालूम पड़ेगा।
इसलिए ज्ञानियों पर भीड़ सदा नाराज रहती है। हां, जब ज्ञानी मर जाते हैं, तब उनकी पूजा करती है। क्योंकि मरे ज्ञानियों में कोई खतरा नहीं है। जीवित ज्ञानी के सदा भीड़ विरोध में रहती है--रहेगी ही। क्योंकि जीवित ज्ञानी की मौजूदगी ही बताती है कि भीड़ झूठ है। और जीवित ज्ञानी के पास आकर तुम्हें अपनी असली तस्वीर दिखाई पड़ने लगती है। जीवित ज्ञानी कसौटी है; उसके पास आते ही पता चल जाता है कि तुम सोना हो कि पीतल।
और कोई मानने को तैयार नहीं होता कि पीतल है। जानते हो, फिर भी मानने
को तैयार नहीं होते कि पीतल हो। जानते हो कि पीतल हो लेकिन फिर भी घोषणा करते रहते हो स्वर्ण होने की। जितना पता चलता है पीतल हो, उतने ही जोर से चिल्लाते हो कि स्वर्ण हूं। अपने को बचाना तो होता। अहंकार अपनी सुरक्षा तो करता। इसलिए ज्ञानी से लोग नाराज होते हैं।

महावीर नग्न खड़े हो गये। यह समस्त ज्ञानियों का व्यवहार है--चाहे उन्होंने कपड़े उतारे हों, या न उतारे हों; लेकिन समस्त ज्ञानी नग्न खड़े हो जाते हैं। जैसे हैं वैसे खड़े हो जाते हैं--बालवत, स्वाभाविक।
"जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी लोकवत व्यवहार नहीं करता...।"
जो साधारण स्थितियों में भी भीड़ का आचरण, अंधानुकरण नहीं करता, जिसके होने में एक निजता है, जिसके होने में अपने स्वभाव की एक धारा है, स्वच्छंदता है, जिसका स्वयं का गीत है, जो तुम्हारे अनुसार अपने को नहीं ढालता।
अब तुम जरा देखो, तुम्हारे मुनि हैं, तुम्हारे महात्मा हैं, वे तुम्हारे अनुसार अपने को ढाले बैठे हैं। इसलिए तुम उनकी पूजा कर रहे हो। तुमने महावीर की पूजा नहीं की, महावीर को पत्थर मारे और जैन मुनि की पूजा कर रहे हो। क्योंकि महावीर ने तुम्हारे अनुसार अपने व्यवहार को नहीं ढाला। महावीर ने तो अपनी उदघोषणा की। जैसे थे वैसी उदघोषणा की। वे तुम्हें न रुचे लेकिन तुम्हारा जैन मुनि तुम्हें रुचता है। क्योंकि वह तुम्हारा अनुयायी है। तुम जैसा कहते हो वैसा व्यवहार करता है। तुम कहते हो मुंह पर पट्टी बांधो तो मुंह पर पट्टी बांधकर बैठ जाता है; चाहे सर्कसी मालूम पड़े लेकिन मुंह पर पट्टी बांधकर बैठ जाता है। तुम जैसा कहते हो वैसा उठता, वैसा बैठता, वैसा चलता। वह बिलकुल आज्ञाकारी है। इतने आज्ञाकारी व्यक्तियों को तुम पूजा न दो तो किसको पूजा दो?
उनका व्यवहार लोकवत है, स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक होने का तो अर्थ हुआ क्रांतिकारी। स्वभाव तो सदा विद्रोही है। स्वभाव का तो अर्थ हुआ कि जैसी मौज होगी, जैसा भीतर का भाव होगा, जैसी लहर होगी। स्वाभाविक आदमी तो लहरी होता है। उसके ऊपर कोई आचरण के बंधन और मर्यादायें नहीं होतीं। इसीलिए तो राम को तुम याद करते हो, कृष्ण को हटाकर रखा है। कृष्ण का व्यवहार स्वाभाविक है, राम का व्यवहार मर्यादा का है। राम हैं मर्यादा- पुरुषोत्तम। कृष्ण का व्यवहार बड़ा भिन्न है। कृष्ण का व्यवहार अनूठा है। कोई मर्यादा नहीं है, अमर्याद है। कृष्ण स्वच्छंद हैं। तो राम ज्यादा से ज्यादा सज्जन। संतत्व तो कृष्ण में प्रगट हुआ है। राम ज्यादा से ज्यादा लोकमान्य, क्योंकि लोकवत। कृष्ण लोकमान्य कभी नहीं हो सकते।
जो लोग उन्हें लोकमान्य बनाने की कोशिश करते हैं वे भी उनमें कांट-छांट कर लेते हैं। उतना ही बचा लेते हैं जितना ठीक। जैसे सूरदास हमेशा उनके बचपन के गीत गाते हैं, उनकी जवानी के नहीं। क्योंकि बचपन में ठीक है कि तुमने मटकी फोड़ दी, बचपन में ठीक है कि तुमने शैतानी की। लेकिन सूरदास को भी अड़चन मालूम होती है, जवान कृष्ण ने जो मटकियां फोड़ीं उन पर जरा अड़चन मालूम होती है। कि स्त्रियों के वस्त्र लेकर झाड़ पर बैठ गये, इसमें जरा अड़चन मालूम होती है।
महात्मा गांधी गीता के कृष्ण की बात करते हैं लेकिन भागवत के कृष्ण
की बात नहीं करते। क्योंकि भागवत का कृष्ण तो खतरनाक है। गीता के कृष्ण में तो कृष्ण कुछ है ही नहीं, सिर्फ बातचीत है। कृष्ण के आचरण के संबंध में तो कुछ भी नहीं है। कृष्ण का वक्तव्य है गीता, कृष्ण का जीवन नहीं है। कृष्ण का जीवन तो भागवत है। गीता में तो बड़ी आसानी है। लेकिन वहां भी लीपा- पोती करनी पड़ती है। वहां भी गांधी को कहना पड़ता है, युद्ध सच्चा नहीं है, काल्पनिक है। यह जो युद्ध हो रहा है, कौरव-पांडव के बीच नहीं है, बुराई और भलाई के बीच हो रहा है। इतनी उनको कहनी ही पड़ती बात, क्योंकि वे अहिंसक। युद्ध हो रहा है और अगर युद्ध असली है, और कृष्ण अगर असली युद्ध करवा रहे हैं तो पाप हो रहा है।
कृष्ण कोई मर्यादा नहीं मानते। अहिंसा की मर्यादा नहीं, समाज की मर्यादा नहीं, कोई मर्यादा नहीं मानते। जीवन की परम स्वतंत्रता और जीवन जैसा हो वैसा ही होने देने का अपूर्व साहस...।
नहीं, कृष्ण छोटे-मोटे ढांचे में नहीं ढाले जा सकते। अड़चन है। इसलिए राम भाते हैं।

गांधी कहते थे कि गीता मेरी माता है, लेकिन मरते वक्त जो नाम निकला, मुंह से निकला, "हे राम!" कृष्ण कहीं गहरे गये नहीं। मरते वक्त वही निकला जो भीतर गहरे था। राम की याद आई।
इसे खयाल रखना।
"जो ज्ञानी व्यवहार में भी स्वाभाविक है और लोकवत व्यवहार नहीं करता
और महासरोवर की तरह क्लेशरहित है वही शोभता है।"
अब यह महासरोवर की तरह क्लेशरहित, इसका मतलब समझो। महासरोवर को कभी तुमने लहरों से शांत देखा? महासरोवर का मतबल होता है सागर। सागर को तुमने कभी शांत देखा? वहां तो लहरें उठती हैं, उत्तुंग लहरें उठती हैं। लहरें ही लहरें उठती हैं। सागर कोई झील थोड़े ही है, कोई स्विमिंग पूल थोड़े ही है। सागर तो सागर है, महासागर है। जितना बड़ा सागर है उतनी बड़ी उत्तुंग लहरें हैं। आकाश छूनेवाली लहरें उठती हैं। अब यह वाक्य बड़ा अदभुत है:
महाहृद इवाक्षोभ्यः गतक्लेशः सुशोभते।
और जैसा महासागर क्षोभरहित है ऐसा ही ज्ञानी है।
क्या मतलब हुआ इसका? महासागर तो सदा ही लहरों से भरा है। अष्टावक्र यह
कह रहे हैं कि लहरों से खाली होकर जो क्षोभरहित हो जाना है वह भी कोई क्षोभरहितता है? लहरें उठ रही हैं और फिर भी शांति अखंडित है। संसार में खड़े हैं और संन्यास अखंडित है। जल में कमलवत। सागर लहरों से भरा है, लेकिन क्षुब्ध थोड़े ही है! जरा भी क्षुब्ध नहीं है, परम अपूर्व शांति में है। तुम्हें शायद लगता हो किनारे पर खड़े होकर कि क्षुब्ध है। वह तुम्हारी गलती है। वह सागर का वक्तव्य नहीं है, वह तुम्हारी व्याख्या है। सागर तो परम शांत है। ये लहरें उसकी शांति की ही लहरें हैं। इन लहरों में भी शांत है। इन लहरों के पीछे भी अपूर्व अखंड गहराई है। ये लहरें उसकी शांति के विपरीत नहीं हैं। इन लहरों का शांति में समन्वय है।
जीवन वहीं गहरा होता है जहां विरोधी को भी आत्मसात कर लेता है। इसे खूब खयाल में रखना। जहां विरोध छूट जाता है वहां जीवन अपंग हो जाता है। जहां विरोध कट जाता है वहां जीवन दुर्बल हो जाता है। जहां विरोध को तुम बिलकुल अलग काटकर फेंक देते हो वहीं तुम दरिद्र और दीन हो जाते हो। जीवन की महत्ता, जीवन का सौरभ, जीवन की समृद्धि विरोध में है। जहां विरोधों की मौजूदगी में संगीत पैदा होता है, बस वहीं।
विपरीत से भागना मत, विपरीत का अतिक्रमण करना। भगोड़े मत बनना।
सागर अगर लहरों से भाग जाये तो क्या होगा? जा सकता है भागकर हिमालय।
जम जाये बर्फ की तरह, फिर लहरें नहीं उठतीं। बर्फ की तरह जमा हुआ तुम्हारा संन्यास अब तक रहा है। बर्फ की तरह जमा हुआ, मुर्दा। कोई गति नहीं, कोई तरंग नहीं, कोई संगीत नहीं। ठंडा। कोई ऊष्मा नहीं, कोई प्रेम नहीं। निर्जीव!
होना चाहिए महासागर की तरह तुम्हारा संन्यास। नाचता हुआ! आकाश को छूने की अभीप्सा से भरा। उत्तुंग लहरोंवाला और फिर भी शांत। इसलिए यह अदभुत वचन है।
"मूढ़ पुरुष का वैराग्य विशेष कर परिग्रह में देखा जाता है। लेकिन देह में गलित हो गई है आशा जिसकी, ऐसे ज्ञानी को कहां राग है, कहां वैराग्य!" यह सूत्र भी बड़ा अनूठा है।
परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढ़स्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता।।
अनूठा है सूत्र।
परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढ़स्य दृश्यते।
"मूढ़ का जो वैराग्य है वह परिग्रहकेंद्रित होता है।"
समझो। मूढ़ का जो वैराग्य है वह परिग्रह से ही निकलता है, परिग्रह के विपरीत निकलता है। वह कहता है, धन छोड़ो। पहले धन पकड़ता था, अब कहता है धन छोड़ो। मगर धन पर नजर अटकी है। पहले दीवाना था, कांचन...कांचन...कांचन। सोना...सोना...सोना...सोना। सोने में सोया था। अब कहता है, जाग गया हूं लेकिन अब भी सोने की ही बातें करता है। कहता है सोना छोड़ो, कांचन छोड़ो। यह छोड़ने में भी पकड़ जारी है। अभी छूटी नहीं है बात। यह कहता है सोना मिट्टी। लेकिन

अगर मिट्टी ही है तो मिट्टी को क्यों मिट्टी नहीं कहते? सोने को क्यों? बात खतम हो गई।
मैंने सुना है, महाराष्ट्र की बड़ी प्राचीन कथा है रांका-बांका की। रांका ठीक वैसा ही रहा होगा, जिसका संन्यास परिग्रह के विपरीत निकला। तो वह लकड़ियां काटता, बेचता, उससे जो मिल जाता उससे भोजन कर लेता। सांझ जो बचता वह बांट देता, रात घर में न रखता। परम त्यागी। लेकिन एक बार बेमौसम वर्षा हो गई। तीन चार दिन वर्षा होती रही। जंगल न जा सका। भूखे रहना पड़ा। उसकी पत्नी बांका, वे दोनों भूखे रहे। चौथे दिन गये जंगल, लकड़ियां काटकर आता था रांका आगे-आगे लकड़ियां लिये, पीछे पत्नी भी लकड़ियां ढो रही है। देखा, राह के किनारे एक अशर्फियों से भरी थैली पड़ी है। जल्दी से लकड़ियां नीचे पटकीं, थैली को गङ्ढे में डाला, ऊपर से मिट्टी डाल दी।
जब वह मिट्टी डाल ही रहा था, डालने को चुक ही रहा था काम पूरा करके कि उसकी पत्नी आ गई। उसने पूछा क्या करते हो? तो कसम तो खाई थी सच बोलने की। झूठ बोल नहीं सकता था। तो उसने कहा, बड़ी मुश्किल हो गई। यह आचरण ऊपर से आरोपित होता तो ऐसी मुश्किल आती। कसम खाई थी सत्य बोलने की तो असत्य तो बोल नहीं सकता। तो कहा कि अब सुन। मैं चलता था तो देखा अशर्फियां पड़ी हैं। किसी राहगीर की गिर गई होंगी। उनको गङ्ढे में डालकर मिट्टी डाल रहा था कि कहीं तू है--तू ठहरी स्त्री! कहीं तेरा मन लुभायमान न हो जाये। फिर तीन दिन के भूखे हैं हम। कहीं मन में भाव न आ जाये कि उठा लें। तुझे बचाने के लिए इनको डाल दिया गङ्ढे में, मिट्टी ऊपर से फेंक दी।
कहते हैं, बांका हंसने लगी। उसी दिन से उसका नाम बांका हुआ। बांकी औरत रही होगी। हंसने लगी, खूब हंसने लगी। रांका बड़ा हैरान हुआ। उसने कहा, बात क्या है? हंसती क्यों हो?
उसने कहा, मैं इसलिए हंसती हूं कि तुम मिट्टी पर मिट्टी डालते हो। मिट्टी पर मिट्टी डालते तुम्हें शर्म नहीं आती?
अब ये दो दृष्टिकोण हैं। एक है त्यागी। उसका त्याग भी परिग्रहकेंद्रित है। अभी सोना दिखाई पड़ता है। लाख कहे कि सोना मिट्टी है मगर अभी सोना दिखाई पड़ता है। मिट्टी कहता ही इसलिए है ताकि जो दिखाई पड़ता है उसको झुठला दे। अभी सोना पुकारता है। अभी सोना बुलाता है। अभी सोने में निमंत्रण है। मिट्टी कह-कहकर समझाता है अपने को कि मिट्टी है, कहां चले? मत जाओ, बिलकुल मत जाओ, मिट्टी है। मगर सोना अभी सोना है।
यह जो बांका ने कहा, यह परम त्याग है। यह ठीक संन्यास है। मिट्टी पर मिट्टी डालते हुए शर्म नहीं आती? यह बात ही बेहूदी है।
सोना जैसा है वैसा है। इसके पीछे पागल होना तो पागलपन है ही, इसको छोड़कर भागना भी पागलपन है। जागना है। जान लेना है।
"मूढ़ पुरुष का वैराग्य विशेषकर परिग्रह में ही केंद्रित होता है।"
जिन चीजों से मूढ़ पुरुष भागता है उन्हीं से घिरा रहता है।
"लेकिन देह में गलित हो गई है आशा जिसकी, ऐसे ज्ञानी को कहां राग है, कहां वैराग्य?"
ऐसा ज्ञानी वीतराग है। वह विरागी नहीं है। विरागी कोई अच्छा शब्द नहीं है, वह रागी के विपरीत शब्द है। और जो रागी के विपरीत है वह राग से अभी बंधा है। विपरीत सदा बंधा रहता है।
तुमने खयाल किया? मित्र चाहे भूल भी जायें, दुश्मन नहीं भूलता। दुश्मन से एक बंधन बना रहता है। दुश्मन से भी एक लगाव है, एक कड़ी जुड़ी है।
जिससे तुम्हारा विरोध हो उससे तुम्हारी कड़ी जुड़ी है।
अष्टावक्र कहते हैं, ज्ञानी को कहां राग कहां वैराग्य! मजा यह है कि संसार से जो भाग जाते हैं उनका संसार समाप्त नहीं होता, नये-नये रूपों में प्रगट होता है। वैराग्य के नाम से प्रगट होता है।
कुम्हलाया देवता तक पहुंचकर भी फूल
रहा अम्लान धूल में गिरकर भी शूल
कभी देखा तुमने? फूल देवता के चरणों में भी चढ़ा दो तो भी कुम्हला जाता है। और शूल, कांटा धूल में भी गिर जाये तो भी नहीं कुम्हलाता।

इस जीवन में हमारी समझदारी फूल जैसी कोमल है। वह देवता के चरणों में
भी चढ़ती है तो भी कुम्हला जाती है। और हमारी नासमझी शूल की तरह है। वह धूल में भी गिर जाती है तो भी नहीं कुम्हलाती; तो भी ताजी बनी रहती है। कांटा वृक्ष से टूटकर कुछ कम कांटा नहीं हो जाता, ज्यादा ही कांटा हो जाता है।
फूल वृक्ष से टूटकर कुम्हला जाता है, नष्ट हो जाता है।
हमारी समझदारी बड़ी कोमल, बड़ी क्षीण। और हमारी नासमझी बड़ी प्रगाढ़।
संसार से भी भाग जाते हैं तो भी नासमझी नहीं छूटती। जारी रहती नये-नये रूपों में, नये-नये ढंग में। नये-नये वेश पहनकर आ जाती है। अंतर नहीं पड़ता।
उसी की नासमझी मिटती है--"हो गई है देह में गलित आशा जिसकी"। जिसने यह जान लिया कि मैं देह नहीं हूं। जिसने जान लिया कि मैं कौन हूं।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता।
जिसने पहचान लिया कि मैं शरीर नहीं हूं। सब राग, सब विराग शरीर के हैं। राग भी शरीर से होता है, विराग भी शरीर से होता है। तुम स्त्रियों के पीछे पागल थे, एक दिन थक गये और तुमने कहा अब तो विराग हो गया।
एक मेरे मित्र हैं, एक दिन आये और कहने लगे, अब तो संन्यास ले लेना है। मैंने कहा हुआ क्या? उन्होंने कहा, दिवाला निकल गया। दिवाला निकल गया इसलिए संन्यास। यह कोई संन्यास होगा जो दिवाला निकलने से आता है? यह एक स्वाद था अब तक जो बेस्वाद हो गया। अब उसके विपरीत चले। अब दिवाला निकल गया, धन तो बचा नहीं, अब कम से कम विरागी होने का मजा ले लें। अब वैराग्य सही। मगर अंतर नहीं पड़ रहा है।
वीतरागता का अर्थ है, न कोई राग है न कोई वैराग्य है। संतुलित हुए। स्वयं में थिर हुए। ये दोनों दृष्टियां व्यर्थ हैं। अब न संसार में कुछ पकड़ है, न छोड़ने का कोई आग्रह है। रहे संसार, प्रभु-मर्जी। जाये संसार, प्रभु-मर्जी। यह संसार जैसा है वैसा ही रहा आये, ठीक। यह इसी क्षण खो जाये तो भी ठीक।
ज्ञानी अगर अचानक पाये कि सारा संसार खो गया है और वह अकेला ही खड़ा है
तो भी चिंता पैदा न होगी कि कहां गया, क्या हुआ? उसके लिए तो वह कभी का जा चुका था। यह संसार और बड़ा हो जाये, हजार गुना हो जाये तो भी उसे कोई अंतर न पड़ेगा। जिसका संबंध टूट चुका देह से, हो गई गलित जिसकी आशा देह में, अब उसके लिए कोई अंतर नहीं पड़ता।
"मूढ़ पुरुष की दृष्टि सदा भावना और अभावना में लगी है लेकिन स्वस्थ पुरुष की दृष्टि भाव्य और अभावन से युक्त होकर भी दृश्य के दर्शन से रहित रूपवाली होती है।"
भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढ़स्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थयादृष्टिरूपिणी।।
यह सूत्र भी महत्वपूर्ण है।
मूढ़ पुरुष की दृष्टि सदा ऐसा कर लूं, वैसा कर लूं, ऐसा हो, वैसा हो, यह प्रीतिकर है, यह अप्रीतिकर है, इसमें मेरा राग है, इसमें विराग है, ऐसे चुनाव में पड़ी है। इसके मैं पक्ष में हूं, इसके विपक्ष में हूं, ऐसे द्वंद्व में उलझी है। भावना और अभावना में लगी है।
कभी कहता है धन में मेरा भाव है, कभी कहता है, धन से मेरा भाव चुक गया। कभी कहता है धन में आकर्षण है, कभी कहता है धन में मेरा विकर्षण पैदा हो गया है। लेकिन विकर्षण आकर्षण ही है शीर्षासन करता हुआ। कुछ फर्क नहीं हुआ--भावना या अभावना।
"लेकिन स्वस्थ पुरुष की दृष्टि भाव्य और अभावन से युक्त होकर भी दृश्य के दर्शन से रहित रूपवाली होती है।"
वह जो स्वस्थ पुरुष है--और स्वस्थ का अर्थ है, जो स्वयं में स्थित है।
जो स्वस्थ पुरुष है, जो अपने घर आ गया, अपने केंद्र पर आ गया, जो अपने स्वयं के सिंहासन पर विराजमान हो गया, स्वभावात् हो गया, स्वभावात्--जो आ गया स्वभाव में, ऐसा पुरुष भाव्य और अभावन से युक्त होकर भी...।
इसका यह मतलब नहीं है कि ऐसे पुरुष के सामने तुम थाली में पत्थर रख दोगे तो वह पत्थर खाने लगेगा, क्योंकि अब उसे कुछ अंतर नहीं रहा। ऐसा

पागलपन मत समझ लेना। कुछ लोगों को यह भी भ्रांति चढ़ी हुई है कि परमहंस का यही अर्थ होता है कि उनको कुछ भेद ही न रहा।
इस सूत्र को समझो। कि वह गंदगी भी रख दो उनकी थाली में तो उन्हें कोई अंतर नहीं है। कि उसी थाली में वे भोजन कर रहे हैं, उसी में कुत्ता भी आकर भोजन करने लगे, तो उन्हें कुछ भेद नहीं है। ऐसा लोगों को परमहंस के संबंध में खयाल है। और इस खयाल के कारण कई नासमझ इस तरह के परमहंस भी हो जाते हैं।
जिस चीज को आदर मिलता है, आदमी वही हो जाता है। इसका भी अभ्यास कर लो
तो यह भी हो जाता है। इसमें भी कोई अड़चन नहीं है। कोई अड़चन नहीं है। गंदगी की भी आदत डाल लो तो कोई अड़चन नहीं है।
मैंने सुना है, एक गांव में एक पगले रईस को सनक सवार हुई। उसके पास एक मकान में बहुत-सी भेड़ें और बकरियां थीं। वहां इतनी बदबू आती थी भेड़ और बकरियों की कि उसने ऐसे ही मजाक-मजाक में एक दिन अपने मित्रों से गोष्ठी में कह दिया कि जो व्यक्ति रात भर इस कमरे में रुक जाये उसको मैं एक हजार रुपया दूंगा।
कई ने कोशिश की। एक हजार रुपया कौन छोड़ना चाहे? रात भर की बात है। लेकिन घंटे भर से ज्यादा कोई नहीं टिक सका। बास ही ऐसी थी। भेड़ें और बकरियां! और सालों से वहां रह रही थीं, उनकी बास बुरी तरह भर गई थी। और अभी भी भेड़ें और बकरियां वहां अंदर थीं। उनके बीच में आसन लगाकर बैठना...कोई परमहंस ही कर सकता है। इतनी बदबू बढ़ जाये कि सिर भन्नाने लगे और आदमी भागकर बाहर आ जाये। वह कहे कि भाड़ में जायें तुम्हारे हजार रुपये। आखिरी आदमी जो कोशिश कर सका वह एक घंटे तक कर सका।
फिर आया मुल्ला नसरुद्दीन। उसने कहा, एक मौका मुझे भी दिया जाये। वह जैसे ही अंदर जाकर बैठा कि मालिक भी हैरान हुआ कि भेड़ें-बकरियां बाहर निकलने लगीं। घंटे भर में तो पूरा कमरा खाली हो गया। उसने खिड़की से जाकर भी देखा कि यह भगा तो नहीं रहा उनको? बाहर तो नहीं निकाल रहा? लेकिन वह तो अपना पद्मासन जमाये बीच में बैठा था। उसने कुछ गड़बड़ की नहीं थी। उसने हाथ भी नहीं लगाया था। वह बड़ा हैरान हुआ।
कहते हैं, उसने भेड़ों-बकरियों से पूछा कि सुनो भी! कहां भागी जा रही हो? उन्होंने कहा, वह आदमी इतनी भयंकर बदबू फेंक रहा है। कभी जन्मों से नहीं नहाया होगा यह आदमी। अंदर रहना मुश्किल है।
कुछ लोग इसको परमहंस होना समझते हैं। परमहंस होने का यह अर्थ नहीं होता कि पता नहीं चलता कि क्या सही और क्या गलत, क्या सुंदर क्या असुंदर! परमहंस होने का अर्थ अष्टावक्र के इस सूत्र में है।
"लेकिन स्वस्थ पुरुष की दृष्टि भाव्य और अभावन से युक्त होकर भी...।"
वह जानता है--क्या ठीक, क्या गलत; क्या सुंदर, क्या नहीं सुंदर; क्या करने योग्य, क्या नहीं करने योग्य, सब जानता है। लेकिन फिर भी अपने को इनसे भिन्न जानता है। द्रष्टा पर उसका ध्यान होता है, दृश्य पर उसका ध्यान नहीं होता। जानता है क्या भोजन करने योग्य है और क्या भोजन नहीं करने योग्य है, लेकिन इनमें बंधा नहीं होता। इनके पार अपने स्वयं के होने को जानता है कि मैं इनसे भिन्न हूं; दृश्य से सदा भिन्न हूं, ऐसे द्रष्टा में थिर होता है। भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढ़स्य सर्वदा।
मूढ़ पुरुष की दृष्टि तो बस इसी में समाप्त हो जाती। मूढ़ पुरुष तो इसी में समाप्त हो जाता है कि यह अच्छा, यह बुरा। इससे अतिरिक्त उसका अपना कोई होना नहीं है। बस, क्या करूं क्या न करूं, क्या पाऊं क्या गवाऊं, इसी में सब समाप्त हो जाता है। इन दोनों के पार अतिक्रमण करनेवाली कोई चैतन्य की दशा उसके पास नहीं है--कि मैं करने के पार हूं, न करने के पार हूं। सुख के पार हूं, दुख के पार हूं। सुंदर के पार हूं, असुंदर के पार हूं। ऐसी उसके पास कोई दृष्टि नहीं है। पार की दृष्टि नहीं है। पारगामी कोई दृष्टि नहीं है। भाव्यभावनया सा तु स्वस्थयादृष्टिरूपिणी।
और ज्ञानी जो है, स्वस्थ जो है, उसे भी दिखाई पड़ता है, क्या करने योग्य है, क्या नहीं करने योग्य; क्या चुनने योग्य, क्या नहीं चुनने योग्य।
लेकिन साथ ही साथ इससे गहरे तल पर उसे यह भी दिखाई पड़ता रहता है कि मैं

द्वंद्व के पार हूं। मैं इन दोनों के पार हूं। मेरा होना बड़ी दूर है। मैं इनसे अछूता हूं, अस्पर्शित हूं। मैं द्रष्टा हूं, दृश्य नहीं। दिखाई तो उसे सब पड़ता है लेकिन उसे द्रष्टा भी दिखाई पड़ता है।
तुम्हें सिर्फ दिखाई पड़ती हैं चीजें, तुम स्वयं नहीं दिखाई पड़ते। तुम
सब देख लेते हो, अपने से चूक जाते हो। द्रष्टा को सब दिखाई पड़ता और एक नई चीज और दिखाई पड़ती है: स्वयं का होना दिखाई पड़ता है।
तो ऐसा नहीं है कि परमहंस जो है वह दीवाल में से निकलने की कोशिश करेगा। क्योंकि उसको क्या भेद दीवाल में और क्या दरवाजे में! ऐसा आदमी मूढ़ है, परमहंस नहीं। और ऐसा अक्सर हुआ है कि पूरब में न मालूम कितने मूढ़ पुरुष पूजे जाते रहे हैं इस आशा में कि वे परमहंस हैं।
मैं जानता हूं, मेरे गांव में एक सज्जन थे, उनकी बड़ी दूर तक ख्याति थी। बड़े दूर-दूर से लोग उनका दर्शन करने आते थे। और मैं उन्हें बचपन से जानता था। फिर उन जैसा मूढ़ आदमी मैंने दुबारा देखा ही नहीं। वे बिलकुल मूढ़ थे। जिसको जड़बुद्धि कहते हैं वैसे थे। लेकिन लोग उनको परमहंस मानते थे। दूर-दूर से लोग उनका दर्शन करने आते थे। और लोग बड़े प्रसन्न होते थे उनका दर्शन करके। वे कुछ ठीक से बोल भी नहीं सकते थे। मूढ़ थे--ईडियट जिसको कहते हैं। अनर्गल कुछ न कुछ उनके मुंह से निकलता था, लोग उसी में से मतलब निकालते थे कि गुरुदेव ने क्या कहा। मैं उनके पास कई दफे बैठकर सुनता रहा। मैं बड़ा हैरान होता कि उन्होंने कुछ कहा ही नहीं। मतलब निकालनेवाले अपना मतलब निकाल लेते। उनको देखकर, उनके सिर हिलाने को देखकर या कुछ उनका हिसाब लगाकर कोई जाकर लाटरी का टिकट खरीद लेता, कोई दांव लगा देता, कोई कुछ कर लेता। और इसमें से कुछ जीत भी जाते, कुछ हार भी जाते। जो हार जाते, वे समझते हमने गलत मतलब लगाया। जो जीत जाते वे कहते, कहो गुरुदेव ने रास्ता बता दिया।
उनकी लार टपकती रहती। मगर लोग कहते वे परमहंस हैं। अरे उन्हें क्या!
वे तो बालवत हो गये हैं। उसी लार टपकते में लोग उनको चाय पिलाते रहते, वे चाय पीते रहते। लार टपक जाती, वे दूसरे को वह चाय पकड़ा देते, वह पी लेता। वह अमृत का दान! उनसे ठीक से न बोलते बनता, न कुछ। अगर वे पश्चिम में होते तो पागलखाने में होते। पूरब में थे तो परमहंस थे।
इससे उल्टी हालत पश्चिम में हो रही है। पश्चिम में कुछ परमंहस पागलखानों में पड़े हैं। क्योंकि वहां कोई परमहंस को नहीं मान सकता। वहां परमहंस पागल मालूम होता है, यहां पागल परमहंस बन जाते हैं।
आज इसके बाबत पश्चिम में चिंता पैदा हो रही है। आर. डी. लैंग नाम के बड़े प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने बड़ी क्रांतिकारी धारा पैदा की है, कि बहुत पागलखानों में बंद हैं जो पागल नहीं हैं। हां, जो सामान्य नहीं हैं, जिनकी दृष्टि सामान्य के जरा ऊपर चली गई है वे पागलखानों में डाल दिये गये हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि कुछ ऐसी असामान्य है कि भीड़ उनको मानने को राजी नहीं है। वे विक्षिप्त नहीं हैं, वे पूजा के योग्य हैं। वे पागलखानों में पड़े हैं।
आर. डी. लैंग मुझे अपनी किताबें भेजते हैं, तो मैं सोचता हूं कभी न कभी
वे यहां आयेंगे। आयेंगे तो उनको कहूंगा, इससे उल्टी बात हम यहां कर चुके हैं। यहां हमने पागलों को परमहंस बना दिया है। दोनों खतरनाक बातें हैं। न तो पागल परमहंस हैं, न परमहंस पागल हैं। पागल पागल हैं, परमहंस परमहंस हैं। ये बड़ी अलग बातें हैं।
परमहंस का अर्थ होता है, जिसे दिखाई तो सब पड़ता है लेकिन एक और चीज दिखाई पड़ती है जो तुम्हें नहीं दिखाई पड़ती। उसे दिखाई जिसको पड़ रहा है वह भी दिखाई पड़ता है। उसे द्रष्टा भी दिखाई पड़ता है। वह जीता है द्रष्टा से। दृश्य में उसकी अब कोई राग-विराग की दशा नहीं रही।
इसे स्मरण रखना। एक-एक सूत्र अमूल्य है। अष्टावक्र का एक-एक सूत्र इतना अमूल्य है कि अगर तुम एक सूत्र को भी जीवन में उतार लो तो परमात्मा तुम्हारे जीवन में उतर जायेगा। एक सूत्र तुम्हारे जीवन का द्वार खोल सकता है। और तुम्हें कभी ऊपर-ऊपर से लगेगा कि ये सब सूत्र पुनरुक्ति करते मालूम होते हैं। यह पुनरुक्ति नहीं है, यह सत्य को सभी तरफ से कह देने की चेष्टा

है--सब आयामों से, सब दिशाओं से, ताकि कहीं भूल-चूक न रह जाये। तुम सब भांति परिचित हो जाओ। सत्य की ठीक-ठीक धारणा तुम्हारे मन में स्पष्ट हो जाये तो तुम यात्रा पर निकल सकते हो।
जिसे हम खोजने लगते हैं वही मिलता है।
जिसे हम खोजने लगते हैं वही मिल सकता है।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच चौहत्तरवां प्रवचन

अवनी पर आकाश गा रहा

पहला प्रश्न: पूर्वीय मनीषा सदगुरुओं को मनोवैज्ञानिक का संबोधन क्यों नहीं देती? क्या सदगुरु मनोवैज्ञानिक से किन्हीं अर्थों में बिलकुल भिन्न है? कृपा करके समझाइये।

मनोवैज्ञानिक मनस्विद नहीं है। मन के संबंध में जानता है, मन को नहीं जानता। मन के संबंध में जानना एक बात है, मन को जानना बिलकुल दूसरी। मन के संबंध में जानना तो मन से ही हो जाता है। मन को जानना मन के पार गये बिना नहीं होता। साक्षी जानता है मन को। मन को जानने के लिए मन से भिन्न होना पड़ेगा, पार होना पड़ेगा। मन से ऊपर उठना पड़ेगा। मन से जो घिरे हैं वे मन को न जान पायेंगे।
जिन्होंने ऐसा जाना कि हम मन ही हैं वे तो मन को कैसे जान पायेंगे? जिसे भी हम जानते हैं उससे थोड़ी दूरी चाहिए, फासला चाहिए, तभी तो परिप्रेक्ष्य पैदा होता है। मैं तुम्हें देख रहा हूं क्योंकि तुम दूर हो। तुम मुझे सुन रहे हो क्योंकि मैं दूर हूं।
मन से जो दूरी पैदा करने के उपाय हैं वे ही ध्यान हैं। मन को भी दृश्य बना लेने की जो प्रक्रियायें हैं वे ही ध्यान हैं। जहां मन भी तुम्हें अपने से अलग दिखाई पड़ने लगता है--देह भी, मन भी, और तुम सबके पार खड़े हो जाते हो।
मनस्विद नहीं है मनोवैज्ञानिक। मन का ज्ञाता नहीं है। मन के संबंध में जानकारी है उसे। जानकारी उधार है। अपने मन के संबंध में उसे कुछ भी पता नहीं है। मन के संबंध में दूसरों ने जो कहा है उसका संग्रह किया है उसने। मन के संबंध में मनुष्य के व्यवहार को जांचकर, परखकर जो अनुमान किये जा सकते हैं, उन अनुमानों पर थिर है वह। मनोवैज्ञानिक तकनीशियन है। इसलिए यह हो सकता है, अक्सर होता है कि मनोवैज्ञानिक जिन संबंधों में तुम्हें सलाह देता है उन्हीं संबंधों में स्वयं रुग्ण होता है।
तुम जानकर चकित होओगे कि मनोवैज्ञानिक जितने पागल होते हैं उतना कोई
और पागल नहीं होता। और मनोवैज्ञानिक का सारा काम यही है कि पागलों को स्वस्थ करे।
मनोवैज्ञानिक के धंधे में पागलपन दोगुना घटता है, साधारण धंधे की बजाय। प्रोफेसर भी पागल होते, इंजीनियर भी पागल होते, डाक्टर भी पागल होते, लेकिन मनोवैज्ञानिक दोगुने पागल होते। ऐसा होना तो नहीं चाहिए। मनोवैज्ञानिक तो बिलकुल पागल नहीं होना चाहिए। जिसने मन को जान लिया वह कैसे पागल होगा?
मन को जाना नहीं, मन के संबंध में जानकारी कर ली है। तो शायद दूसरे को सलाह भी दे देते हैं। लेकिन दूसरों को दी गई सलाह अपने भी काम नहीं पड़ती। यह भी तुम स्मरण रखना कि मनोवैज्ञानिक के धंधे में लोग दोगुनी आत्महत्यायें करते हैं।
ये तथ्य घबड़ानेवाले हैं। फिल्म अभिनेता आत्महत्या करते हैं, राजनेता आत्महत्या करते हैं, कवि, लेखक आत्महत्या करते हैं, दार्शनिक आत्महत्या करते हैं, मनोवैज्ञानिक दोगुनी आत्महत्या करते हैं। मनोवैज्ञानिक को तो आत्महत्या करनी ही नहीं चाहिए। जिसने अपने मन को समझ लिया उसके लिए आत्महत्या जैसी रुग्ण दशा घटेगी? असंभव। पर ऐसा होता नहीं।
एक मनोवैज्ञानिक अपने मरीज से बोला कि तुम, ठीक किया, आ गये। अगर तुम
दस मिनट और न आते तो मैं मनोविश्लेषण तुम्हारे बिना ही शुरू करनेवाला था। ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं।
एक मनोवैज्ञानिक अपने मरीज की बातें सुन रहा था। मरीज ने कहा कि मुझे ऐसा वहम हो गया है कि मेरे ऊपर कीड़े-मकोड़े चलते रहते हैं। जानता हूं कि यह भ्रम है, लेकिन दिन भर मुझे यह खयाल बना रहता है कि यह गया, यह चढ़ा, सिर पर जा रहा है, पैर में जा रहा है, कपड़े में घुस गया, और खड़े होकर उसने अपने कपड़े

झटकारे। मनोवैज्ञानिक ने कहा, ठहर। इतने जोर से मत झटकार, कहीं मुझ पर न गिर जायें।
जिसे हम मनोवैज्ञानिक कहते हैं, वह वहीं खड़ा है जहां रुग्ण व्यक्ति खड़े हैं। भेद अगर कुछ है तो जानकारी का है। भेद अगर कुछ है, अंतरात्मा का नहीं है। मनोवैज्ञानिक ने मन के संबंध में अध्ययन किया है, मन के संबंध में अभी जागरूक नहीं हुआ।
इसलिए हम सदगुरुओं को मनोवैज्ञानिक नहीं कहते।
और भी कुछ बात खयाल में लेने की है। दूसरी बात: मनोवैज्ञानिक का काम
है कि जो असमायोजित हो गये हैं, मैल-एडजेस्टेड हो गये हैं, जो जीवन की धारा में पिछड़ गये हैं, जो किसी तरह रुग्ण हो गये हैं, उन्हें सुसमायोजित करे, एडजेस्ट कर दे। फिर से जीवन की धारा का अंग बना दे। जो लथड़ गये, पिछड़ गये, उन्हें जीवन के साथ चला दे। रुग्ण को सामान्य बना दे।
सदगुरु का काम रुग्ण की तरफ नहीं है। सदगुरु का काम है, स्वस्थ को सहायता देना। मनोवैज्ञानिक का काम है, अस्वस्थ को सहायता देना। वह जो अस्वस्थ है, उसे इस योग्य बना देना कि दफ्तर जा सके, फैक्टरी जा सके, काम कर सके, पत्नी-बच्चों की देखभाल कर सके, बात खतम हो गई।
सदगुरु का काम है, जिसे अपना पता नहीं है उसे अपना पता बता दे। जिसे जीवन के आत्यंतिक स्रोत का कोई अनुभव नहीं है उसे उसका स्वाद लगा दे, परमात्मा से मिला दे। वह जो जीवन का परम सत्य है उससे संबंध जुड़ा दे। मनोवैज्ञानिक तुम्हें समाज का अंग बनाता है। सदगुरु तुम्हें सत्य का अंग बनाता है।
सोचना; समाज तो खुद ही रुग्ण है। इसके अंग बनकर भी तुम स्वस्थ थोड़े ही
हो सकोगे! यह समाज तो बिलकुल रुग्ण है। यह हो सकता है कि जिनको तुम पागल कहते हो उनका रोग थोड़ा ज्यादा है और जिनको तुम पागल नहीं कहते उनका रोग थोड़ा कम है। मात्रा का भेद हो सकता है, परिमाण का अंतर हो सकता है, लेकिन कोई गुणात्मक भेद नहीं है। ऐसा हो सकता है, तुम निन्यानबे डिग्री पागल हो, जिसको तुम पागल कहते हो वह सौ डिग्री के पार चला गया। यह डिग्री की ही बात है। तुम जरा उबल गये। दिवाला निकल गया, पत्नी मर गई, तुम भी एक सौ एक डिग्री पर पहुंच जाओगे। जिनको तुम कहते हो पागल नहीं हैं, वे कभी भी पागल हो सकते हैं। जिनको तुम कहते हो पागल हैं, वे कभी भी फिर सामान्य हो सकते हैं। अंतर गुण का नहीं है, मात्रा का है।
समाज तो खुद ही पागल है। तीन हजार सालों में पांच हजार युद्ध लड़े गये हैं। और पागलपन क्या होगा? सच तो यह है, व्यक्ति इतने पागल कभी होते ही नहीं जितना समाज पागल है। व्यक्तियों ने इतने अपराध कभी किये ही नहीं जितने समाज ने अपराध किये हैं।
इस समाज के साथ व्यक्ति को समायोजित कर देना कोई स्वस्थ होने की बात नहीं है, कोई स्वस्थ होने का मापदंड नहीं है। यह समाज रुग्ण है। इस रुग्ण समाज के साथ किसी को समायोजित करने का अर्थ इतना ही हुआ कि भीड़ के रोग के साथ तुमने तालमेल बिठा दिया।
खलील जिब्रान की प्रसिद्ध कथा है। एक गांव में एक जादूगर आया और उसने गांव के कुएं में मंत्र पढ़कर कुछ दवा फेंक दी और कहा, जो भी इसका पानी पीयेगा, पागल हो जायेगा। अब गांव में दो ही कुएं थे, एक गांव का और एक राजा का। सारा गांव पागल हो गया सिर्फ राजा, उसका वजीर, उसकी रानी, इनको छोड़कर। राजा बड़ा खुश हुआ। उसने कहा, हम बचे। आज अलग कुआं था तो बच गये।
अब लोग प्यासे थे तो पानी तो पीना ही पड़ा। और एक ही कुआं था, तो कोई उपाय भी न था। सारा गांव पागल हो गया। राजा खुश है, परमात्मा को धन्यवाद देता है कि खूब बचाया। लेकिन सांझ होतेऱ्होते राजा को पता चला, यह बचना बचना न हुआ। क्योंकि सारे गांव में एक अफवाह जोर पकड़ने लगी कि मालूम होता है, राजा का दिमाग खराब हो गया है।
जब सारा गांव पागल हो जाये और एक आदमी स्वस्थ बचा हो तो सारा गांव सोचेगा ही कि पागल हो गया यह आदमी। भीड़ एक तरफ हो गई, राजा एक तरफ पड़ गया। इस भीड़ में राजा के सिपाही भी थे, सेनापति भी थे। इस भीड़ में राजा के पहरेदार भी थे, अंगरक्षक भी थे। राजा तो घबड़ा गया। सांझ होतेऱ्होते तो

सारा गांव महल के चारों तरफ इकट्ठा हो गया। और लोगों ने नारे लगाये कि उतरो सिंहासन से। तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। हम किसी स्वस्थ-मन व्यक्ति को राजा बनायेंगे।
राजा ने अपने वजीर से कहा, अब बोलो, क्या करें? यह तो महंगा पड़ गया। यह कुआं आज न होता तो अच्छा था। वजीर ने कहा, कुछ घबड़ाने की बात नहीं। मैं इन्हें रोकता हूं, समझाता हूं, आप भागे जायें, उस कुएं का पानी पी लें। गांव के कुएं का पानी पी लें। आप जल्दी पानी पीयें, अब देर करने की नहीं है।
वह भागा राजा। वजीर तो लोगों को बातों में उलझाये रहा। राजा वहां से पानी पीकर आया तो नंगधड़ंग, नाचता। गांव बड़ा खुश हुआ। उस रात बड़ा उत्सव मनाया गया। लोगों ने ढोल पीटे, बांसुरी बजाई। लोग खूब नाचे। लोगों ने कहा, हमारे राजा का मन स्वस्थ हो गया।
भीड़ पागल हो, समाज पागल हो, इस समाज के साथ किसी को समायोजित कर देने
का कोई बड़ा मूल्य थोड़े ही है!
लोग धन के पीछे भागे जा रहे हैं। एक आदमी धन के पीछे भागना बंद कर देता है, हम उसको मनोवैज्ञानिक के पास ले जाते हैं। हम कहते हैं, इसे क्या हो गया? जैसे सब हैं वैसा यह क्यों नहीं है? सब धन कमा रहे हैं, यह कहता है धन में क्या रखा है?
अभी ऐसी घटना घटी न्यूयार्क में। एक आदमी बैंक से दस हजार डालर लेकर निकला। खूब धनी आदमी। और उसे ऐसे मौज आ गई रास्ते पर कि देखें क्या होता है। तो उसने सौ-सौ डालर के नोट लोगों को देने शुरू कर दिये। जो दिखा उसको कहा कि लो। लोगों ने नोट देखा, पहले तो भरोसा न आया कि सौ डालर का नोट कौन दे रहा है ऐसे अचानक? फिर उस आदमी को देखा, सोचे कि पागल है। उसने जो रास्ते पर मिला उसको नोट देने शुरू कर दिये।
थोड़ी देर में खबर फैल गई कि वह आदमी पागल हो गया। थोड़ी देर में पुलिस आ गई, उस आदमी को पकड़ लिया कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया? वह कहने लगा, मेरे रुपये और मैं बांटना चाहूं तो तुम हो कौन? पर उन्होंने कहा, तुम पहले अदालत चलो। पहले तुम्हें प्रमाणपत्र लाना पड़ेगा मनोवैज्ञानिक का कि तुम स्वस्थ हो! क्योंकि ऐसा कोई करता?
यहां लोग पागल हैं धन इकट्ठा करने को। यहां अगर कोई बांटने लगे तो पागल मालूम होता है। बुद्ध लोगों को पागल मालूम हुए जब उन्होंने राजसिंहासन छोड़ा। महावीर भी पागल मालूम हुए जब उन्होंने साम्राज्य छोड़ा। पागल हैं ही।
वह आदमी जाकर अदालत में कहा कि यह भी खूब रही। मेरे रुपये मैं बांटना चाहता हूं। मजिस्ट्रेट ने कहा रुको, मनोवैज्ञानिक का प्रमाणपत्र...। मनोवैज्ञानिक कोई प्रमाणपत्र देने को तैयार नहीं, क्योंकि ऐसा आदमी पागल होना ही चाहिए। दस हजार डालर बांट दिये। और वह कहता है कि अगर तुम मुझे प्रमाणपत्र दे दो तो मैं दस हजार निकालकर और बांट दूं। मेरे पास बहुत हैं। और मुझे बहुत मजा आया। जिंदगी में इतना मजा मुझे कभी आया ही नहीं। इकट्ठे मैंने रुपये किये, खूब किये। यह सुख मैंने कभी पाया नहीं। मुझे बड़ा सुख मिल रहा है। मुझे बांटने दो।
मनोवैज्ञानिक ने कहा, अगर तुम्हें फिर बांटना है तो तुम मुझे भी फंसाओगे। तो मैं तुम्हें प्रमाणपत्र नहीं दे सकता।
जहां भीड़ पागल है धन के लिए वहां कोई आदमी धन को छोड़ दे तो पागल मालूम होता है। जहां लोग हिंसा से भरे हैं वहां कोई प्रेम से भर जाये तो पागल मालूम होता है। जीसस को फांसी ऐसे ही थोड़े दी! पागल मालूम हुआ। क्योंकि लोगों से कहने लगा, कोई तुम्हारे गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर देना। अब यह पागल ही कोई कहेगा। ये होश की बातें हैं? कि जीसस ने लोगों से कहा, कोई तुम्हारा कोट छीन ले तो कमीज भी दे देना। ये कोई होश की बातें हैं? कभी किसी समझदार ने ऐसा कहा है? कोई कौटिल्य, कोई मेक्यावेली ऐसा कहेगा? बुद्धिमान कभी ऐसा कहे हैं? इस आदमी का दिमाग फिर गया है।
यह कहने लगा कि जो तुम्हें घृणा करें उन्हें प्रेम करना। और जो तुम्हें अभिशाप दें उन्हें वरदान देना। इसको सूली लगानी जरूरी हो गई।

सूली पर लटककर भी इसने अपना पागलपन न छोड़ा। सूली से अंतिम बात भी यही कही कि हे प्रभु! इन सबको क्षमा कर देना क्योंकि ये जानते नहीं, ये क्या कर रहे हैं।
लेकिन उन करनेवालों से पूछो, वे भलीभांति जानते हैं कि क्या कर रहे हैं। वे एक पागल से छुटकारा पा रहे हैं। यह कोई बात है? कोई चांटा मारे, तुम दूसरा गाल कर देना।
जीसस से एक शिष्य ने पूछा कि कोई एक बार मारे तो हम माफ कर दें, लेकिन कितनी बार? जीसस ने कहा, सात बार...नहीं-नहीं, सतहत्तर बार। फिर देखा गौर से और कहा कि नहीं-नहीं, सात सौ सतहत्तर बार।
लेकिन तुम खयाल रखना, तुम इसमें से भी तरकीब निकाल लोगे पागलपन की।
मैंने सुना है, एक ईसाई फकीर को एक आदमी ने चांटा मार दिया तो उसने दूसरा गाल सामने कर दिया। जीसस ने कहा है तो करना पड़े। उसने दूसरे गाल पर भी चांटा मार दिया। वह आदमी भी अदभुत रहा होगा मारनेवाला। वह शायद फ्रेडरिक नीत्शे का अनुयायी रहा होगा। क्योंकि फ्रेडरिक नीत्शे ने कहा है कि अगर कोई, तुम चांटा मारो, और एक गाल पर चांटा मारो और दूसरा तुम्हारे सामने कर दे तो और भी जोर से मारना, नहीं तो उसका अपमान होगा। उसने गाल दिखाया और तुमने चांटा भी न मारा?
तो रहा होगा फ्रेडरिक नीत्शे का अनुयायी। उसने और कसकर एक चांटा मारा। सोचता था कि अब यह फिर पुराना गाल करेगा। लेकिन वह फकीर उसकी छाती पर चढ़ बैठा। वह बोला, भाई रुको। यह क्या बात है? तुम्हारे गुरु ने कहा है कि जो एक गाल पर चांटा मारे, दूसरा करना। उसने कहा कि दूसरा गाल बता दिया। तीसरा तो है ही नहीं। और गुरु ने इसके आगे कुछ भी नहीं कहा है। अब मैं मुखत्यार खुद। अब मैं तुझे बताता हूं।
आदमी पागल है। अगर वह नियम का थोड़ा पालन भी करता है तो बस, एक सीमा तक। जहां तक नियम, मुर्दा नियम पालन करना है, कर लेता है। लेकिन उसके बाद असलियत प्रगट होती है।
सदगुरु तुम्हें भीड़ के साथ एक नहीं करता, सदगुरु तुम्हें भीड़ से मुक्त करता है। इसलिए सदगुरु को मनोवैज्ञानिक कैसे कहें? कल तुमने सुना अष्टावक्र का सूत्र? जो ज्ञाता है, ज्ञानी है, वह लोकवत व्यवहार नहीं करता, भीड़ की तरह व्यवहार नहीं करता। उसके जीवन में न भीड़ होती है, न भेड़चाल होती है। वह न किसी का अनुयायी होता है, न किसी के पीछे चलता है। अनुकरण उसकी व्यवस्था नहीं होती। वह अपने बोध से जीता है, वह स्वतंत्र होता है। अष्टावक्र कहते हैं, स्वच्छंद होता है। उसकी स्वतंत्रता परम है। अगर वह जीता है तो अपने अंतरतम से जीता है। जो उसका अंतरतम कहता है वही करता है, चाहे कोई भी कीमत और कोई भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े।
सुकरात को जब सूली दी जाती थी, जहर पिलाया जाता था, मारने की आज्ञा दी
गई थी तो मजिस्ट्रेट को भी उस पर दया आई थी और उसने कहा था, एक अगर तू वचन दे दे तो हम तुझे क्षमा कर दें। इतना तू वचन दे दे कि अब तू, जिसको तू सत्य कहता है उसकी बातचीत बंद कर देगा तो हम तुझे क्षमा कर दें।
सुकरात ने कहा, फिर जीकर क्या करूंगा? जीने का अर्थ ही क्या है जहां सत्य की बात न हो, जहां सत्य की चर्चा न हो? जहां सत्य की सुगंध न हो तो जीने का अर्थ क्या है? इससे बेहतर मर जाना है। तुम मुझे मौत की सजा दे दो। मैं रहूंगा तो मैं सत्य की बातें करूंगा ही। मैं रहूंगा तो और कोई उपाय ही नहीं है, मेरे रहने से सत्य की सुगंध निकलेगी ही।
मजिस्ट्रेट को लगा होगा, सुकरात पागल है। मौत चुन रहा है। तुमने चुनी होती मौत? तुम कहते, छोड़ो सत्य इत्यादि। इसमें रखा क्या है? पाया क्या? उपद्रव में पड़े। अगर सब झूठ बोल रहे हैं और सारा जीवन झूठ से चल रहा है तो इसी में कुशलता है। इसी में है समझदारी कि तुम भी झूठ बोलो, लोगों के साथ चलो। लोग जैसे हैं वैसे रहो--भेड़चाल।
एक स्कूल में एक शिक्षक ने अपने बच्चों से पूछा कि अगर एक घर के भीतर आंगन में दस भेड़ें बंद हों और एक छलांग लगाकर दीवाल से बाहर निकल जाये तो कितनी भीतर रहेंगी? एक बच्चा जोर से हाथ हिलाने लगा। उसने कभी हाथ हिलाया भी न था। वह बच्चा सबसे ज्यादा कमजोर बच्चा था। शिक्षक बड़ा खुश हुआ; उसने

कहा, अच्छा पहले तू उत्तर दे। उसने कहा, एक भी न बचेगी। शिक्षक ने कहा, पागल हुआ है? मैं कह रहा हूं दस भेड़ें भीतर हैं और एक छलांग लगाकर निकल जाये तो भीतर कितनी बचेंगी? तुझे गणित आता है कि नहीं? तुझे गिनती आती है कि नहीं? उस छोटे लड़के ने कहा, गिनती आती हो या न आती हो, भेड़ें मेरे घर में हैं। मैं भेड़ों को जानता हूं। एक छलांग लगा गई, सब लगा गईं। गणित तुम समझो, भेड़ों को मैं समझता हूं। और भेड़ें गणित को नहीं मानतीं। भेड़ तो अनुकरण से जीती है।
भीड़ भेड़ है। सदगुरु तुम्हें भीड़ से मुक्त कराता है। सदगुरु तुम्हें समाज के पार ले जाता है। सदगुरु तुम्हें शाश्वत के साथ जोड़ता है। समाज तो सामयिक है, क्षणभंगुर है। रोज बदलता रहता है--आज कुछ, कल कुछ। नीति बदलती है इसकी, शैली बदलती है इसकी, ढंग-ढांचा बदलता है इसका, व्यवस्था रोज बदलती रहती है।
सदगुरु तुम्हें उससे जुड़ा देता है जो कभी नहीं बदलता, जो सदा जैसा था वैसा है, वैसा ही रहेगा। सदगुरु तुम्हें परमात्मा से मिलाता है। और परमात्मा ही तुम्हारा आत्यंतिक स्वभाव है। इसलिए हम सदगुरु को मनोवैज्ञानिक नहीं कहते। और मनोवैज्ञानिक सदगुरु नहीं है।
फिर यह भी खयाल रखना, मनोवैज्ञानिक के पास तुम जाते हो, जब तुम रुग्ण होते हो। सदगुरु के पास तुम तब जाते हो जब तुम सब भांति स्वस्थ होते हो और अचानक पाते हो, जीवन में कोई अर्थ नहीं। इस भेद को खयाल रखना।
मेरे पास लोग आ जाते हैं कभी, वे कहते हैं, हमारे सिर में दर्द है। मैं कहता हूं, डाक्टर के पास जाना चाहिए। कोई कहता है कि तबियत खराब रहती है। तो चिकित्सा करवानी चाहिए। मैं इसलिए यहां नहीं हूं कि तुम्हारी तबियत खराब रहती है, उसका मैं इंतजाम करूं। तो डाक्टर किसलिए हैं? जिसका काम वह करे।
तुम मेरे पास तब आओ जब सब ठीक हो और फिर भी तुम पाओ कि कुछ भी ठीक नहीं है। धन है, पद है, प्रतिष्ठा है, और हाथ में राख ही राख। सफलता मिली है और हृदय में कुछ भी नहीं। एक फूल नहीं खिला, एक गीत नहीं उमगा। कंठ सूखा का सूखा रह गया है। बाहर सब हरियाला है और भीतर सब मरुस्थल है। और एक भी मरूद्यान का पता नहीं है। जरा भी छाया नहीं है, धूप ही धूप है, तड़पन ही तड़पन।
जब तुम्हारे पास सब हो और तुम पाओ कि कुछ भी नहीं है तब खोजना सदगुरु को। जब तुम्हारी सफलता असफलता सिद्ध हो जाये तब खोजना सदगुरु को। जब तुम्हारा धन तुम्हारे भीतर की निर्धनता बता जाये तब खोजना सदगुरु को। जब तुम्हारी बुद्धिमानी बुद्धूपन सिद्ध हो जाये तब खोजना सदगुरु को। सदगुरु के पास जाना ही तब, जब यह जीवन व्यर्थ मालूम होने लगे। तो वह किसी और जीवन की तरफ तुम्हें ले चले। किसी नये आयाम की यात्रा कराये।
मनोवैज्ञानिक के पास तुम जाते हो तो तुम्हारा संबंध वही है जो तुम चिकित्सक के पास जाते हो। चिकित्सक तुम्हारा गुरु नहीं है। तुम्हारे पैर में चोट लग गई है, तुम डाक्टर के पास गये, उसने मलहम-पट्टी कर दी। डाक्टर तुम्हारा गुरु नहीं है। गुरु एक प्रेम का संबंध है। अपूर्व प्रेम का संबंध है। गुरु इस जगत में सबसे गहन प्रेम का संबंध है। उसने तुम्हारे पैर पर मलहम-पट्टी कर दी, तुमने उसकी फीस चुका दी, बात खतम हो गई। गुरु से जो नाता है वह हार्दिक है। तुम कुछ भी चुकाकर गुरु-ऋण चुका न पाओगे। जब तक कि तुम उस अवस्था में न आ जाओ, जहां तुम्हारे भीतर छिपा गुरु प्रगट हो जाये तब तक गुरु-ऋण नहीं चुकेगा।
तो गुरु का संबंध कुछ किसी और दिशा से है। तुम्हारे हृदय में एक उमंग उठती है। किसी के पास होकर तुम्हें झलक मिलती है परम सत्य की। कोई तुम्हारे लिए झरोखा बन जाता। किसी के पास रहकर तुम्हें संगीत सुनाई पड़ता शाश्वत का। तुम्हारे मन में बड़ा शोरगुल है लेकिन फिर भी किसी के पास क्षण भर को तुम्हारा मन ठहर जाता और शाश्वत को जगह मिलती। किसी के पास तुम्हें स्वर सुनाई पड़ने लगते हैं दूर के, पार के, तारों के पार से जो आते हैं। और किसी की मौजूदगी में तुम्हारे भीतर कुछ उठने लगता, कुछ सोया जागने लगता।

सदगुरु केटलिटिक एजेंट है। उसकी मौजूदगी में कुछ घटता है। सदगुरु कुछ करता नहीं है, मनोवैज्ञानिक कुछ करता है। मनोवैज्ञानिक तकनीशियन है। सदगुरु कुछ करता नहीं, उसकी मौजूदगी में कुछ होता है। सदगुरु करता तो है ही नहीं, क्योंकि कर्ता छोड़कर ही तो वह सदगुरु हुआ है। उसने प्रभु को कर्ता बना लिया है, खुद तो शून्य हो गया है, निमित्तमात्र। बांस की पोली बांसुरी हो गया है। अब सदगुरु कुछ करता नहीं लेकिन उसके पास महत घटता है, बहुत कुछ होता है।
सदगुरु को मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। पहली बात, सदगुरु वैज्ञानिक नहीं है। अगर सदगुरु कुछ है तो शायद शाश्वत का कवि है। शायद तुकबंदी न भी करता हो, शायद छंद में बांधता भी न हो कुछ, शायद शब्दों और व्याकरण का धनी भी न हो, शायद मात्राओं का उसे बोध भी न हो लेकिन फिर भी सदगुरु शाश्वत का कवि है।
इसलिए तो हमने सदगुरुओं को ऋषि कहा है। ऋषि का अर्थ होता है, कवि। उन्होंने जो भी कहा है वह खुद नहीं कहा है, परमात्मा उनसे बोला है। इसलिए तो हमने वेदों को अपौरुषेय कहा है। पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं। इसलिए तो कहा है कि कुरान उतरी। मोहम्मद ने रची नहीं, उन पर उतरी; इलहाम हुआ। इसलिए तो जीसस कहते हैं कि मैं नहीं बोलता, मेरे भीतर प्रभु बोलता है। ये वचन मेरे नहीं हैं।
सदगुरु शाश्वत की बांसुरी है। और तुम उसके प्रेम में पड़ जाओ, गहन प्रेम में पड़ जाओ, तर्क इत्यादि छोड़कर उसके प्रेम में पड़ जाओ तो ही कुछ घटेगा।
मनोवैज्ञानिक के पास तुम्हें प्रेम में पड़ने की जरूरत नहीं है। सच तो
यह है, तुम चकित होओगे जानकर कि फ्रायड, एडलर, जुंग और उनके पीछे आनेवाले मनोवैज्ञानिकों की लंबी कतार कहती है कि मरीज अगर प्रेम में पड़ने लगे तो मनोवैज्ञानिक उसे रोके। इसे वे कहते हैं ट्रांसफरेंस। अगर मरीज मनोवैज्ञानिक के प्रेम में पड़ने लगे तो मनोवैज्ञानिक इसे रोके। क्योंकि अगर मरीज प्रेम में पड़ गया और मनोवैज्ञानिक भी मरीज के प्रेम में पड़ गया तो कौन किसकी सहायता करेगा? कैसे सहायता करेगा? फिर तो सहायता असंभव हो जायेगी।
देखा कभी? एक बड़ा सर्जन, उसकी पत्नी बीमार पड़ जाये, हजारों आपरेशन किये हों उसने, अपनी पत्नी का आपरेशन नहीं कर पाता। किसी दूसरे सर्जन को बुलाता है; चाहे नंबर दो सर्जन को बुलाये। नंबर एक सर्जन नंबर दो सर्जन को बुलाकर आपरेशन करवाता है, क्योंकि खुद डरता है। प्रेम इतना है कि हाथ कंप जायेंगे, घबड़ाहट होगी, चिंता पकड़ेगी कि सफल हो पाऊंगा कि असफल हो जाऊंगा। पत्नी है, कहीं मर न जाये।
इतनी चिंता से घिरा हुआ निश्चिंत न रहेगा। सर्जन सर्जन कैसे हो पायेगा?
नहीं, दूरी चाहिए। सर्जन चाहिए बिलकुल निरपेक्ष। जिसे कुछ प्रयोजन ही नहीं। तुम जिंदा हो कि मुर्दा इससे भी प्रयोजन नहीं। तुम बचोगे कि नहीं बचोगे इसमें भी कोई आग्रह, लगाव नहीं। मर गये तो मर गये। बचे तो बचे। वह तो सिर्फ अपना शिल्प जानता है, अपनी कला जानता है। वह अपनी कला का उपयोग कर लेगा।
मैंने सुना है, एक सर्जन किसी के पेट का आपरेशन कर रहा था। और उसने अपने सहयोगी को मरीज के सिर के पास खड़ा किया था कि कुछ विशेष घटे तो खबर देना। कोई दस मिनट बाद सिर के पास खड़े हुए आदमी ने कहा, महानुभाव, रुकिये। उसने कहा, बीच में मत टोको। तो वह चुप रहा। फिर उसने कहा कि लेकिन सुनिये तो मैं क्या कहना चाहता हूं। मेरी तरफ का जो हिस्सा है वह मर चुका है। वह सिर की तरफ का जो हिस्सा है, उसके सहयोगी ने कहा, वह मर चुका है। और आपरेशन आप किये ही चले जा रहे हैं। यह आदमी अब जिंदा नहीं है, अब आप बेकार मेहनत कर रहे हैं।
सर्जन को उसका भी पता नहीं होना चाहिए कि जिंदा भी है आदमी कि मुर्दा।
वह अपनी कुशलता से अपना काम किये जा रहा है। उसे जरा भी डांवांडोल नहीं होना चाहिए।

तो फ्रायड ने कहा है कि मरीज और मनोचिकित्सक के बीच किसी तरह का रागात्मक संबंध न बने, अन्यथा मुश्किल हो जायेगी। फिर सहयोग देना मुश्किल हो जायेगा। दूरी रहे।
ठीक उल्टी बात सदगुरु के साथ है। अगर रागात्मक संबंध न बने तो इतनी दूरी रहेगी कि कुछ हो ही न पायेगा। रागात्मक संबंध बने तो ही कुछ हो पायेगा। सदगुरु के पीछे तुम पागल होकर प्रेम में पड़े तो ही कुछ हो पायेगा, मतवाले हो जाओ तो ही कुछ हो पायेगा। यह संबंध प्रेम का है। सदगुरु तुम्हारे हृदय में बस जाये तो कुछ हो सकता है।
वह गंध मेरे मन बस गई रे

एक बन जूही एक बन बेला
अगणित गंधों का यह मेला
पाकर मुझको निपट अकेला
इन प्राणों को कस गई रे
वह गंध मेरे मन बस गई रे

एक दिन पश्चिम एक दिन पूरब भटक रहे हैं गंध पंख सब
रोम-रोम के द्वार खोलकर
वह अंतर में धंस गई रे
वह गंध मेरे मन बस गई रे

नभ में जिसकी डालें अटकीं
थल पर जिसकी कलियां चटकीं
मेरे जीवन के कर्दम में
वह अनजाने फंस गई रे
वह गंध मेरे मन बस गई रे
जब तक सदगुरु की गंध तुम्हारे मन में न बस जाये, जब तक तुम दीवाने न हो जाओ, तब तक कुछ भी न होगा। सदगुरु और शिष्य का संबंध रागात्मक है। वह वैसा ही संबंध है जैसे प्रेमी और प्रेयसी का। निश्चित ही प्रेमी और प्रेयसी के संबंध से बहुत पार। लेकिन उसी से केवल तुलना दी जा सकती है, और कोई तुलना नहीं है। दीवानगी का संबंध है।
रोम-रोम के द्वार खोलकर
वह अंतर में धंस गई रे
वह गंध मेरे मन बस गई रे
तो ही कुछ रूपांतरित होता है। तुम बदलोगे तभी, जब तुम प्रेम में झुकोगे।
मनोवैज्ञानिक के पास झुकना आवश्यक नहीं है। झुकने का कोई सवाल नहीं है, मनोवैज्ञानिक तकनीशियन है। मनोवैज्ञानिक के प्रति समर्पण का कोई प्रश्न नहीं है। मनोवैज्ञानिक कुछ जानता है, उसके जानने के तुम दाम चुका देते हो, बात खतम हो गई। धन्यवाद देने की भी आवश्यकता नहीं है।
सदगुरु कुछ जानता है, ऐसा नहीं, सदगुरु कुछ हो गया है। सदगुरु के आंगन में आकाश उतरा है। सदगुरु के सूने अंतरात्मा के सिंहासन पर प्रभु विराजमान हुआ है। यहां कंजूसी से न चल सकेगा। यहां तो उछलकर डुबकी ले सकोगे तो ही कुछ हो सकेगा।
इसलिए पश्चिम ने तो अब मनोवैज्ञानिक को भी गुरु कहना शुरू कर दिया है। पूरब ने कभी गुरु को मनोवैज्ञानिक नहीं कहा। और पूरब को कभी मनोवैज्ञानिक को जन्म देने की जरूरत नहीं पड़ी। जहां गुरु हो वहां मनोवैज्ञानिक की कोई खास जरूरत नहीं है। मनोवैज्ञानिक तो एक परिपूरक, सस्ता परिपूरक है। मनोवैज्ञानिक खुद उन उलझनों में उलझा है जिन उलझनों से वह मरीज को मुक्त करवाने की कोशिश कर रहा है। सदगुरु उन उलझनों के पार है। और जो पार है उसका ही सत्संग काम आ सकता है।

सदगुरु व्यक्ति नहीं है। इसलिए पूरब के मनीषी सदगुरु को परमात्मा कहते हैं, उसे ब्रह्मस्वरूप कहते हैं। उसका कारण है। सदगुरु व्यक्ति नहीं है, सदगुरु हो गया अव्यक्ति। उसने अपने को तो पोंछकर मिटा डाला। उसने अपनी अस्मिता हटा दी। उसने अपना अहंकार गिरा दिया। अब उसके भीतर से जो काम कर रहा है वह परमात्मा है। जब सदगुरु तुम्हारा हाथ पकड़ता है तो परमात्मा ने ही तुम्हारा हाथ पकड़ा।
अगर तुम्हें ऐसा दिखाई न पड़े तो सदगुरु से तुम्हारा अभी संबंध नहीं बना। तुम अभी शिष्य नहीं हुए। अभी बात शुरू ही नहीं हुई। अभी बीज बोया नहीं गया, फसल काटने की मत सोचने लगना। बीज ही नहीं बोया गया है।
जब कभी गिरने लगा मन खाइयों में
कौन पीछे से अचानक थाम लेता?

सूखते जब जिंदगी के स्रोत सारे
धार से कटते चले जाते किनारे
कौन दृढ़ विश्वास इन कठिनाइयों में
जिंदगी को हर सुबह हर शाम देता?

जब निगाहों में सिमट आते अंधेरे जिंदगी बिखरे समय के खा थपेड़े कौन धुंधलायी हुई परछाइयों में
जिंदगी के कण समेट तमाम लेता?

जो जमाने से विभाजित हो न पाई
रह गई अवशेष वह जीवन इकाई
कौन फिर संयोग बन तनहाइयों में
जिंदगी को नित नये आयाम देता?
जब तुम्हें किसी व्यक्ति में अव्यक्ति का दर्शन हो जाये, जब किसी व्यक्ति में तुम्हें शून्य का आभास हो जाये, जब किसी आकृति में तुम्हें निराकार प्रतीत होने लगे, जब किसी की मौजूदगी तुम्हारे लिए परमात्मा की सघन मौजूदगी बन जाये तो सदगुरु से मिलना हुआ।
सदगुरु को खोजना पड़ता है, मनोवैज्ञानिक को खरीदना पड़ता। मनोवैज्ञानिक धन से मिल जाये, सदगुरु तो मन को चढ़ाने से मिलता है। दोनों अलग बातें हैं।

दूसरा प्रश्न: प्रभु,
मरना चाहता हूं, बस मरना चाहता हूं
इस देह में न अब रहना चाहता हूं
आपके स्नेह को बस भरना चाहता हूं
अब अपने को मैं अमीमय करना चाहता हूं
शून्य भर होना चाहता हूं।

पूछा है बोधिधर्म ने।
समझना होगा। गहरे से समझना होगा। क्योंकि यह भाव अनेकों के मन में उठता है। जब मैं तुम्हें समझाता हूं कि मिट जाओ, समाप्त हो जाओ, ताकि प्रभु हो सके; तुम अपने को पोंछ डालो, जगह खाली करो, ताकि वह उतर सके; तो एक प्रबल आकांक्षा उठती है मिट जाने की। और उसी आकांक्षा में भूल हो जाती है।
जब मैं कहता हूं मिट जाओ तो मैं यही कह रहा हूं कि अब तुम और आकांक्षा
न करो। क्योंकि आकांक्षा रहेगी तो तुम बने रहोगे। तुम आकांक्षा के सहारे ही तो बने हो। कभी धन की आकांक्षा, कभी पद की आकांक्षा। आकांक्षा ही तो सघन होकर अहंकार बन जाती है। आकांक्षा ही तो अहंकार है। तो जब तक तुम आकांक्षा से भरे हो, तुम हो। जब तुम निराकांक्षा से भरोगे, कोई आकांक्षा न रहेगी...ध्यान रखना, आकांक्षा से मुक्त हो जाने की आकांक्षा भी जब न रही।

लेकिन तुम मुझे सुनते हो और बात कुछ की कुछ हो जाती है। मैं तुमसे कहता हूं कि मिट जाओ, मैं कहता हूं, आकांक्षा छोड़ो। तुम कहते हो, चलो ठीक, हम यही आकांक्षा करेंगे; मिट जाने की आकांक्षा करेंगे। तो तुम पूछते हो, हे प्रभु, कैसे मिट जायें? अब मिटाओ।
अभी तक कहते थे, कैसे जीयें? कैसे और हो जीवन? और...और। अब कहते हो, कैसे मिटें? कैसे समाप्त हों? मगर बात तो वही की वही रही। कुछ फर्क न हुआ। तुम धन चाहते थे, अब तुम धर्म चाहने लगे। तुम पद चाहते थे, अब तुम परमात्मा चाहने लगे। तुम सुख चाहते थे, अब तुम स्वर्ग चाहने लगे। अब तक तुम वासनाओं के पीछे दौड़ रहे थे, अब तुमने एक नई वासना पैदा कर ली निर्वासना होने की। चूक गये। बात फिर गलत हो गई।
मैंने तुमसे यह नहीं कहा कि तुम मर जाने की आकांक्षा करो। मैंने तुमसे इतना ही कहा है कि अब तुम आकांक्षा न करो तो तुम मर जाओगे। यह जो मर जाना है, यह परिणाम है, कान्सिक्वेन्स है। तुम इसे चाह नहीं सकते। यह तुम्हारी चाहत का फैलाव नहीं हो सकता। अगर तुमने इसको भी चाह बना लिया, फिर चाह बच रही। चाह नये पंख पा गई। चाह नये घोड़े पर सवार हो गई। चाह ने तुम्हारे चित्त को फिर धोखा दे दिया। अब तुम यह चाह करने लगे।
बुद्ध ने कहा है, निर्वाण चाहा तो निर्वाण को कभी उपलब्ध न हो सकोगे।
और अष्टावक्र बार-बार कह रहे हैं कि अगर मोक्ष की भी चाह रह गई तो मुक्ति बहुत दूर। मोक्ष की चाह भी बंधन है। मोक्ष को भी न चाहो। चाहो ही मत। ऐसी कोई घड़ी, जब कोई भी चाह नहीं होती, उसी घड़ी तुम परमात्मा हो गये। चाह से शून्य घड़ी में परमात्मा हो जाते हो। इसलिए समझो, नहीं तो भूल हो जायेगी।
मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि ध्यान में कैसे उतरें? बड़ी चाह लेकर आये हैं। मैं उनसे कहता हूं, चाह है तो ध्यान में उतर न पाओगे। ध्यान में उतरने की पहली शर्त है कि चाह को बाहर रख आओ। वे कहते, अच्छी बात। फिर तो ध्यान में उतर सकेंगे न?
अब उनका समझ रहे हो मतलब? वे कहते हैं, चलो, अगर चाह रख आकर चाह पूरी होती है तो हम इसके लिए भी राजी हैं, मगर चाह पूरी होगी न? तो तुम रखकर कहां आये? वे दो-चार दिन कोशिश करते हैं फिर आकर कहते हैं, चाह भी नहीं की, फिर भी अभी तक हुआ नहीं।
अगर चाह ही नहीं की तो अब क्या पूछते हो कि फिर भी अभी तक हुआ नहीं। चाह बनी ही रही। चाह भीतर बनी ही रही। चाह ने कहा, चलो, कहा जाता है कि चाह छोड़ने से चाह पूरी होगी, चलो, यह ढोंग भी कर लो। मगर तुम चूक गये। तुम समझ न पाये।
इसीलिए तो निरंतर यह बात कही गई है, सारे शास्त्र कहते हैं कि जो कहा जाता है वही सुना नहीं जाता। जो सदगुरु समझाते हैं वही तुम सुन पाते हो ऐसा पक्का नहीं है। तुम कुछ का कुछ सुनते हो। तुम कुछ का कुछ कर लेते हो। देख लिया, जीवन में कुछ पाया नहीं, अब तुम कहते हो, कैसे मिट जायें? मगर पाने की धारणा अभी भी बनी है।
अक्सर ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति ध्यान करता, अचानक एक दिन किरण उतरती, रोआं-रोआं रस से भर जाता। अभिभूत हो जाता। बस उसी दिन से मुश्किल हो जाती। फिर वह रोज चाह करने लगता है कि ऐसा अब फिर हो, ऐसा अब फिर हो। फिर वह मेरे पास आता, रोता, गिड़गिड़ाता; कहता है कि बड़ी मुश्किल हो गई। घटना घटी भी, और अब क्यों नहीं घट रही?
मैं उससे कहता हूं कि जब घटी तो कोई चाह न थी। तुम्हें पता ही न था तो चाह कैसे करते? चाह तो उसी की हो सकती है जिसका थोड़ा-सा अंदाज हो, अनुमान हो। सुनकर हो, स्वाद से हो, लेकिन जिसका थोड़ा अनुमान हो, चाह तो उसी की हो सकती है न! अब तुम्हें पता चल गया। स्वाद लग गया, किरण उतरी। पंखुड़ियां खिल गईं हृदय की। कमल-कमल खिल गये भीतर। तुम गदगद हो उठे। अब तुम्हें पता चल गया, अब मुश्किल आई। अब बड़ी मुश्किल आई। ऐसी मुश्किल कभी भी न थी। अब तुम जब भी ध्यान में बैठोगे, यह चाह खड़ी रहेगी कि फिर हो; दुबारा हो।
मैंने एक तिब्बती कहानी पढ़ी है। कहते हैं दूर तिब्बत की पहाड़ियों में छिपा हुआ एक सरोवर है। उस सरोवर के किनारे एक वृक्ष है। वृक्ष बड़ा अनूठा

है। वृक्ष से भी ज्यादा अनूठा सरोवर है। कहते हैं, उस वृक्ष को जो खोज ले, उस सरोवर को जो खोज ले, और वृक्ष पर से छलांग लगाकर सरोवर में कूद जाये तो रूपांतरित हो जाता है। कभी भूलचूक से कोई पक्षी गिर जाता है सरोवर में तो मनुष्य हो जाता है। कभी कोई मनुष्य खोज लेता है और उस वृक्ष से कूद जाता है तो देवता हो जाता है।
ऐसा एक दिन हुआ, एक बंदर और एक बंदरिया उस वृक्ष पर बैठे थे। उन्हें कुछ पता न था। और एक मनुष्य न मालूम कितने वर्षों की खोज के बाद अंततः वहां पहुंच गया। उस मनुष्य ने वृक्ष पर चढ़कर झंपापात किया। सरोवर में गिरते ही वह दिव्य ज्योतिर्धर देवता हो गया। स्वभावतः बंदर और बंदरिया को बड़ी चाहत जागी। उन्हें पता ही न था। उसी वृक्ष पर वे रहते थे लेकिन कभी वृक्ष पर से झंपापात न किया था। कभी सरोवर में कूदे न थे। फिर तो देर करनी उचित न समझी। दोनों तत्क्षण कूद पड़े। बाहर निकले तो चकित हो गये। दोनों सुंदर मनुष्य हो गये थे। बंदर पुरुष हो गया था, बंदरिया सुंदर, सुंदरतम नारी हो गई थी। बंदर ने कहा, अब हम एक बार और कूदें। बंदर तो बंदर! उसने कहा, अब अगर हम कूदे तो देवता होकर निकलेंगे। बंदरिया ने कहा कि देखो, दुबारा कूदना या नहीं कूदना, हमें कुछ पता नहीं। स्त्रियां साधारणतः ज्यादा व्यावहारिक होती हैं। सोच-समझकर चलती हैं ज्यादा। देख लेती हैं, हिसाब-किताब बांध लेती हैं, करने योग्य कि नहीं। आदमी तो दुस्साहसी होते हैं।
बंदर ने कहा, तू फिक्र छोड़। तू बैठ, हिसाब कर। अब मैं चूक नहीं सकता। बंदरिया ने फिर कहा, सुना है पुरखे हमारे सदा कहते रहे: "अति सर्वत्र वर्जयेत्"। अति नहीं करनी चाहिए। अति का वर्जन है। अब जितना हो गया इतना क्या कम है? मगर बंदर न माना। मान जाता तो बंदर नहीं था। कूद गया। कूदा तो फिर बंदर हो गया। उस सरोवर का यह गुण था--एक बार कूदो तो रूपांतरण। दुबारा कूदे तो वही के वही।
बंदरिया तो रानी हो गई। एक राजा के मन भा गई। बंदर पकड़ा गया एक मदारी
के हाथों में। फिर एक दिन मदारी लेकर राजमहल आया तो बंदर अपनी बंदरिया को सिंहासन पर बैठा देखकर रोने लगा। याद आने लगी। और सोचने लगा, अगर मान ली होती बात दुबारा न कूदा होता! तो बंदरिया ने उससे कहा, अब रोओ मत। आगे के लिए इतना ही स्मरण रखो: अति सर्वत्र वर्जयेत्। अति वर्जित है।
ध्यान ऐसा ही सरोवर है। समाधि ऐसा ही सरोवर है जहां तुम्हारा दिव्य ज्योतिर्धर रूप प्रगट होगा। लेकिन लोभ में मत पड़ना। अति सर्वत्र वर्जयेत्।
यह जो तुम्हारा प्रश्न है, अत्यंत लोभ का है। प्रश्न को जरा गौर से देखो तो तुम्हें खयाल आ जायेगा। "मरना चाहता हूं, भरना चाहता हूं, करना चाहता हूं, शून्य होना चाहता हूं।" चाहता हूं... चाहता हूं...चाहता हूं। चाह ही चाह। प्रत्येक पंक्ति में चाह ही चाह भरी है।
और यही मैं तुम्हें समझा रहा हूं कि चाहे कि संसार पैदा हुआ। चाहत का नाम संसार है। अब तुम एक नया संसार पैदा कर रहे हो। अब यह मरना, निर्वाण, शून्य, समाधि--अब तुम्हें ये पकड़े ले रहे हैं। तुम जाल से कभी छूटोगे, न छूटोगे?
एक और कहानी तुमसे कहता।
कहते हैं कि एक बार शैतान का मन ऊब गया। सभी का ऊब जाता है। शैतान का
भी ऊब गया हो तो आश्चर्य नहीं। शैतान का तो ऊब ही जाना चाहिए। कब से शैतानी कर रहा है! तो उसने संन्यास लेने का निश्चय कर लिया। तब उसने अपने गुलामों को बेचना शुरू कर दिया: बुराई, झूठ,र् ईष्या, निरुत्साह, दर्प, हिंसा, परिग्रह आदि-आदि। सब पर तख्तियां लगा दीं। खरीददार तो सदा से मौजूद हैं। शैतान की दूकान पर कब ऐसा हुआ कि भीड़ न रही हो। परमात्मा के मंदिर खाली पड़े रहते हैं। शैतान की दूकान पर तो सदा भीड़ होती है, भारी भीड़ होती। जमघट होता है। क्यू लगे रहते हैं।
और जब यह लोगों को पता चला कि शैतान अपने विश्वस्त गुलामों को भी बेच रहा है तो सभी पहुंच गये। राजनेता पहुंचे, धनपति पहुंचे। सभी तरह के उपद्रवी पहुंच गये। क्योंकि शैतान के सुशिक्षित सेवक मिल जायें तो फिर क्या? फिर तो दुनिया फतह! एक के बाद एक गुलाम बिकने लगे। शैतान के भक्त आते

गये और अपनी-अपनी पहचान, अपनी-अपनी पसंद का गुलाम खरीदते गये। पर एक बहुत ही भोंडी और कुरूप औरत खड़ी थी जिसे कोई पहचान ही नहीं पा रहा था कि यह कौन है? और कठिनाई और भी थी कि उसके गले में जो तख्ती लगी थी, सबसे ज्यादा कीमत की थी।
अंततः एक आदमी ने पूछा कि महानुभाव, बड़ा आश्चर्य है, इस स्त्री को हम पहचान नहीं पा रहे हैं। यह कौन है आपकी सेविका? और ऐसी कुरूप और ऐसी भोंडी कि इसे देखकर ही जी मिचलाता। और सबसे ज्यादा कीमत लगा रखी है। बात क्या है? कोई खरीददार गया भी नहीं इसके पास। यह देवी कौन है? इसके संबंध में कुछ बता दें। शैतान से उस ग्राहक ने पूछा।
शैतान ने कहा, ओह, यह? यह मेरी सबसे प्रिय और वफादार गुलाम है। मैं इसके सहारे बड़ी आसानी से लोगों को अपने शिकंजे में कस लेता हूं। क्यों, पहचाना नहीं इसे? बहुत कम लोग इसे पहचानते हैं इसीलिए तो इसके द्वारा धोखा देना आसान होता है। इसे कोई पहचानता नहीं मगर यह मेरा दाहिना हाथ है।
फिर शैतान अट्टहास कर उठा और बोला, महत्वाकांक्षा है यह। महत्वाकांक्षा! एंबीशन! यह सबसे भोंडी और सबसे कुरूप मेरी सेविका है, लेकिन सबसे कुशल।
आदमी जीता महत्वाकांक्षा में। यह पा लूं, यह मिल जाये, और मिल जाये, और ज्यादा मिल जाये। तुम उसी महत्वाकांक्षा को धर्म की दिशा में मत फैलाओ। संन्यास सत्य को पाने की महत्वाकांक्षा नहीं है, संन्यास महत्वाकांक्षा का त्याग है। संन्यास मोक्ष को पाने की नई चाह नहीं है, संन्यास सारी चाह की व्यर्थता को देख लेने का नाम है। अब तुम और मत चाहो। अब तुम चाह को जाने दो। अब इसे विदा कर दो। जिस दिन तुम चाह को विदा कर दोगे उसी दिन तुम शैतान के शिकंजे के बाहर हो गये हो। और जिस क्षण चाह को तुमने विदा कर दिया उसी क्षण तुम पाओगे, जो तुमने सदा चाहा था वह होने लगा। वह चाह के कारण ही नहीं हो पाता था। नहीं, ऐसी आकांक्षा न करो।
अब न अगले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़
एक मिट जाने की हसरत अब दिले-बिस्मिल में है
यह मिट जाने की हसरत भी जाने दो। यह हसरत भी उपद्रव है। जल्दी न करो। मौत की इतनी क्या जल्दी!
मौत है वह राज जो आखिर खुलेगा एक दिन
जिंदगी वह है मुअम्मा कोई जिसका हल नहीं
मौत तो एक दिन खुल ही जायेगी, एक दिन हो ही जायेगी। उसकी क्या जल्दी में पड़े हो। मरने की भी क्या चाहत। जिंदगी को समझ लो। जिंदगी को समझ लिया, जिंदगी खुल गई। और जहां जिंदगी खुल गई वहां मौत खुल गई। क्योंकि मौत कुछ भी नहीं, जिंदगी का अंतिम शिखर है। मौत कुछ भी नहीं, जिंदगी की चरम अवस्था है। मौत कुछ भी नहीं, जिंदगी का आखिरी गीत है। जिंदगी समझ ली तो मौत समझ में आ जाती है। होना समझ लिया तो न होना समझ में आ जाता है।
इसलिए तो तुमसे कहता हूं, संसार से भागना मत। संसार को समझ लिया तो मोक्ष समझ में आ जाता है। लेकिन तुम जल्दबाजी में पड़ते हो। संसार को बिना समझे तुम मोक्ष को समझने चल पड़ते हो। फिर तुम्हारा मोक्ष भी नया संसार बन जाता है।

तीसरा प्रश्न: नृत्य कब घटित होता है? आप सदा नृत्य की बात करते हैं-- किस नृत्य की? और कब घटित होता है यह नृत्य?

निश्चित ही मैं नृत्य की बात करता, क्योंकि मेरे लिए नृत्य ही पूजा है। नृत्य ही ध्यान है। नृत्य से ज्यादा सुगम कोई उपाय नहीं, सहज कोई समाधि नहीं। नृत्य सुगमतम है, सरलतम है। क्योंकि जितनी आसानी से तुम अपने अहंकार को नृत्य में विगलित कर पाते हो उतना किसी और चीज में कभी नहीं कर पाते।
नाच सको अगर दिल भरकर तो मिट जाओगे। नाचने में मिट जाओगे। नाच विस्मरण का अदभुत मार्ग है, अदभुत कीमिया है।

और नाच की और भी खूबी है कि जैसे-जैसे तुम नाचोगे, तुम्हारी जीवन-ऊर्जा प्रवाहित होगी। तुम जड़ हो गये हो। तुम सरिता होने को पैदा हुए थे, गंदे सरोवर हो गये हो। तुम बहने को पैदा हुए थे, तुम बंद हो गये हो। तुम्हारी जीवन-ऊर्जा फिर बहनी चाहिए, फिर झरनी चाहिए। फिर उठनीं चाहिए तरंगें। क्योंकि सरिता तो एक दिन सागर पहुंच जाती है, सरोवर नहीं पहुंच पाता। सरोवर अपने में बंद पड़ा रह जाता। इसलिए तुमसे कहता हूं, नाचो। नाचने का अर्थ, तुम्हारी ऊर्जा बहे। तुम जमे-जमे मत खड़े रहो, पिघलो। तरंगायित होओ। गत्यात्मक होओ।
दूसरी बात: नाच में अचानक ही तुम प्रसन्न हो जाते हो। उदास आदमी भी नाचना शुरू करे, थोड़ी देर में पायेगा, उदासी से हाथ छूट गया। क्योंकि उदास होना और नाचना साथ-साथ चलते नहीं। रोता आदमी भी नाचना शुरू करे, थोड़ी देर में पायेगा, आंसू धीरे-धीरे मुस्कुराहटों में बदल गये। थका-मांदा आदमी भी नाचना शुरू करे, शीघ्र ही पायेगा कि कोई नई ऊर्जा का प्रवाह भीतर शुरू हो गया। नृत्य दुख जानता ही नहीं। नृत्य आनंद ही जानता है।
इसीलिए तो हिंदुओं ने परमेश्वर के परम रूप को नटराज कहा है, कृष्ण को नाच की मुद्रा में, ओंठ पर बांसुरी रखे, मोर-मुकुट बांधे चित्रित किया है। यह ऐसे ही नहीं, अकारण ही नहीं। यह सारा जीवन नाच रहा है।
जरा वृक्षों को देखो, पक्षियों को देखो। सुनते हो यह पक्षियों का कलरव? फूलों को देखो, चांदत्तारों को देखो। विराट नृत्य चल रहा है। रास चल रहा है। यह अखंड रास! तुम इसमें भागीदार हो जाओ। तुम सिकुड़-सिकुड़कर न बैठो। तुम कंजूस न बनो। तुम बहो।
पूछा है तुमने, "नृत्य कब घटित होता है?"
नृत्य तब घटित होता है जब नर्तक मिट जाता है। नृत्य तब घटित होता है
जब नाच तो होता है, तुम नहीं होते। नाचनेवाला नहीं होता। याद ही नहीं रह जाती।
पश्चिम का बहुत बड़ा नर्तक हुआ निजिंस्की। ऐसा नर्तक, कहते हैं मनुष्य जाति के इतिहास में शायद दूसरा नहीं हुआ है। उसकी कुछ अपूर्व बातें थीं। एक अपूर्व बात तो यह थी कि जब वह नृत्य की ठीक-ठीक दशा में आ जाता था--जिसको मैं नृत्य की दशा कह रहा हूं, जब नर्तक मिट जाता है--तो निजिंस्की ऐसी छलांगें भरता था कि वैज्ञानिक चकित हो जाते थे। क्योंकि गुरुत्वाकर्षण के कारण वैसी छलांगें हो ही नहीं सकतीं। और साधारण अवस्था में निजिंस्की भी वैसी छलांगें नहीं भर सकता था। उसने कई दफे कोशिश करके देख ली थी। अपनी तरफ से भी उसने कोशिश करके देख ली थी, हर बार हार जाता था।
जब उससे किसी ने पूछा कि इसका राज क्या है? उसने कहा, मुझसे मत पूछो। मुझे खुद ही पता नहीं। क्योंकि मैंने भी कई दफे कोशिश करके देख ली। जब यह घटती है तब घटती है। जब नहीं घटती तब मैं लाख उपाय करूं, नहीं घटती। और जब घटती है तो मैं हैरान होता हूं। कुछ क्षण को ऐसा लगता है, गुरुत्वाकर्षण का मेरे ऊपर प्रभाव नहीं रहा। मैं एक पक्षी के पंख की तरह हलका हो जाता हूं। कैसे यह होता है, मुझे पता नहीं। एक बात भर समझ में आती है कि यह उन क्षणों में होता है जब मुझे मेरा पता नहीं होता, जब मैं लापता होता हूं। जब मैं होता ही नहीं तब यह घटता है।
यह तो योग का पुराना सूत्र है। यह तो तंत्र का पुराना आधार है। निजिंस्की को कुछ पता नहीं वह क्या कह रहा है। अगर उसे पूरब के शास्त्रों का पता होता तो वह व्याख्या कर पाता।
विज्ञान कहता है...न्यूटन ने खोजा वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे। गिरा फल
और न्यूटन को खयाल आया, हर चीज ऊपर से नीचे की तरफ गिरती है। पत्थर भी हम ऊपर की तरफ फेंकें तो नीचे आ जाता है, तो जरूर जमीन में कोई गुरुत्वाकर्षण, कोई कशिश, कोई ग्रेविटेशन होना चाहिए। जमीन खींचती चीजों को अपनी तरफ। न्यूटन ने एक बात देखी। हमने और भी एक बात देखी, जो न्यूटन ने नहीं देखी। और खयाल रखना, वही दिखाई पड़ता है जो हम देखने को तैयार होते हैं। कृष्ण ने कुछ और देखा, अष्टावक्र ने कुछ और देखा। उन्होंने यह देखा कि ऐसी कुछ घड़ियां हैं जब अहंकार नहीं होता तो आदमी ऊपर की तरफ उठने लगता है; जैसे आकाश की कोई कशिश, कोई आकर्षण है। जैसे वैज्ञानिक कहते हैं ग्रेविटेशन,

गुरुत्वाकर्षण, ऐसे अंतरतम के मनीषियों ने कहा है कि प्रभु का आकर्षण। ऊर्ध्व, ऊपर की ओर से उतरती कोई ऊर्जा और खींचने लगती है। लेविटेशन या ग्रेस, प्रसाद कहें।
वही घट रहा था निजिंस्की को। कभी-कभी ऐसा हो जाता था, वह इतना तल्लीन...इतना तल्लीन हो जाता, ऐसा लवलीन हो जाता, ऐसा खो जाता कि फिर नर्तक न रहता, नृत्य ही बचता। कोई आयोजक न रह जाता भीतर, कोई नियंत्रक न रह जाता। कोई नृत्य करने वाला न रह जाता।
वही तो अष्टावक्र तुमसे कह रहे हैं। इसी नृत्य की व्याख्या कर रहे हैं कि कर्ता को जाने दो तो प्रभु तुम्हें सम्हाल ले अभी। तुम्हीं अपने को सम्हाले हो तो प्रभु को सम्हालने का मौका ही नहीं। तुम छोड़ो। तुम कहो, तू सम्हाल। तू जान। तेरी दुनिया। तेरा यह जीवन। तूने दिया जन्म, तू देगा मौत। तू ही सम्हाल। हम तो बीच में आ गये हैं।
सुनी हिकायते-हस्ती तो दर्मियां से सुनी
न इब्तदा की खबर है, न इन्तहा मालूम
हम तो बीच में हैं। न हमें पता है कि जन्म क्यों हुआ, न हमें पता है कि मौत क्यों होगी। न हमें प्रारंभ का कुछ पता है, और न अंत का। हम तो बीच में हैं। जिसको प्रारंभ का पता नहीं, अंत का पता नहीं, वह बीच की भी क्यों फिक्र रखे हुए है? जो पहले सम्हालता है, पीछे सम्हालता है, वह बीच में भी सम्हाल लेगा।
ऐसा जो छोड़ दे उसको ही अष्टावक्र कहते हैं, वही हुआ ज्ञाता। वही हुआ द्रष्टा। वही अब न रहा भोक्ता, न रहा कर्ता। और जहां भोक्ता और कर्ता खो जाते हैं वहीं परमात्मा है।
मैं तुमसे कहता हूं नृत्य की परिभाषा: जब नर्तक मिट जाये। ऐसे नाचो, ऐसे नाचो कि नाच ही बचे। ऊर्जा रह जाये, अहंकार का केंद्र न रहे।
और नृत्य जितनी सुगमता से परमात्मा के निकट ले आयेगा और कोई चीज कभी नहीं ला सकती। और नृत्य बड?ा स्वाभाविक है। आदमी है अकेला, जो भूल गया।
सारा संसार नाच रहा है आदमी को छोड़कर। आदमी भी नाचता था। आदिम आदमी अब भी नाच रहे हैं, सिर्फ सभ्य आदमी वंचित हो गया है। सभ्य आदमी नाच भूल गया है।
जड़ हो गया है। पत्थर की तरह हो गया है। झरना नहीं है कि बहे। निर्झर नहीं है।
थोड़ा अपने को पिघलाओ। थोड़ा छूने दो प्रभु को तुम्हें।
फागुन ने क्या छू लिया तनिक मन को
कर्पूरी देह अबीर हो गई है
क्या छुए मधुर गीतों ने रसिक अधर
धड़कन-धड़कन मंजीर हो गई है

अंगों पर फैल गई केसर क्यारी
नभ बाहों में भरने की तैयारी
बढ़ गई अचानक चंचलता लट की
सीमा-रेखाएं सिमटीं घूंघट की

सांसों को क्या छू गई मदिर सांसें
गंधायित मलय समीर हो गई है
फागुन ने क्या छू लिया तनिक मन को
कर्पूरी देह अबीर हो गई है
फागुन भी छू ले तो देह अबीर-अबीर हो जाती है। देह कस्तूरी-कस्तूरी हो जाती है। तुम जरा सोचो, परमात्मा छू ले तो तुम नाच उठोगे। तुम नाच उठो तो परमात्मा छू ले।
अब तुम यह मत पूछना कि क्या पहले है? तुम मुर्गी-अंडे के सवाल मत उठाना कि मुर्गी पहले कि अंडा पहले। उस उलझन में उलझोगे तो कभी सुलझ न पाओगे। इतना ही तुमसे कहता हूं, एक वर्तुल है। तुम नाचो तो परमात्मा छू ले। परमात्मा छू ले तो तुम नाच उठो।

अब परमात्मा छू ले यह तो तुम्हारे हाथ में नहीं, एक बात तुम्हारे हाथ में है कि तुम नाचो। तुम नाचो, उसे मौका दो कि तुम्हें छू ले। नाचते में ही छू सकता है तुम्हें। अभी तो तुम अकड़े-अकड़े बैठे हो। अभी तो तुम पानी जैसे जम गया, बरफ हो गये ऐसे हो गये हो। थोड़ा पिघलो। थोड़ा बहो।
तुम इधर बहे कि परमात्मा ने तुम्हें छुआ। उसने छुआ कि तुम और बहे। तुम
और बहे कि उसने तुम्हें और छुआ। एक वर्तुल है। धीरे-धीरे तुम ज्यादा- ज्यादा हिम्मत जुटाते जाओगे। नर्तक खोता जायेगा, नृत्य बचेगा।
अवनी पर आकाश गा रहा
विरह मिलन के पास आ रहा
चारों ओर विभोर प्राण
झकझोर घोर में नाचें
निरख घोर घन
मुग्ध मोर मन
जल हिलोर में नाचे
जरा हिलोर बनो।
निरख घोर घन
मुग्ध मोर मन
जल हिलोर में नाचे
चारों ओर विभोर प्राण
झकझोर घोर में नाचें
निछावर इंद्रधनुष तुझ पर निछावर प्रकृति-पुरुष तुझ पर मयूरी उन्मन-उन्मन नाच
मयूरी छूम छनाछन नाच
मयूरी नाच, मगन-मन नाच
मयूरी नाच, मगन-मन नाच
गगन में सावन घन छाये
न क्यों सुधि साजन की आये
मयूरी आंगन-आंगन नाच
मयूरी नाच मगन-मन नाच
नाचो। हृदय खोलकर नाचो। सब तरह की कृपणता छोड़कर नाचो। एक दिन तुम पाओगे: अचानक, विस्मयविमुग्ध, चकित-भाव, भरोसा न होगा कि तुम मिट गये हो, नाच चल रहा है। जिस दिन तुम पाओगे कि तुम नहीं हो और नाच चल रहा है, उसी दिन तुम पाओगे सब जो पा लेने जैसा है; सब, जिसको पाये बिना और सब पाना व्यर्थ है।
और तुमने पूछा है कि नाच कब घटित होता है और कब नहीं घटित होता है? जब तुम होते हो तब नहीं घटित होता है। जब तुम सम्हाल-सम्हालकर नाच रहे होते हो तब नहीं घटित होता है। बेसम्हाले नाचो। नियंत्रण तोड़कर नाचो। अराजक होकर नाचो। स्वच्छंद होकर नाचो, तभी होता है।
अगर तुम मालिक रहे और भीतर-भीतर नियंत्रण जारी रखा तो वह मनुष्य का नृत्य है; परमात्मा नहीं नाच पाता। तुमने बागडोर उसके हाथ में दी ही नहीं। तुम बागडोर उसके हाथ में दे दो, फिर होता है नाच। फिर तुम इस विराट नृत्य के एक अंग हो जाते हो।

चौथा प्रश्न: संन्यास में दीक्षा लेने पर आप अपने शिष्यों को सुंदर-सुंदर नाम देते हैं। इन सुंदर नामों का रहस्य और अर्थ समझाने की कृपा करें।

नाम बस नाम है। जब देना ही है तो सुंदर दे देता हूं, असुंदर क्यों दूं? ऐसे तो चाहूं तो कह सकता हूं, स्वामी चूहड़मल फूहड़मल। नाम बस नाम है। और जब देना ही है तो सुंदर दे देता हूं। इसमें कुछ बहुत अर्थ नहीं है।
नाम में अर्थ हो भी क्या सकता है? अर्थ तो होता काम में। तुम नाम के भरोसे मत रुके रह जाना। कुछ करोगे तो कुछ होगा। कुछ होने दोगे तो कुछ

होगा। कितना ही सुंदर नाम दे दूं, इससे क्या होगा? काश, नाम बदल देने से जीवन बदलते होते, कितना सरल होता?
सुंदर नाम देकर मैं अपनी आकांक्षा, अपनी अभीप्सा प्रगट कर रहा हूं। सुंदर नाम देकर मैं अपना आशीष तुम्हें दे रहा हूं कि मैंने सुंदरतम तुममें चाहा है! अब तुम कुछ करो। सुंदर नाम देकर मैंने तुम्हें बड़ा उत्तरदायित्व दे दिया। अब तुम्हें पूरा करना है। सुंदर नाम देकर मैंने तुम्हें एक चुनौती दे दी। तुम्हें एक बुलावा दे दिया, एक आमंत्रण दे दिया कि अब यह यात्रा करनी है। अब यह नाम याद रखना। अब यह नाम तुम्हें सतायेगा। एक पुरानी कथा तुमसे कहूं। बहुत पुरानी कथा है। किसी बालक के मां-बाप
ने उसका नाम पापक, पापी रख दिया। लोग भी खूब हैं। किसी का नाम रख देते हैं पोपट, घसीटामल, घासीराम; जैसे नामों की कुछ कमी है। पापक? अब ऐसे ही आदमी पापी है, अब और कम से कम नाम तो न रखो। इतनी तो कृपा करो। लेकिन रख दिया। मैं माऊंट आबू शिविर लेने जाता था, वहां एक बगीचा है: शैतानसिंह उद्यान।
किसी का नाम शैतानसिंह है। और कोई नाम न सूझा?
तो किसी ने रख दिया होगा पापक। बालक बड़ा हुआ तो उसे यह नाम बहुत बुरा लगने लगा, खटकने लगा। हर कोई कहे, कहो पापी! कहां चले जा रहे हो? ऐसा नहीं कि पापी नहीं था; जैसे सब पापी हैं वैसा पापी था। लेकिन यह नाम एक मुसीबत हो गई।
तो उसने अपने आचार्य से प्रार्थना की, भंते, मेरा नाम बदल दें। अपने गुरु से कहा कि इतना कर दें। यह नाम मेरे पीछे बुरी तरह पड़ा है। यह नाम बड़ा अप्रिय है, अशुभ और अमांगलिक है। लेकिन आचार्य ने कहा, नाम तो केवल प्रज्ञप्ति के लिए है। व्यवहार-जगत में पुकारने के लिए होता है। नाम बदलने से क्या सिद्ध होगा? अरे, पाप ही बदल ले ताकि किसी की हिम्मत पापी कहने की न पड़े। मगर उसने कहा कि महाराज, वह जरा कठिन काम है, यह नाम तो बदल ही दो।
तो गुरु ने कहा, ठीक है, तो तू ऐसा कर कि तू गांव भर में घूम-फिरकर देख ले, कौन-सा नाम तुझे प्रिय लगता है, वह तू आकर मुझे बता दे। वही तेरा रख देंगे। नहीं माना, तो गुरु ने कहा, चलो ठीक, बदल देंगे। जा तू, खोज ला। जब आग्रह ही करता है तो तेरी मर्जी। फिर भी तुझसे कहता हूं, गुरु ने कहा कि अर्थ सिद्ध तो कर्म के करने से होता है, कर्म सुधारने से होता है। पर तू नाम ही सुधारना चाहता है तो जा, गांव में खोज ले।
अब वह निकला गांव में। पहले ही आदमी से टकरा गया तो उसने कहा, अरे, देखते नहीं? उसने कहा, भाई, मैं अंधा हूं। उसने कहा, चलो कोई बात नहीं, तुम्हारा नाम? उन्होंने कहा, नयनसुख। वह जरा चौंका; उसने कहा, हद हो गई! नाम नयनसुख, आंख के अंधे! उसने कहा, होगा, अपने को इससे क्या लेना-देना। मगर नयनसुख नाम रखना ठीक नहीं, उसने कहा। क्योंकि अंधों का नाम नयनसुख! और आगे चला तो एक अर्थी जा रही थी। उसने पूछा, भाई, कौन मर गया? उन्होंने कहा, जीवक। उसने कहा, और सुनो। जीवक तो वह जो जीये; और ये सज्जन मर गये! यह तो बड़ा बुरा हुआ। जीवक और मृत्यु का शिकार हो गया! बुद्ध के चिकित्सक का नाम जीवक था। राजाओं ने उसे यह नाम दिया था। क्योंकि वह लोगों को...उसकी औषधि में ऐसा बल था कि जैसे मरों को जिला ले। लेकिन जीवक भी मरा। वह औषधि भी काम न आई, नाम भी काम न आया।
तो वह सोचने लगा, जीवक नाम भी ठीक नहीं। तो अर्थी कसी जायेगी। फिर लोग हंसेंगे कि अरे, जीवक मर गये! जिंदगी भर हंसे क्योंकि नाम रहा पापक, मरते वक्त हंसेंगे कि हो गये जीवक! यह नहीं चलेगा।
और आगे बढ़ा तो देखा एक दीनऱ्हीन गरीब दुखियारी स्त्री को मार-पीटकर
घर के बाहर निकाला जा रहा था। तो उसने पूछा देवी, तेरा नाम? तो उसने कहा, धनपाली। पापक सोचने लगा, नाम धनपाली और पैसे-पैसे को मोहताज।
और आगे बढ़ा तो एक आदमी को लोगों से रास्ता पूछते पाया। तो उसने पूछा, भाई, रास्ता पीछे पूछ लेना, पहले एक बात बता दो, तुम्हारा नाम? तो उसने कहा, पंथक। पापक फिर सोच में पड़ गया कि अरे, पंथक भी पंथ पूछते हैं, पंथ भूलते हैं?

पापक वापिस लौट आया। गुरु से उसने कहा कि बात खतम हो गई। नामों में क्या धरा! रास्ते पर अंधा मिला; जनम का अंधा, नाम नयनसुख। एक दुखिया मिला; जनम का दुखिया, नाम सदासुख। सब देख आया। यही ठीक है। पाप को ही बदल लूंगा। नाम को बदलने से क्या होगा?
फिर भी जब तुम मुझसे दीक्षा लेते हो तो तुम्हें सुंदर नाम देता हूं। सुंदर से मेरा लगाव है। नाम ही दे रहा हूं तो क्या कंजूसी करूं! दिल खोलकर दे देता हूं। सुंदर से सुंदर नाम जो खयाल में आता है, तुम्हें दे देता हूं। इससे तुम ध्यान रखना कि तुम्हारे लिए चुनौती है। तुम इससे यह मत समझ लेना कि यह तुम हो गये। यह तुम्हें होना है। नाम अभी सार्थक है नहीं, संभावना है, यह तुम्हें होना है।
किसी को मैं नाम देता हूं, सच्चिदानंद। यह तुम्हें होना है। तुम यह मत समझ लेना कि हो गये! मैंने नाम दे दिया तो बात खतम। अब क्या करना? जो होना था सो हो गये। सच्चिदानंद हो गये। इतना सस्ता नहीं है। आदमी एक संभावना है होने की। आदमी है नहीं, आदमी होने की संभावना है, एक बीज है।
पुरानी कथा है कि परमात्मा ने जब प्रकृति बनाई, सब बनाया और फिर आदमी
को बनाया, तो आदमी को उसने मिट्टी से बनाया। जब आदमी बन गया तो परमात्मा ने सारे देवताओं को इकट्ठा करके कहा कि देखो, मेरी श्रेष्ठतम कृति यह मनुष्य है। इससे ऊपर मैंने कुछ भी नहीं बनाया। यह मेरी प्रकृति के सारे विस्तार में सबसे श्रेष्ठ, सबसे गरिमाशाली। लेकिन एक संदेहवादी देवता ने कहा, यह तो ठीक है, लेकिन मिट्टी से क्यों बनाया? निकृष्टतम चीज से बनाई श्रेष्ठतम चीज, यह कुछ समझ में नहीं आती। अरे, सोने से बनाते! कम से कम चांदी से बनाते। न सही चांदी, लोहे से बना देते। मिट्टी! कुछ और न मिला? निकृष्टतम से श्रेष्ठतम को बनाया।
तो परमात्मा हंसने लगा। उसने कहा, जिसे श्रेष्ठतम बनना हो उसे निकृष्टतम से यात्रा करनी होती है। जिसे स्वर्ग जाना हो उसे नर्क में पैर जमाने पड़ते। जिसे ऊपर उठना हो उसे निम्नतम को छूना पड़ता।
और फिर परमात्मा ने कहा, तुमने कभी सोने में से किसी चीज को उगते देखा? चांदी में से कोई चीज उगते देखी? बो दो बीज सोने में, कभी उगेगा नहीं, मर जायेगा। मिट्टी भर में उगता है कुछ। और मनुष्य एक संभावना है, एक आश्वासन है। अभी मनुष्य को होना है, अभी हो नहीं गया। हो सकता है। होने की सब व्यवस्था कर दी है लेकिन होना पड़ेगा। इसलिए मिट्टी से बनाया है, क्योंकि मिट्टी में ही बीज फूटता है, अंकुर निकलते हैं, वृक्ष पैदा होते, फूल लगते, फल लगते, सुंगध फैलती। महोत्सव घटित होता है।
मिट्टी में ही संभावना है। सोने की कोई संभावना नहीं। सोना तो मुर्दा है, चांदी तो मुर्दा है। इसीलिए तो मरे-मरे लोग सोने-चांदी को पूजते हैं। जिंदा लोग मिट्टी को पूजते हैं। जितना मरा आदमी उतना ही सोने का पूजक। जितना जिंदा आदमी उतना उसका मिट्टी से मोह, मिट्टी से लगाव, मिट्टी से प्रेम। मिट्टी जीवन है। ठीक कहा ईश्वर ने कि बीज मिट्टी में फेंक दो तो खिलता, फैलता, बड़ा होता।
मनुष्य एक संभावना है। मनुष्य यात्रा है, अंत नहीं। अभी मनुष्य को होना है, अभी मनुष्य हुआ नहीं। सारी क्षमता पड़ी है छिपी अचेतन में; प्रगट होना है, अभिव्यक्त होना है। गीत तुम लेकर आये हो, अभी गाया नहीं। तुम्हारी वीणा तो है तुम्हारे पास, लेकिन तुम्हारी उंगलियों ने अभी छुआ नहीं।
जब मैं तुम्हें नाम देता हूं तो सिर्फ एक संभावना देता हूं। कहता हूं, सच्चिदानंद हो जाना। इसलिए सच्चिदानंद नाम दे देता हूं। नाम को तुम ऐसा मत समझ लेना कि तुम सच्चिदानंद हो इसलिए मैंने सच्चिदानंद कह दिया है। होते तब तो कहना क्या था! होते तब तो दीक्षा की भी कोई जरूरत न थी। होते तब तो कुछ भी कारण न था। नहीं हो, मगर हो सकते हो। द्वार खुला है, चलना पड़े। यह जो तुम्हारा नाम है इसे दूर की मंजिल समझना। वह जो दूर तारों के पार सच्चिदानंद-रूप है, वह मैंने तुम्हें नाम दे दिया है। नाम से तुम्हें जोड़ दिया उससे। अब तुमसे कह दिया, अब चलो। लंबी यात्रा है। दुर्गम पथ है। कंटकाकीर्ण मार्ग है। भटक जाने की पूरी संभावना है, पहुंचने की संभावना

बहुत कम है। लेकिन यह नाम तुम्हें दे दिया, यह एक दूर के तारे की तरह तुम्हें रोशनी देगा। और जब तुम भटकने लगोगे और जब तुम गिरने लगोगे तब तुम्हें याद दिलायेगा कि सच्चिदानंद, यह क्या कर रहे? यह तुम्हारे जैसा नहीं है।
सच्चिदानंद, यह तुम क्या कर रहे? चोरी कर रहे? यह तुम्हारे नाम से मेल नहीं खाता। सच्चिदानंद, यह किसी की हत्या करने को उतारू हो गये? यह तुम्हारे नाम से मेल नहीं खाता। सच्चिदानंद, उदास बैठे हो? मुर्दा बैठे हो? यह तुम्हारे नाम से मेल नहीं खाता। नाचो।
मयूरी नाच, छनाछन नाच
मयूरी नाच, उन्मन-उन्मन नाच
मयूरी नाच, आंगन-आंगन नाच
तुम्हें याद दिलाने को, स्मरण दिलाने को।

आखिरी प्रश्न: क्या बुद्धपुरुष भी आंसू बहाते हैं?

बुद्धपुरुषों के संबंध में कोई भी बात तय करनी उचित नहीं। बुद्धपुरुष ऐसे विराट, जैसे आकाश। बुद्धपुरुष के संबंध में कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। एक ही बात कही जा सकती है कि बुद्धपुरुष होने का अर्थ होता है, पूर्ण हो जाना। पूर्ण में सब समाहित है--आंसू भी। जैसे मुस्कुराहटें समाहित हैं वैसे ही आंसू भी।
एक झेन फकीर जापान में मरा। उसका शिष्य रिंझाई बड़ा प्रसिद्ध था। इतना प्रसिद्ध था, गुरु से ज्यादा प्रसिद्ध था। सच तो यह है कि रिंझाई के कारण ही गुरु की प्रसिद्धि हुई थी। लाखों लोग इकट्ठे हुए और रिंझाई रोने लगा। गुरु की लाश पड़ी है और रिंझाई के आंसू झरने लगे। और रिंझाई के आसपास जो लोग थे उन्होंने कहा, यह क्या करते हो? तुम्हें लोग रोता देखेंगे तो क्या सोचेंगे? बुद्धपुरुष कहीं रोते?
तो रिंझाई ने कहा, तो समझ लो कि मैं बुद्धपुरुष नहीं। मगर अब रोना हो रहा है, तो क्या करूं? मेरे गुरु ने एक ही बात मुझे सिखाई थी कि जो स्वाभाविक हो उसे होने देना। अभी तो आंसू आ रहे हैं। पर लोगों ने कहा, तुम्हीं तो समझाते रहे कि आत्मा अमर है। अब रोते क्यों?
रिंझाई ने कहा, मैं आत्मा के लिए रो भी कहां रहा हूं? यह शरीर भी बड़ा प्यारा था। आत्मा तो अमर ही है, उसके लिए कौन रो रहा है? यह गुरु की देह भी बड़ी प्यारी थी। अब दुबारा इसके दर्शन न हो सकेंगे। अब अनंत काल में इसका कभी साक्षात्कार न हो सकेगा। एक अपूर्व घटना का विसर्जन हो रहा है, तुम मुझे रोने भी न दोगे? तुम सम्हालो अपना बुद्धपुरुष और बुद्धपुरुष की परिभाषा। मैं जैसा, वैसा भला। लेकिन मुझे स्वाभाविक होने दो।
और मैं तुमसे कहता हूं, रिंझाई बुद्धपुरुष था इसलिए रो सका। तुम जैसा कोई बुद्धू होता, अगर आंसू भी आ रहे होते तो रोककर बैठ जाता कि यह मौका कोई रोने का है? सारी इज्जत पर पानी फिर जायेगा। अभी रोने का मौका है? रो लेना एकांत में, अकेले में करके दरवाजा बंद। अभी तो न रोओ। भीड?-भाड़ के सामने तो अकड़कर बैठे रहो कि ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं, कैसा रोना? अरे ज्ञानी कहीं रोते हैं? यह तो अज्ञानी रोते हैं।
नहीं, यह निश्चित ही बुद्धपुरुष रहा होगा। तभी तो बुद्धपुरुष होने की बात को भी दो कौड़ी में फेंक दिया। कहा, रख आओ, सम्हालो तुम्हीं। तो फिर मैं बुद्धपुरुष नहीं। बात खतम हुई। मगर जो सहज हो रहा है, होने दो। बुद्धपुरुष होने का अर्थ होता है, सहजता, समग्रता। जीवन समग्र है। कहना मुश्किल है। बुद्धपुरुषों के संबंध में कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। बुद्धपुरुष ऐसे मुक्त जैसे आकाश।
ऐसा हुआ, गौतम बुद्ध के जीवन में उल्लेख है कि जब वे बारह वर्ष के बाद अपने घर वापिस लौटे तो स्वभावतः अपने पिता को, अपनी पत्नी को, अपने बेटे को मिलना चाहे। तो आनंद ने कहा कि यह शोभा नहीं देता। बुद्धपुरुष का कौन पिता, कौन बेटा, कौन पत्नी? बात खतम हो गई। आप तो ज्ञान को उपलब्ध हो गये।

बुद्ध ने कहा, मैं तो हो गया लेकिन वे नहीं हैं अभी उपलब्ध। उनका मोह अभी भी मेरे प्रति है। और मैं तो मुक्त हो गया लेकिन मेरा ऋण तो कायम है। उनसे मैंने जन्म लिया। और इस पत्नी को मैं बारह साल पहले छोड़कर अंधेरी रात में भाग गया था, क्षमा तो मांग लेने दो। मेरी यात्रा तो पूरी हो गई, लेकिन वह तो अभी भी जली-भुंजी बैठी है। अभी भी नाराज है। बड़ी मानिनी है यशोधरा। उसने मुझे क्षमा नहीं किया। और जब तक मैं क्षमा न मांगूं वह क्षमा करेगी भी नहीं। अब मुझे उससे क्षमा मांग लेने दो ताकि वह भी मुक्त हो जाये। यह बात गई-गुजरी हो गई। जो हुआ, हुआ।
आनंद जरा कसमसाया। उसको यह बात जंचती नहीं। बुद्धपुरुष को क्या लेना- देना? फिर भी अब नहीं मानते तो ठीक है, गया!
आनंद जब संन्यस्त हुआ था--आनंद बुद्ध का बड़ा भाई था स्वयं, चचेरा बड़ा भाई। जब वह संन्यस्त हुआ था, बुद्ध से दीक्षा ली थी तो दीक्षा के पहले उसने कहा था कि मेरी कुछ शर्तें हैं। दीक्षा के बाद तो मैं शिष्य हो जाऊंगा, फिर तुम मेरी सुनोगे नहीं। मुझे तुम्हारी सुननी पड़ेगी। दीक्षा के पहले बड़े भाई के हैसियत से ये शर्तें तुमसे मांग लेता हूं। उसमें एक शर्त यह भी थी कि सदा तुम्हारे साथ रहूंगा। तुम कभी भी मुझसे यह न कह सकोगे कि आनंद, मुझे छोड़। रात तुम्हारे कमरे में सोऊंगा। तुम्हारी छाया की तरह चलूंगा। तुम मुझे समझा न सकोगे कि आनंद जा, तू दूसरे गांव में शिक्षा दे लोगों को। मैं कहीं जानेवाला नहीं। मैं तुम्हारे पीछे रहूंगा। ऐसी उसने पहले ही शर्त रखी थी और बुद्ध ने शर्त मान ली थी।
जब वे महल में प्रवेश करने लगे तो बुद्ध ने कहा, आनंद, यशोधरा खुल न पायेगी अगर तू मौजूद रहा। कुलीन स्त्री है। वह अपना भाव भी प्रगट न करेगी तेरे सामने। फिर तू मेरा बड़ा भाई है, वह घूंघट कर लेगी। वह रो भी न पायेगी, नाराज भी न हो पायेगी। और तेरे सामने तेरी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर वह कुछ कहेगी भी नहीं। तू कृपा कर। आज तू जरा पीछे रह जा।
आनंद ने कहा, यह कैसी बात! बुद्धपुरुष को पत्नी क्या, पति क्या! पर बुद्ध ने कहा, तू छोड़ फिक्र बुद्धपुरुषों की। मैं किसी परिभाषा से बंधा नहीं। यही उचित मालूम होता है।
और बात ठीक थी। यशोधरा क्षमा न कर पाती बुद्ध को अगर आनंद मौजूद रहता।
जब बुद्ध गये, यशोधरा टूट पड़ी। रोयी, चीखी, चिल्लाई, नाराज हुई। उसने कहा कि तुम मुझे छोड़कर भाग गये। तुमने इतना भी भरोसा न किया कि मुझे जगाकर पूछ लेते? क्या तुम सोचते हो, मैं मना करती? तुमने इतना भी मेरे प्रेम का भरोसा न किया, इतना मेरे प्रेम का समादर न किया। तुम पूछ लेते कि मैं जाता हूं। मैं तुम्हें जाने देती लेकिन तुम पूछ तो लेते। तुम जगाकर कह तो देते। मैं अंतिम क्षण तुम्हारे पैर तो छू लेती। तुमने इतना भी मुझे मौका न दिया? तुमने इतना भी भरोसा न किया? मैं क्षत्राणी हूं, तुम अगर कहते कि तुम्हें अपनी गर्दन भी काटनी है तो मैं तुम्हारे पैर छूकर तुमसे कहती कि ठीक है, तुम मालिक हो। तुम मेरे स्वामी हो। मैं तुम्हारी मालिक नहीं हूं। तुम्हें जो ठीक लगे, करो। लेकिन तुम भाग गये चोर की तरह, वह मन में कसती है बात। कांटे की तरह सलती है बात।
वह खूब नाराज हुई। वह खूब चिल्लाई। वह खूब रोई। इस सब उधेड़बुन में उसे खयाल ही न रहा कि बुद्ध चुपचाप खड़े हैं, एक शब्द भी नहीं बोले हैं। तब उसने अपनी आंखों से आंसू पोंछे और बुद्ध से कहा, आप चुप हैं, बोलते नहीं?
बुद्ध ने कहा, मैं क्या बोलूं? क्योंकि जो गया था वह आया नहीं। जिससे
तू लड़ रही है वह अब है नहीं। और जो मैं आया हूं उससे तू बिलकुल अपरिचित है। तू मेरी तरफ देख पागल! जो गया था वह मैं नहीं हूं। देह वैसी लगती होगी तुझे, लेकिन सब बदल गया। आमूल बदल गया हूं। जड़-मूल से बदल गया हूं। यह कोई और ही आया है। यह एक दूसरी ही ज्योति है। मैं तो मिट गया, नया होकर आया हूं। तू मेरी तरफ देख। अब कब तक गुजरे को लेकर बैठी रहेगी? जो हुआ, हुआ। उठ। जो मुझे हुआ है वह तुझे देने आया हूं। मैंने परम आनंद पाया है। तू भी उसकी भागीदार बन।
और यशोधरा संन्यस्त हुई।

जब यशोधरा संन्यस्त हो गई तो यशोधरा से बुद्ध ने कहा, एक बात तू आनंद
को समझा दे। वह चिंतित है। अगर मैं आनंद को लेकर आया होता तो तू खुल पाती? वह कहती, कभी नहीं खुल पाती। मैं तुम्हें फिर कभी क्षमा न कर पाती। एक तो चोर की तरह भागकर गये और फिर आये तो भीड़-भाड़ लेकर आये ताकि मैं कुछ कह न सकूं। आनंद की मौजूदगी में मैं चुपचाप रह जाती। मैंने अपने हृदय के छाले तुम्हें न दिखाये होते। बात खतम हो गई थी। तुमने फिर मेरा भरोसा नहीं किया। तुम फिर किसी को लेकर आ गये आड़ की तरह, बीच में पर्दे की तरह। बुद्धपुरुष की कोई परिभाषा नहीं।
फिर कोई एक बुद्धपुरुष थोड़े ही हुआ है कि परिभाषा हो जाये! सब बुद्धपुरुष अनूठे होते हैं। कृष्ण अपनी तरह, राम अपनी तरह, बुद्ध अपनी तरह, महावीर अपनी तरह, जीसस अपनी तरह, मोहम्मद अपनी तरह, इतने फूल खिलते हैं इस पृथ्वी पर, इतने भिन्न-भिन्न। जूही है और बेला है और चंपा है और चमेली है; गुलाब और कमल...और सब अलग-अलग।
हर बुद्धपुरुष अनूठा है। इसलिए परिभाषा तो कैसे हो? नहीं, कोई परिभाषा नहीं हो सकती।
तुम पूछते हो, "क्या बुद्धपुरुष भी आंसू बहाते हैं?"
बहा भी सकते हैं न भी बहायें। निर्भर करता है इस पर--किस बुद्धपुरुष
के संबंध में बात हो रही है, उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है।
तुमने देखा! कृष्ण का एक नाम है, रणछोड़दास। बड़ा मजेदार नाम है। भाग खड़े हुए रण छोड़कर। रणछोड़दासजी।
अब तुम कहोगे, बुद्धपुरुष भाग सकता? कृष्ण भागे। बुद्धपुरुष झूठ बोल सकता? कृष्ण के जीवन में बहुत झूठ है। बुद्धपुरुष दिये हुए वचन तोड़ सकता? कृष्ण ने तोड़े। क्या करोगे? बुद्धपुरुष हाथ में तलवार ले सकता है? मोहम्मद ने ली। हालांकि तलवार पर लिखा था, शांति मेरा संदेश है। इस्लाम का अर्थ होता है: शांति। अब तलवार पर ही लिखे हैं, "शांति मेरा संदेश है", और कोई जगह न मिली लिखने को?
कहना मुश्किल है। इधर एक बुद्ध हैं जो कहते हैं, चींटी को भी मारना पाप है। उधर एक मोहम्मद हैं, वे तलवार लेकर आदमियों को काटते रहे। और जरा फिक्र न की। इधर महावीर हैं, वे पानी भी छानकर पीते। उधर कृष्ण हैं, वे अर्जुन से कहते हैं, तू मार। बेफिक्र मार। क्योंकि ये मारे ही जा चुके हैं। तू तो निमित्तमात्र है।
जितने बुद्धपुरुष उतने प्रकार हैं। परिभाषा असंभव है।
महावीर अकेले खड़े हैं। कृष्ण हजार स्त्रियों के बीच नाच रहे हैं। बुद्ध वृक्ष के नीचे बैठे हैं। मीरा गांव-गांव नाच रही है। बुद्ध को तुम नाचता हुआ सोच नहीं सकते। महावीर के ओंठ पर बांसुरी रखोगे बड़ी बेहूदी मालूम होगी। कृष्ण को नंगा खड़ा कर दो दिगंबर, जंचेंगे नहीं।
सब अनूठे हैं। सब अपने-अपने जैसे हैं। एक-एक बुद्धपुरुष एक-एक अनूठी घटना है इसलिए कोई परिभाषा नहीं हो सकती। कुछ कहा नहीं जा सकता।
और अभी सब बुद्धपुरुष हो नहीं गये हैं। जितने हुए हैं उससे बहुत ज्यादा होंगे। इसलिए अभी परिभाषा बंद भी नहीं हो सकती। कल कोई बुद्धपुरुष कैसा होगा, कहना मुश्किल है।
एक बात तय है, बस उसी को तुम समझना मूल आधार: कि बुद्धपुरुष जो भी करता है, जागा हुआ करता है। रोये तो जागा हुआ रोता, नाचे तो जागा हुआ नाचता।
अकेला खड़ा रहे तो जागा हुआ खड़ा रहता है।
जागरण बुद्धत्व का स्वाद है। बुद्ध शब्द का अर्थ होता है, जागा हुआ।
जो भी करे, जागा हुआ करता है। उसकी जागृति भर एकमात्र परिभाषा है, शेष सब गौण बातें हैं। उसके अंतर का दीया जला होता है।

आज इतना ही।

अष्टावक्र महागीता, भाग पांच
पचहत्तरवां प्रवचन

मन का निस्तरण

सर्वारंभेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः।
न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्माणि।। २४०।।
स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः।। २४१।।
क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्येव सर्वदा।। २४२।।
स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते।। २४३।।
बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्वो महाशयः।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः।। २४४।।
महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते।। २४५।।

सर्वारंभेषु निष्कामो यः चरेत् बालवन्मुनिः।
न लेपः तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्माणि।।

पहला सूत्र: "जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम है और बालवत व्यवहार करता है, उस शुद्ध के किये हुए कर्म में भी लेप नहीं होता है।"
बहुत-सी बातें इस सूत्र में समझ लेने जैसी हैं।
पहली बात: सर्वारंभेषु। साधारणतः हम किसी कार्य का प्रारंभ करते हैं
तो कामना से करते हैं। कुछ पाना है इसलिए करते हैं। कोई महत्वाकांक्षा है, उसे पूरा करना है इसलिए करते हैं।
ज्ञानी किसी कर्म का प्रारंभ किसी कारण से नहीं करता। उसे कुछ भी पाना नहीं है, कुछ भी होना नहीं है। जो होना था हो चुका। जो पाना था पा लिया। फिर भी कर्म तो होते हैं। तो इन कर्मों में कोई प्रारंभ की वासना नहीं है। कोई आरंभ नहीं है। प्रभु जो करवाता वह होता। ज्ञानी अपने तईं कुछ भी नहीं कर रहा है। प्रभु बुलाये तो बोलता। प्रभु मौन रखे तो मौन रहता। प्रभु चलाये तो चलता। प्रभु न चलाये तो रुक रहता।
जिस दिन अहंकार गया उसी दिन कर्मों को प्रारंभ करने की जो आकांक्षा
थी वह भी गई। अब कर्मों का प्रारंभ परमात्मा से होता और कर्मों का अंत भी उसी को समर्पित है। ज्ञानी में कर्म प्रगट होता है लेकिन शुरू नहीं होता; शुरू परमात्मा में होता है। लहर परमात्मा से उठती है, ज्ञानी से प्रगट होती है।
इसे समझना। होता तो ऐसा ही अज्ञानी में भी है, लेकिन अज्ञानी सोचता है लहर भी मुझसे उठी। अज्ञानी अपने कर्मों का स्रोत स्वयं को मान लेता। वहीं बंधन पैदा होता है। कर्मों में बंधन नहीं है, कर्मों का स्रोत स्वयं को मान लेने में बंधन है। तुमने कभी कोई कर्म किया है? तुम कभी कोई कर्म कर कैसे सकोगे? न जन्म तुम्हारा न मृत्यु तुम्हारी; तो जीवन तुम्हारा कैसे हो सकता है?
मैंने सुना है, एक महल के पास पत्थरों का एक ढेर लगा था। और एक छोटा बच्चा खेलता आया और उसने एक पत्थर उठाकर महल की खिड़की की तरफ फेंका। पत्थर जब ऊपर उठने लगा तो पत्थर ने अपने नीचे पड़े हुए पत्थरों से कहा, सगे- संबंधियों से कहा, सुनो, जिन पंखों के तुमने सदा स्वप्न देखे, वे मेरे पैदा हो गये हैं। आज मैं आकाश में उड़ने के लिए जा रहा हूं।
स्वप्न तो पत्थर भी देखते हैं उड़ने के। उड़ नहीं पाते। मजबूरी में तड़पते हैं। आज इस पत्थर को अहंकार जगा। फेंका तो किसी ने था लेकिन पत्थर ने घोषणा की, कि देखते हो, सुनते हो? जिन पंखों के तुमने स्वप्न देखे वे मुझमें पैदा हो गये। आज मैं आकाश की यात्रा को जा रहा हूं। भेजा जा रहा था

लेकिन उसने कहा, जा रहा हूं। पहल उसके स्वयं के भीतर से न आई थी। प्रारंभ किसी और ने किया था, लेकिन प्रारंभ का मालिक वह स्वयं बन गया।
और फिर जब जाकर कांच की खिड़की से टकराया और कांच चकनाचूर हो गया तो खिलखिला कर अट्टहास करके हंसा। और उसने कहा, सुनते हो? हजार बार मैंने कहा है, हजार बार चेताया है, मेरे मार्ग में कोई न आये अन्यथा चकनाचूर कर दूंगा।
अब जब पत्थर कांच से टकराता है तो कांच चकनाचूर होता है, पत्थर करता नहीं। यह कांच और पत्थर के स्वभाव से घटता है कि कांच चकनाचूर होता है। फर्क समझ लेना होने में और करने में। पत्थर ने कुछ किया नहीं है। करने को क्या है? कांच टूटा है। पत्थर निमित्त है तोड़ने में, कर्ता नहीं है। लेकिन यह मौका कौन छोड़े? पत्थर यह मौका कैसे छोड़े? जैसे औरों ने घोषणायें की हैं, तुमने की हैं, उसने भी की: मेरे मार्ग में कोई न आये अन्यथा चकनाचूर कर दूंगा। आज मौका मिला है, घोषणा सही हो गई है, सही होती मालूम पड़ती। आज इस अवसर को चूक देना ठीक नहीं है। और कांच के टुकड़े कहें भी क्या? बात तो घट रही है, आंख के सामने घट रही है। पत्थर ने चकनाचूर कर ही दिया है। तो इनकार भी कहां है? प्रमाण भी कहां है इसके विपरीत? लेकिन फिर भी पत्थर ने कांच को चकनाचूर किया नहीं है, कांच चकनाचूर हुआ है। पत्थर जब कांच से टकराता है तो दोनों के स्वभाव से...और स्वभाव का नाम परमात्मा है। यह सहज हो रहा है। न कोई कर रहा है, न कुछ किया जा रहा है।
और जब कांच चकनाचूर हो गया और पत्थर जाकर महल के कालीन पर गिरा तो उसने सुख की सांस ली। उसने कहा, लंबी यात्रा की, थक भी गया हूं, दुश्मन को भी मारा, अब थोड़ा विश्राम कर लूं। गिरा है कालीन पर, लेकिन कहता है, थोड़ा विश्राम कर लूं।
और फिर मन में सोचने लगा, मेरे स्वागत में तैयारी की गई है। कालीन बिछाये गये। कोई मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। और तभी महल का नौकर पत्थर और कांच की टकराहट की आवाज और कांच का टूटना और पत्थर का गिरना सुनकर भागा हुआ आया। तो पत्थर ने मन में कहा, मालिक आता है स्वागत के लिए। और जब नौकर ने पत्थर को अपने हाथ में उठाया तो पत्थर ने कहा, धन्यवाद। हालांकि किसी ने सुना नहीं। पत्थर की भाषा अलग, आदमी की भाषा अलग।
नौकर ने तो फेंकने को उठाया है वापिस, लेकिन पत्थर ने कहा धन्यवाद, तुम्हारे स्वागत से मैं प्रसन्न हूं। हो भी क्यों न? मैं कोई साधारण पत्थर नहीं हूं, विशिष्ट हूं। कभी-कभी विरले ऐसे पत्थर होते हैं जिनके पंख निकलते हैं और जो आकाश में उड़ते हैं। पुराणों में सुनी है यह बात, देखने में आज-कल तो आती नहीं।
नौकर ने फेंक दिया पत्थर वापिस। फेंका गया है, लेकिन पत्थर कहने लगा,
घर की बहुत याद आती है। यात्रा बहुत लंबी हुई, समय भी बहुत व्यतीत हुआ, घर वापिस चलूं। और जब गिरने लगा पत्थरों की ढेरी में तो उसने कहा, देखो, लौट आया। यद्यपि महलों में मेहमान था, सम्राटों के हाथों का शृंगार बना। कैसे- कैसे स्वागत-समारंभ न हुए! तुम तो समझ भी न पाओगे। तुम तो कभी इस ढेरी से उठे नहीं, उड़े नहीं। आकाश की स्वच्छंदता, चांदत्तारों से मेल--सब जाना, सब देखा, लेकिन फिर भी घर अपना घर है। घर की बहुत याद आती थी। लौट आया हूं। पत्थर वापिस ढेरी में गिर गया।
ऐसी आदमी की भी कथा है। न तो प्रारंभ तुम्हारे हाथ में है और न अंत तुम्हारे हाथ में है। श्वास जब तक चलती है, चलती है; जब न चलेगी तो तुम क्या कर सकोगे? लेकिन तुम तो यह कहते हो, मैं श्वास ले रहा हूं। परमात्मा तुमसे श्वास लेता और तुम कहते हो, मैं श्वास ले रहा हूं। तुम श्वास ले रहे होओगे तो मौत द्वार पर आ जायेगी तब लेते रहना तो पता चलेगा कि कौन लेनेवाला था! मौत द्वार पर आयेगी तो तुम एक श्वास भी ज्यादा न ले सकोगे। जो श्वास बाहर गई तो बाहर गई; भीतर न लौटेगी। लाख तड़पो और चिल्लाओ। लाख शोरगुल मचाओ, श्वास वापिस न आयेगी। तुम लेना चाहोगे लेकिन ले न सकोगे।
श्वास तुम ले नहीं रहे हो, श्वास चल रही है। परमात्मा ले रहा है। परमात्मा का अर्थ है, यह समग्र। यह समग्र अपने अंश-अंश में तरंगायित है,

श्वास ले रहा है। ज्ञानी इसे ऐसा देख लेता है, जैसा है। अज्ञानी वैसा मान लेता है जैसा मानना चाहता है। वैसा नहीं देखता, जैसा है।
सर्वारंभेषु--सब कामों का जो प्रारंभ है, वहीं समझ लेने की बात है।
कृष्ण ने गीता में कहा है, फलाकांक्षा को प्रभु को समर्पित कर दो। यह सूत्र उससे भी गहरा है। क्योंकि यह कहता है, फलारंभ को प्रभु को समर्पित कर दो। फलाकांक्षा तो अंत में होगी, फल तो पीछे मिलेगा। कृष्ण कहते हैं फलाकांक्षा को प्रभु को समर्पित कर दो, अष्टावक्र कहते हैं फलारंभ को। क्योंकि अगर फलारंभ को समर्पित न किया तो तुम फलाकांक्षा को भी समर्पित न कर पाओगे। जो प्रारंभ में ही चूक गया वह बाद में कैसे सम्हलेगा? पहले कदम पर ही गिर गया, अंतिम कदम ठीक कैसे पड़ेगा? गणित तो शुरू से ही गलत हो गया।
भूल तो पहले ही हो गई।
इसलिए मैंने कृष्ण की गीता को गीता कहा है और अष्टावक्र की गीता को महागीता कहता हूं। ज्यादा गहरे जाती है। ज्यादा जड़ को, जड़मूल से पकड़ती है। आमूल उखाड़ देने का रूपांतरण संभव है।
प्रारंभ को परमात्मा पर छोड़ दो। और जिसने प्रारंभ छोड़ दिया, अंत तो छूट ही गया। जब प्रारंभ में ही तुम मालिक न रहे तो अब कैसे मालिक हो सकोगे? अब तो कोई जगह न बची। अब तो मालकियत कहीं पैर जमाकर खड़ी न हो सकेगी। तुमने जमीन ही खींच ली।
सर्वारंभेषु--सब कर्मों के प्रारंभ में। वह जो करने की वासना है कि मैं करूं; कि मैं दिखाऊं; कि मैं ऐसा हो जाऊं; कि ऐसा मुझसे घटित हो, वह छोड़ दो। उसे छोड़ते ही कोई ज्ञानी हो जाता है। उसे पकड़े ही आदमी अज्ञानी है। और अगर तुमने प्रारंभ न छोड़ा तो तुम लाख उपाय करो, तुम अंत भी न छोड़ सकोगे। कैसे छोड़ोगे? ये सब चीजें संयुक्त हैं। अगर तुमने कहा कि जन्म तो मैंने लिया है तो फिर तुम कैसे कहोगे कि मृत्यु घटी? क्योंकि जन्म और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक ही यात्रा के दो पड़ाव हैं। जिसके हाथ में जन्म है उसी के हाथ में मृत्यु है। अगर जन्म तुम्हारे हाथ में है तो मृत्यु भी तुम्हारे हाथ में है। और अगर जन्म तुम्हारे हाथ में नहीं है तो ही यह संभव है कि मृत्यु भी तुम्हारे हाथ में न हो। बीज भी तुम्हारे हाथ में नहीं है, फल भी तुम्हारे हाथ में नहीं।
कृष्ण कहते हैं फल को छोड़ दो, अष्टावक्र कहते हैं बीज को ही छोड़ दो न!
सब छूट गया। क्योंकि फिर बीज से ही निकलेगा वृक्ष। फिर वृक्ष में ही लगेंगे फल और फिर लगेंगे बीज। फल तक प्रतीक्षा करोगे, फल तक प्रतीक्षा करने में बीच में जो तुम गलत यात्रा करोगे वह इतनी सघन हो जायेगी, वह आदत इतनी मजबूत हो जायेगी कि तुम छोड़ न पाओगे।
इसलिए एक मजेदार घटना घटती है, कि गीता के भक्त जब फल बुरा हो जाता है
तब तो परमात्मा पर छोड़ देते हैं और जब फल अच्छा हो जाता है तो नहीं छोड़ पाते। शुभ को छोड़ना फिर मुश्किल हो जाता है। अशुभ को तो छोड़ देते हैं। मैंने सुना है, ऐसा एक गीताभक्त एक गांव में रहता था। उसने बड़ी सुंदर बगिया लगाई थी। और वह सबको बताता था अपनी बगिया कि देखो, ऐसे फूल किसी और बगीचे में नहीं खिलते और ऐसी हरियाली किसी और बगीचे में नहीं है। यह मेरी मेहनत का फल है। और रोज गीता पढ़ता था। भगवान ने सोचा कि यह गीता रोज पढ़ता, फलाकांक्षा त्यागो ऐसा चिंतन-मनन करता लेकिन "बगिया मैंने लगाई है।" इसके वृक्षों को हरा मैं कर रहा हूं लेकिन यह कहता है कि मैंने लगाई है। इसके वृक्षों पर फूल मैं लगा रहा हूं, लेकिन यह कहता है, मेरे फूल बड़े हैं। इसके वृक्षों पर वर्षा मैं करता, सूरज मैं बरसाता और यह कहता है कि मैंने यह सब इतना सुंदर...इतने सुंदर को जन्म दिया है।
तो भगवान आये एक दरिद्र ब्राह्मण के वेश में। पूछा उससे; उसने कहा कि मैंने लगाई है। आओ दिखायें। सब दिखाया। और तभी--भगवान ने व्यवस्था कर रखी थी--एक गाय उसके बगीचे में घुस गई। वह तो बगीचा दिखला रहा था, एक गाय बगीचे में घुस गई। वह तो पागल हो गया। उस गाय ने उसके सुंदरतम पौधे चर डाले; उसके गुलाब चर डाले। वह तो उठाकर एक लट्ठ दौड़ा, गाय को मार दिया। भूल ही गया कि ब्राह्मण हूं। भूल ही गया कि मैं बीच में न आऊं। जिसके फूल हैं उसी की गाय है। इतनी जल्दबाजी न करूं।

और जब गाय को मार दिया लट्ठ और गाय मर गई तो घबड़ाया, क्योंकि गौहत्या
तो भारी पाप! और इस आदमी ने भी देख लिया--यह जो भिखारी, जिसको वह घुमा रहा था। और उस भिखारी ने कहा, यह तुमने क्या किया? तो उस ब्राह्मण ने कहा, मैं करनेवाला कौन? अरे सब प्रभु कर रहा है। कहा नहीं गीता में भगवान ने कि हे अर्जुन! जिनको तू देखता है ये जीवित हैं, इनको मैं पहले ही मार चुका हूं। तू तो निमित्तमात्र है। यह गाय मरने को थी महाराज! मैंने मारी नहीं। मुझे तो निमित्त बना लिया है।
और वह भिखारी हंसने लगा। और उसने कहा कि तुझे निमित्त बनाया गाय को मारने में, और फूल खिलाने में तुझे निमित्त नहीं बनाया? वृक्षों को हरा बनाने में तुझे निमित्त नहीं बनाया? ये वृक्ष तूने लगाये हैं और गाय परमात्मा ने मारी?
मीठा-मीठा गप, कडुवा-कडुवा थू; ऐसा मन का तर्क है। अच्छा-अच्छा चुन लूं। अच्छे-अच्छे से अहंकार को सजा लूं, शृंगारित कर दूं, बुरे-बुरे को छोड़ दूं।
अष्टावक्र का सूत्र ज्यादा गहरा जाता है। अष्टावक्र कहते हैं प्रारंभ ही छोड़ दो। बीज से ही चलो। ठीक-ठीक पहले कदम से ही चलो। मूल से ही पकड़ो। यात्रा बदलनी है, अंत को अगर मंदिर तक ले जाना है तो पहले ही क्षण से पूजन, पहले ही क्षण से प्रार्थना, पहले ही क्षण से उतारो आरती, गुनगुनाओ गीत प्रभु का ताकि अंततः मंदिर बन जाये। ऐसे मत चलो कि जीवन भर तो मधुशालाओं में रहोगे, जुआघरों में, आखिरी क्षण में परमात्मा पर पहुंच जाओगे।
लोग बड़े चालाक हैं। वे कहते हैं फल छोड़ देंगे। लेकिन फल तुम न छोड़ सकोगे। जब तक कि तुमने आरंभ न छोड़ दिया, पहल न छोड़ी, तब तक फल भी न छूटेगा। "जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम है...।"
सर्वारंभेषु निष्कामो।
और जिसने प्रारंभ छोड़ा वही निष्काम है। काम में ही प्रारंभ छिपा है, कामना में। मैं करूं, मुझसे हो, मेरे द्वारा हो। दिखाऊं कि मैं कुछ हूं। "जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम है...।"
मुनि शब्द को भी समझ लेना जरूरी है। मुनि शब्द बनता मौन से। जो अब अपनी तरफ से बोलता भी नहीं वही मुनि है। अब प्रभु उपयोग करता है तो बोलता है, नहीं उपयोग करता तो चुप रह जाता है।
कूलरिज अंग्रेजी का बड़ा कवि मरा तो उसके घर में हजारों अधूरी कवितायें पड़ी मिलीं। और उसके मित्र उससे बार-बार कहते थे, ये कवितायें तुम पूरी क्यों नहीं कर देते हो? कोई कविता तो करीब-करीब पूरी हो गई है, एक पंक्ति अधूरी है। इसे तुम पूरा कर दो। इतनी सुंदर कविता, यह अधूरी रह जायेगी। कूलरिज कहता, जिसने शुरू की है वही पूरा करे। मैं पूरा करनेवाला कौन?
पहले मैंने कोशिश की थी। सब कोशिश व्यर्थ गई। कभी तीन पंक्तियां उतरती हैं एक चौपाई की, और चौथी नहीं उतरती। तो मैं पहले शुरू-शुरू में जब सिक्खड़ था, जवान था, अहंकारी था, अंधा था तब चौथी को बना-बनूकर बिठा देता था। तोड़-मोड़कर जमा देता था। लेकिन मैंने बार-बार पाया कि वह चौथी बड़ी साधारण होती थी। वे तीन तो होतीं अपूर्व, और वह चौथी एक गंदे धब्बे की तरह उन तीन की शुभ्रता को नष्ट करती। वे तीन तो होतीं आकाश की और वह चौथी होती जमीन की। उनमें कोई तालमेल न होता। वे तीन तो होतीं परमात्मा की, वह एक होती मेरी। उससे वे तीन भी लंगड़ा जातीं। फिर मैंने तय कर लिया कि वही रचायेगा, वही रचेगा। उतना ही रचूंगा, उतना ही होने दूंगा। अब तो मैं सिर्फ प्रतीक्षा करता। अब तो मैं उसके हाथ का एक उपकरण हूं। जब वह गुनगुनाता है, तो लिख लेता हूं। जितनी गुनगुनाता है उतनी लिख लेता हूं। अगर तीन की उसकी मर्जी है तो तीन ही सही। इन्हें अशुद्ध न करूंगा।
कूलरिज ने केवल सात कवितायें पूरी कीं अपने जीवन में। अनूठी हैं। और कोई चालीस हजार कविताएं अधूरी छोड़कर मरा। वे सब अनूठी हो सकती थीं, लेकिन कूलरिज बड़ा ईमानदार कवि था। उसे ऋषि कहना चाहिए, कवि कहना ठीक नहीं। वह कोई तुकबंद नहीं था, ऋषि था। ठीक उपनिषद के ऋषियों जैसा ऋषि था। जो उतरा,

उतर आने दिया। जितना उतर सका उतना ही उतरा। उससे ज्यादा नहीं उतरा, नहीं उतरा। प्रभु-मर्जी!
मुनि का अर्थ होता है, जो अपनी तरफ से बोलता भी नहीं। और तो बात और, जो अपनी तरफ से हां-ना भी नहीं कहता। जब तुम किसी ज्ञानी से कुछ पूछते हो तो ज्ञानी परमात्मा से पूछता है। तुम्हें शायद यह दिखाई भी न पड़े क्योंकि यह अगोचर है। यह दृश्य तो नहीं है। तुम ज्ञानी से पूछते हो, ज्ञानी परमात्मा के चरणों में तुम्हारे प्रश्न को निवेदन कर देता है। फिर जो उत्तर बहता है, बहता है।
यह उत्तर ज्ञानी से आता है लेकिन ज्ञानी का नहीं है। वाणी ज्ञानी से फूटती है लेकिन ज्ञानी की नहीं है।
मुनि का अर्थ होता है, जो अपनी तरफ से तो शून्यवत हो गया। और जब कोई शून्यवत हो जाता है, परम मौन हो जाता है, तभी तो परमात्मा बोल पाता है। जब तक तुम्हारे भीतर शोरगुल है, जब तक तुम्हारी ही तरंगें तुम्हें भरे हुए हैं तब तक उसकी छोटी-छोटी, धीमी-धीमी फुसफुसाहट सुनाई न पड़ेगी। जब तक तुम पागल हो अपने विचारों से तब तक उसके मधुर स्वर तुमसे बह न सकेंगे। तुम उनके लिए मार्ग न बन सकोगे।
सर्वारंभेषु निष्कामो यः चरेत् बालवन्मुनिः।
और बालवत इस शब्द को भी खयाल में ले लेना।
"जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम है और बालवत व्यवहार करता है।"
बालक के क्या लक्षण हैं? एक: कि बालक अज्ञानी है। ज्ञानी भी अज्ञानी है। तुम बहुत चौंकोगे। क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी तो विरोधाभास मालूम पड़ेगा। लेकिन मैं तुम्हें कहता हूं, ज्ञानी अज्ञानी है। ज्ञानी कुछ जानता नहीं। जितना परमात्मा जना देता है, बस ठीक। ज्ञानी अपनी तरफ से नहीं जानता। ज्ञानी पंडित नहीं है। पंडित कभी ज्ञानी नहीं हो पाता। पापी भी पहुंच जायें, पंडित कभी नहीं पहुंचते। पंडित तो भटकते रह जाते हैं। पंडित में तो एक दंभ होता है कि मैं जानता हूं। ज्ञानी को इतना ही बोध होता है कि मैं क्या जानता हूं! मैं हूं ही नहीं, जानूंगा कैसे? जानना कहां संभव है? ज्ञानी बालवत है। उसने अपने अज्ञान को स्वीकार कर लिया है, कि तुम जनाओगे उतना ही जान लूंगा। तुम जितना दिखाओगे उतना ही देख लूंगा। मेरे पास न तो अपनी आंख है, न अपने कान हैं, न मेरे पास अपनी प्रतिभा है। मेरे पास अपना कुछ भी नहीं। तुम ही मेरे धन हो। मैं तो हूं ही नहीं। मैं तो सिफर, मैं तो एक शून्य। तुम जितने इस शून्य से प्रगट हो जाओगे उतना ही मैं प्रगट होने लगूंगा। लेकिन तुम ही प्रगट हो रहे हो।
सुकरात ने कहा है कि जिस दिन मैंने जाना कि मैं कुछ भी नहीं जानता उसी दिन ज्ञान की पहली किरण उतरी। उपनिषद कहते हैं, जो कहे जानता हूं, जान लेना नहीं जानता। लाओत्सु ने कहा है, जानने का दंभ केवल उन्हीं में होता है जिन्हें अभी कुछ भी पता नहीं चला है। जाननेवालों में जानने का खयाल ही तिरोहित हो जाता है। जाननेवालों को "जानता हूं," ऐसा बोध ही नहीं उठता। यह तो अज्ञान का ही हिस्सा है।
अब तुम्हें खयाल में आ सकती है बात। अज्ञानी को ही यह बोध उठता है कि मैं जानता हूं। क्योंकि मैं अज्ञान में ही सघनीभूत होता है। ज्ञानी को बोध नहीं होता कि मैं जानता हूं। और ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी जानता नहीं।
विरोधाभासी है यह, लेकिन जीवन बड़ा विरोधाभासी है ही। यहां जिनको अकड़
है जानने की उनके पास कुछ भी नहीं। और जिन्हें न जानने का भाव है उनके पास सब कुछ है। यहां जिनको धनी होने का दंभ है वे निर्धन हैं। और जिन्हें अपने निर्धन होने का पता चल गया उन्हें धन मिल गया। यहां जो अकड़े हैं, दो कौड़ी के हैं। यहां जिन्होंने अकड़ छोड़ दी, अमूल्य हो गये। किसी मूल्य से अब कूते नहीं जा सकते। यहां जो हैं, नहीं हैं। और जो नहीं हो गये उनके जीवन में होने की पहली किरण उतरी। धीरे-धीरे सूरज भी उतरेगा। मिटो, अगर चाहो होना। तो पहली बात बालवत में--अज्ञान। ज्ञानी बच्चों जैसा अज्ञानी है। थोड़ा-सा फर्क है, इसलिए बालवत कहते हैं, बालक नहीं कहते। बालवत का अर्थ हुआ बच्चे जैसा; बच्चा ही नहीं।

जीसस का प्रसिद्ध वचन है। किसी ने पूछा एक बाजार में कि कौन पहुंचेगा प्रभु के राज्य में? तो उन्होंने चारों तरफ नजर डाली; सामने ही भीड़ में गांव का रबाई खड़ा था, पंडित-पुरोहित खड़े थे, धनी-मानी खड़े थे, उन्होंने सोचा शायद हमारी तरफ इशारा करें, शायद हमारी तरफ इशारा करें। लेकिन जीसस ने एक छोटा बच्चा जो भीड़ में खड़ा था उसे कंधे पर उठा लिया और कहा, जो इस बच्चे की भांति होंगे, वे मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश करेंगे।
इस बच्चे की भांति! यह नहीं कहा कि बच्चे प्रभु के राज्य में प्रवेश करेंगे। नहीं तो फिर सभी बच्चे प्रवेश कर जायें। बच्चे की भांति--फर्क खयाल में ले लेना। बच्चे जैसे फिर भी बच्चे जैसे नहीं। कुछ-कुछ बच्चे जैसे, कुछ-कुछ कुछ और। बालवत।
तो क्या फर्क है? बच्चा अज्ञानी है लेकिन उसे अपने अज्ञान का कोई पता नहीं। ज्ञानी भी अज्ञानी है लेकिन ज्ञानी को अपने अज्ञान का पता है। यहीं भेद है। उसी पता में सब पता चल गया। बच्चा अज्ञानी है, सिर्फ अज्ञानी है, अबोध भी है। अज्ञान+अबोध--बच्चा। अज्ञान+बोध--ज्ञानी। फर्क जो है, बोध और अबोध का है। बच्चा सोया हुआ है, ज्ञानी जागा हुआ है। बच्चे को भी कुछ पता नहीं है, ज्ञानी को कुछ पता नहीं है। लेकिन बच्चे को यह भी पता नहीं है कि मुझे कुछ पता नहीं है। इसलिए बच्चा जल्दी ही चक्कर में पड़ेगा। जैसे-जैसे उसे पता चलने लगेगा, वह सोचने लगेगा, अब मैं जानने लगा...अब मैं जानने लगा। अब इतना जान लिया, अब देखो कालेज से लौट आया, अब युनिवर्सिटी से लौट आया। ऐसे ही उद्दालक का बेटा एक दिन लौटा गुरुकुल से। सब शास्त्र जानकर लौटा, सब वेद कंठस्थ करके लौटा। और बाप ने जब उसे आया हुआ देखा तो बाप बड़ा दुखी हुआ। बाप की आंखों में आंसू आ गये। क्योंकि यह तो अकड़कर चला आ रहा है। ज्ञानी तो अकड़कर कैसे आयेगा? ज्ञानी तो विनम्र हो जाता है। और यह बेटा तो अकड़ा चला आ रहा है।
अकड़कर आने का कारण था। वह सारे गुरुकुल में प्रथम आया था। उसने बड़े पुरस्कार जीते थे। वह सब शास्त्रों में पारंगत होकर आ रहा था। वह सोचता था, बाप मेरी पीठ थपथपायेंगे, लेकिन बाप उदास बैठ गये। जब वह आकर सामने खड़ा हुआ तो उसकी अकड़ ऐसी थी कि अपने बाप के पैर भी न छू सका। अब क्या छुए? उसको ऐसा लगा होगा, यह बाप तो अज्ञानी है, मैं तो ज्ञानी होकर लौटा।
अक्सर ऐसा होता है। जब कालेजऱ्युनिवर्सिटी से लड़के लौटते हैं तो सोचते हैं, यह बाप भी कुछ नहीं जानता। बेपढ़ा-लिखा!
पैर भी नहीं छुए श्वेतकेतु ने। खड़ा हो गया। उद्दालक ने कहा, बेटे, तूने वह जाना जिसको जानने से सब जान लिया जाता है?
उसने कहा, यह कौन-सी बात कही? यह तो कोई पाठयक्रम में था ही नहीं। वह, जिसे जानने से सब जान लिया जाता है? इसकी तो गुरु ने कभी बात नहीं की। वेद जाने, इतिहास जाना, पुराण जाना, व्याकरण, भाषा, गणित, भूगोल--जो-जो था, सब जानकर आ रहा हूं। यह तो बात ही कभी नहीं उठी इतने वर्षों में--उस एक को जाना, जिसे जानने से सब जान लिया जाता है?
तो उद्दालक ने कहा, तो फिर तू वापिस जा बेटे। क्योंकि हमारे घर में नाम के ही ब्राह्मण नहीं होते रहे। हमारे घर में सच के ब्राह्मण होते रहे हैं, नाममात्र के नहीं। ब्रह्म को जानकर हमने ब्राह्मण होने का रस लिया है। ब्राह्मण घर में पैदा होकर हम ब्राह्मण नहीं रहे हैं। हमने ब्रह्म को चखा है। तू जा। तू उस एक की खोज कर।
तो एक तो ज्ञान है, जो बाहर से मिल जाता। तुम उसे इकट्ठा कर लेते हो।
जो बाहर से मिलता है, बाहर ही रहेगा। जो बाहर का है, बाहर का है। वह कभी भीतर का न बनेगा। वह कभी तुम्हारे अंतश्चैतन्य को जगायेगा नहीं। वह तुम्हारे अंतर्गृह की ज्योति न बनेगा। उधार है, उधार ही रहेगा। बासा है, बासा ही रहेगा। इकट्ठा कर लिया है उच्छिष्ट, लेकिन तुमने स्वयं नहीं जाना है। यह जो स्वयं को जानना है, एक को जानना है, वह जो एक भीतर छिपा है उसको जानना है। उसके जानने से ही सब जान लिया जाता है।
लेकिन हर बच्चा जायेगा स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटी, खूब ज्ञान इकट्ठा करेगा, उपाधियां इकट्ठी करेगा। और सब उपाधियां अंततः उपाधि ही सिद्ध होती हैं, व्याधि ही सिद्ध होती हैं। लेकिन इकट्ठी करेगा। यह तो भटकेगा अभी।

ज्ञानी का बालवत होना किसी और अर्थ में है। वह सब जानकर अब इस नतीजे
पर पहुंचा है कि इस जानने से कुछ भी नहीं जाना जाता। जानकर सब उसने ज्ञान को कूड़े-करकट की तरह कचरेघर में फेंक दिया है। अब वह फिर अबोध हो गया, फिर बालवत हो गया। घूम आया सब संसार में, पाया कुछ भी नहीं। हाथ खाली के खाली रहे।
यह जानकर अब उसने जानने में ही रस छोड़ दिया है। अब तो वह कहता है, जानने से क्या होगा? अब तो हम उसी को जान लें जो सबको जानता है। अब तो हम ज्ञाता को जान लें; ज्ञान से क्या होगा? दृश्य में बहुत भटके, अब हम द्रष्टा को जान लें। यह जो भीतर छिपा सबका जाननेवाला है, इसको ही पहचान लें।
बालवत--एक बात।
दूसरी बात: बच्चे में एक खूबी है कि जो भी घटता वह क्षण के पार नहीं जाता। तुमने बच्चे को डांट दिया, वह नाराज हो गया, आंखें उसकी लाल हो गईं, पैर पटकने लगा, क्रोध से भर गया। तुमसे कहा, अब सदा के लिए तुमसे दुश्मनी हो गई। अब कभी तुम्हारा चेहरा न देखेंगे। और घड़ी भर बाद बाहर घूमकर आया, सब भूल-भाल गया, तुम्हारी गोद में बैठ गया।
उसमें जो भी होता वह क्षण के लिए है। रुकता नहीं, बह जाता है। पकड़कर नहीं रह जाता। गांठ नहीं बनती है बच्चे में, तुममें गांठ बंध जाती है। किसी ने अपमान कर दिया, गांठ बंध गई। अब यह हो सकता है, बीस साल पहले अपमान किया था, गांठ अभी भी बंधी है। पचास साल पहले किसी ने गाली दी थी, गांठ अभी भी बंधी है। गाली देनेवाला जा चुका, गांठ रह गई।
और ऐसी गांठ पर गांठ बंधती जाती है। और तुम बड़े गठीले हो जाते हो, बड़े जटिल हो जाते हो। बच्चा सरल है, उस पर गांठ नहीं बंधती। बच्चा पानी की तरह है।
ऐसे समझो तुम पानी पर एक लकीर खींचो, तुम खींच भी नहीं पाते, मिट गई। रेत पर लकीर खींचो, थोड़ी देर टिकती है। हवा का झोंका आयेगा तब मिटेगी। या कोई इस पर चलेगा तब मिटेगी। पत्थर पर लकीर खींचो, फिर हवा के झोंकों से भी न मिटेगी, सदियों तक रहेगी।
छोटा बच्चा पानी जैसा है। पानी जैसा सरल, तरल। खींची लकीर, खिंच भी न पाई कि मिट गई। कुछ बनता नहीं। खाली रह जाता है। आती हैं, जाती हैं लहरें, दाग नहीं छूटते। उसकी निर्दोषता, उसका कुंआरापन कायम रहता है। जिस दिन तुम्हारे मन में गांठ पड़ने लगती है, बस उसी दिन बचपन गया।
लोग मुझसे पूछते हैं, किस दिन बचपन गया? उस दिन बचपन गया जिस दिन गांठ पड़ने लगी। तुम पीछे लौटकर देखो। तुम याद करो कि तुम्हें सबसे आखिरी कौन-सी बात याद आती है अपने बचपन में। तो तुम जा सकोगे चार साल की उम्र तक; या बहुत गये तो तीन साल की उम्र तक। जहां तुम्हें स्मृति की यात्रा में अंतिम पड़ाव आ जाये कि इसके बाद कुछ याद नहीं आती, समझना कि उसी दिन गांठ पड़ी। गांठ की याद आती है और किसी चीज की याद आती ही नहीं। इसलिए तीन-चार साल की उम्र तक याद नहीं बनती। क्योंकि गांठ ही नहीं बनती तो याद कैसे बनेगी?
याद बनती है तब, जब तुम गांठों को सम्हालकर रखने लगे। किसी ने गाली दी
और तुमने इसको संपत्ति सम्हालकर रख लिया कि बदला लेकर रहेंगे। अब यह बात कभी मिटेगी नहीं। पानी न रहे तुम, अब तुम जम गये। अब तुम्हारे ऊपर रेखायें खिंचने लगीं। अब तुम्हारा कुंआरापन नष्ट हुआ। अब तुम कुंआरे न रहे। अब तुम्हारी कोमलता गई, तुम्हारी तरलता गई। अब तुम बच्चे न रहे।
ज्ञानी फिर बालवत हो जाता, फिर पानी जैसा हो जाता। तुम गाली दे गये, बात आई-गई, खतम हो गई।
बुद्ध के ऊपर एक आदमी आकर थूक गया। तो उन्होंने अपनी चादर से अपना मुंह पोंछ लिया। और मुंह पोंछकर उस आदमी से कहा, और कुछ कहना है भाई? जैसे उसने कुछ कहा हो! उसने थूका है। आनंद तो बड़ा नाराज हो गया। आनंद है बुद्ध का शिष्य। उसने तो कहा कि प्रभु मुझे आज्ञा दें तो इसकी गर्दन तोड़ दूं। पुराना क्षत्रिय! संन्यासी हुए भी आज उसको बीस वर्ष हो गये लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है, गांठें आसानी से थोड़े ही छूटती हैं। उसकी भुजायें फड़क

उठीं। उसने कहा कि हद हो गई। यह आदमी आपके ऊपर थूके और हम बैठे देख रहे हैं। आप जरा आज्ञा दे दें। आपका संकोच हो रहा है, इसकी गर्दन तोड़ दूं। बुद्ध ने कहा, इस आदमी ने थूका उससे मुझे हैरानी नहीं होती, लेकिन तेरी बात से मुझे बड़ी हैरानी होती है। आनंद, बीस साल तुझे हुए हो गये मेरे पास, तेरी पुरानी आदतें न गईं? और मैं यह कह रहा हूं कि इस आदमी ने कुछ कहना चाहा है। कई बार ऐसा हो जाता है कि कहने को शब्द नहीं मिलते तो इसने थूककर कहा है। यह कुछ कहना चाहता था। भाषा में बहुत कुशल न होगा, गाली-गलौज देना ठीक से आता न होगा या गाली जो आती होंगी उनसे काम न चलता होगा। इसकी मजबूरी तो समझ। यह कुछ कहना चाहता था।
कई बार ऐसा होता है, तुम किसी को गले लगाते हो, क्योंकि तुम कुछ कहना चाहते थे, जो शब्दों में नहीं आता था। तुम किसी का हाथ लेकर दबाते हो; तुम कुछ कहना चाहते थे जो शब्दों में नहीं आता, हाथ दबाकर कहते हो। तुम किसी के गले में फूल की माला डाल देते हो; कुछ कहना चाहते थे, नहीं कहा जा पाता तो फूल से कहते हो। कभी कुछ कहना चाहते हो, आंख आंसुओं से नम हो जाती है। कहना चाहते थे, नहीं कह पाये, आंख आंसुओं से कहती है। यह आदमी कुछ कहना चाहता था। कोई कांटा इसके भीतर गड़ रहा है। थूककर इसने फेंक लिया, चलो यह निर्भार हुआ।
वह आदमी खड़ा ये सब बातें सुन रहा है। वह तो बड़ा मुश्किल में पड़ गया। वह
तो वहां से भागा घर। वह तो चादर ओढ़कर सो रहा। उसको तो भारी पश्चात्ताप होने लगा, वह तो रोने लगा। वह दूसरे दिन क्षमा मांगने आया। वह बुद्ध के चरणों पर गिर पड़ा। उसने कहा, मुझे क्षमा कर दें।
बुद्ध ने कहा, पागल! क्षमा कौन करे? जिसको तूने गाली दी थी वह अब है कहां? चौबीस घंटे में गंगा बहुत बह गई। जिस गंगा को तू गाली दे गया था वह गंगा अब है कहां? तूने मुझे गाली दी थी, चौबीस घंटे हो गये। बात आई-गई हो गई। पानी पर खिंची लकीरें टिकती तो नहीं। अब तू क्षमा मांगने किससे आया है? अब मैं तुझे क्षमा कैसे करूं? मैंने कोई गांठ नहीं बांधी। बांधता तो खोलता। अब मैं क्या खोलूं? मैं तुझसे इतना ही कह सकता हूं, तू भी अब यह गांठ मत बांध। बात आई-गई हो गई। आया हवा का झोंका, चला गया। अब तू पश्चात्ताप भी मत कर।
यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है बुद्ध ने कही: अब तू पश्चात्ताप भी मत कर।
मेरे पास लोग आते हैं। कोई कहता है, हम क्रोध करते हैं फिर पश्चात्ताप करते हैं। लेकिन फिर क्रोध हो जाता है, फिर पश्चात्ताप करते हैं, फिर क्रोध हो जाता है। हम क्या करें? मैं उनसे कहता हूं, तुमने क्रोध छोड़ने की जीवन भर कोशिश की। अब कृपा करके इतना करो, पश्चात्ताप छोड़ दो। वे कहते हैं, इससे क्या लाभ होगा? पश्चात्ताप कर-करके क्रोध नहीं छूटा और आप हमें और उल्टी शिक्षा दे रहे हैं--पश्चात्ताप छोड़ दो। मैं उनसे कहता हूं, तुम कुछ तो छोड़ो। पश्चात्ताप छोड़ो; क्रोध तो छूटता नहीं। एक उपाय करके देखो। क्योंकि पश्चात्ताप ही हो सकता है, क्रोध को बनाये रखने में ईंधन का काम कर रहा है।
तुमने किसी को गाली दी, क्रोध हो गया। घर आये, सोचा यह तो बड़ी बुरी बात
हो गई। तुम्हारे अहंकार की प्रतिमा खंडित हुई। तुम सोचते हो, तुम बड़े सज्जन, संतपुरुष! तुमसे गाली निकली? यह होना ही नहीं था। अब तुम पश्चात्ताप करके लीपापोती कर रहे हो। वह जो गाली ने तुम्हारी प्रतिमा पर काले दाग फेंक दिये, उनको धो रहे हो पश्चात्ताप करके कि मैं तो भला आदमी हूं। हो गया, मेरे बावजूद हो गया। करना नहीं चाहता था, हो गया। परिस्थिति ऐसी आ गई कि हो गया। चूक हो गई लेकिन चूक करने की कोई मंशा न थी। देखो पश्चात्ताप कर रहा हूं, अब और क्या करूं? पश्चात्ताप करके तुमने फिर पुताई कर ली। फिर तुम उसी जगह पर पहुंच गये जहां तुम क्रोध करने के पहले थे। अब तुम फिर क्रोध करने के लिए तैयार हो गये। अब फिर तुम सज्जन, साधुपुरुष हो गये।
मैं तुमसे कहता हूं, कम से कम पश्चात्ताप न करो। इतनी गांठ क्या बांधनी! हो गया सो हो गया। और तुम चकित होओगे, अगर तुम पश्चात्ताप छोड़ दो तो दुबारा क्रोध न कर सकोगे। क्योंकि पश्चात्ताप अगर छोड़ दो तो तुम

दुबारा संत और साधुपुरुष न हो सकोगे। तुम जानोगे मैं बुरा आदमी हूं, क्रोध मुझसे होता है।
यह बड़ा भारी अनुभव होगा। तुम धोखा न दे सकोगे अपने को। तुम जाकर अपने मित्रों को कह दोगे कि भाई, मैं बुरा आदमी हूं, कभी-कभी गाली भी देता हूं-- बावजूद नहीं, मुझसे ही होती है; निकलती है। क्षमा क्या मांगूं? आदमी बुरा हूं। तुम सोच-समझकर ही मुझसे संबंध बनाओ। तुम जाकर घोषणा कर दोगे वृहत संसार में कि मैं बुरा आदमी हूं, मुझसे जरा सावधान रहो। दोस्ती मत बनाना, कभी न कभी बुरा करूंगा। काटूंगा। काटना मेरी आदत है।
अगर तुम ऐसी घोषणा कर सको तो देखते हो कैसी क्रांति घटित न हो जाये! तुम्हारा अहंकार तुमने खंडित कर दिया। क्रोध तो अहंकार से उठता है। जितना तुम्हारा अहंकार चला जाये उतना ही क्रोध नहीं उठता। और पश्चात्ताप अहंकार को मजबूत करता है। इसलिए पश्चात्ताप से कभी किसी का क्रोध नहीं जाता।
बुद्ध ने उस आदमी को कहा, तू पश्चात्ताप छोड़। जैसा मैंने छोड़ दिया, तू
भी छोड़। न मैंने गांठ बांधी, न तू बांध। जो हुआ, हुआ। अब क्या लेना-देना? अतीत तो जा चुका, अब उसे क्या खींचना! स्नान कर ले! यह धूल-धवांस धो डाल। राह की यह धूल अब ढोनी ठीक नहीं।
अगर तुम समझो तो ध्यान का यही अर्थ होता है: स्नान। रोज-रोज ध्यान कर लो, अर्थात रोज-रोज स्नान कर लो ताकि जो धूल जम गई है वह बह जाये। जैसे शरीर पर जमी धूल स्नान से बह जाती है ऐसे मन पर जमी धूल ध्यान से बह जाती है। तुम फिर ताजे हो गये, फिर बालवत हो गये।
तो बच्चा निर्दोष है। ज्ञानी निर्दोष है।
"जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम और बालवत व्यवहार करता है, उस शुद्ध चित्त के किए हुए कर्म भी उसे लिप्त नहीं करते हैं।"
फिर कर्म भी करता है, लेकिन कर्ता तो रहा नहीं इसलिए किसी कर्म से कोई लेप नहीं लगता। किसी कर्म के कारण लिप्त नहीं होता। यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है।
तुमने शब्द सुना है, कर्मबंध। लेकिन अगर ठीक से समझो तो वह शब्द ठीक नहीं है। क्योंकि कर्म से कोई बंध नहीं होता, बंध होता है कामना से। कर्म से बंध नहीं होता। अन्यथा कृष्ण अर्जुन से न कहते कि तू उतर युद्ध में, कर कर्म। नहीं कहते, अगर कर्म से बंध होता। नहीं, काम से बंध होता। तो कहा, फलाकांक्षा छोड़ दे फिर उतर। तूने फलाकांक्षा छोड़ दी तो तू उतरा ही नहीं, परमात्मा ही उतरा।
और वही अष्टावक्र कहते हैं। और भी गहराई से कहते हैं: सर्वारंभेषु निष्कामो। हर काम के प्रारंभ में कामना न हो इतना ध्यान रहे। कर्म चलने दो। कर्म तो जीवन का स्वभाव है। कर्म तो रुकेगा नहीं। कर्म की यात्रा होती रहे। लेकिन तुम? तुम भीतर से शून्य हो जाओ। तुम मत करो, होने दो।
कर्म से कोई नहीं बंधता, कामना में बंधन है। इसलिए कर्मबंध से ज्यादा ठीक शब्द है, कामबंध।
बुद्ध भी कर्म करते हैं ज्ञानी हो जाने के बाद; चालीस वर्ष तक कर्म किया। महावीर भी कर्म करते हैं ज्ञानी हो जाने के बाद, कृष्ण भी करते हैं, मोहम्मद भी करते हैं, जीसस भी करते हैं। कर्म नहीं रुकता। हां, कर्म का गुण बदल जाता है। अब कर्ता नहीं रहा पीछे।
"वही आत्मज्ञानी धन्य है जो मन का निस्तरण कर गया है और जो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, सब भावों में एकरस है।" स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः।।
निस्तर्षमानसः--जो मन के पार हो गया है वही धन्य है। जो निस्तरण कर गया है।
हम तो शरीर से भी पार नहीं होते। भूख लगती है तो हम कहते हैं, मुझे भूख लगी है। तुम भलीभांति जानते हो कि भूख शरीर को लगी है, तुम्हें नहीं लगी। तुम तो जाननेवाले हो, जो जान रहा है कि शरीर को भूख लगी है। सिर में दर्द होता है, तुम कहते हो मुझे पीड़ा हो रही है। तुम भलीभांति जानते हो, पीड़ा

तुम्हें हो नहीं सकती। तुम तो जाननेवाले हो, पीड़ा तो शरीर को हो रही है। किसी ने गाली दी, क्षुब्ध हुए। क्षोभ तो मन में होता है, तुम्हें नहीं होता। तुम तो जाननेवाले हो, मन के पीछे खड़े। साक्षी हो; जो देख रहा है कि मन क्षुब्ध हुआ। किसी ने गाली का पत्थर फेंका, मन के सागर में लहरें उठ गईं। मन की झील तरंगित हो गई। तुम तो देख रहे। जैसे किनारे पर बैठा कोई देखता हो कि किसी ने पत्थर फेंका झील में, और झील में लहरें उठ गईं। ऐसा तुम पीछे बैठे किनारे पर देख रहे; किसी ने गाली फेंकी और मन में तरंगें उठ गईं।
तुम मन नहीं हो। न तुम देह, न तुम मन। तुम दोनों के पार हो--कुछ अपरिभाष्य। लेकिन एक बात सुनिश्चित है, तुम जागृति हो, बोध हो, होश हो। इस बोध को पा लेने से ही तो किसी को हम बुद्धपुरुष कहते हैं। इस साक्षीभाव को उपलब्ध हो जाने का ही नाम निस्तरण है।
निस्तर्षमानसः।
"वही आत्मज्ञानी धन्य है जो मन का निस्तरण कर गया।"
जो मन से तैरकर आगे निकल गया या मन के पीछे निकल गया। मन से पार हो गया। मन की धार में जो नहीं खड़ा है वही ज्ञानी धन्य है।
"ऐसा ज्ञानी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, सब भावों में एकरस है।"
सुख आये, दुख आये, जो मन के पार हो गया है उसे न सुख आता न दुख आता। दोनों मन में घटते हैं। न सुख से सुखी होता, न दुख से दुखी होता। कोई फूल फेंके कि गालियां बरसाये, सफलता मिले कि विफलता, कांटे चुभें कि फूलों की सेज कोई बिछाये, ज्ञानी दोनों अवस्थाओं में समरस।
एक बुलबुल का जला कल आशियाना जब चमन में
फूल मुस्काते रहे छलका न पानी तक नयन में
सब मगन अपने भजन में था किसी को दुख न कोई
सिर्फ कुछ तिनके पड़े सिर धुन रहे थे उस हवन में
हंस पड़ा मैं देख यह तो एक झरता पात बोला
हो मुखर या मूक, हाहाकार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक, तुझ पर यहां अधिकार सबका है बराबर
है अदा यह फूल की छूकर उंगलियां रूठ जाना स्नेह है यह शूल का चुभ उम्र छालों की बढ़ाना मुश्किलें कहते जिन्हें हम राह की आशीष हैं वे
और ठोकर नाम है बेहोश पग को होश आना
एक ही केवल नहीं है, प्यार के रिश्ते हजारों
इसलिए हर अश्रु को उपहार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक, तुझ पर यहां अधिकार सबका है बराबर
सुख है, दुख है। जीवन है, मृत्यु है। मित्र हैं, शत्रु हैं। दिन है, रात है। सबका अधिकार बराबर। न तुम मांगो सुख, न तुम मांगो कि दुख न हो। तुम मांगो ही मत। जो आ जाये, तुम समरस साक्षी रहो।
धन्य है वही दशा जो सब भावों में एकरस है; जिसे कुछ भी कंपित नहीं करता; जो निष्कंप है; जो अडोल अपने केंद्र पर थिर है।
इस शब्द को याद रखना: निस्तर्षमानसः। मन के पार जाना, उन्मन होना। जिसको झेन फकीर नो माइंड कहते हैं।
एक ऐसी दशा अपने भीतर खोज लेनी है जहां कुछ भी स्पर्श नहीं करता। और वैसी दशा तुम्हारे भीतर छिपी पड़ी है। वही तुम्हारी आत्मा। और जब तक हमने जाना तो हमने उस एक को नहीं जाना, जिसे जानने से सब जान लिया जाता है। उस एक को जानने से फिर द्वंद्व मिट जाता है। फिर दो के बीच चुनाव नहीं रह जाता, अचुनाव पैदा होता है। उस अचुनाव में ही आनंद है, सच्चिदानंद है।
जनक के जीवन में एक उल्लेख है। जनक रहते तो राजमहल में थे, बड़े ठाठ-बाट से। सम्राट थे और साक्षी भी। अनूठा जोड़ था। सोने में सुगंध थी। बुद्ध साक्षी हैं यह कोई बड़ी महत्वपूर्ण बात नहीं। महावीर साक्षी हैं यह कोई

बड़ी महत्वपूर्ण बात नहीं, सरल बात है। सब छोड़कर साक्षी हैं। जनक का साक्षी होना बड़ा महत्वपूर्ण है। सब है और साक्षी हैं।
एक गुरु ने अपने शिष्य को कहा कि तू वर्षों से सिर धुन रहा है और तुझे कुछ समझ नहीं आती। अब तू मेरे बस के बाहर है। तू जा, जनक के पास चला जा। उसने कहा कि आप जैसे महाज्ञानी के पास कुछ न हुआ तो यह जनक जैसे अज्ञानी के पास क्या होगा? जो अभी महलों में रहता, वेश्याओं के नृत्य देखता; और मैंने तो सुना है कि शराब इत्यादि भी पीता है। आप मुझे कहां भेजते हैं? लेकिन गुरु ने कहा, तू जा!
गया शिष्य। बेमन से गया। न जाना था तो गया, क्योंकि गुरु की आज्ञा थी
तो आज्ञावश गया। था तो पक्का कि वहां क्या मिलेगा। मन में तो उसके निंदा थी। मन में तो वह सोचता था, उससे ज्यादा तो मैं ही जानता हूं। और जब वह पहुंचा तो संयोग की बात, जनक बैठे थे, वेश्यायें नृत्य कर रही थीं, दरबारी शराब ढाल रहे थे। वह तो बड़ा ही नाराज हो गया। उसने जनक को कहा, महाराज, मेरे गुरु ने भेजा है इसलिए आ गया हूं। भूल हो गई है। क्यों उन्होंने भेजा है, किस पाप का मुझे दंड दिया है यह भी मैं नहीं जानता। लेकिन अब आ गया हूं तो आपसे यह पूछना है कि यह अफवाह आपने किस भांति उड़ा दी है कि आप ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं? यह क्या हो रहा है यहां? यह राग-रंग चल रहा है। इतना बड़ा साम्राज्य, यह महल, यह धन-दौलत, यह सारी व्यवस्था, इस सबके बीच में आप बैठे हैं तो ज्ञान को उपलब्ध कैसे हो सकते हैं? त्यागी ही ज्ञान को उपलब्ध होते हैं।
जनक ने कहा, तुम जरा बेवक्त आ गये। यह कोई सत्संग का समय नहीं है। तुम
एक काम करो, मैं अभी उलझा हूं। तुम यह दीया ले लो। पास में रखे एक दीये को दे दिया और कहा कि तुम पूरे महल का चक्कर लगा आओ। एक-एक कमरे में हो आना। मगर एक बात खयाल रखना, इस महल की एक खूबी है; अगर दीया बुझ गया तो फिर लौट न सकोगे, भटक जाओगे। बड़ा विशाल महल था। तो दीया न बुझे इसका खयाल रखना। सब महल को देख आओ। तुम जब तक लौटोगे तब तक मैं फुरसत में हो जाऊंगा, फिर सत्संग के लिए बैठेंगे।
वह गया युवक उस दीये को लेकर। उसकी जान बड़ी मुसीबत में फंसी। महलों में कभी आया भी नहीं था। वैसे ही यह महल बड़ा तिलिस्मी, इसकी खबरें उसने सुनी थीं कि इसमें लोग खो जाते हैं; और एक झंझट। और यह दीया अगर बुझ जाये तो जान पर आ बने। ऐसे ही संसार में भटके हैं, और संसार के भीतर यह और एक झंझट खड़ी हो गई। अभी संसार से ही नहीं छूटे थे और एक और मुसीबत आ गई।
लेकिन अब जनक ने कहा है और गुरु ने भेजा है तो वह दीये को लेकर गया बड़ा डरता-डरता। महल बड़ा सुंदर था; अति सुंदर था। महल में सुंदर चित्र थे, सुंदर मूर्तियां थीं, सुंदर कालीन थे, लेकिन उसे कुछ दिखाई न पड़ता। वह तो एक ही चीज देख रहा है कि दीया न बुझ जाये। वह दीये को सम्हाले हुए है। और सारे महल का चक्कर लगाकर जब आया तब निश्चिंत हुआ। दीया रखकर उसने कहा कि महाराज, बचे। जान बची तो लाखों पाये। बुद्धू लौटकर घर को आये। यह तो एक जान पर ऐसी मुसीबत हो गई, हम फकीर आदमी और यह महल जरूर उपद्रव है, मगर दीये ने बचाया।
सम्राट ने कहा, छोड़ो दीये की बात; तुम यह बताओ, कैसा लगा? उसने कहा, किसको फुरसत थी देखने की? जान पर फंसी थी। जान पर आ गई थी। दीया देखें कि महल देखें? कुछ देखा नहीं। सम्राट ने कहा, ऐसा करो, अब आ गये हो तो रात रुक जाओ। सुबह सत्संग कर लेंगे। तुम भी थके हो और यह महल का चक्कर भी थका दिया है। और मैं भी थक गया हूं।
बड़े सुंदर भवन में बड़ी बहुमूल्य शय्या पर उसे सुलाया। और जाते वक्त सम्राट कह गया कि ऊपर जरा खयाल रखना। ऊपर एक तलवार लटकी है। और पतले धागे में बंधी है--शायद कच्चे धागे में बंधी हो। जरा इसका खयाल रखना कि यह कहीं गिर न जाये। और इस तलवार की यह खूबी है कि तुम्हारी नींद लगी कि यह गिरी। उसने कहा, क्यों फंसा रहे हो मुझको झंझट में? दिन भर का थका-मांदा जंगल से चलकर आया, यह महल का उपद्रव और अब यह तलवार! सम्राट ने कहा, यह हमारी यहां की व्यवस्था है। मेहमान आता है तो उसका सब तरह का स्वागत करना।

रात भर वह पड़ा रहा और तलवार देखता रहा। एक क्षण को पलक झपकने तक में घबड़ाये। कि कहीं तलवार भ्रांति से भी समझ ले कि सो गया और टपक पड़े तो जान गई। सुबह जब सम्राट ने पूछा तो वह तो आधा हो गया था सूखकर, कि कैसी रही रात? बिस्तर ठीक था?
उसने कहा, कहां की बातें कर रहे हो! कैसा बिस्तर? हम तो अपने झोपड़े में जहां जंगल में पड़े रहते थे वहीं सुखद था। ये तो बड़ी झंझटों की बातें हैं। रात एक दीया पकड़ा दिया कि अगर बुझ जाये तो खो जाओ। अब यह तलवार लटका दी। रात भर सो भी न सके, क्योंकि अगर यह झपकी आ जाये...उठ-उठ कर बैठ जाता था रात में। क्योंकि जरा ही डर लगे कि झपकी आ रही है कि तलवार टूट जाये। कच्चे धागे में लटकी है। गरीब आदमी हूं, कहां मुझे फंसा दिया! मुझे बाहर निकल जाने दो। मुझे कोई सत्संग नहीं करना।
सम्राट ने कहा, अब तुम आ ही गये हो तो भोजन तो करके जाओ। सत्संग भोजन
के बाद होगा। लेकिन एक बात तुम्हें और बता दूं, कि तुम्हारे गुरु का संदेश आया है कि अगर सत्संग में तुम्हें सत्य का बोध न हो सके तो जान से हाथ धो बैठोगे। शाम को सूली लगवा देंगे। सत्संग में बोध होना ही चाहिए।
उसने कहा, यह क्या मामला है? अब सत्संग में बोध होना ही चाहिए यह भी कोई मजबूरी है? हो गया तो हो गया, नहीं हुआ तो नहीं हुआ। यह मामला...। तुम्हें राजाओं-महाराजाओं का हिसाब नहीं मालूम। तुम्हारे गुरु की आज्ञा है। हो गया बोध तो ठीक, नहीं हुआ बोध तो शाम को सूली लग जायेगी।
अब वह भोजन करने बैठा। बड़ा सुस्वादु भोजन है, सब है, मगर कहां स्वाद?
अब यह घबड़ाहट कि तीस साल गुरु के पास रहे तब बोध नहीं हुआ, इसके पास एक सत्संग में बोध होगा कैसे? किसी तरह भोजन कर लिया। सम्राट ने पूछा, स्वाद कैसा--भोजन ठीक-ठाक? उसने कहा, आप छोड़ो। किसी तरह यहां से बचकर निकल जायें, बस इतनी ही प्रार्थना है। अब सत्संग हमें करना ही नहीं है।
सम्राट ने कहा, बस इतना ही सत्संग है कि जैसे रात तुम दीया लेकर घूमे
और बुझने का डर था, तो महल का सुख न भोग पाये, ऐसा ही मैं जानता हूं कि यह दीया तो बुझेगा, यह जीवन का दीया बुझेगा; यह बुझने ही वाला है। रात दीये के बुझने से तुम भटक जाते। और यह जीवन का दीया तो बुझने ही वाला है। और फिर मौत के अंधकार में भटकन हो जाएगी। इसके पहले कि दीया बुझे, जीवन को समझ लेना जरूरी है। मैं हूं महल में, महल मुझमें नहीं है।
रात देखा, तलवार लटकी थी तो तुम सो न पाये। और तलवार प्रतिपल लटकी है। तुम पर ही लटकी नहीं, हरेक पर लटकी है। मौत हरेक पर लटकी है। और किसी भी दिन, कच्चा धागा है, किसी भी क्षण टूट सकता है। और मौत कभी भी घट सकती है। जहां मौत इतनी सुगमता से घट सकती है वहां कौन उलझेगा राग-रंग में? बैठता हूं राग-रंग में; उलझता नहीं हूं।
अब तुमने इतना सुंदर भोजन किया लेकिन तुम्हें स्वाद भी न आया। ऐसा ही मुझे भी। यह सब चल रहा है, लेकिन इसका कुछ स्वाद नहीं है। मैं अपने भीतर जागा हूं। मैं अपने भीतर के दीये को सम्हाले हूं। मैं मौत की तलवार को लटकी देख रहा हूं। फांसी होने को है। यह जीवन का पाठ अगर न सीखा, अगर इस सत्संग का लाभ न लिया तो मौत तो आने को है। मौत के पहले कुछ ऐसा पा लेना है जिसे मौत न छीन सके। कुछ ऐसा पा लेना है जो अमृत हो। इसलिए यहां हूं सब, लेकिन इससे कुछ भेद नहीं पड़ता।
यह जो जनक ने कहा: महल में हूं महल मुझमें नहीं है; संसार में हूं, संसार मुझमें नहीं है, यह ज्ञानी का परम लक्षण है। वह कर्म करते हुए भी किसी बात में लिप्त नहीं होता। लिप्त न होने की प्रक्रिया है, साक्षी होना। लिप्त न होने की प्रक्रिया है, निस्तर्षमानसः। मन के पार हो जाना। जैसे ही तुम मन के पार हुए, एकरस हुए। मन में अनेक रस हैं, मन के पार एकरस। क्योंकि मन अनेक है इसलिए अनेक रस हैं।
तुम्हारे भीतर एक मन थोड़े ही है, जैसा तुम सोचते हो। महावीर ने कहा है, मनुष्य बहुचित्तवान है। एक चित्त नहीं है मनुष्य के भीतर, बहुत चित्त हैं। क्षण-क्षण बदल रहे हैं चित्त। सुबह कुछ, दोपहर कुछ, सांझ कुछ। चित्त तो बदलता ही रहता है। इतने चित्त हैं। आधुनिक मनोविज्ञान कहता है, मनुष्य

पोलीसाइकिक है। वह ठीक महावीर का शब्द है। पोलीसाइकिक का अर्थ होता है, बहुचित्तवान। बहुत चित्त हैं।
गुरजिएफ कहता था, तुम भीड़ हो, एक नहीं। सुबह बड़े प्रसन्न थे, तब तुम्हारे पास एक चित्त था। फिर जरा-सी बात में खिन्न हो गये और तुम्हारे पास दूसरा चित्त हो गया। फिर कोई पत्र आ गया मित्र का, बड़े खुश हो गये। तीसरा चित्त हो गया। पत्र खोला, मित्र ने कुछ ऐसी बात लिख दी, फिर खिन्न हो गये; फिर दूसरा चित्त हो गया।
चित्त चौबीस घंटे बदल रहा है। तो चित्त के साथ एक रस तो कैसे उपलब्ध होगा? एक रस तो उसी के साथ हो सकता है, जो एक है। और एक तुम्हारे भीतर साक्षी है। उस एक को जानकर ही जीवन में एकरसता पैदा होती है। और एकरस आनंद का दूसरा नाम है।
"सर्वदा आकाशवत निर्विकल्प ज्ञानी को कहां संसार है, कहां आभास है, कहां साध्य है, कहां साधन है?"
क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम् ।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्येव सर्वदा।।
वह जो अपने भीतर आकाश की तरह साक्षीभाव में निर्विकल्प होकर बैठ गया
है उसके लिए फिर कोई संसार नहीं है। संसार है मन और चेतना का जोड़। संसार है साक्षी का मन के साथ तादात्म्य। जिसका मन के साथ तादात्म्य टूट गया उसके लिए फिर कोई संसार नहीं। संसार है भ्रांति मन की; मन के महलों में भटक जाना। वह दीया बुझ गया साक्षी का तो फिर मन के महल में तुम भटक जाओगे। दीया जलता रहे तो मन के महल में न भटक पाओगे।
इतनी-सी बात है। बस इतनी-सी ही बात है सार की, समस्त शास्त्रों में। फिर कहां साध्य है, कहां साधन है? जिसको साक्षी मिल गया उसके लिए फिर कोई साध्य नहीं, कोई साधन नहीं। न उसे कुछ विधि साधनी है, न कोई योग, जपत्तप; न उसे कहीं जाना है, कोई मोक्ष, कोई स्वर्ग, कोई परमात्मा। न ही उसे कहीं जाना, न ही उसे कुछ करना। पहुंच गया।
साक्षी में पहुंच गये तो मुक्त हो गये। साक्षी में पहुंच गये तो पा लिया फलों का फल। भीतर ही जाना है। अपने में ही आना है।
मैंने सुना है कि किसी गांव में एक फकीर घूमा करता था। उसकी सफेद लंबी दाढ़ी थी और हाथ में एक मोटा डंडा। चीथड़ों में लिपटा उसका ढीला-ढीला और झुर्रियों से भरा बुढ़ापे का शरीर। अपने साथ एक गठरी लिए रहता था सदा। और गठरी पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिख रखा था: "माया"। वह बार-बार उस गठरी को खोलता भी था। उसमें उसने बड़े जतन से रंगीन रद्दी कागज लपेटकर रख छोड़े थे। कहीं मिल जाते रास्ते पर तो कागजों को इकट्ठा कर लेता। अपनी माया की गठरी में रख लेता। जिस गली से निकलता उसमें रंगीन कागज दिखता तो बड़ी सावधानी से उठा लेता। सिकुड़नों पर हाथ फेरता, उनकी गड्डी बनाकर, जैसे कोई नोटों की गड्डी बनाता है, अपनी माया की गठरी में रख लेता।
उसकी गठरी रोज बड़ी होती जाती थी। बूढ़ा हो जा रहा था और गठरी बड़ी होती जाती थी। लोग उसे समझाते कि पागल, यह कचरा क्यों ढोता है? वह हंसता और कहता कि जो खुद पागल हैं वे दूसरों को पागल बता रहे हैं।
कभी-कभी किसी दरवाजे पर बैठ जाता और कागजों को दिखाकर कहता, ये मेरे प्राण हैं। ये खो जायें तो मैं एक क्षण जी न सकूंगा। ये खो जायें तो मेरा दिवाला निकल जाएगा। ये चोरी चले जायें तो मैं आत्महत्या कर लूंगा। कभी कहता ये मेरे रुपये हैं, यह मेरा धन है। इनसे मैं अपने गांव के गिरते हुए किले का पुनः निर्माण कराऊंगा। कभी अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरकर स्वाभिमान से कहता, उस किले पर हमारा झंडा फहरायेगा और मैं राजा बनूंगा। और कभी कहता कि इनको नोट ही मत समझो, इनकी ही मैं नावें बनाऊंगा। इन्हीं नावों में बैठकर उस पार जाऊंगा।
और लोग हंसते। और बच्चे हंसते और बूढ़े भी हंसते। और जब भी कोई जोर से हंसता तो वह कहता, चुप रहो। पागल हो और दूसरों को पागल समझते हो।
तभी गांव में एक ज्ञानी का आगमन हुआ। और उस ज्ञानी ने गांव के लोगों
से कहा, इसको पागल मत समझो और इसकी हंसी मत उड़ाओ। इसकी पूजा करो नासमझो! क्योंकि यह जो गठरी ढो रहा है, तुम्हारे लिए ढो रहा है। ऐसे ही कागज की

गठरियां तुम ढो रहे हो। यह तुम्हारी मूढ़ता को प्रगट करने के लिए इतना श्रम उठा रहा है। इसकी गठरी पर इसने "माया" लिख रख छोड़ा है। कागज, कूड़ा-कचरा भरा है। तुम क्या लिए घूम रहे हो? तुम भी सोचते हो कि महल बनायेंगे, उस पर झंडा फहरायेंगे। नाव बनायेंगे, उस पार जायेंगे। सिकंदर बनेंगे कि नेपोलियन। सारे संसार को जीत लेंगे। बड़े किले बनायेंगे कि मौत भी प्रवेश न कर सकेगी। और जब यह फकीर समझाने लगा लोगों को तो वह बूढ़ा भिखमंगा हंसने लगा और उसने कहा कि मत समझाओ। ये खाक समझेंगे! ये कुछ भी न समझेंगे। मैं वर्षों से समझाने की कोशिश कर रहा हूं। ये सुनते नहीं। ये मेरी गठरी देखते हैं, अपनी गठरी नहीं देखते। ये मेरे रंगीन कागजों को रंगीन कागज समझते हैं और जिन नोटों को इन्होंने तिजोड़ियों में भर रखा है उन्हें असली धन समझते हैं। मुझे कहते हैं पागल, खुद पागल हैं।
यह पृथ्वी बड़ा पागलखाना है। इसमें से जागो। इसमें से जागो, इसमें से न जागे तो बार-बार मौत आयेगी और बार-बार तुम वापिस इसी पागलखाने में फेंक दिये जाओगे। फिर-फिर जन्म! इसीलिए तो पूरब के मनीषी एक ही चिंतना करते रहे हैं सदियों से--आवागमन से कैसे छुटकारा हो? कैसे मिटे जन्म? कैसे मिटे मौत?
मिटने का एक ही उपाय है। तुम्हारे भीतर कुछ ऐसा है जिसका न कभी जन्म हुआ और न कभी मृत्यु होती है। तुम्हारे भीतर अजन्मा और अमृतस्वरूप कुछ पड़ा है। वही तुम्हारा हीरा है; उसे खोज लो। वही तुम्हारा धन।
और बहुत दूर नहीं पड़ा है। जैसे शरीर के पीछे मन है, और ठीक मन के पीछे साक्षी है। इंच भर की दूरी नहीं है। जरा भीतर सरको। जरा-सा भीतर सरको, और तुम उसे पा लोगे जिसे पाने के लिए जन्मों से कोशिश कर रहे हो। लेकिन गलत स्थान पर खोज रहे हो इसलिए उपलब्ध नहीं कर पाते हो।
यह साक्षी आकाशवत है। जैसे आकाश की कोई सीमा नहीं, ऐसे ही साक्षी की कोई सीमा नहीं। और जैसे आकाश पर कभी बादल घिर जाते हैं तो आकाश खो जाता है, ऐसे ही साक्षी पर जब मन घिर जाता है--मन के बादल, विचार के बादल--तो साक्षी खो जाता है। लेकिन वस्तुतः खोता नहीं। जब वर्षा में घने बादल घिरे होते हैं तब भी आकाश खोता थोड़े ही, सिर्फ दिखाई नहीं पड़ता है। ओझल हो जाता है। आंख से ओझल हो जाता है। फिर बादल आते, चले जाते, आकाश फिर प्रगट हो जाता है। जिसको तुम विचार कहते हो वे तुम्हारे चैतन्य के आकाश पर घिरे बादल हैं। उनसे तुम जरा अपने को अलग कर लो, निस्तरण कर लो अपना और तुम अचानक पाओगे, उसे पा लिया जिसे कभी खोया ही न था। उसे पा लिया जो खोया ही नहीं जा सकता। और वही पाने योग्य है, जो खोया नहीं जा सकता। जो खो जायेगा, जो खो सकता है, उसे पा-पा कर भी क्या करोगे? वह खो ही जायेगा। वह फिर-फिर खो जायेगा।
"वही कर्मफल को त्यागनेवाला पूर्णानंदस्वरूप ज्ञानी जय को प्राप्त होता है जिसकी सहज समाधि अविच्छिन्न रूप में वर्तती है।"
स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते।।
समझो।
स जयति अर्थसंन्यासी...।
जिसने जीवन में से अर्थ की अपनी खोज छोड़ दी। जो कहता है अर्थ परमात्मा का, मेरा क्या? अंश का क्या कोई अर्थ होता है? अर्थ तो पूर्ण का होता है।
समझो, यह मेरा हाथ उठा तुम्हारे सामने। यह हाथ अगर मुझसे तोड़ लो तो भी
हो सकता है इसी मुद्रा में हो, लेकिन तब इसमें कोई अर्थ न होगा। मुर्दा हाथ की कोई मुद्रा होती है? मैं अभी तुम्हें देख रहा हूू, मेरी आंख में झांको। मैं मर जाऊं, मेरे भीतर जो छिपा है वह विदा हो जाये, फिर भी यह आंख तुम्हारी तरफ इसी तरह देखती रहे, लेकिन इसमें फिर कुछ अर्थ न होगा। देखनेवाला न रहा तो आंख में क्या अर्थ होगा? हाथ उठानेवाला न रहा तो उठे हुए हाथ में क्या अर्थ होगा?
अर्थ पूर्ण में होता, अंश में नहीं होता। और हम सब इस विराट अस्तित्व के, पूर्ण परमात्मा के, परात्पर ब्रह्म के अंश हैं। हममें अर्थ नहीं हो

सकता, अर्थ तो परमात्मा में है। जब तक तुम अपना अर्थ, निजी अर्र्थ खोज रहे हो तब तक तुम पागल हो।
अंग्रेजी का शब्द इडियट बहुत अच्छा है। वह जिस मूल धातु से आता है उसका अर्थ होता है, जो अपना निजी अर्थ खोज रहा है। जो अपना व्यक्तिगत इडियम खोज रहा है वह इडियट। वही मूढ़ है जो अपना निजी अर्थ खोज रहा है। जो सोच रहा है कि मेरी कोई नियति है। मुझे कुछ खोजना है। मुझे कुछ सिद्ध करके बताना है।
वही समझदार है जिसने विराट के साथ अपनी नियति जोड़ दी। कोई लहर सागर की अपना लक्ष्य खोजने लगे तो पागल ही हो जायेगी न! लक्ष्य सागर का होगा, लहर का कैसे हो सकता है? फिर सागर का भी कैसे होगा, महासागर का होगा। फिर महासागर का भी कैसे होगा, अस्तित्व का होगा। अंततः तो अर्थ समग्र का होगा।
व्यक्ति का कोई अर्थ नहीं होता, समष्टि का अर्थ होता है। अर्थ विराट का होता है।
और यह वचन बड़ा अदभुत है।
स जयत्यर्थसंन्यासी...।
जिसने अर्थ का त्याग कर दिया वही जीत गया। अर्थ के त्यागी को ही संन्यासी कहते हैं। जिसने कहा, अब मैं क्या खोजूं? मेरा क्या लेना-देना! बहूंगा तेरी धार में। ले चलेगा जहां, वहां चलूंगा। डुबा देगा तो डूबूंगा। उबारेगा तो उबरूंगा। अब तू समझ। अब तू जान। तेरी मर्जी हो जैसी। जब कहते हैं कि पत्ते भी उसकी मर्जी के बिना नहीं हिलते तो मैं क्यों हिलूं? हिलाये तो हिलूं, न हिलाये तो न हिलूं। जैसा नाच नचायेगा, नाचूंगा। ऐसा जिसने समग्ररूपेण छोड़ दिया परमात्मा पर, उसका नाम ही संन्यासी। अर्थसंन्यासी।
स जयति अर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
और जिसने इस तरह छोड़ दिया उसके जीवन में उस विग्रह का पदार्पण होता है, उस प्रसाद का पदार्पण होता है जहां स्वरस जन्मता है; जहां परम रस की धार बहती है।
तुम रोके खड़े हो। तुम बाधा हो। तुम झरने पर पड़े हुए पत्थर हो, हटो तो झरना बहे। तुम्हारे कारण झरना नहीं बह पा रहा है।
"वही कर्मफल को त्यागनेवाला पूर्णानंदस्वरूप ज्ञानी जय को प्राप्त होता, जिसकी सहज समाधि अविच्छिन्न रूप में वर्तती है।"
और ध्यान रखना, समाधि तो तभी अविच्छिन्न रूप में वर्तेगी जब सहज हो। सहज का अर्थ, जब स्वाभाविक हो। स्वाभाविक का अर्थ, जब चेष्टा से निर्मित न हो, आयोजना न की जाये, रोपित न की जाये। वही समाधि, जो किसी प्रयास से उत्पन्न न हो, अनायास हो।
इस फर्क को समझना। यही पतंजलि और अष्टावक्र का भेद है। पतंजलि जिस समाधि की बात कर रहे वह चेष्टा से होगी। यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तब समाधि। ऐसी लंबी यात्रा होगी। बड़ी योजना करनी पड़ेगी। बड़े प्रयास करने पड़ेंगे। सब तरह से अपने को साधना पड़ेगा, तब होगी। वह संकल्प का मार्ग है।
अष्टावक्र कहते हैं, समर्पण। छोड़ो भी। तुम क्या साधोगे यम-नियम? तुम कैसे प्रत्याहार साधोगे? श्वास तो अपनी नहीं, प्राणायाम क्या करोगे? ध्यान-धारणा क्या करोगे? तुम हो कौन? तुम हटो बीच से। यह अहंकार जाने दो। इसी अहंकार पर तुमने अब तक हीरे-जवाहरात लटकाये, अब यम-नियम लटकाना चाहते हो? इसी अहंकार से तुमने संसार जीता, अब इसी अहंकार से तुम परमात्मा को भी जीतना चाहते हो? छोड़ो यह सब। तुम सिर्फ इतना ही करो, एक ही कदम में छलांग लो। तुम कहो, अब जैसी तेरी मर्जी। अब जो विराट करायेगा, होगा।
ऐसे सरल भाव से जो समाधि पैदा होती है वही सहज समाधि। कबीर कहते हैं, साधो सहज समाधि भली। सहज समाधि का अर्थ होता है, तुम्हारी चेष्टा से नहीं, तुम्हारे बोध से जो आती है। जागरण से जो आती है। समझ मात्र से जो आ जाती है। जिसके लिए बड़े-बड़े उपाय, विधि-विधान नहीं करने पड़ते।
"जिसकी सहज समाधि अविच्छिन्न रूप में वर्तती है वही अर्थसंन्यासी है, धन्यभागी है।"

अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते।
अकृत्रिम। कई लोग हैं जो कृत्रिम समाधि साध लेते हैं। बैठ गये, उपवास
कर लिया। अगर खूब उपवास किया तो शरीर क्षीण हो जाता है। जब शरीर क्षीण हो जाता तो विचार को ऊर्जा नहीं मिलती, विचार क्षीण हो जाता। उस निस्तेज अवस्था में विचार नहीं उठते। उसको तुम समाधि मत समझ लेना! वह तो एक तरह की आंतरिक दुर्बलता है, समाधि नहीं। धोखा है।
वह तो ऐसे ही समझो कि किसी आदमी को नपुंसक कर दिया और वह कहने लगा कि मैं ब्रह्मचारी हो गया। नपुंसकता ब्रह्मचर्य नहीं है। नपुंसकता तो सिर्फ अभाव है। ब्रह्मचर्य तो बड़ी भावदशा है, भावात्मक है।
समाधि दो तरह की हो सकती है। तुम उपवास करो खूब--इसलिए बहुत से पंथ उपवास करवाते हैं। उपवास करने से शरीर क्षीण होता है! और जब शरीर क्षीण होता तो मन को ऊर्जा नहीं मिलती। जब मन को ऊर्जा नहीं मिलती तो तुम्हें लगता है कि मन से मुक्त हो गये। मन पड़ा रहता है फन पटके। जैसे कि सांप बेहोश पड़ा हो, भूखा पड़ा हो। फिर भोजन करोगे, फिर मन का फन उठेगा। इस तरह से कुछ जबरदस्ती साधने से कुछ हल नहीं है। तुम्हें अगर ब्रह्मचर्य साधना है, लंबे उपवास करो।
अमरीका के एक विश्वविद्यालय में एक प्रयोग किया हार्वर्ड में। तीस विद्यार्थियों को उपवास पर रखा गया। सात दिन के बाद उनके पास प्लेब्वाय जैसी पत्रिकायें पड़ी रहें, वे देखें ही नहीं। नग्न स्त्रियां, सुंदर स्त्रियों के चित्र--वे बिलकुल न देखें। उनका रस ही जाता रहा। जब शरीर ही क्षीण होने लगा तो वासना को ऊर्जा कहां से मिले? दो सप्ताह बीतते-बीतते उनका बिलकुल रस न रहा। तीन सप्ताह बीतते-बीतते तो वे बिलकुल नीरस हो गये। उनसे कितना ही पूछा जाये कि स्त्रियों के संबंध में कुछ विचार? वे कहते, कुछ नहीं।
भोजन दिया चौथे सप्ताह के बाद। बस, भोजन के आते ही सारी ऊर्जा वापिस आ गई। वे जो फन मारकर पड़ गये थे विचार, फिर उठ आये। फिर वासना। फिर स्त्रियों के नग्न चित्रों में रस आने लगा। फिर बातचीत रसपूर्ण होने लगी।
इस प्रयोग ने बड़ी महत्वपूर्ण बात सिद्ध की: शरीर को शक्ति न मिले तो
मन को शक्ति नहीं मिलती। शरीर से ही मन को शक्ति मिलती है। शक्तिशून्य हो जाने का नाम मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो महाशक्ति में घटती है।
इसलिए सहज समाधि पर मेरा भी जोर है। खाते-पीते, सहज, स्वस्थ समाधि घटे तभी उसका कोई मूल्य है। जबरदस्ती घटा ली, वह कृत्रिम है; वे कागज के फूल हैं, असली फूल नहीं। उन पर भरोसा मत करना। वे काम नहीं आयेंगे।
"इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? तत्वज्ञ महाशय भोग और मोक्ष दोनों में निराकांक्षी सदा और सर्वत्र रागरहित है।"
बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्वो महाशयः।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः।।
अष्टावक्र इतना कहे और अब कहते हैं कि इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन? इसका मजा समझो। इतना कहे हैं, कहते जा रहे हैं, और कहते हैं कि इतना बहुत कहने से क्या प्रयोजन।
उसका कारण है। कितना ही कहो, कम ही रहता है। कितना ही कहो, जो कहना था, अनकहा ही रह जाता है। कितना ही गुनगुनाओ, जो गीत गाना था, गाया ही नहीं जा सकता। लाओत्सु ने कहा है, जो कहा जा सके वह सत्य नहीं। जो अनकहा रह जाये वही।
इतने दूर तक महागीता के ये अदभुत वचन कहने के बाद--और ऐसे वचन कभी नहीं कहे गये हैं--अष्टावक्र कहते हैं, इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन? बहुनात्र किमुक्तेन।
बात छोटी है, बहुत कहने से क्या सार? संक्षिप्त में कही जा सकती है। इतनी-सी बात है:
ज्ञाततत्वा महाशयः भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः।
जो समझ सके: तत्वज्ञ, महाशय; जिसका आशय विराट हो और जो तत्व को समझ सके--तो जरा-सी बात है। भोग और मोक्ष, दोनों में जो निष्कांक्षी हो गया वही पा लिया सब। वही संन्यासी है।

तत्वज्ञ कहते हैं उसे, जो अपने विचारों को एक तरफ रखकर समझने की कोशिश करे। तत्वज्ञ बहुत मुश्किल हैं खोजना और महाशय बहुत मुश्किल हैं।
अब यहां तुम बैठे हो; इसमें महाशय बहुत मुश्किल है खोजना। कोई हिंदू है, वह महाशय न रहा। उसका आशय क्षुद्र हो गया। कोई मुसलमान है, वह महाशय न रहा। उसका आशय क्षुद्र हो गया। आशय पर सीमा बंध गई तो महाशय न रहे, क्षुद्राशय हो गये।
संप्रदाय क्षुद्र बना देता है। किसी शास्त्र में मान्यता है, क्षुद्र
हो गये। महाशय का अर्थ है: जिसको न कोई शास्त्र बांधता, न कोई संप्रदाय बांधता, न कोई धारणा बांधती। जो मुक्त है। जो कहता है ये सब किनारे रखकर सुनने को राजी हूं। तब अष्टावक्र कहते हैं, श्रवणमात्रेण। फिर तो सुनने से ही हो जायेगा। कुछ करना न पड़ेगा। अगर तुम महाशय होने की हिम्मत रखो-- तुम्हारे पक्षपात, तुम्हारी जड़ हो गई धारणायें, तुम्हारे संस्कार एक तरफ रख दो तो तुम महाशय हो गये; आकाश जैसे हो गये। विचार हटा दिये, बादल हट गये, खुला आकाश प्रगट हो गया।
उस खुले आकाश में किसी सदगुरु की जरा-सी चोट तुम्हें सदा के लिए जगा दे। लेकिन तुम विचारों की पर्तों से घिरे होकर सुनते हो। चोट तुम तक पहुंचती ही नहीं। या पहुंचती है तो कुछ का कुछ अर्थ हो जाता है; अनर्थ हो जाता है। यहां कहा कुछ जाता है, तुम समझ कुछ लेते हो।
मैंने सुना है, महाराष्ट्र के एक अपूर्व संत हुए एकनाथ। एक आदमी उनके पास बार-बार आता था। खोजी था। कहता कि प्रभु, कुछ ज्ञान दें। हजार बार उसे समझा चुके थे मगर वह कुछ उसकी समझ में न आता था। वह फिर आ जाता था कि प्रभु, कुछ ज्ञान दें। जीवन निष्पाप कैसे हो? एक दिन सुबह-सुबह आया, एकनाथ से कहने लगा, आप कुछ तो समझायें कि जीवन निष्पाप कैसे हो? उन्होंने कहा, मैं तुझे रोज समझाता, तेरी समझ में नहीं आता तो मैं क्या करूं? वह आदमी कहने लगा कि आप कैसे निष्पाप हुए यह बता दो, तो उसी रास्ते मैं भी चलूं।
एकनाथ ने कहा कि ठहर, अचानक मेरी नजर तेरे हाथ पर पड़ गई, तेरी उम्र की रेखा कट गई है। यह बात तो पीछे हो लेगी। उसकी तो कुछ जल्दी भी नहीं है। यह तो तू जनम भर से कर रहा है। मगर यह मैं तुझे बता दूं, कहीं भूल न जाऊं, सात दिन में तू मर जायेगा। तेरी उम्र की रेखा कट गई है।
अब जब एकनाथ किसी को कहें कि सात दिन में तू मर जायेगा तो अविश्वास करना तो मुश्किल है। और सब बातों पर चाहे अविश्वास कर लिया हो, मगर इस पर तो कौन अविश्वास करे? एकनाथ जैसा निस्पृह व्यक्ति कहेगा तो ठीक ही कहेगा। वह तो आदमी घबड़ा गया। उसके तो हाथ-पैर कंप गये। वह तो उठकर खड़ा हो गया। एकनाथ ने कहा, अरे कहां चले? बैठो। तुम्हारा प्रश्न तो अभी उत्तर दिया ही नहीं कि मैं कैसे निष्पाप हुआ। उसने कहा, महाराज, अब तुम समझो निष्पाप कैसे हुए। इधर मौत आ रही है, सत्संग की किसको पड़ी है? अब कभी फुरसत मिली तो आयेंगे फिर। एकनाथ ने हाथ पकड़ा कि भागे कहां जाते हो? वह बोला कि छोड़ो भी जी! इधर बाल-बच्चों को देखूं, इंतजाम करूं। सात दिन! कहते हो कि सात दिन में मर जाऊंगा।
वह तो भागा। अभी आया था तो अकड़ से भरा था। उसके पैर की चाल देखने जैसी थी। अब गया तो कंपने लगा। उन्हीं सीढ़ियों से उतरा मंदिर की लेकिन सहारा लेकर उतरा। घर गया तो बिस्तर से लग गया। घर के लोगों ने पूछा, हुआ क्या? समझाया-बुझाया कि ऐसे कहीं कोई मौत आती है? लेकिन उसने कहा कि वह पक्का है। मौत आ रही है। ऐसा इंतजाम कर लो, ऐसा इंतजाम कर लो, सब करके वह अपने बिस्तर पर पड़ा रहा। खाना-पीना छूट गया। मरते आदमी को क्या खाना-पीना! तीन दिन में तो वह बिलकुल निढाल होकर पड़ गया। मौत निश्चित आने लगी। घर भर के लोग भी उदास होकर बैठे उसकी खाट के पास।
सातवें दिन जब सूरज ढलने के करीब था और वह बिलकुल मौत की प्रतीक्षा कर रहा था, मौत तो नहीं, एकनाथ आ पहुंचे अपना। दरवाजा खटखटाया। एकनाथ को देखकर नमस्कार करने तक की आवाज उससे नहीं निकल सकी। हाथ नहीं जोड़ सका, इतना कमजोर हो गया। एकनाथ ने कहा, अरे भाई इतनी क्या बात है? बड़ी मुश्किल से उसने कहा कि अब और क्या? मौत आ रही है। एकनाथ ने कहा, एक प्रश्न पूछने आया हूं। सात दिन में कुछ पाप किया? पाप करने का कोई विचार आया? उसने कहा,

हद हो गई मजाक की। मौत सामने खड़ी हो तो पाप करने की सुविधा कहां? मौत सामने खड़ी हो तो पाप का खयाल कैसे उठे?
एकनाथ ने कहा, उठ, तेरी मौत अभी आई नहीं। रेखा तेरी काफी लंबी है। यह
तो मैंने तेरे को सिर्फ तेरा उत्तर...तेरे प्रश्न का जवाब दिया है। और तो तू समझता ही नहीं था। तेरे तो सिर पर खूब जोर से डंडा मारें तो ही शायद तेरी समझ आये। अब तेरी समझ में आया कि हम निष्पाप कैसे हैं? मौत सामने खड़ी है।
जहां जीवन क्षण-क्षण बीता जाता हो, जहां समय चुकता जाता हो, वहां कैसा पाप? जहां मौत सब छीन लेगी वहां कैसा इकट्ठा करना? जहां मौत सब पोंछ देगी वहां कैसे सपने संजोने? जहां मौत आकर सब नष्ट कर देगी वहां क्या बनाना? लेकिन एकनाथ ने उससे कहा कि तुझे लाख समझाया, तेरी समझ में न आया। यही समझाता था सब, लेकिन जब तक तुझे जोर से चोट न मारी गई तब तक तेरी बुद्धि में प्रविष्ट न हुआ।
और कहानी का मुझे आगे पता नहीं क्या हुआ। जहां तक मैं समझता हूं, वह आदमी उठकर बैठ गया होगा और उसने कहा होगा, छोड़ो! अगर अभी मरना नहीं है तो महाराज, तुम अपने घर जाओ, हमें अपना संसार देखने दो। कहानी का मुझे आगे पता नहीं, कहानी आगे लिखी नहीं है। शायद इसीलिए नहीं लिखी है। क्योंकि मौत की चोट में अगर थोड़ी-सी उसको समझ भी आई होगी तो मौत की चोट के हटते ही समझ भी हट गई होगी। वह चोट भी तो जबरदस्ती हो गई न! आयोजित हो गई। मौत उसे थोड़े ही दिखाई पड़ी है, मान ली है। मानने में घबड़ा गया। अब जब फिर पता चला होगा कि अभी जिंदगी काफी बची है तो वह कहा होगा कि महाराज, आयेंगे फुरसत से, सत्संग करेंगे, लेकिन अभी और काम हैं। सात दिन के काम भी इकट्ठे हो गये हैं, वे भी निपटाने हैं।
और उस आदमी ने शायद एकनाथ को कभी क्षमा न किया होगा कि इस आदमी ने भी खूब मजाक की। ऐसी भी मजाक की जाती है महाराज? संतपुरुष होकर और ऐसी मजाक करते हैं? शायद उसने एकनाथ का सत्संग भी छोड़ दिया होगा कि फिर यह आदमी कुछ भरोसे का नहीं। फिर किसी दिन कुछ ऐसी उल्टी-सीधी बात कह दे और झंझट खड़ी कर दे।
आगे लिखा नहीं गया है। नहीं लिखे जाने का मतलब साफ है। नहीं तो हिंदुस्तान में जब कहानियां लिखी जाती हैं तो पूरी लिखी जाती हैं। हिंदुस्तानी ढंग कहानी का यह है कि फिर वह आया होगा, महाराज के चरणों में गिर पड़ा, उसने संन्यास ले लिया और उसने कहा कि अब बस मैं बदल गया। मगर यह लिखा नहीं है, तो यह हुआ नहीं है। यहां तो ऐसा है, न भी होता हो तो भी अंत ऐसा ही होता है। सुखांत होती हैं हिंदुस्तान की कहानियां। उसमें दुखांत कभी नहीं होता। सब अंत में सब ठीक हो जाता है। दुर्जन सज्जन बन जाते, संसारी मोक्षगामी हो जाते। सब अंत में ठीक हो जाता है। मरते-मरते तक हम कहानी को ठीक कर लेते हैं।
कहानियां हैं कि मर रहा है कोई, उसके लड़के का नाम नारायण है। उसने कभी जिंदगी भर भगवान का नाम नहीं लिया। मरते वक्त वह बुलाया, "नारायण, नारायण।" अपने बेटे को बुला रहा है, ऊपर के नारायण धोखे में आ गये। वह मर गया नारायण कहते-कहते; उसको मोक्ष मिला।
अब जिन्होंने ये कहानियां गढ़ी हैं, बड़े बेईमान लोग रहे होंगे। तुम ईश्वर को धोखा देते ऐसे? और ईश्वर धोखा खाता! तो ईश्वर तुमसे गया-बीता हो गया। वह अपने बेटे को बुला रहा है, ऊपर के नारायण समझे, मुझे बुला रहा है। सोचा कि चलो बेचारा जिंदगी भर नहीं बुलाया, अब तो बुला लिया। ऐसे आखिर में हमने कहानी ठीक कर दी। जमा दी सब बात, सब ठीक-ठीक हो गया। जिंदगी भर के पाप...दो बार उसने नारायण को बुला दिया, वह भी अपने बेटे को बुला रहा है। शायद लोग अपने बेटों के नाम इसलिए भगवान के रखते हैं: नारायण, विष्णु, कृष्ण, राम, खुदाबक्श। इस तरह के नाम रख लेते हैं कि चलो, इसी बहाने। मरते वक्त खुदाबक्श को ही बुला रहे हैं, उसी वक्त खुदा ने सुन लिया और मुक्ति हो गई।
ऐसे झूठों से कुछ सार नहीं है। जहां तक मैं समझता हूं, वह आदमी अगर तुम जैसा आदमी रहा होगा तो फिर कभी एकनाथ के पास न गया होगा। फिर उसने कहा, अब

झंझट मिट गई। यह आदमी धोखेबाज है। उसने यही समझा होगा कि इसने धोखा किया, झूठ बोला। संतपुरुष कहीं झूठ बोलते हैं? उसने यह समझा होगा।
तत्वज्ञ का अर्थ होता है, वही समझो जो समझाया जा रहा है। वही देखो, जो दिखाई पड़ रहा है। बीच में अपने को मत डालो। इतनी छोटी-सी बात है: मोक्ष और भोग दोनों में निराकांक्षी। सदा और सर्वत्र रोगरहित--इतनी कुंजी है। "महत्तत्व आदि जो द्वैत जगत है और जो नाममात्र को ही भिन्न है, उसका त्याग कर देने के बाद शुद्ध बोधवाले का क्या कर्तव्य शेष रह जाता है!" महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते।।
यह जो चारों तरफ फैला हुआ जगत है द्वंद्व का, द्वैत का, दुई का, अनेकत्व का; यह जो चारों तरफ अनेक-अनेक रूप फैले हुए हैं, ये नाममात्र को ही भिन्न हैं। जैसे सोने से ही कोई बहुत गहने बना ले, वे नाममात्र को ही भिन्न हैं। सबके भीतर सोना है। ऐसे ही यह जो सारा इतना विराट जगत फैला हुआ है, यह सब नाममात्र को ही भिन्न है, रूपमात्र में ही भिन्न है। नाम-रूप का भेद है, मौलिक रूप से भिन्न नहीं है।
विज्ञान भी इसकी गवाही देता है। विज्ञान कहता है, सारा अस्तित्व बस विद्युतकणों से बना है; एक से ही बना है। अष्टावक्र का सूत्र कह रहा है: महदादि जगद्द्वैतं नाममात्र विजृम्भितम्।
बस नाममात्र का भेद है इस जगत की चीजों में, कुछ बहुत भेद नहीं है। सब चीजें एक ही तत्व की विभिन्न-विभिन्न मात्राओं से बनी हैं।
इसलिए ऐसा जानकर, ऐसा समझकर व्यक्ति इन रूपों के और नामों के मोह में नहीं पड़ता है; कल्पना के जाल में नहीं उलझता है। कल्पना का त्याग कर देने से...।
विहाय शुद्धबोधस्य।
इस जगत में तुम्हारी कल्पना जो छिटकी-छिटकी फिर रही है--इस स्त्री को
पा लूं कि उस स्त्री को पा लूं, कि इस धन को पा लूं कि उस पद को पा लूं, यह पुरुष मिल जाये। यह जो तुम्हारी कल्पना छिटकी-छिटकी फिर रही है।
विहाय शुद्धबोधस्य।
इस कल्पना के त्याग मात्र से शुद्ध बुद्ध का तुम्हारे भीतर जन्म हो जाता है। शुद्ध बोध पैदा होता है।
किं कृत्यमवशिष्यते।
और फिर न तो कुछ करने को रह जाता, न न करने को रह जाता। फिर कोई कर्तव्य नहीं बचता। फिर तो कर्ता परमात्मा हो गया, तुम्हारा क्या कर्तव्य है? कल्पना के कारण, मात्र कल्पना के कारण तुम उलझे हो। संसार ने तुम्हें नहीं बांधा है, तुम्हारी कल्पना ने बांधा है।
यह मौलिक उपदेश है अष्टावक्र का। संसार ने बांधा हो तो संसार से भाग जाओ, मुक्ति हो जायेगी। ऐसा तुम्हारे तथाकथित महात्मा कर रहे हैं। संसार ने बांधा नहीं है, बांधा कल्पना ने है। कल्पना को गिरा दो।
विहाय शुद्धबोधस्य।
इस कल्पना के गिरते ही शुद्ध बुद्धत्व का जन्म हो जायेगा।
यह जो हमारी कल्पना है, इसे पा लूं, उसे पा लूं, इस कल्पना में हमारी ऊर्जा क्षीण हो रही है। हम पागल होकर दौड़ते हैं। सब दिशाओं में दौड़ रहे हैं। दौड़-दौड़ में थके जा रहे हैं। आपाधापी में मिटे जा रहे हैं। चिंता ही चिंता। जरा भी विश्राम नहीं। यह कल्पना तुम्हारी क्षीण हो जाये--कल्पना ही, और कुछ छोड़ना नहीं है। पत्नी को छोड़कर नहीं जाना है, पत्नी के प्रति जो कल्पना है उसे भर गिर जाने दो; पर्याप्त है। बेटों को छोड़कर नहीं जाना है। अष्टावक्र ने तुम्हें पलायन नहीं सिखाया है, मैं भी नहीं सिखाता हूं। तुम जहां हो वहीं डटकर रहो। घर में तो घर में, दूकान पर तो दूकान में। कुछ छोड़कर नहीं जाना है। एक बात छोड़ दो, वह जो कल्पना है। यह पत्नी मेरी है, यह कल्पना है। यह बेटा मेरा है, यह कल्पना है। न बेटा तुम्हारा है, न पत्नी तुम्हारी है। न दूकान तुम्हारी है, न मंदिर तुम्हारा है। सब परमात्मा का है। तुम भी उसके, यह सब भी उसका। इस पर तुम व्यक्तिगत दावे छोड़ दो, अधिकार छोड़ दो, परिग्रह छोड़ दो।

इस दावे के छूटते ही तुम्हारा अहंकार विसर्जित हो जायेगा। और तब जो शेष रह जाता है, तब जो विराट आकाश उपलब्ध होता है, तब जो असीम आकाश उपलब्ध होता है, तब जो स्वतंत्रता मिलती है, जो स्वच्छंदता मिलती है, वही है जीवन का असली अर्थ। वही है जीवन का असली स्वाद। वही है प्रभु-रस। उस रसमयता को पाये बिना तुम भिखारी के भिखारी रहोगे। उस रस को पाओ। रसो वै सः। वह परमात्मा रसरूप है।
लेकिन तुम अपनी कल्पना के जाल छोड़ो तो उसकी रसधार बहे। फिर तुमसे कहता--तुम हो पत्थर, चट्टान जिसके कारण झरना रुका है। तुम हटो। यह तुम्हारा अहंकार भी तुम्हारी कल्पना मात्र है; है नहीं कहीं।
बोधिधर्म चीन गया। चीन के सम्राट ने उससे कहा कि आपकी मैं प्रतीक्षा करता वर्षों से। अब आप आ गये, एक काम भर कर दें। यह मेरा अहंकार मुझे बहुत सताता है। इसी अहंकार के कारण मैंने यह साम्राज्य बनाया है, लेकिन फिर भी इसकी कोई तृप्ति नहीं होती। यह भरता ही नहीं। इतना धन है, फिर भी नहीं भरता। अभी भी धन की सोचता है। इतने बड़े महल हैं फिर भी नहीं भरता; अभी बड़े महलों की सोचता है। इस अहंकार से मुझे छुड़ा दें।
बोधिधर्म ने कहा, छुड़ा दूंगा। तू सुबह तीन बजे आ जा। अकेला आना, किसी
को साथ लेकर मत आना। और एक बात खयाल रखना, अहंकार को लेकर आना। इसको घर मत छोड़ आना। वह सम्राट डरा। यह क्या बात हुई? उसने बहुत-से ज्ञानियों से कहा था। सबने उपदेश दिया था। किसी ने नहीं कहा था, छुड़ा दूंगा। कोई कैसे छुड़ा देगा किसी को? यह आदमी पागल मालूम होता है। फिर तीन बजे रात की जरूरत? अभी क्या अड़चन है? और अकेले आना! और यह आदमी भयंकर मालूम पड़ता है।
बोधिधर्म बड़ा जंगली ढंग का आदमी था। देख ले जोर से तो तुम्हारे प्राण कंप जायें, घबड़ा जाओ। तलवार की धार की तरह आदमी था। कहते हैं, कभी जोर से चीख देता था तो लोगों के विचार बंद हो जाते थे। उसका हुंकार लोगों को ध्यान लगवा देता था। एक क्षण को विचार-शृंखला टूट जाती थी।
इस आदमी के पास तीन बजे रात आना ठीक है? और फिर यह आदमी दुबारा--यह भी अजीब बात कह रहा है, अहंकार साथ ले आना। और जब वह सीढ़ियां उतरकर जाने लगा सम्राट तो फिर डंडा ठोंककर बोधिधर्म ने कहा, देख भूलना मत। ठीक तीन बजे आ जाना। और अहंकार को साथ ले आना, घर मत रख आना, क्योंकि मैं उसे खतम ही कर दूंगा आज।
वह डरने लगा और रात सो नहीं सका। जाऊं, न जाऊं? यह जाने के जैसी बात है
कि नहीं? लेकिन आकर्षण भी पकड़ने लगा। इस आदमी की आंखों में बल भी कुछ था। इस आदमी की मौजूदगी में कुछ आकर्षण भी था। कोई प्रबल आकर्षण था। नहीं रोक सका। बहुत समझाया अपने को कि जाना ठीक नहीं, लेकिन खिंचा चला गया। तीन बजे पहुंच गया।
पहली बात जो बोधिधर्म ने पूछी वह यही, अहंकार ले आया? तो सम्राट ने कहा, आप भी कैसी बातें करते हैं! अहंकार कोई चीज तो नहीं है कि ले आऊं। यह तो मेरे भीतर है। उसने कहा, चलो इतना तो पक्का हुआ, भीतर है; बाहर तो नहीं है! तो आधी दुनिया तो साफ हो गई। आधा काम तो हो चुका। बाहर नहीं है, भीतर है। उसने कहा, भीतर है।
"आंख बंद कर। बैठ जा सामने। और खोज भीतर, कहां है। और मैं डंडा लिये बैठा हूं तेरे सामने। जैसे ही तुझे मिले, इशारा कर देना कि पकड़ लिया। वहीं खतम कर दूंगा।"
वह सम्राट बहुत घबड़ाने लगा। तीन बजे रात अंधेरे उस मठ में। और यह आदमी डंडा लिये बैठा है और पागल मालूम होता है। अब भागने का भी उपाय नहीं है। और खुद ही कह फंसा कि बाहर नहीं, भीतर है। अब इंकार भी नहीं कर सकता। आंख बंद करके भीतर देखने लगा। भीतर जितना खोजा उतना ही पाया कि मिलता नहीं। जितना खोजा उतना ही पाया, मिलता नहीं। सूरज उगने लगा, तीन घंटे बीत गये। और उसके चेहरे पर अपूर्व आभा छा गई।
बोधिधर्म ने उसे हिलाया और उसने कहा कि अब उठ। मुझे दूसरे काम भी करने हैं। मिला कि नहीं? सम्राट वू उसके चरणों में झुक गया और कहा कि आपने मिटा दिया। मैं धन्यभागी कि आपके चरणों में आ गया। बहुत खोजा। खोजने से एक बात

समझ में आ गई, न बाहर है न भीतर है; है ही नहीं। सिर्फ भ्रांति है, कल्पना है। मान रखा है।
यह मैं सिर्फ एक मान्यता है। यह मैं ही संसार है। यह मैं का बीज ही फैलकर संसार बनता है। यह मैं गिर जाये, यह कल्पना गिर जाए--विहाय शुद्धबोधस्य; इसके छूट जाते ही शुद्ध बोधि, संबोधि का जन्म हो जाता है। और तब न कुछ करने को बचता, न कुछ न करने को। कर्ता ही नहीं बचता। मैं गया तो कर्ता गया।
और उस कर्ताशून्यता में प्रभु तुम्हारे भीतर बहता। तुम उपकरण हो जाते--निमित्तमात्र। बांस की पोली बांसुरी। वेणु बन जाते।
वेणु बनो। समर्पण करो। कुछ और छोड़ना नहीं है, इस मैं की कल्पना को विसर्जित करो। इसे जाने दो। इसके जाते ही--निस्तर्षमानसः। तुम मन का निस्तरण कर गये। यह मैं मन का संग्रहीभूत रूप है। इसके पार तुम्हारा साक्षी है।
साक्षी रस है।
रसो वै सः।

आज इतना ही।